# Nayi Kavita Ke Prabandha Kavya : Shilpa Vidhan

**A thesis submitted in partial fulfilment of the requirement for the degree of**
**DOCTOR OF PHILOSOPHY**
**IN HINDI**

**2023**

Submitted by


**Rajesh Kumar Yadav**

**14HHPH12**


Under the guidance of

**Prof. Gajendra Kumar Pathak**


**Department of Hindi, School of Humanities**
**University of Hyderabad.**
**P. O. Central University, Gachchibowli,**
**Hyderabad, Telangana State, India-500046**

# नयी कविता के प्रबंध काव्य : शिल्प विधान

**(हैदराबाद केंद्रीय विश्वविद्यालय में पी-एच. डी. (हिंदी) की उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध)**

**2023**

**शोधार्थी**

**राजेश कुमार यादव**

**14HHPH12**

**शोध-निर्देशक**
**प्रो. गजेंद्र कुमार पाठक**
**हिंदी विभाग**

**विभागाध्यक्ष**
**प्रो. गजेंद्र कुमार पाठक**
**हिंदी विभाग**

**हिंदी विभाग, मानविकी संकाय**

**हैदराबाद केंद्रीय विश्वविद्यालय, हैदराबाद-500046**

# Declaration

I, **Rajesh Kumar Yadav**, hereby declared that the thesis entitled **'Nayi Kavita Ke Prabandha Kavya : Shilpa Vidhan' ('नयी कविता के प्रबंध काव्य : शिल्प विधान')** submitted by me under the guidance and supervision of **Prof. Gajendra Kumar Pathak** is a bonafide research work. It is also a plagiarism free thesis. I also declare that it has not been submitted previously in part or in full to this university or any other university or institution for the award of any degree or diploma. I hereby agree that my thesis can be deposited in Shodhganga/INFLIBNET.

Signature of the supervisor | Signature of the student

**(Prof. Gajendra Kumar Pathak)** | **(Rajesh Kumar Yadav)**
**date :** | **14HHPH12**

## CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled **'Nayi Kavita Ke Prabandha Kavya : Shilpa Vidhan' ('नयी कविता के प्रबंध काव्य : शिल्प विधान')** submitted by **Rajesh Kumar Yadav** bearing Reg. No. **14HHPH12** in partial fulfillment of the requirements for the award of Doctor of Philosophy in **Hindi** in the school of Humanities is a bonafide work carried out by him under my supervision and guidance.

This thesis is free from plagiarism and has not been submitted previously in part or in full to this or any other University or Institution for award of any degree or diploma.

**Signature of the Supervisor** **Head of the Department**

**Dean of the School of humanities**

## CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled **'Nayi Kavita Ke Prabandha Kavya : Shilpa Vidhan' ('नयी कविता के प्रबंध काव्य : शिल्प विधान')** submitted by **Rajesh Kumar Yadav** bearing Reg. No. **14HHPH12** in partial fulfillment of the requirements for the award of Doctor of Philosophy in **Hindi** in the school of Humanities is a bonafide work carried out by him under my supervision and guidance.

This thesis is free from plagiarism and has not been submitted previously in part or in full to this or any other University or Institution for award of any degree or diploma.

Further, the student has the following publications before submission of thesis for adjudication and has produced the evidence for the same of acceptance letter or the reprint in the relevant area of his research :

**A. Published research papers in the following publications :**

1. **Kanupriya Mein Yuddha Ki Nirarthakata Ke Pariprekshya Mein Prem Ki Sarthakata Ka Pratipadan :** [ISSN : 2475-1339] Issue-33, Februari-2021, Setu International Patrika.

2. **Chhayavadi Kavitaon Ke Bahane 'Lambi Kavitaon' Ke Shilpa Par Bahas :** [ISSN : 2322-0724] Issue-35-36, January–June, 2021, Apni Mati patrika.

## B. Presented research papers in the following Conferences :

1. **'Awadhi Ke Prabandha Kavyon Ka Shilpa Vidhan' : presented in a National Seminar on 'Hindi Sahitya Mein Awadhi Ka Yogdan'** Organized by The Department of Hindi, M.D.P.G. College, Pratapgarh, Uttar Pradesh, on 8 February, 2020.

2. '**Nayi Kavita Mein Paryavarniya Chetana**' : **presented in a National Seminar on 'Environmental Challenges and their Socio-economic Traditional and cultural solutions in India'** organized by The Department of zoology and The Department of Hindi, Government Girls degree college, fatehpur, Uttar Pradesh, on 15-16 february, 2020.

Further, the student has passed the following courses towards fulfillment of coursework requirement for Ph. D. in durations Ph. D. first year (2014-15). This coursework was recommended by Doctoral Committee.

| Course Code | Name | Credits | Result |
|---|---|---|---|
| 1. HN 801 | Critical Approaches to Research | 4 | Pass |
| 2. HN 803 | Research Paper (Project Work) | 4 | pass |
| 3. HN 826 | Ideological Background of Hindi Literature | 4 | Pass |
| 4. HN 827 | Practical Review | 4 | Pass |

The student has also passed M.Phil. degree in Hindi (Comparative Literature) from MGAHV Wardha, Maharashtra, in the academic session 2013-14. He studied the following courses in this Programme :

| **Course** | **Grade** | **Credit** | **Result** |
|---|---|---|---|
| 1. Research Methodology | A- | 4 | Pass |
| 2. Approaches of Literary Studies and Main Concepts | A- | 4 | pass |
| 3. Comparative Literature | B+ | 4 | pass |
| 4. Dissertation | A- | 8 | pass |
| 5. Viva Voce | B+ | 2 | pass |
| Total | A- | 22 | pass |

**Signature of the Supervisor** **Head of the Department**

**Dean of the School of humanities**

# भूमिका

हिंदी कविता के उस आधुनिकतावादी दौर में जब वैज्ञानिक और तकनीकी विकास के परिणामस्वरूप धर्म और आस्था पर आधारित मान्यताओं और परंपराओं पर प्रश्न-चिह्न लग रहे थे, उन मिथकीय कथाओं पर आधारित प्रबंध-काव्यों की रचना जो स्वयं धर्म और आस्था के विषय हैं, एक ओर जहाँ मिथकों की शक्ति और संभावना की परिचायक है तो वहीं दूसरी ओर स्वयं कविता की शक्ति और सर्जनात्मकता की। धर्म और आस्था से जुड़े होने कारण मिथकों में लोगों को अपने से जोड़े रहने की शक्ति होती है। यह शक्ति इतनी प्रबल होती है कि यह उन मिथकीय कथाओं और घटनाओं पर भी लोगों की आस्था बनाये रखती है जो अपनी प्रकृति में मानवता विरोधी होती हैं। इस तरह आस्था के सहारे मिथकीय कथाएँ एक व्यापक समाज का अंग हुआ करती हैं। यह मिथकों की बहुत बड़ी शक्ति होती है। और क्योंकि मिथक लोक-मानस का प्रतिबिंब हुआ करते हैं, अतः उनमें किसी भी युग के मनुष्य की प्रकृति और व्यवहार को समाहित किये रहने की संभावना भी निहित होती है। मिथकों की इसी शक्ति और संभावना ने नये कवियों को अपनी ओर आकर्षित किया। नये कवियों ने मिथकों की इस शक्ति और संभावना में कविता की शक्ति और सर्जनात्मकता का उपयोग करते हुए मिथकीय कथाओं को आधुनिक युग के अनुरूप पुनः-सृजित किया। यह उल्लेखनीय है कि नये प्रबंध-काव्यों में कवियों ने मिथकीय कथाओं का आधार अपनी धार्मिक आस्थाओं के कारण नहीं, बल्कि समाज पर धर्म और आस्था के व्यापक प्रभावों के परिणामस्वरूप ग्रहण किया। धर्म और आस्था का विषय होने के कारण, जैसा कि संकेत किया गया, मिथकीय कथाओं की परिव्याप्ति लगभग पूरे समाज को अपने घेरे में लिये रहती है। मिथकीय कथाओं की इस परिव्याप्ति के कारण इन पर आधारित रचनाओं की व्याप्ति की भी संभावना बनती है। अतः कविगण प्रायः मिथकीय कथाओं पर आधारित प्रबंध-काव्य रचते रहे हैं।

आधुनिक नज़रिये से यदि देखा जाए तो मिथकीय कथाएँ अपनी प्रकृति में दो प्रकार की होती हैं। एक वे जो अपनी प्रकृति में मानवीय होती हैं, या कम से कम मानवता-विरोधी नहीं होतीं; और दूसरी वे जो अपनी प्रकृति में मानवता-विरोधी संदेश देने वाली होती हैं। सकारात्मक कथाओं में आधुनिक स्थितियों और परिस्थितियों को समाहित करने की व्यापक संभावना निहित रहती है। कविगण ऐसी कथाओं या घटनाओं को उनकी प्रकृति के अनुरूप पल्लवित या संकुचित करते हुए उन्हें आधुनिक युग में प्रक्षिप्त कर देते हैं। मिथकीय कथाओं में जो कथाएँ ऐसी होती हैं जो अपनी प्रकृति में असमानता और अन्याय की पोषक होने के बावजूद आस्था और विश्वास के कारण व्यापक समाज का अंग बनी रहती हैं, उनको उनकी प्रकृति के विरुद्ध आलोचनात्मक रवैया अपनाते हुए उन्हें आधुनिक युग के प्रतिकूल साबित किया जाता है।

इस प्रकार नयी कविता के कवियों ने दो प्रकार की मिथकीय घटनाओं या कथाओं का आधार ग्रहण किया है। एक वे जो अपनी सकारात्मक प्रकृति के कारण आधुनिक युग की जटिल परिस्थितियों

और समस्याओं को प्रतिबिंबित करने की क्षमता से युक्त होती हैं, और दूसरी वे जो किसी न किसी प्रकार से अमानवीय-तत्वों की पोषक होने के कारण आधुनिकता के प्रतिकूल स्वभाव वाली होती हैं। इन कथाओं या घटनाओं को क्रमशः 'अनुकूल समावेशी' तथा 'प्रतिकूल समावेशी' कथा या घटना का नाम दिया जा सकता है। यों, समावेशी प्रकृति दोनों में निहित होती है। अनुकूल समावेशी कथाओं या घटनाओं को उनकी प्रकृति के अनुकूल और प्रतिकूल समावेशी कथाओं या घटनाओं को उनकी प्रकृति के प्रतिकूल पल्लवित या संकुचित करते हुए उन्हें आधुनिक युग में प्रक्षिप्त किया जाता है। इस तरह के जिस मिथकीय शक्ति की बात ऊपर की गयी है अनुकूल समावेशी कथाओं पर आधारित काव्यों में उस शक्ति के उपयोग का प्रयास होता है और प्रतिकूल समावेशी कथाओं में उसके परिहार का। अनुकूल समावेशी मिथकीय कथाओं को लोगों की आस्था के अनुरूप ही पल्लवित या संकुचित किया जाता है। अतः आधुनिक जटिलताओं और समस्याओं के समाधान को ऐसी मिथकीय कथाओं के आवरण में प्रस्तुत करने पर वह व्यापक समाज द्वारा स्वीकृत हो सकता है, क्योंकि ये कथाएँ समाज की आस्था से जुड़ी रहती हैं। यों, यह मिथकों की शक्ति का उपयोग है। प्रतिकूल समावेशी मिथकीय कथाओं को उनकी प्रकृति के प्रतिकूल पल्लवित या संकुचित किया जाता है। अतः उनमें मिथकों की शक्ति का उपयोग नहीं, बल्कि उनकी शक्ति के परिहार का प्रयास होता है। पर 'शक्ति' केंद्र में अवश्य रहती है। ऐसी मिथकीय कथाएँ या घटनाएँ जिन पर लोगों की आस्था या श्रद्धा के कारण समाज पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता वे अनुकूल समावेशी कथाओं या घटनाओं में परिगणित होंगी। नयी कविता में ऐसी कथाओं या घटनाओं पर लिखे गये प्रबंध काव्यों में अंधायुग, कनुप्रिया एक कंठ विषपायी आदि हैं। विविध आस्थावादी और श्रद्धावादी पद्धतियों से दलित-स्त्री-आदिवासी आदि शोषित और वंचित वर्गों के शोषण की हिमायत करने वाली मिथकीय कथाएँ या घटनाएँ प्रतिकूल समावेशी कथाओं में परिगणित की जाएँगी। ऐसी कथाओं का उपयोग करते हुए अस्मितावादी विमर्शपरक काव्य लिखे जाते हैं। इन काव्यों में मिथकीय कथाओं या घटनाओं पर जमी हुई लोगों की आस्थाओं का परिहार करते हुए शोषित-वर्ग की आवाज को मुखर किया जाता है। नयी कविता के प्रबंध काव्यों में शंबूक, सूर्यपुत्र और अग्निलीक ऐसे ही काव्य हैं जिनके माध्यम से दलितों, शूद्रों और स्त्रियों के अधिकारों की आवाज उठायी गयी है।

अनुकूल समावेशी मिथकों पर आधारित काव्यों की प्रकृति प्रायः सर्जनात्मक और भावात्मक तथा प्रतिकूल समावेशी मिथकों पर आधारित काव्यों की प्रकृति प्रायः आलोचनात्मक और विचारात्मक होती है। मिथकीय कथाओं या घटनाओं की प्रकृति प्रायः भावात्मक या भावनात्मक है। अनुकूल समावेशी पल्लवन पर आधारित काव्यों में इन कथाओं या घटनाओं की प्रकृति का विरोध नहीं किया जाता, बल्कि उन्हीं के सहारे अपनी बात कही जाती है। अतः उनकी सर्जनात्मकता तथा भावात्मकता बनी रहती है। प्रतिकूल समावेशी पल्लवन पर आधारित काव्यों में मिथकीय कथाओं या

घटनाओं की प्रकृति के विरोध में अपनी बातें कही जाती हैं, अतः इन काव्यों में मिथकीय कथाओं या घटनाओं की सर्जनात्मकता तथा भावात्मकता बाधित होती है। अतः इनकी प्रकृति आलोचनात्मक और विचारात्मक हो जाती है। अनुकूल समावेशी कथाओं या घटनाओं में आधुनिक युग की घटनाओं और परिस्थितियों को अपने में समाहित करने और उनकी सही या गलत प्रकृति को व्यंजित करने की क्षमता निहित होती है। कविता की सर्जनात्मक-शक्ति का उपयोग करते हुए कवि उन घटनाओं और परिस्थितियों को आधुनिक युग की घटनाओं और परिस्थितियों में प्रक्षिप्त करते हुए उनके आधार पर आधुनिक परिस्थितियों की जटिलता को सुलझाने और समस्याओं के निराकण का संकेत व्यक्त करता है। यों, यह संकेत व्यंजित ही होता है, क्योंकि कवि को एक साथ दो देशकाल और वातावरणों पर रचनात्मक रूप से सक्रिय होना होता है। मिथकीय कथाएँ या घटनाएँ क्योंकि सामंती-युग और परिवेश की उपज हैं, अतः उनमें बहुत-सी घटनाएँ असमानता और अन्याय का पोषण करने वाली भी होती हैं। पर आस्था और विश्वास का विषय बनी रहने के कारण वे आधुनिक युग में भी व्यवहृत होते हुए सम्मान का विषय बनी रहती हैं। अतः कवि उन घटनाओं को आधार रूप में रखते हुए उन पर आधुनिकतावादी दृष्टिकोण से विचार-विमर्श प्रस्तुत करता है। इस प्रकार के काव्य, जैसा कि कहा गया, प्रायः आलोचनात्मक विचार-प्रधान, तार्किक और विमर्शपरक होते हैं। नयी कविता के प्रबंध-काव्यों में उक्त दोनों प्रकार की घटनाओं को काव्य का आधार बनाया गया है। यों, मिथकीय कथाओं पर आधारित नयी कविता के प्रबंध-काव्यों का उद्देश्य आधुनिक परिस्थितियों और समस्याओं का ही चित्रण करना होता है, और इन काव्यों में मिथकीय कथाएँ तथा घटनाएँ प्रायः पृष्ठभूमि का कार्य किया करती हैं। अतः इन काव्यों में शिल्प के उपादान के रूप में मिथकीय तत्वों के साथ आधुनिकता के विभिन्न तत्वों का मिश्रण किया गया है। यों, महत्व आधुनिकता के तत्वों का ही है। अतः इनके शिल्प के अध्ययन और विश्लेषण के क्रम में आधुनिकता के तत्वों की पहचान करते हुए उनके आधार पर इन काव्यों की व्याख्या की जानी चाहिए।

नयी कविता के प्रबंध-काव्यों के शिल्प में, जैसा कि कहा गया, मिथकीय तत्वों के साथ आधुनिक तत्वों का व्यापक समावेश हुआ है। कलाओं के क्षेत्र में आधुनिकता की प्रवृत्ति स्थूलता से अमूर्तता की ओर हुई है। आधुनिक कविता में भी इस प्रवृत्ति को देखा जा सकता है। अमूर्तन की इस प्रवृत्ति के कारण आधुनिक कविताओं में 'वस्तु' के स्तर पर भावों या स्थूल घटनाओं से आगे बढ़कर क्रमशः भावनाओं, विचारों और विचार-धाराओं की अभिव्यक्ति हुई है। भाव की अपेक्षा भावनाएँ, भावनाओं की अपेक्षा विचार और विचार की अपेक्षा विचारधाराएँ ज्यादा अमूर्त होती हैं। इसे समझने के लिए सामान्य और विशेष के नियमों का सहारा लेना होगा। विशिष्ट से सामान्य की ओर जाना स्थूलता से अमूर्तता की ओर जाना होता है। भाव विशिष्ट होते हैं। यों, ये लोगों में 'कॉमन' होते हैं, पर प्रकट विशिष्ट व्यक्तियों के आश्रय में ही होते हैं। और इनके प्रकटीकरण की एक निश्चित अवधि होती

है। भावनाएँ भावों की अपेक्षा सामान्य होती हैं। इसीलिए प्रायः भावनाओं को सामान्य संदर्भ में उद्धृत किया जाता है। प्रायः ऐसे वाक्य सुनने को मिलते रहते हैं कि 'लोगों की भावनाओं के साथ खिलवाड़ हुआ', या 'समाज की भावनाएँ आहत हुई' । देखने या महसूस करने के संदर्भ में भी भाव भावनाओं की अपेक्षा मूर्त प्रकृति के हुआ करते हैं। कौन किस भाव में है, यह उसके अनुभावों के माध्यम से दिख जाता है; पर कौन किस भावना में है, यह सहज ही देखा या महसूस नहीं किया जा सकता। भावों की अपेक्षा भावनाओं के सूक्ष्म होने का कारण यह भी है कि भावनाओं में विचारों का मिश्रण हो जाता है। भक्ति, प्रेम या आस्था भावनाएँ हैं, भाव स्थायी भावों को कहा जाता है। विचार और विचार-धारा के संदर्भ में भी कहा जा सकता है कि विचार विशिष्ट व्यक्तियों के होते हैं और विचारधाराएँ सामान्य जन की पूँजी हुआ करती हैं।

यों, अपनी व्याप्ति की अधिकता के अनुपात में भाव, भावनाएँ, विचार तथा विचारधाराएँ स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर बढ़ती जाती हैं। आधुनिक काल के विभिन्न काव्य-आंदोलनों में क्रमशः स्थूल घटनाओं और भावों के स्थान पर भावनाओं, विचारों और विचारधाराओं का महत्व बढ़ा। नयी कविता में भाव और भावनाओं की जगह प्रायः विचार और विचारधाराओं की अभिव्यक्ति हुई है। छोटी कविताओं में विचार-खंड और विचारधाराओं की अभिव्यक्ति के कारण ही नयी कविताओं को 'वैचारिक कविताओं' का नाम दिया गया। छोटी कविताओं के अलावा प्रबंध काव्यों में भी विचारों और विचारधाराओं की महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। उनके शिल्प में स्थूल घटनाओं और कथानकों की जगह सूक्ष्म भावनाएँ और विचारधाराएँ महत्वपूर्ण हो उठी हैं। अपनी अमूर्तता में ये भावनाएँ और विचारधाराएँ काव्यों के वस्तु-तत्व से संबंधित होती हैं। अतः वस्तु के स्तर पर इन काव्यों में परंपरागत शिल्प-विधान के तत्व 'कथानक' या 'कथावस्तु' के अलावा भी भावनाओं और विचारों से जुड़े हुए तत्वों का समावेश हुआ है। अतः भावनाओं और विचारधाराओं पर आधारित ये तत्व भी नये प्रबंध काव्यों के शिल्प के महत्वपूर्ण अंग हैं। यों ये अपनी प्रकृति में अमूर्त होते हैं, पर काव्य को मूर्त रूप प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। इस प्रकार ये काव्य-शिल्प के उपादान या सामग्री के रूप में कार्य करते हैं। अतः ये शिल्प-विधान के महत्वपूर्ण अंग हैं। इस तरह इस शोध-प्रबंध में नये प्रबंध काव्यों के शिल्प-विधान के तत्वों को दो भागों में बाँटकर देखा गया गया है। इन तत्वों में एक मूर्त तत्व हैं और दूसरे अमूर्त। अमूर्त तत्वों को शिल्प के उपादान के रूप में रखा गया है और मूर्त तत्वों को शिल्प के रूप-विधान के रूप में। यों, ये दोनों प्रकार के तत्व काव्य के शिल्प के दो पक्षों 'वस्तु' और 'रूप' से संबंधित हैं। शिल्प के उपादान या शिल्प के अमूर्त तत्व काव्य के वस्तु-तत्व से और शिल्प के रूप-विधान या शिल्प के मूर्त तत्व इसके रूप-तत्व से संबंधित हैं।

नये प्रबंध काव्यों में वस्तुगत शिल्प के रूप में प्रयुक्त भावनाएँ, विचार और विचारधाराएँ प्रायः आधुनिकता के तत्व मानी जाती हैं, और अपनी प्रकृति में ये सूक्ष्म होती हैं। स्थूल मिथकीय घटनाओं

और कथाओं में निहत सूक्ष्म संभावनाओं की तलाश और उनकी वैचारिक या भावनात्मक अभिव्यक्ति के माध्यम से मिथकीय कथाओं में आधुनिकता का समावेश किया गया है। मिथकीय कथाओं में क्योंकि आधुनिकता के तत्व समाहित हैं, इसलिए आधुनिक कवियों के मस्तिष्क में इनके माध्यम से एक मिथकीय-चेतना का निर्माण हुआ। यों, इस मिथकीय-चेतना का निर्माण उनकी आधुनिक-चेतना के सहारे ही हुआ। अतः कहा जा सकता है कि नये प्रबंध-काव्यों में मिथकीय-चेतना के साथ-साथ आधुनिक-चेतना घुली-मिली है। यों, इनमें भी प्रमुखता आधुनिक-चेतना की ही होती है। इस प्रकार इन काव्यों में आधुनिक-चेतना का विकास और विस्तार हुआ है, मिथकीय-चेतना आधार-रूप में ही उपस्थित हुई है। आधुनिकता के तत्वों का व्यापक रूप में समावेश होने के कारण इन काव्यों के शिल्प के उपादान के रूप में उनकी उपस्थिति महत्वपूर्ण है। शिल्प के उपादान का अर्थ, जैसा कि स्पष्ट किया गया, शिल्प-निर्माण की अमूर्त सामग्रियों से है। इन सामग्रियों के उपयोग से काव्य का जो रूप बनकर हमारे सामने आता है, वह शिल्प का मूर्त रूप-विधान होता है। अपनी अमूर्त प्रकृति में शिल्पगत उपादान काव्य के वस्तु-तत्व के अंग होते हैं, और अपनी अपेक्षाकृत मूर्त प्रकृति में शिल्प के रूप-विधान उसके रूप-तत्व के। यों, नये प्रबंध-काव्यों में वस्तु के स्तर पर शिल्प के उपादानों में मिथकीय-चेतना, आधुनिकता-बोध, मूल्यान्वेषण की चिंता, दार्शनिकता और विमर्श लगभग सभी प्रबंध-काव्यों में 'कॉमन' रूप से उपस्थित पाये जाते हैं। अतः इस शोध-प्रबंध में इन प्रबंध-काव्यों के शिल्पगत उपादानों के विवेचन और विश्लेषण के क्रम में इन्हें मुख्य आधार बनाया गया है।

वस्तु के स्तर पर नये प्रबंध-काव्यों में शिल्प के उपादान के रूप में मिथकीय-चेतना के साथ विविध आधुनिक तत्वों का समावेश हुआ है। ये सभी तत्व शिल्प के उपादान या शिल्प के अमूर्त रूप की श्रेणी में आएँगे। शिल्प के इन अमूर्त तत्वों के सहयोग से निर्मित होकर प्रबंध-काव्यों का जो रूप हमारे सामने आता है, उसके शिल्प के रूप में प्रबंध-काव्यों के परंपरागत तत्वों की गणना होनी चाहिए। ये परंपरागत तत्व कथानक, पात्र, कथोपकथन, देशकाल तथा वातावरण, भाषा-शैली और उद्देश्य हैं। ये सभी तत्व शिल्प के मूर्त रूप से संबंधित होते हैं। अतः इन तत्वों के विवेचन-विश्लेषण के लिए एक अलग अध्याय बनाया गया है। शिल्प के उपादानों के विवेचन के क्रम में प्रत्येक प्रबंध काव्य को अलग-अलग लिया गया है, जबकि शिल्प के रूप-विधान के विवेचन के क्रम में सभी काव्यों का एक साथ विवेचन किया गया है। ऐसा किसी ख़ास उद्देश्य के तहत नहीं, बल्कि नये प्रबंध काव्यों की लगभग समान प्रवृत्तियों और विषयों के कारण किया गया है। इसके अलावा नये प्रबंध काव्यों में प्रयुक्त 'अमूर्तन की प्रवृत्ति' के कारण भी ऐसा किया गया है। अमूर्तन की प्रवृत्ति के कारण प्रबंध काव्यों में स्थूल घटनाओं या कथाओं की जगह भावनाओं और विचारों को महत्व दिया जाता है। इस प्रवृत्ति के कारण पात्रों और घटनाओं का प्रतीकीकरण भी कर दिया जाता है। अतः महत्व वहाँ कथाओं या पात्रों का नहीं, बल्कि विचारों और परिस्थितियों का होता है। शिल्प के उपादानों में वस्तु के तमाम तत्व

समाहित रहते हैं, अतः उनका विवेचन उपादानों के विवेचन के क्रम में किया जा चुका था। इसलिए शिल्प के मूर्त रूप के तत्वों के विवेचन के क्रम में सभी काव्यों को संयुक्त कर दिया गया है। 'कथानक' का महत्व गौण होने के कारण अब इसके स्थान पर 'विषयवस्तु' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस शोध-प्रबंध में भी कथानक की जगह 'विषयवस्तु' को विवेचन का आधार बनाया गया है। काव्यों में 'पात्रों' की स्थूलता में अमूर्तन लाने के लिए उनका प्रतीकीकरण कर दिया गया है। इसी संदर्भ में उनका विवेचन-विश्लेषण इस प्रबंध में किया गया है। 'कथोपकथन' भाषा का अंग है, अतः उसका विवेचन अलग से नहीं किया गया है। यों, भाषा के रूप का विवेचन इसमें अधिक विस्तार के साथ किया गया है, क्योंकि शिल्प को मूर्त रूप देने का वह प्राथमिक और अनिवार्य माध्यम तथा तत्व भी है। 'देशकाल तथा वातावरण' का इन काव्यों में बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। इनका प्रतीकीकरण करते हुए मिथकीय युग से इनका संक्रमण आधुनिक युग में संभव किया गया है। 'उद्देश्य' यों अमूर्त तत्व है, और इसीलिए काव्यों के शिल्प के अमूर्त तत्वों के विवेचन-विश्लेषण के क्रम में उसकी उपस्थिति अप्रत्यक्ष रूप से होती रही है, पर काव्य का परंपरागत तत्व होने के कारण इसे शिल्प के मूर्त रूपों में शामिल करते हुए काव्यों के उद्देश्यों को स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार प्रबंध-काव्यों के शिल्प के अमूर्त तत्वों में जहाँ मिथकीय-चेतना, आधुनिकता-बोध, मूल्यान्वेषण की चिंता, दार्शनिकता तथा विमर्श को रखा गया है तो वहीं इसके मूर्त तत्वों में विषयवस्तु, पात्र, देशकाल तथा वातावरण भाषा तथा उद्देश्य को रखा गया है। शिल्प के अमूर्त और मूर्त तत्वों के विवेचन-विश्लेषण के अलावा एक अलग अध्याय के रूप में इन काव्यों के शिल्प निर्माण की पद्धति का विवेचन-विश्लेषण और मूल्यांकन किया गया है। इस अध्याय में भी सभी प्रबंध काव्यों को अलग-अलग विवेचन-विश्लेषण का आधार बनया गया है। यों, तीन अलग-अलग अध्यायों में शिल्प-निर्माण की प्रक्रिया, निर्मित शिल्प के रूप तथा शिल्प-निर्माण की पद्धति का विवेचन-विश्लेषण और मूल्यांकन इस प्रबंध में किया गया है।

इस प्रबंध में शोध के लिए दस प्रबंध काव्यों का चुनाव किया गया है। शामिल प्रबंध काव्यों में प्रकाशन-वर्ष के क्रम से अंधा युग (1954), कनुप्रिया (1959), संशय की एक रात (1962), आत्मजयी (1965), एक कंठ विषपायी (1968), शंबूक (1968), एक पुरुष और (1974), महाप्रस्थान (1975), सूर्यपुत्र (1975) और अग्निलीक (1976) हैं। चुनाव का आधार उनकी मिथकीय प्रकृति, प्रसिद्धि और कवियों तथा रचनाओं की संख्या रही है। जहाँ भी एक कवि की दो रचनाओं को शामिल किया गया है, वहाँ दोनों रचनाओं का मिथकीय आधार अलग-अलग रहा है। धर्मवीर भारती के अंधा युग और कनुप्रिया, दोनों प्रबंध काव्यों को शामिल किया गया है। यों, दोनों काव्यों में जीवन को दो दृष्टिकोणों से देखा गया है। इसी तरह नरेश मेहता के 'संशय की एक रात' और 'महाप्रस्थान' दोनों प्रबंध काव्यों को शामिल किया गया है। इनमें से एक रामायण और एक महाभारत की घटनाओं को आधार बनाता है। नरेश मेहता के दो और मिथकीय प्रबंध काव्य हैं—शबरी और प्रवाद पर्व। ये दोनों रामायण की

कथाओं को आधार बनाकर लिखे गये हैं। संख्या बढ़ने और प्रसिद्धि में उक्त दोनों काव्यों से कमतर होने के कारण इन्हें शामिल नहीं किया जा सका है। नयी कविता के ऐसे कुछ और चर्चित प्रबंध काव्यों को भी शामिल नहीं किया गया है जिनकी प्रकृति मिथकीय नहीं है। ऐसे प्रबंध काव्यों में डॉ. विनय कृत 'पुनर्वास का दंड', जगदीश गुप्त कृत 'गोपा गौतम' और देवराज कृत 'इला और अमिताभ' प्रमुख हैं। यों, मिथकीय कथाओं को आधार मानते हुए इस प्रबंध में आठ कवियों की दस रचनाओं को शामिल किया गया है। शामिल रचनाओं के शिल्प का विवेचन-विश्लेषण और मूल्यांकन शोध का उद्देश्य रहा है। नयी कविता के अनुभूतिगत स्रोत तथा वैचारिक और दार्शनिक आधार बहुत विस्तृत, जटिल तथा संयुक्त रहे हैं। अतः उसी के अनिरूप इस शोध-प्रबंध के प्रथम चार अध्याय सैद्धांतिक हैं। अध्ययन के लिए क्योंकि प्रबंध काव्यों को लिया गया है, अतः प्रथम अध्याय प्रबंध काव्यों की परिभाषा, स्वरूप और भेद पर केंद्रित है। नयी कविता के प्रबंध काव्य परंपरागत प्रबंध-भेद 'खंडकाव्य' के अंतर्गत रखे जाएँगे, अतः प्रबंध काव्य के दोनों भेदों—महाकाव्य और खंडकाव्य—में भेद दिखलाते हुए खंडकाव्य के स्वरूप विवेचन पर ध्यान केंद्रित किया गया है। प्रबंध काव्यों से मुक्तक काव्यों का भेद दिखलाने के लिए मुक्तकों की परिभाषा और भेदों पर भी इस अध्याय में बात की गयी है। देखा जाए तो नयी कविता के अधिकांश प्रबंध काव्य 'काव्य-नाटक' की विधा के हैं, अतः काव्य-नाटकों के उद्भव और विकास पर भी इस अध्याय में बात की गयी है। दूसरे अध्याय में नयी कविता आंदोलन, उसकी प्रवृत्तियों और उससे जुड़े हुए तथ्यों को प्रस्तुत करते हुए नयी कविता के प्रबंध काव्यों की प्रकृति और विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है। नयी कविता आंदोलन में प्रायः छोटी कविताओं को प्रमुखता दी गयी, और उन्हीं के आधार पर इस युग की काव्य-प्रवृत्तियाँ रेखांकित की गयीं हैं। इस युग के प्रबंध काव्यों में भी प्रायः वही प्रवृत्तियाँ प्रकट हुई हैं, जो छोटी कविताओं में हुई हैं। अतः उन प्रवृत्तियों को संयुक्त रूप से इस अध्याय में रेखांकित किया गया है। शोध का उद्देश्य नयी कविता के प्रबंध काव्यों का शिल्पगत अध्ययन और मूल्यांकन करना है। अतः इसी के अनुरूप इसका तीसरा अध्याय 'शिल्प' की परिभाषा, विशेषताओं और विविध काव्य-विधाओं के साथ शिल्प के संबंधों पर प्रकाश डालता है। परंपरागत प्रबंध काव्यों का शिल्प उत्तरोत्तर कैसे परिवर्तित होता गया है, इसे भी इस अध्याय में दिखाया गया है। 'शिल्प' का अर्थ पहले 'कला' लिया जाता था। बाद में यह हस्तकला या दस्तकारी के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। वहीं से यह काव्य-कला के अर्थ में काव्य-क्षेत्र में भी ले लिया गया। यद्यपि काव्य के क्षेत्र में शिल्प का संबंध सिर्फ रूप से जोड़ने की प्रवृत्ति है, पर काव्य का स्वरूप अन्य कलाओं की अपेक्षा अमूर्त होने के कारण इसे काव्य के वस्तु-तत्व के साथ अन्य तत्वों से भी जोड़ना चाहिए। काव्य के सभी तत्व उसके शिल्प में परिगणित किये जाने चाहिए। इसी दृष्टिकोण से इस प्रबंध में शिल्प के तत्वों की पहचान भी की गयी है। नयी कविता के प्रबंध काव्यों का शिल्प छायावाद में जन्मी लंबी कविताओं से मिलता-जुलता है, अतः इस अध्याय में लंबी कविताओं के शिल्प का भी विवेचन-विश्लेषण किया गया है।

नये प्रबंध-काव्यों में क्योंकि मिथक को आधार बनाते हुए आधुनिक-चेतना की अभिव्यक्ति की गयी है। अतः इसका चौथा अध्याय मिथक और आधुनिकता पर केंद्रित है। इसमें मिथक और आधुनिकता की परिभाषा तथा विशेषताएँ बताते हुए दोनों के आपसी तथा साहित्यिक संबंधों पर प्रकाश डाला गया है। मिथक और आधुनिकता से जुड़े हुए ऐसे सूक्ष्म अर्थ-भेदी शब्दों की अवधारणों को स्पष्ट करते हुए मिथक और आधुनिकता से इनके संबंधों को स्पष्ट किया गया है, जो अंततः मिथक और आधुनिकता को समझने में सहायक हैं। इसके बाद पाँचवें, छठे और सातवें अध्याय क्रमशः चुने हुए प्रबंध काव्यों के शिल्प के विविध पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं, जिनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। इन तीनों अध्यायों में क्रमशः शिल्प के अमूर्त तत्व, शिल्प के मूर्त तत्व और शिल्प के निर्माण की विविध पद्धतियों की पहचान करते हुए उनका विवेचन-विश्लेषण और मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है। यों, शिल्प के अमूर्त तत्वों का संबंध शिल्प-निर्माण की प्रक्रिया से, शिल्प के मूर्त तत्वों का संबंध शिल्प-निर्माण के परिणाम से तथा तीसरे का सबंध स्वयं शिल्प-निर्माण की पद्धतियों से है।

शिल्प के तत्वों की पहचान तथा उनके विवेचन-विश्लेषण और मूल्यांकन के उद्देश्य वाले इस शोध-प्रबंध की प्रकृति प्रायः आलोचनात्मक और व्याख्यात्मक ही है। नयी कविता का वैचारिक और दार्शनिक आधार बहुत विस्तृत और जटिल है। अतः उसकी व्याख्याएँ प्रायः जटिल और कठिन होती हैं। इसकी छोटी कविताओं की व्याख्या और भी जटिलता और दुरूहता से युक्त होती है। नयी कविता की इस प्रवृत्ति को प्रतिष्ठित आलोचकों ने भी रेखांकित किया है। यों, नयी कविता के दौर से व्याख्याओं का महत्व बढ़ गया है। अतः इस प्रबंध में पहचाने गये शिल्प के तत्वों तथा उनके प्रयोग की पद्धतियों की पहचान से यदि नयी कविता के प्रबंध-काव्यों को जानने-समझने में पाठकों को सहूलियत होती है, या उनकी व्याख्याओं के 'टूल्स' प्राप्त होते हैं, तो वही इस प्रबंध का महत्व है।

इस शोध-प्रबंध को पूरा करने में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से जिन लोगों का सहयोग मिला है, उन सबके प्रति मैं अपना आभार व्यक्त करता हूँ। मेरे शोध-निर्देशक प्रो. गजेंद्र कुमार पाठक, प्रो. रवि रंजन, प्रो. सच्चिदानंद चतुर्वेदी, डॉ. जे आत्माराम तथा विभाग के अन्य सभी गुरुजनों ने समय-समय पर मेरा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहयोग किया है। अतः मैं इन सभी गुरुजनों का सादर आभार प्रकट करता हूँ। कुछ मित्रों का भी सहयोग समय-समय पर प्राप्त होता रहा। उन्हें भी मैं अपना धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। माता-पिता और परिवार के सदस्यों का सहयोग जीवन के हर मोड़ पर मिलता ही रहता है। उनका धन्यवाद कहाँ तक ज्ञापित किया जाए !

राजेश कुमार यादव

हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद

# अनुक्रमणिका

**विषय-सामग्री** **पृष्ठ संख्या**


**भूमिका** **viii-xvi**

**अध्याय 1. प्रबंध काव्य : सैद्धांतिक पक्ष** **01-24**

1.1 प्रबंध काव्य तथा इसके भेद

1.2 प्रबंध काव्य तथा मुक्तक काव्य

1.3 प्रबंध काव्य तथा नाट्य-काव्य

**अध्याय 2. नयी कविता : सैद्धांतिक पक्ष** **25-52**

2.1 'नयी कविता' आंदोलन

2.2 'नयी कविता' की सामान्य प्रवृत्तियाँ

2.3 'नयी कविता' के प्रबंध काव्य

**अध्याय 3. शिल्प-विधान : सैद्धांतिक पक्ष** **53-75**

3.1 शिल्प क्या है ?

3.2 साहित्य और शिल्प

3.3 साहित्यिक-विधाएँ और शिल्प

3.4 प्रबंध काव्य और शिल्प

3.4.1 प्रबंध काव्य के शिल्प की अवधारणा

3.4.2 प्रबंध काव्य के शिल्प की हिंदी अवधारणा

3.4.3 क्या ऐसा भी हो सकता है कि किसी काव्य में कथा तो हो पर वह प्रबंध काव्य न हो?

3.4.4 हिंदी आलोचकों द्वारा लक्षित काव्य-रूप 'लंबी कविता' और 'प्रबंध काव्य'

**अध्याय 4. मिथक और आधुनिकता** **76-98**

4.1 मिथक : परिभाषा और स्वरूप

4.1.1 मिथक और दर्शन

4.1.2 मिथक और धर्म

4.1.3 मिथक और संस्कृति

4.1.4 मिथक, यथार्थ और मानवीय विश्वास

4.1.5 मिथक, किंवदंती, दंतकथा, लोककथा और निजंधरी कथाएँ

4.1.6 मिथक और साहित्य

4.1.7 मिथक और हिंदी साहित्य

4.2 आधुनिकता : अवधारणा और स्वरूप

4.2.1 आधुनिक, आधुनिकता, आधुनिकीकरण, आधुनिकतावाद और आधुनिकता-बोध
4.2.2 आधुनिकता : पाश्चात्य संदर्भ
4.2.3 आधुनिकता : भारतीय संदर्भ
4.2.4 आधुनिकता और साहित्य
4.3 मिथक और आधुनिकता का पारस्परिक संबंध
4.3.1 मिथक और आधुनिकता का सामंजस्य तथा साहित्य
**अध्याय 5. नयी कविता के प्रबंध काव्यों के शिल्पगत उपादान** **99-164**
**5.1 अंधा युग**
5.1.1 मिथकीय चेतना, 5.1.2 आधुनिकता-बोध, 5.1.3 मूल्यान्वेषण की चिंता, 5.14 दार्शनिकता, 5.1.5 विमर्श
**5.2 कनुप्रिया**
5.2.1 मिथकीय चेतना, 5.2.2 आधुनिकता-बोध, 5.2.3 मूल्यान्वेषण की चिंता, 5.2.4 दार्शनिकता, 5.2.5 विमर्श
**5.3 संशय की एक रात**
5.3.1 मिथकीय चेतना, 5.3.2 आधुनिकता-बोध, 5.3.3 मूल्यान्वेषण की चिंता, 5.3.4 दार्शनिकता, 5.3.5 विमर्श
**5.4 आत्मजयी**
5.4.1 मिथकीय चेतना, 5.4.2 आधुनिकता-बोध, 5.4.3 मूल्यान्वेषण की चिंता, 5.4.4 दार्शनिकता, 5.4.5 विमर्श
**5.5 एक कंठ विषपायी**
5.5.1 मिथकीय चेतना, 5.5.2 आधुनिकता-बोध, 5.5.3 मूल्यान्वेषण की चिंता, 5.5.4 दार्शनिकता, 5.5.5 विमर्श
**5.6 शंबूक**
5.6.1 मिथकीय चेतना, 5.6.2 आधुनिकता-बोध, 5.6.3 मूल्यान्वेषण की चिंता, 5.6.4 दार्शनिकता, 5.6.5 विमर्श
**5.7 एक पुरुष और**
5.7.1 मिथकीय चेतना, 5.7.2 आधुनिकता-बोध, 5.7.3 मूल्यान्वेषण की चिंता, 5.7.4 दार्शनिकता, 5.7.5 विमर्श

**5.8 महाप्रस्थान**

5.8.1 मिथकीय चेतना, 5.8.2 आधुनिकता-बोध, 5.8.3 मूल्यान्वेषण की चिंता, 5.8.4 दार्शनिकता, 5.8.5 विमर्श

**5.9 सूर्यपुत्र**

5.9.1 मिथकीय चेतना, 5.9.2 आधुनिकता-बोध, 5.9.3 मूल्यान्वेषण की चिंता, 5.9.4 दार्शनिकता, 5.9.5 विमर्श

**5.10 अग्निलीक**

5.10.1 मिथकीय चेतना, 5.10.2 आधुनिकता-बोध, 5.10.3 मूल्यान्वेषण की चिंता, 5.10.4 दार्शनिकता, 5.10.5 विमर्श

**अध्याय 6. नयी कविता के प्रबंध काव्यों के शिल्पगत रूप-विधान** **165-197**

6.1 विषयवस्तु

6.2 पात्र

6.3 देशकाल तथा वातावरण

6.4 भाषा

6.5 उद्देश्य

**अध्याय 7. नयी कविता के प्रबंध काव्यों का शिल्पगत विश्लेषण** **198-252**

7.1 अंधायुग, 7.2 कनुप्रिया, 7.3 संशय की एक रात, 7.4 आत्मजयी, 7.5 एक कंठ विषपायी, 7.6 शंबूक, 7.7 एक पुरुष और, 7.8 महाप्रस्थान, 7.9 सूर्यपुत्र, 7.10 अग्निलीक

**उपसंहार** **253-270**

**संदर्भ ग्रंथ सूची** **271-275**

**परिशिष्ट** **276-290**

# अध्याय 1.

## प्रबंध काव्य : सैद्धांतिक पक्ष


1.1 प्रबंध काव्य तथा इसके भेद

1.2 प्रबंध काव्य तथा मुक्तक काव्य

1.3 प्रबंध काव्य तथा नाट्य-काव्य

## 1. प्रबंध काव्य : सैद्धांतिक पक्ष

किसी भी चीज की परिभाषा मुख्यतः दो आधारों पर दी जा सकती है—सापेक्ष और निरपेक्ष। प्रबंध काव्य की सापेक्षधर्मी परिभाषा मुक्तक काव्य के सापेक्ष में, क्योंकि मुक्तक प्रबंध का विलोम है, यह दी जा सकती है कि प्रबंध काव्य वह है, जो मुक्तक काव्य न हो। ठीक वैसे ही जैसे पद्य वह है, जो गद्य न हो। यह सापेक्षी परिभाषा इसलिए सही कही जा सकती है क्योंकि काव्य के क्षेत्र में रूप के आधार पर इसके प्रबंध और मुक्तक तथा विधा के आधार पर गद्य और पद्य नामक दो भेद ही प्रचलित हैं—जिसे चंपू कहा जाता है वह इन्हीं गद्य और पद्य विधाओं को आपस में मिलाने से बनता है—अन्यथा दो से अधिक भेदों की स्थिति में यह तरीका अनुपयोगी ही साबित होगा। इस सापेक्षी परिभाषा के बोध के लिए आवश्यक है कि इसके विपरीत वाले पद या वस्तु की परिभाषा पता हो या उसे पता किया जाए। परिभाषा का दूसरा आधार स्वायत्त और निरपेक्ष होता है। यह निरपेक्ष रूप से उसी चीज का गुण, धर्म और लक्षण बताता है जो इसका लक्ष्य रहती है। परिभाषा का यह आधार ज्यादा टिकाऊ और विश्वसनीय होता है।

भारतीय काव्यशास्त्र में प्रबंध काव्य के मुख्यतः महाकाव्य और खंडकाव्य दो भेद किये गये। एक-दो आचार्यों ने कुछ अन्य भेदों को भी लक्षित किया पर बाद में उनको मान्यता नहीं मिली। इसका कारण आचार्यों का खुद आपस में मतभेद और अन्य लक्षित भेदों के लक्षणों का एक दूसरे में घुसपैठ करना रहा है। जो भेद स्पष्ट थे, समय प्रवाह में वही बचे रहे और प्रचलित भी हुए। शुरू-शुरू में प्रबंध काव्य सिर्फ महाकाव्य का पर्याय माना जाता था। इसके किसी अपर भेद की चर्चा नहीं थी, पर बाद के आचार्यों ने इसके कुछ अन्य भेदों को भी लक्षित किया।

नयी कविता में लिखे हुए प्रबंध काव्य कम से कम महाकाव्यों की श्रेणी में तो नहीं ही आएँगे, चाहे संस्कृत के आचार्यों के नियमों को कितना भी शिथिल कर लिया जाए ! अब, जब ये सारे काव्य महाकाव्य की श्रेणी में नहीं आएँगे, तब बचा हुआ रूप खंडकाव्य का ही होगा; यद्यपि बाद में हिंदी के कुछ आचार्यों—भगीरथ मिश्र, विश्वनाथप्रसाद मिश्र प्रभृत—ने खंडकाव्य और महाकाव्य के अलावा भी प्रबंध काव्य के कुछ भेद स्वीकार किये, पर इनको भी व्यापक स्वीकृति नहीं मिली। कारण, संस्कृत और हिंदी आचार्यों द्वारा लक्षित अन्य भेदों के लक्षणों को भी खंडकाव्य के लक्षणों में शामिल कर लिया गया, क्योंकि इनमें अंतर बहुत ज्यादा नहीं थे।

नयी कविता की प्रबंध कृतियों में प्रायः काव्य-नाटक शामिल हैं। नाटकों को संस्कृत से ही गद्य और पद्य का मिश्र रूप माना जाता रहा है, और संस्कृत में यह उसी रूप में लिखा भी जाता रहा है। पर

काव्य-नाटक, जोकि पूरी तरह पद्य में रचे जाते हैं, हिंदी की अपनी विकसित परंपरा में हैं। क्योंकि इनकी विधा पद्य में है, अतः ये काव्य श्रेणी में आएँगे, गद्य में नहीं। काव्य श्रेणी में आ जाने पर इन्हें भी रूप के स्तर पर काव्य के ही किसी विभाग में स्थान दिया जा सकता है—महाकाव्य (रामचंद्रिका) या खंडकाव्य (अंधायुग) में; यद्यपि ये काव्य के एक अलग माध्यम—दृश्य माध्यम—हैं और इनका अपना स्वरूप श्रव्य-माध्यमों से स्वतः पृथक होता है। स्वरूप-भेद को ध्यान में रखते हुए इन्हें हिंदी में स्वीकृत और प्रचलित 'काव्य-नाटक' के नाम से ही स्वीकारा जाना उचित होगा। फिर भी, क्योंकि हैं ये भी काव्य के भीतर ही, और इनका रूप भी प्रबंधात्मक है, अतः इनको भी प्रबंध काव्य के भीतर स्थान दिया जा सकता है। हिंदी के बहुत सारे प्रतिष्ठित आलोचकों—नंददुलारे वाजपेयी, रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि—ने 'अंधा युग' सदृश काव्य-नाटकों को 'नयी कविता की महान उपलब्धि' या 'प्रबंध-काव्य' स्वीकार किया है। वैसे भी संस्कृत आचार्यों ने साहित्य मात्र का नाम 'काव्य' देकर इसकी दोनों विधाओं, गद्य और पद्य, के विविध रूपों को प्रबंध और मुक्तक काव्य के अंतर्गत ही रखा था। आचार्य वामन ने दश रूपकों (नाटकों) को भी प्रबंध काव्य की श्रेणी में स्थान देते हुए इन्हें प्रबंध-काव्यों में श्रेष्ठ कहा था। प्रबंध का मतलब ही होता था कथावस्तु की पूर्वापरता से बंधा हुआ, जोकि नाटक भी होता था। आज भी प्रबंध काव्य के ही एक रूप 'कथा-साहित्य' में, जो गद्य-विधा की रचनाओं के लिए रूढ़ हो गया है, उपन्यासों और कहानियों के साथ-साथ नाटकों का भी जिक्र होता है। अतः जब 'नयी कविता के प्रबंध काव्य' कहा जाएगा तब न सिर्फ उसमें 'आत्मजयी' सरीखे खंडकाव्य ही, बल्कि 'अंधायुग' सरीखे काव्य-नाटक भी आ जाएँगे।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि नयी कविता के प्रबंध काव्य महाकाव्यों की श्रेणी में नहीं आएँगे, क्योंकि इनमें जीवन का कोई एक पक्ष लेकर रचना में प्रवृत्त हुआ गया है। अतः संस्कृत आचार्यों द्वारा, क्योंकि हिंदी का कोई अपना काव्यशास्त्र नहीं है, महाकाव्य से इतर लक्षित प्रबंध काव्य के भेदों की शास्त्रीय चर्चा पर ध्यान ले जाना इस अध्याय का मुख्य उद्देश्य होगा, यद्यपि महाकाव्य के लक्षणों की जानकारी की अपेक्षा भी यहाँ इसलिए ही होगी कि महाकाव्य के बरअक्स ही खंडकाव्य का स्वरूप स्पष्ट हो पाए। अतः कम से कम महाकाव्य के स्वरूप की अवधारणा को जानना भी एक तरह से आवश्यक होगा। उसके बाद बल महाकाव्येतर प्रबंध काव्य-रूपों पर आकर टिकेगा। महाकाव्य से इतर खंडकाव्य के अलावा प्रबंध काव्य के किसी इतर भेद जैसे, 'एकार्थ काव्य' या 'निबद्ध काव्य' आदि को परंपरा में मान्यता नहीं मिली। अतः खंडकाव्य के अलावा इस प्रकार के किसी अन्य भेद को व्यापक मान्यता क्यों

नहीं मिली, इसका विवेचन करने की कोशिश की जाएगी। महाकाव्य से इतर अन्य प्रबंध रूपों को अपने में समाहित करने वाले खंडकाव्य का वास्तविक स्वरूप क्या है, यह निर्धारित करने की कोशिश की जाएगी। अतः ध्यान मुख्यतः उन्हीं आचार्यों पर लक्षित किया जाएगा जिन्होंने प्रबंध काव्य के संदर्भ में महाकाव्य से इतर भेदों को लक्षित किया, यद्यपि भामह के प्रथम ज्ञात काव्यशास्त्री होने के नाते उनके द्वारा किये गये काव्य-भेदों का विस्तृत विवेचन अपेक्षित होगा। उन्होंने सबसे पहले महाकाव्य का लक्षण दिया, जिसे थोड़े फेर-फार के साथ बाद के सब आचार्यों ने स्वीकार कर लिया। अतः उनके द्वारा दिए गये महाकाव्य के लक्षण का जिक्र प्रबंध काव्य विवेचन का प्रस्थान-बिंदु होने के नाते आवश्यक है, यह इसलिए भी आवश्यक है कि उसके सापेक्ष में खंडकाव्य की परिभाषा के अनुसार उसका रूप समझा जा सके। ऊपर यह कहा गया है कि सापेक्षधर्मी परिभाषाओं में उस वस्तु की परिभाषा या स्वरूप जानना आवश्यक होता है जिसके सापेक्षता में किसी वस्तु को देखा जाता है। मुक्तक के सापेक्ष प्रबंध को जानने के लिए मुक्तक के स्वरूप को जानना आवश्यक है। मतलब मुक्तकों की परिभाषाएँ जानकर उनका विश्लेषण इसलिए आवश्यक है कि इनके सापेक्ष में, जैसा कि पहले लक्षित किया गया है, प्रबंध काव्य का स्वरूप समझने में सुविधा होगी।

काव्य-नाटकों का अस्तित्व संस्कृत में प्रायः भले न रहा हो पर नाटक संस्कृत की अपनी अनुपम निधि रहे हैं। वे प्रायः गद्य और पद्य में रहा करते थे। इनके पुराने शास्त्रीय स्वरूप का जरूरत-भर संक्षिप्त परिचय प्राप्त करने से इसके सापेक्ष नए नाट्य-रूपों के रूप में विकसित काव्य-नाटकों के रूपों का स्वरूप निर्धारित करने में सुविधा होगी। अतः नाटकों के स्वरूप और भेद-प्रभेदों की चर्चा करते हुए काव्य-नाटक या गीति-नाट्य के स्वरूप और प्रकृति को भी जानने का प्रयास किया जाएगा।

आधुनिक कविता ने संस्कृत आचार्यों द्वारा दिये गये प्रबंध के बहुत सारे लक्षणों को उपेक्षित कर प्रबंध रचनाएँ की हैं। अतः इस परिप्रेक्ष्य में यहाँ यह स्पष्ट कर देना ज़रूरी प्रतीत हो रहा है कि हर युग के साहित्य का स्वरूप अपने समय की प्रवृत्ति के अनुसार रचा जाता है। संस्कृत काव्यशास्त्र में अपने युग की प्रवृत्तियों के हिसाब से रचनाओं के लिए नियम क़ानून बनाये गये थे। समय बदलने के साथ समयानुकूल रचनाएँ गढ़ने के लिए यह ज़रूरी नहीं है कि पुराने नियमों और कायदों के अनुसार ही रचना की जाए। यह बात सिर्फ साहित्य के क्षेत्र में बनी व्यवस्था के बारे में ही नहीं, अपितु संसार के हर क्षेत्रों में लागू होती है। प्राकृतिक संरचना, सामाजिक संरचना, राजनीतिक संरचना आदि समय बदलने के साथ-साथ बदलती रहती हैं। भारत में पहले राजतंत्र हुआ करता था, अब लोकतंत्र है। समाज के नियम क़ानून लोकतंत्र में

आकर राजतंत्र की अपेक्षा बहुत बदल गये हैं। अतः परिवर्तन प्रकृति का नियम है, वह चाहे साहित्य की प्रकृति हो या समाज की, या स्वयं प्रकृति की। अतः आज के साहित्य का स्वरूप संस्कृत के साहित्य के स्वरूप से स्वरूपतः भिन्न होगा ही।

अब प्रश्न यह हो सकता है कि यदि आज के साहित्य का स्वरूप उस साहित्य से स्वरूपतः भिन्न है जिसके लिए पुराने काव्यशास्त्रीय नियम बनाये गये थे, तो आज के साहित्य के मूल्यांकन के समय उन नियम कानूनों की चर्चा क्यों ? इसका जवाब यह है कि यद्यपि साहित्य ने आज अपने पुराने रूप के कुछ अंगों को छोड़कर बहुत–कुछ नया रूप ग्रहण कर लिया है, पर है तो वह साहित्य ही। मतलब इसके साहित्य होने में ही इसका सामना अपने पुराने रूप से होना स्वाभाविक है कि यह कैसे अपने पुराने स्वरूप से भिन्न या समान है ? कौन सी नयी विशेषताएँ इसने अर्जित कर ली हैं जिसकी वजह से यह कहा जा सकता है कि नया साहित्य अपने पुराने रूप को परिवर्तित कर चुका है। पुराने रूप की चर्चा इसलिए भी अपेक्षित है कि नये रूप में आने के लिए साहित्य ने अपने पुराने रूप में परिवर्तन किया है, पुराने रूप को छोड़ा नहीं है। रूप को छोड़ना एक बात है, और उसमें परिवर्तन करना दूसरी बात है। क्योंकि रूप वही है, उसमें परिवर्तन हो गये हैं, अतः उस रूप का ज़रूरत-भर का इतिहास जानना अपेक्षित है। रूप परिवर्तन के पीछे कौन से ऐसे कारण थे जिसने रूप को परिवर्तित करने के लिए प्रेरित किया, नया रूप पुराने से भिन्न किस स्तर पर है, आदि बातों के लिए पुराने साहित्यिक लक्षणों को जानना भी आवश्यक है। अतः नये साहित्य के मूल्यांकन के समय पुराने साहित्यिक नियमों की चर्चा उस प्रकार के काव्य के रूप की पृष्ठभूमि के लिए आवश्यक है, उन नियमों को मूल्यांकन के प्रतिमान के रूप में स्वीकार करने के लिए नहीं। मतलब चर्चा रूप के इतिहास के लिए आवश्यक है, मूल्यांकन के बरअक्स।

यह भी स्पष्ट कर देना यहाँ ज़रूरी प्रतीत हो रहा है कि संस्कृत काव्यशात्र में काव्य रचने के जो नियम या लक्षण बनाए गये उनकी प्रकृति प्रायः कवि-शिक्षा परक है। कवियों को काव्य-रचना के नियम समझाने के लिए शास्त्रों में छोटी-छोटी बातों के लिए भी संकेत दे दिये जाते थे। इस तरह एक तरह से रचनाकार की स्वतंत्र प्रतिभा को नियंत्रित करने वाले भी हुआ करते थे ये शास्त्रीय-नियम। ये कथावस्तु को भी एक प्रकार से नियंत्रित करने वाले होते थे। जैसे गद्य-काव्य के अंतर्गत भामह ने 'कथा' के लक्षण देते हुए कहा है—

*कवेरभिप्रायकृतैः कथानैः कैश्चिदंकिता।*
*कन्याहरण संग्राम – विप्रलाम्भोदयान्विता। २७।*

*न वक्त्रापरवक्त्राभ्यां युक्ता नोच्छ्वासवत्यपि ।*
*संस्कृतं संस्कृता चेष्टा कथापभ्रंशभात्कथा । २८।*
*अस्यै: स्वरचितं तस्यां नायकेन तु नोच्यते ।*
*स्वगुणाविष्कृति कुर्यादभिजातः कथं जनः । २९।* [1]

'अर्थात वक्ता, प्रतिवक्ता तथा उच्छवास आदि विभागों से रहित, कन्या के हरण, उसके कारण संग्राम, उसके विप्रलंभ, पुनः प्राप्ति रूप उदय आदि के वर्णन से युक्त कवि के स्वकल्पित कथानक के आधार पर, संस्कृत, प्राकृत अथवा अपभ्रंश भाषा में लिखी गई कथा 'कथा' नाम से कही जाती है। उसमें अन्य लोग अपने तथा नायक के चरितादि का वर्णन करते हैं। नायक अपने चरित का वर्णन नहीं करता है। क्योंकि कोई अभिजात कुलीन व्यक्ति अपने गुणों को स्वयं अपने मुख से वर्णन करे यह उचित प्रतीत नहीं होता है।'[2] यहाँ पर इसके कथानक को नियंत्रित करने वाला नियम यह बताया गया है कि इसका कथानक कन्या-हरण से संबंधित होगा। आगे कथानक के विस्तार के लिए बताया गया है कि कन्या-हरण, उसको लेकर युद्ध, उससे विछड़ना, उसका वियोग, उससे पुनः मिलन आदि के रूप वाली कथा होनी चाहिए। मतलब कन्या-हरण से संबंधित कथानक नहीं होगा तो वह 'कथा' के क्षेत्र में नहीं आयेगा ! भामह के बाद आने वाले आचार्य दंडी ने भामह द्वारा दिये गये 'कथा' और 'आख्यायिका' के लक्षणों से कई असहमतियाँ व्यक्त कीं, जिनमें से एक असहमति इस बात को लेकर भी थी कि कथा या आख्यायिका का कथानक कन्या-हरण, वियोग, युद्ध आदि घटनाओं का अनुसरण करने वाला हो। उन्होंने यह मत व्यक्त किया कि कन्या-हरण, युद्ध आदि कथा या आख्यायिका का कोई भेदक लक्षण नहीं प्रकट करते। कवि अपने मंतव्य के अनुसार किसी भी घटना को लेकर कथा की रचना करने के लिए स्वतंत्र है।[3] यही नहीं, आचार्य दंडी ने महाकाव्य के भी लक्षण गिनाने के बाद उसी लक्षण पर अक्षरशः चलने की बाध्यता से कवियों को छूट प्रदान करने की मुद्रा अपनायी है, यह कहते हुए कि उनके द्वारा वर्णित महाकाव्यों के तमाम अंगों में से यदि किसी काव्य में किसी अंग की न्यूनता भी है तो भी वह काव्य दोषयुक्त नहीं हो जायेगा, यदि उसमें अपनी विषयवस्तु, रूप-सौष्ठव आदि के सौंदर्य के कारण पाठकों को अपनी ओर

---

[1] काव्यालंकार सूत्रवृत्ति : आचार्य वामन, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर सिद्धांत शिरोमणि, संपादक डॉ. नगेन्द्र, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, 1954, पृष्ठ 64-65

[2] काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, पृष्ठ 65

[3] कन्याहरण संग्राम विप्रलाम्भोदयादयः
सर्गबंधसमा एव नैते वैशेषिका गुणाः ।२९।
कविभावकृतं चिह्नमन्यत्रापि न दुष्यति
मुखमिष्टार्थसंसिधै किं हि न स्यात्कृतात्मनाम् ।३०। (काव्यादर्श, आचार्य दंडी)

आकर्षित कर लेने की क्षमता है तो ।[4] इससे शास्त्र के क्षेत्र में आचार्य दंडी के प्रगतिशील दृष्टिकोण का परिचय प्राप्त होता है।

प्रबंध काव्य आरंभ में सर्गबद्ध काव्य का, और सर्गबद्ध काव्य महाकाव्य का पर्याय था। महाकाव्य के स्वरूप को लेकर जो शास्त्रीय नियम बनाये गये वे भी काव्य-रचना सिखाने के ही उद्देश्य से प्रेरित थे। वे महाकाव्य के मूल्यांकन या आस्वाद की कोई ठोस कसौटी नहीं निर्मित करते थे। रूप के स्तर पर उन नियमों के सहारे भले ही कोरा मूल्यांकन कर देने की प्रवृत्ति कुछ लोग पाल रखें कि अमुक महाकाव्य की कथावस्तु इतिहास प्रसिद्ध या पौराणिक नहीं है, अमुक में नायक धीरोदात्तादि श्रेणी का नहीं है, अमुक में सर्ग आठ से कम हैं आदि; पर ये मूल्यांकन अंततः ग़लत साबित हो जाएँगे, अगर रचना में दोष-रहित आस्वादन-क्षमता विद्यमान है। अतः कहा जा सकता है कि अपने निर्धारित रूप में से यदि कुछ या बहुत अंगो को छोड़कर या और अलग से कुछ अंगों को जोड़कर रचना आकर्षक बन सकी है तो वह दोष रहित होगी। पर इसका ये मतलब नहीं कि आचार्यों द्वारा बनाये गये लक्षणों का कोई महत्व ही नहीं है ! लक्षण होंगे तभी उनका अतिक्रमण संभव होगा। मतलब यह अतिक्रमण भी लक्षणों के सहारे ही होता है। जब कवि को रूप का ज्ञान या आभास हो जाता है तभी वह उसका अतिक्रमण कर सकता है, बिना ज्ञान या आभास के अतिक्रमण संभव नहीं। खैर, बात यह चल रही है कि रचना के निर्माण के लिए बनाये गये लक्षण उसके मूल्यांकन या आस्वाद की कोई ठोस कसौटी नहीं निर्मित करते थे। मूल्यांकन के लिए शास्त्रीय प्रतिमान गढ़ने की परंपरा तो अलग से चल रही थी, जिसमें काव्य के अलग-अलग तत्वों को लेकर सिद्धांत गढ़े जा रहे थे, जैसे रस-सिद्धांत, अलंकार-सिद्धांत, गुण और रीति-सिद्धांत, वक्रोक्ति-सिद्धांत, ध्वनि-सिद्धांत और औचित्य-सिद्धांत। अतः मूल्यांकन और आस्वाद में इन तत्वों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है।

पहले कहा गया कि आरंभ में प्रबंधकाव्य महाकाव्य का पर्याय था। अतः महाकाव्य के स्वरूप के विषय में जानना यहाँ अपेक्षित होगा। छठवीं शताब्दी के आचार्य भामह से लेकर चौदहवीं शताब्दी के आचार्य विश्वनाथ तक ने महाकाव्य के लक्षण दिये हैं। यद्यपि भामह महाकाव्य के लक्षण देने वाले पहले ज्ञात आचार्य हैं, और बाद के उन आचार्यों पर इनके लक्षण का प्रभाव है जिन्होंने महाकाव्य के लक्षण दिये हैं, फिर भी सभी आचार्यों ने अपनी तरफ से कोई न कोई छोटा-बड़ा लक्षण उसमें जोड़ या उसमें से घटा ही दिया है। यदि उसी लक्षण को हर एक आचार्य मान्यता प्रदान करना चाहता तो अपनी तरफ से

[4] न्यूनमप्यत्र यैः कश्चिदंगैः काव्यं न दुष्यति।
यद्युपात्त्तेषु सम्पत्तिराराधयति तद्विदः।१.२०। (काव्यादर्श, आचार्य दंडी)

वह आवश्यकता ही क्यों महसूस करता दुबारा लक्षण निर्धारित करने की ! हर आचार्य को पहले निर्धारित लक्षण में कुछ कमी महसूस हुई होगी अतः उसने उस कमी को पूरा करने के लिए अपनी तरफ से लक्षण देना उचित समझा होगा। इस संदर्भ में एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि काव्यादि में लक्ष्य को देखकर लक्षण के निर्धारण की प्रवृत्ति रही है। उत्तरोत्तर जिस प्रकार के महाकाव्य रचते चले गये और उनको सुधी पाठकों द्वारा मान्यता मिलती चली गयी, उसी हिसाब से आचार्यगण उसके शास्त्र का रूप भी परिवर्तित करते गये। यह भी उल्लेखनीय ही है कि महाकाव्य के लिए पहले से निर्धारित किसी रूढ़ लक्षण का जब किसी कवि ने अक्षरशः पालन न करते हुए भी महाकाव्य के क्षेत्र में बड़ी रचना दी होगी, तब वह बड़ी रचना महाकाव्य का एक प्रकार से व्यावहारिक प्रतिमान बनी होगी और आचार्यों ने उस या उस जैसी और आने वाली कृतियों को लक्षित करके पहले से निर्धारित लक्षणों में संशोधन करना चाहा होगा। अतः उत्तरोतर बदलते जाने वाले प्रतिमानों के आलोक में यह बात स्पष्ट है कि रचना के लिए कोई प्रतिमान रूढ़ नहीं हो सकते, यद्यपि रचना के पारंपरिक स्वरूपादि के विषय में पूर्व अनुमान के लिए निर्धारित प्रतिमान अपनी ज़रूरत की महत्ता बनाये रखते हैं।

आचार्य विश्वनाथ ने अपने ग्रंथ 'साहित्य दर्पण' में महाकाव्य के विषय में यह कहा है कि महाकाव्य को आठ सर्गों में विभाजित होना चाहिए। पर हिंदी की रचना 'रामचरितमानस' सात ही सर्गों में विभाजित है, और मात्र इसीलिए उस पर यह दोषारोपण नहीं किया जा सकता कि वह महाकाव्य नहीं है। रामचरितमानस में लगभग वे सभी गुण मौजूद हैं जो एक अच्छे महाकाव्य में होने चाहिए। अतः यह जरूरी नहीं है कि आचार्यों द्वारा दिया गया हर लक्षण काव्य-कृति पर घटित ही हो, और न हर कवि लक्षणों को ध्यान में रखकर रचना ही करता है। काव्य-रचना में वे तत्व आएँगे, वे लक्षण आएँगे जो जरूरी होते हैं, जिनके न रहने से काव्य-रचना गुणात्मक रूप से प्रभावित हो सकती है। इसी का ध्यान उत्तरोत्तर कवियों द्वारा रखा जाता है। किसी रूढ़ि में बंध कर कोई कवि रचना नहीं करना चाहता, फिर भी अपने-अपने समय के हिसाब से साहित्यिक प्रतिमानों का ध्यान प्रायः कविगण रखते ही हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र वस्तुतः अपने समय के साहित्य के रूप को स्थायित्व प्रदान करना चाहता था, जिसने उसके लिए तमाम प्रतिमान स्थिर किये, रूप के स्तर भी और वस्तु के स्तर पर भी, काव्य-आत्मा के स्तर पर भी और काव्य-शरीर के स्तर पर भी। इस संदर्भ में संस्कृत आचार्यों द्वारा काव्य-तत्व निर्धारण के विभिन्न सिद्धांत और काव्य-रूप के निर्धारण के लिए विभिन्न लक्षण उल्लेखनीय हैं।

उपर्युक्त बातों के आलोक में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि संस्कृत काव्यशास्त्र द्वारा निर्धारित महाकाव्यादि के लक्षणों को आधार मानकर वर्तमान समय में प्रबंध काव्य आदि नहीं लिखे जा रहे हैं,

और हिंदी के तमाम प्रबंधों ने अपनी खुद की शैली विकसित की है, फिर भी किसी रूप के पुराने ढाँचे की जानकारी और आकलन इस दृष्टि से विशिष्ट होते हैं कि यह अपनी इतनी बड़ी यात्रा में रूप के किन-किन पड़ावों से होकर गुजरा है, कब और क्यों इसने अपने रूप में बदलाव लाने शुरू किये, आदि। इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखते हुए संस्कृत काव्यशास्त्र द्वारा निर्धारित और लक्षित काव्य-रूपों की जानकारी प्राप्त की जानी अपेक्षित है। मतलब अगर शोध-प्रबंध काव्य के शिल्प-विधान पर है तो पहले यह जानकारी अपेक्षित ही है कि प्रबंध काव्य है क्या ? इसका इतिहास क्या है ? इसके विकास की यात्रा कैसी है ? आदि। साथ ही यदि प्रबंध काव्य से भिन्न काव्य-रूप भी परंपरा में प्रचलित हैं तो प्रबंध काव्य से वे भिन्न कैसे हैं या प्रबंध काव्य उनसे भिन्न कैसे है, इसकी जानकारी भी अपेक्षित है। अतः प्रबंध काव्य से भिन्न काव्य-रूपों के बारे में संक्षिप्त जानकारी चाहिए ही। इन्हीं सब बातों को परिप्रेक्ष्य में रखकर काव्य, प्रबंध काव्य तथा प्रबंध से भिन्न अर्थात मुक्तक-काव्य के विषय में, उनके लक्षणों आदि के विषय में जानकारी प्राप्त करने की कोशिश इस अध्याय में की जाएगी। प्रबंध काव्य क्योंकि पद्य की विधा है, अतः पद्य की अन्य विधाओं के बरअक्स उसके स्वरूप की विशिष्टता के विषय में भी यहाँ चर्चा की जाएगी। गद्य का इस दृष्टि से यहाँ कोई औचित्य नहीं होने से उसे प्रायः विवेचन के क्षेत्र से बाहर रखा जाएगा, यद्यपि ज़रूरत के हिसाब से यदा-कदा आनुषंगिक रूप में उसकी भी चर्चा हो सकती है। प्रबंध काव्य के स्वरूप विवेचन में भी जोर विभिन्न काव्यशास्त्रियों द्वारा दिये गये उनके लक्षणों की सूची पेश करने पर नहीं होगा, क्योंकि उससे प्रायः सभी लोग परिचित-से होते हैं, और उसका कोई औचित्य भी नहीं है। जोर होगा यह स्पष्ट करने पर कि इस तरह के काव्य-रूप को किन विशेषताओं के कारण प्रबंध काव्य कहा गया ? आचार्यों ने प्रबंध के किन-किन भेदों की चर्चा की ? परंपरा में वे भेद मान्य हुए या नहीं ? आधुनिक कविता का जो नया प्रबंध-रूप है वह किस भेद के अनुरूप है ? क्या वह उनकी विशेषताओं को समाहित करता है या नहीं ? इसी दृष्टि से आगे विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

### 1.1 प्रबंध काव्य तथा इसके भेद :

संस्कृत साहित्य के समय में 'काव्य' शब्द आज की तरह पद्य-विधा के लिए रूढ़ न होकर आज के 'साहित्य' का समानार्थी था। इसके अंतर्गत साहित्य की गद्य और पद्य दोनों विधाएँ आती थीं। इसीलिए जब काव्य को रूप के अनुसार प्रबंध और मुक्तक में विभाजित किया गया तो उनमें गद्य और पद्य दोनों विधाओं की रचनाओं को शामिल किया गया—गद्य-प्रबंध और पद्य-प्रबंध। गद्य-प्रबंधों में

नाटक, आख्यायिका, कथा आदि गद्य-रूपों को तथा पद्य प्रबंध में महाकाव्य, खंडकाव्य आदि पद्य-रूपों को शामिल किया गया। हमारे अध्ययन का विषय क्योंकि पद्य-काव्य से संबंधित है, अतः हम पद्य-प्रबंध के रूपों की ही शास्त्रीय जानकारी लेने का प्रयास करेंगे। वैसे भी आजकल 'काव्य' शब्द पद्य-विधा के लिए ही रूढ़ है। अतः रूप और भेद के इस विवेचन में ध्यान पद्य-विधा पर ही रहेगा, गद्य-विधा या इसके किसी रूप का जिक्र आनुषंगिक रूप में ही होगा।

भामह, जोकि आदिम ज्ञात काव्यशास्त्री हैं, काव्य को शब्द और अर्थ का संपृक्त रूप मानते हैं, जिसकी गद्य और पद्य दो विधाएँ होती हैं।[5] रूप के आधार पर भामह ने इस काव्य के पाँच भेद किये थे– सर्गबद्ध, अभिनेयार्थ, आख्यायिका, कथा और अनिबद्ध।[6] *"ये पाँचों भेद आरंभ में निर्दिष्ट गद्य और पद्य के प्रभेद मात्र हैं। पद्य के दो प्रभेद—सर्गबंध और अनिबद्ध, गद्य के दो—कथा और आख्यायिका तथा मिश्र का एक—अभिनेय। अभिनेय मिश्र का उदाहरण है, इसलिए कि उसमें गद्य-पद्य दोनों का मिश्रण रहता है। इसमें सर्गबंध महाकाव्य का पर्याय है और अनिबद्ध मुक्तक का।"*[7] यद्यपि भामह ने 'मिश्र' नाम की किसी अलग विधा का स्पष्ट कथन अलग से नहीं किया, परंतु जब उनके द्वारा निर्दिष्ट गद्य और पद्य का मेल किसी एक (नाटक) में हो तो उसे मिश्र ही कहा जाएगा। दंडी ने मिश्र का उल्लेख किया है।[8] आख्यायिका और कथा के भामह द्वारा दिये गये लक्षण से ही इनका 'गद्य' होना सिद्ध होता है जबकि रूपक का 'मिश्र' होना इनके पहले, भामह ने नाटक के लक्षण नहीं दिये, आचार्य भरत और बाद के आचार्यों द्वारा और अनिबद्ध या मुक्तक का 'पद्य' होना बाद के आचार्यों द्वारा इसके लक्षणों को दिए जाने से प्रमाणित हुआ। खैर!

सर्गबद्ध, बाद में नामित प्रबंध, से भामह का तात्पर्य महाकाव्य से था। महाकाव्य के अतिरिक्त उन्होंने इसके किसी अन्य भेद की चर्चा नहीं की। सर्गबद्ध काव्य के विषय में इन्होंने कहा कि सर्गबद्ध 'महाकाव्य' होता है, और महाकाव्य के ये लक्षण होते हैं–

*सर्गबंधो महाकाव्यं महतां च महच्च यत्।*
*अग्राम्यशब्दमर्थ्यं च सालंकारं सदाश्रयम्॥१।१९॥*

---

[5] शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यम पद्यम च तद्विधा

[6] सर्गबंधोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे।
अनिबद्धञ्च काव्यादि तत्पुनः पञ्चधोच्याते॥ काव्यालंकार १.१८॥

[7] आचार्य भामह विरचित काव्यालंकार : (भाष्यकार) देवेंद्र नाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, द्वितीय संस्करण, 1985, पृष्ठ 22 (भूमिका)

[8] गद्यम पद्यम च मिश्रम च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम। काव्यादर्श १.११

*मंत्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैश्च यत् ।*
*पञ्चभिः संधिभिर्युक्तं नातिव्याख्येयमृद्धिमत् ॥१।२०॥*
*चतुर्वर्गाभिधानेऽपि भूयसार्थोपदेशकृत् ।*
*युक्तम लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक् ॥१।२१॥*
*नायकं प्रागुपन्यस्य वंशवीर्य श्रुतादिभिः ।*
*न तस्यैव वधं ब्रूयादन्योतकर्षाभिधित्सया ॥१।२२॥*
*यदि काव्यशरीरस्य न स व्यापितयेश्यते ।*
*न चाभ्युदयभाक्तस्य मुधादौ ग्रहणं स्तवे ॥१।२३॥*

अर्थात 'भामह के अनुसार महाकाव्य उसे कहेंगे, जो (१) सर्गबद्ध; (२) महान चरित्रों से सम्बद्ध; (३) आकार में बड़ा; (४) ग्राम्य शब्दों से रहित; (५) अर्थ सौष्ठव से सम्पन्न; (६) अलंकार से युक्त; (७) सदाश्रित; (८) मंत्रणा, दूतप्रेषण, अभियान, युद्ध, नायक के अभ्युदय तथा (९) नाटकीय पंच संधियों से समन्वित; (१०) अनतिव्याख्येय एवं (११) ऋद्धिपूर्ण हो; (१२) यों निरूपण उसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों का हो, परंतु प्रधानता अर्थ की ही रहे; (१३) लौकिक व्यवहार का अतिक्रमण न हो तथा (१४) सभी रस असंकीर्ण रूप से वर्तमान हों'[9] (१५) 'कुल, बल, शास्त्राध्ययन आदि से नायक का उत्कर्ष बताकर फिर दूसरे का उत्कर्ष कहने की इच्छा से उस नायक का वध न दिखाया जाए और (१६) यदि उस नायक को काव्य के शरीर में व्यापक नहीं करना और उसका अभ्युदय न दिखलाना हो, तो उसका आश्रयण तथा पहले स्तुति करना भी व्यर्थ है।[10]

यह लक्षण भामह ने सर्गबद्ध काव्य के लिए दिया था और सर्गबद्ध काव्य से उनका आशय केवल महाकाव्य से ही था। नयी कविता के प्रबंध काव्य महाकाव्य नहीं हैं, यह पहले ही बताया गया है। फिर भी महाकाव्य प्रबंध काव्य के अंतर्गत ही है, अतः भामह द्वारा लक्षित महाकाव्य के लक्षणों को देना यहाँ समीचीन लगा। यह इस तथ्य के लिए भी आवश्यक है कि नयी कविता के प्रबंध काव्य महाकाव्य क्यों नहीं हैं ! ऊपर के महाकाव्य लक्षण से यह स्पष्ट है कि नयी कविता के प्रबंध काव्य महाकाव्य नहीं हैं। यद्यपि संस्कृत महाकाव्यों से लेकर हिंदी महाकाव्यों की यात्रा में महाकाव्य का स्वरूप बदलता गया है, फिर भी उसके आंतरिक कलेवर के ढाँचे को छिन्न-भिन्न नहीं किया जा सकता है। और आतंरिक कलेवर यह है कि महाकाव्य में जीवन अपनी पूरी समग्रता में विभिन्न उतार-चढ़ावों के साथ चित्रित होता

[9] आचार्य भामह विरचित काव्यालंकार : (भाष्यकार) देवेंद्र नाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, द्वितीय संस्करण, 1985, पृष्ठ 24 (भूमिका)
[10] भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा : डॉ. नगेंद्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई सड़क दिल्ली, 1956, पृष्ठ 36

है, जबकि खंडकाव्य में जीवन का कोई एक पक्ष लिया जाता है। नयी कविता के प्रबंध-काव्यों में जीवन के किसी एक पक्ष को लिया गया है, अतः वे महाकाव्य नहीं हैं। इसलिए आगे विभिन्न संस्कृत आचार्यों द्वारा दिये गये महाकाव्य के लक्षणों पर इस दृष्टि से विचार करने की आवश्यकता नहीं है कि महाकाव्य के लक्षण ये-ये हैं।

भामह ने सर्गबद्ध काव्य का पर्याय महाकाव्य को माना है, अतःउन्होंने सर्गबद्ध काव्य के अलावा निबद्ध या प्रबंध काव्य का कोई और प्रकार नहीं माना। बाद में आचार्यों द्वारा लक्षित और हिंदी साहित्य में बहुप्रचलित इसके 'खंडकाव्य' नामक भेद की चर्चा भामह ने नहीं की। सर्गबद्ध काव्य को उन्होंने महाकाव्य की संज्ञा दी जो महान चरित्र या विषय से संबंद्ध और (आकार में) बड़ा होता है। सर्गबद्ध काव्य के अलावा उन्होंने 'अनिबद्ध-काव्य' के नाम से पद्य का एक और भेद, जिसे आजकल मुक्तक कहा करते हैं, किया। काव्य के यही दो भेद 'प्रबंध' और 'मुक्तक' आज तक मान्य रहे हैं, अतः इनकी शास्त्रीय जानकारी आज के काव्यों के रूप के विषय में कोई मत बनाने या निर्णय देने के लिए आवश्यक है। प्रबंध काव्य के भी दो ही भेद—महाकाव्य और खंडकाव्य बाद में प्रचलित और मान्य हुए, अतः इनका भी शास्त्रीय इतिहास जानना आवश्यक ही है। भामह ने, खैर प्रबंध काव्य के सिर्फ एक ही भेद महाकाव्य का जिक्र किया और उसका लक्षण भी दिया। मुक्तक का लक्षण देते हुए भामह कहते हैं–

*अनिबद्धम पुनर्गाथाश्लोकमात्रदि तत्पुनः*
*युक्तम वक्रस्वभवोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते ॥ काव्यालंकार : १, ३० ॥*

अर्थात वक्रोक्ति अथवा स्वभावोक्ति युक्त गाथा या श्लोक मात्र आदि रूप में लिखे गये काव्य को अनिबद्ध अर्थात 'मुक्तक काव्य' कहते हैं।[11]

भामह ने 'खंडकाव्य' का जिक्र क्यों नहीं किया इस पर टिप्पणी करते हुए आचार्य देवेंद्र नाथ शर्मा कहते हैं –*"भामह ने महाकाव्य का उल्लेख तो किया, किन्तु खंडकाव्य के विषय में कुछ नहीं कहा। इससे दो निष्कर्ष निकलते हैं : या तो खंडकाव्य का प्रचलन नहीं था या वह प्रकार भामह को अभिमत नहीं था। प्रथम विकल्प संभव नहीं जान पड़ता। अयुक्तिमत् दोष के निरूपण के प्रसंग में उन्होंने तीन कारिकाएँ लिखी हैं जिनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि दूत काव्य के कई उदाहरण उनके सामने थे, पर वे भामह को अभिमत न थे, कारण कि उनमें उन्हें युक्तिमत्ता का अभाव खटकता था। जिसे वाणी ही न हो, जैसे मेघ, चंद्र आदि अथवा जिसे वाणी तो हो, पर व्यक्त न हो, जैसे हंस भ्रमर आदि, वह दूत कर्म कैसे कर सकता है ? संदेश कथन, जो दूत का प्रधान कार्य है, इनमें किसी के लिए संभव नहीं। इसलिए भामह ने*

[11] हिंदी काव्यालंकार सूत्रवृत्ति : सं. डॉ. नगेंद्र, आत्माराम एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट दिल्ली, 1954, पृष्ठ 65 (व्याख्या भाग)

*ऐसे काव्य के प्रति अपनी निश्चित अरुचि दिखाई है। फलतः उन्होंने खंडकाव्य की चर्चा नहीं की।"*[12] देवेंद्र नाथ शर्मा का मतलब उस समय प्रचलित ऐसे काव्य-रूपों को भामह द्वारा मान्यता नहीं दिये जाने से है जिसे भामह के बाद के आचार्यों विशेषकर आचार्य विश्वनाथ द्वारा 'खंडकाव्य' के नाम से लक्षित किया गया। भामह के समय यह नाम नहीं था। अगर वे इन काव्यों को अपना शास्त्रीय रूप प्रदान करना चाहते तो वे उन्हें कोई न कोई नाम अवश्य देते। वैसे भी, प्रकृति की बहुत सारी असंभव बातें काव्य में संभव दिखाई जाती रही हैं, जिन्हें बाद में 'कवि-प्रसिद्धि' या 'काव्य-रूढ़ि' के नाम से मान्यता मिली। भामह इनमें काव्य-दोष देखते हों तो ये उनका अपना अभिमत होगा जो बाद में भी कवियों को मान्य नहीं हुआ, मतलब कविगण भामह के बाद भी बराबर अपने काव्यों में इनका उपयोग करते आये हैं । पर इतने से ही उन्होंने ऐसे काव्यों को अपने शास्त्र की सीमा में नहीं समेटा हो, यह कठिन जान पड़ता है।

आचार्य दण्डी ने भी सर्गबद्ध काव्य (प्रबंध काव्य) के अंतर्गत केवल महाकाव्य को ही स्थान दिया। आचार्य वामन ने अपने प्रबंधकाव्यों की श्रेणी में दश रूपकों (नाटकों) को भी शामिल कर लिया है। उनका मत है कि काव्य के अन्य भेद महाकाव्य, आख्यायिका, कथा आदि इन्हीं दश रूपकों के विस्तार हैं। अतः वे इन सबका लक्षण नहीं दे रहे हैं।[13] उनका स्पष्ट कथन है कि प्रबंध-काव्यों में दश रूपक श्रेष्ठ होते हैं।[14] वामन की इन बातों से यह स्पष्ट है कि उन्होंने नाटकों को भी प्रबंध-काव्यों की कोटि में ही रखा है। वामन ने गद्य और पद्य दोनों को निबद्ध और अनिबद्ध काव्य में विभाजित किया है।[15] वामन के पूर्व के आचार्यों ने सर्गबद्ध और अनिबद्ध काव्य के भेद जरूर किये पर उन्होंने सर्गबद्ध को महाकाव्य का पर्याय मानकर बाकी काव्य-भेदों—रूपक, कथा, आख्यायिका—को बद्ध और अनिबद्ध की श्रेणी से बाहर रखा था। वामन ने सबको निबद्ध और अनिबद्ध की श्रेणी के अंतर्गत रखकर औचित्यपूर्ण विभाजन की प्रवृत्ति का परिचय दिया।

आचार्य रुद्रट ने भी गद्य और पद्य दोनों विधाओं की रचनाओं को प्रबंध काव्य के अंतर्गत रखा है। इन्होंने पहली बार प्रबंध काव्यों के दो भेद महान और लघु किये।[16] महान-काव्य उन्होंने उसे माना

---

[12] आचार्य भामह विरचित काव्यालंकार : (भाष्यकार) देवेंद्र नाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, द्वितीय संस्करण, 1985, पृष्ठ 22 (भूमिका)

[13] ततोऽन्यभेद क्लृप्तिः ॥ १, ३, ३२ ॥

ततोदशरूपकादन्येषां भेदानाम क्लृप्तिः कल्पनमिति। दशरूपकस्यैव हीदं सर्वं विलसितम् यच्च कथाख्यायिकं महाकाव्यमिति ॥ तल्लक्षणञ्च नातीव हृदयंगममित्युपेक्षितमस्याभिः। तदन्यतो ग्राह्यम् ॥ ३२ ॥

[14] संदर्भेषु दशरूपकम श्रेयः ॥१, २, ३० ॥

संदर्भेषु प्रबंधेषु दशरूपकम नाटकादि श्रेयः ॥ ३०॥

[15] तदनिबद्धं निबद्धञ्च ॥ १, ३, २७ ॥

तदिदं गद्यपद्यरूपं काव्यमनिबद्धं निबद्धञ्च। अनयो: प्रसिद्धत्वाल्लक्षणम नोक्तम् ॥ २७ ॥

[16] सन्ति द्विधा प्रबंधा: काव्यकथाख्यायिकादय: काव्ये।

जिसमें चतुर्वर्ग—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—के साथ सभी रसों आदि का वर्णन किया जाता है। लघु-काव्य के अंतर्गत उन्होंने ऐसे काव्यों को लिया है जिनमें चतुर्वर्ग में से किसी एक का वर्णन किया जाता है। इनमें यदि अनेक रसों का वर्णन हो तो वह अपूर्ण होना चाहिए और यदि किसी एक रस का वर्णन है तो वह पूर्ण होना चाहिए।[17] महान प्रबंधों में रुद्रट ने महाकाव्य, महाकथा और आख्यायिका का नाम और लक्षण दिया है और लघु-काव्यों में क्षुद्रकाव्य और खंडकथा का। विचारणीय है कि महाकथा के छोटे रूप को उन्होंने खंडकथा नाम दिया जबकि महाकाव्य के छोटे रूप को खंडकाव्य न कहकर क्षुद्रकाव्य कहा। क्षुद्र का मतलब हीन होता है, पर यहाँ क्षुद्र से उनका तात्पर्य इसकी हीनता से नहीं बल्कि रूप के छोटेपने से ही था, यह और बात है कि वे इसे खंडकथा की तर्ज पर खंडकाव्य भी कह सकते थे, जिसे बाद में आचार्य विश्वनाथ ने यह नाम दिया। उल्लेखनीय है कि रुद्रट के टीकाकार नमिसाधु ने महान काव्यों के उदाहरण रूप में 'शिशुपाल वध' का और लघु-काव्यों के उदाहरण के रूप में 'मेघदूत' का नाम दिया है। आचार्य विश्वनाथ ने भी खंडकाव्य के उदाहरण के रूप में 'मेघदूत' का नाम ही प्रस्तुत किया है। तो क्या यह माना जा सकता है कि रुद्रट द्वारा लक्षित प्रबंध काव्य-भेद लघुकाव्य और विश्वनाथ द्वारा लक्षित प्रबंध काव्य-भेद खंडकाव्य एक ही थे ?

रुद्रट के संबंध में एक और उल्लेखनीय बात यह है कि उन्होंने 'कथा' को गद्य के अलावा पद्य में भी रचे जाने की सहमति प्रदान की है। उन्होंने कहा है कि संस्कृत में तो कथा गद्य में ही लिखी जानी चाहिए पर अन्य भाषाओं—प्राकृत आदि—में यह पद्य में भी लिखी जा सकती है।[18] नाटकों के हिंदी में पूर्णतः पद्यबद्ध रूप के विकास के बरअक्स रुद्रट की इस मान्यता को रखा जा सकता है।

आचार्य विश्वनाथ वह पहले आचार्य हैं जिन्होंने प्रबंध काव्य के भेदों में 'खंडकाव्य' का भी नाम लिया। यह नाम उन्हीं का दिया हुआ है। इसके अलावा भी उन्होंने प्रबंध काव्य के ही एक और भेद का नाम 'काव्य' दिया है। काव्य के भेदों का विवेचन उन्होंने अपने ग्रंथ 'साहित्यदर्पण' के छठवें अध्याय में किया है। उन्होंने काव्य भेदों का स्पष्ट विवेचन करते हुए पहले इसे दृश्य-काव्य और श्रव्य-काव्य में बाँटा है। दृश्य-काव्य के भीतर नाटकों के स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए उनके स्वरूप का विवेचन किया है। फिर श्रव्य-काव्य के उन्होंने दोनों विधागत प्रकारों को गद्य और पद्य के रूप में लक्षित किया है। पद्य-काव्य के उन्होंने मुक्तक, युग्मक, सांदानतिक, कलापक, कुलक, महाकाव्य, काव्य और खंडकाव्य नामक भेदों को

उत्पाद्यानुत्पाद्या महल्लघुत्वेन भूयोऽपि॥ १६. २॥

[17] रुद्रट : काव्यालंकार, अध्याय १६ कारिका संख्या ५, ६

[18] इति संस्कृतेन कुर्यात्कथामगद्येन चान्येन॥ १६. २३॥

गिनाया है। इनमें प्रथम पाँच मुक्तक काव्य के और शेष तीन प्रबंध काव्य के भेद हैं, यह आचार्य विश्वनाथ द्वारा दिये गये इनके लक्षणों से स्पष्ट है। इसके अलावा भी उन्होंने पद्य-काव्य के 'कोश' और 'व्रज्या' नामक दो भेद और किये हैं। मुक्तक एक छंद का, युग्मक दो छंदों का, सांदानतिक तीन, कलापक चार तथा कुलक पाँच छंदों का होता है।[19] महाकाव्य का आचार्य विश्वनाथ ने विस्तृत लक्षण दिया है। महाकाव्य के अलावा भी उन्होंने प्रबंध काव्य के दो और भेद किये हैं—काव्य और खंडकाव्य। 'काव्य' नामक भेद का लक्षण देते हुए उन्होंने कहा–

*भाषाविभाषानियमात्काव्यम सर्गसमुज्झितम् ।*
*एकार्थ प्रवणै : पद्यै : संधिसामग्र्यवर्जितम् ॥ ६. ३१८ ॥*

अर्थात 'काव्य' भाषा या विभाषा में लिखा जाने वाला वह पद्यमय काव्यरूप है जिसमें सर्गों का बंधन अनिवार्य नहीं है और न ही सभी संधियों का। वह एकार्थ (चार पुरुषार्थों में से एक) प्रवण होता है। इसके बाद इसी के सापेक्ष खंड-काव्य की परिभाषा आचार्य विश्वनाथ ने इस प्रकार दी है –

*खंडकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च । ६. ३२९ ॥*

अर्थात खंडकाव्य 'काव्य' का एकदेशानुसारी होता है। उल्लेखनीय है कि यह खंडकाव्य की परिभाषा महाकाव्य के नहीं बल्कि 'काव्य' के सापेक्ष उसके एक अंश के रूप में रखी गयी है। खंडकाव्य के उदाहरण के रूप में आचार्य विश्वनाथ ने 'मेघदूत' का जिक्र किया है।

ऊपर कहा गया है कि विश्वनाथ द्वारा खंडकाव्य का जो लक्षण दिया गया है वह उनके द्वारा दिये गये प्रबंध के ही एक और भेद 'काव्य' की परिभाषा की सापेक्षता रखने वाला है। उन्होंने यह कहा है कि खंडकाव्य 'काव्य' का एकदेशानुसारी होता है। अर्थात यह 'काव्य' के किसी एक अंश का अनुसरण करने वाला होता है, यद्यपि यह अपने आप में पूर्ण होता है। जैसे, यदि 'काव्य' में किसी नायक के विस्तृत जीवन की संपूर्ण कहानी किसी एक पुरुषार्थ को ध्यान में रखकर कही जाती है तो खंडकाव्य में ऐसे नायक के जीवन के किसी एक अंश को ही प्रस्तुत किया जाता है। सर्गों और पंचसंधियों का बंधन दोनों में अनिवार्य नहीं है, यद्यपि इन्हें रखा भी जा सकता है।

आचार्य विश्वनाथ द्वारा दी गयी 'काव्य' की परिभाषा खुद अपने आप में बहुत भेदक नहीं है। उसमें मात्र यह कहा गया है कि यह पद्य में होता है, यह एक अर्थ का वर्णन करता है और इसमें सर्ग-बंधन

---

[19] छंदोबद्ध पद्यम पद्यम तेन मुकतेन मुक्तकम् ।
द्वाभ्याम तु युग्मकम सांदानतिकम त्रिभिरिष्यते ॥ ६. ३१४ ॥
कलापकम चतुर्भिश्च पंचभि: कुलकम मतम ॥ ६. ३१५ ॥

या संधि-बंधन अनिवार्य नहीं है। कथा का विस्तार कितना हो, रस आदि कितने हों, आदि की तरफ कोई संकेत नहीं है। इसके अलावा काव्य की यह परिभाषा भी उनके द्वारा दी गयी महाकाव्य की परिभाषा की सापेक्षता रखती है। महाकाव्य में चारों पुरुषार्थों का होना, सर्ग-बंधन और संधि-बंधन होना अनिवार्य है, जबकि इसमें ये सब अनिवार्य नहीं हैं। अब, जब 'काव्य' की परिभाषा 'महाकाव्य' की परिभाषा की अपेक्षा रखे और 'खंडकाव्य' की परिभाषा 'काव्य' की, तब इन अपेक्षाओं में महत्वपूर्ण अपेक्षा उसी परिभाषा से रखी जाएगी जो अपने आप में विस्तृत और पूर्ण हो। मतलब खंडकाव्य की परिभाषा को भी महाकाव्य की परिभाषा के परिप्रेक्ष्य में इसलिए देखा जाने लगा क्योंकि महाकाव्य की परिभाषा अपने आप में पूर्ण थी और वह पहले से ही चली भी आ रही थी, जबकि 'काव्य' नामक भेद केवल आचार्य विश्वनाथ ने किया था, और उसकी भी कोई भेदक परिभाषा उन्होंने नहीं दी। अतः परंपरा में 'काव्य' के लक्षणों को भी 'खंडकाव्य' में समाहित करके 'काव्य' नामक भेद को अप्रचलित कर दिया गया। वैसे भी 'काव्य' के भेद के रूप में एक भेद का नामकरण 'काव्य' नाम से ही कर देना बहुत उचित नहीं था, इसलिए भी शायद इस भेद की उपेक्षा की गयी हो।

हिंदी में इस संदर्भ में मुख्यतः आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अपने ग्रंथ 'वाङ्ग्मय विमर्श' में, बाबू गुलाबराय ने 'काव्य के रूप' में तथा डॉ. भागीरथ मिश्र ने 'हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास' तथा 'काव्यशास्त्र' में विचार किया है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने प्रबंध काव्य के तीन भेदों को लक्षित किया है—महाकाव्य, खंडकाव्य और एकार्थ-काव्य या काव्य। महाकाव्य को उन्होंने संपूर्ण जीवन का चित्रण माना, खंड-काव्य को जीवन के किसी एक अंग का और एकार्थ-काव्य को संपूर्ण जीवन का फ़लक लेते हुए उसमें उसके किसी एक अंग को महत्व देने का–*''प्रबंध काव्य के तीन प्रकार देखे जाते हैं। एक तो ऐसी रचना होती है जिसमें पूर्ण जीवन-वृत्त विस्तार के साथ वर्णित होता है। ऐसी रचना को 'महाकाव्य' कहते हैं। जिस रचना में खंडजीवन महाकाव्य की ही शैली पर वर्णित होता है ऐसी रचना को खंडकाव्य कहते हैं। हिंदी में कुछ ऐसी रचनाएँ भी देखी जाती हैं जिनमें जीवनवृत्त तो पूर्ण लिया गया है किन्तु महाकाव्य की भाँति वस्तु का विस्तार नहीं दिखाई देता। ऐसी रचनाओं में जीवन का कोई एक पक्ष विस्तार के साथ प्रदर्शित करने का प्रयत्न देखा जाता है। एकार्थ की ही अभिव्यक्ति के कारण ऐसी रचनाएँ महाकाव्य और खंडकाव्य के बीच की रचनाएँ होती हैं। इन्हें 'एकार्थकाव्य' या केवल 'काव्य' कहना चाहिए।''*[20]

---

[20] वाङ्ग्मय विमर्श : आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिंदी साहित्य कुटीर, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ 12

बाबू गुलाबराय ने अपने ग्रंथ 'काव्य के रूप' में काव्य के स्वरूप और भेद पर विस्तृत विचार किया है। उन्होंने काव्य को दृश्य-काव्य और श्रव्य-काव्य में विभाजित किया है। दृश्य-काव्य के अंतर्गत उन्होंने नाटकों के स्वरूप, उसके अंगों आदि के बारे में विस्तृत चर्चा की है। श्रव्य-काव्य के अंतर्गत काव्य के दो भेद प्रबंध और मुक्तक की, तथा प्रबंध काव्य के अंतर्गत इसके दो बहुमान्य भेदों महाकाव्य और खंडकाव्य की चर्चा की है। महाकाव्य और खंडकाव्य के स्वरूप के बारे में इनका यह मत है– *"महाकाव्य में आकार की विशालता के साथ भावों की उदात्तता और विशालता रहती है। उसमें जीवन की अनेकरूपता और शाखा बाहुल्य के साथ जातीय जीवन की झलक रहती है। वाल्मीकीय रामायण, रघुवंश, कामायनी आदि इसके उदाहरण हैं। खंडकाव्य में एक ही घटना को मुख्यता दी जाकर उसमें जीवन के किसी एक पहलू की झांकी-सी मिल जाती है। कालिदास का 'मेघदूत', गुप्त जी के 'अनघ' और 'जयद्रथ वध', रामनरेश त्रिपाठी जी के 'स्वप्न' और 'मिलन' आदि इसी कोटि के हैं।"*[21] इस संबंध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि वामन की तरह ही गुलाब राय ने भी गद्य-पद्य की सभी विधाओं को प्रबंध और मुक्तक में समेटने की मुद्रा अपनायी है –*"यद्यपि प्रबंध और मुक्तक का विभाग प्रधानतया पद्य का है तथापि गद्य में भी यह विभाग लागू हो सकते हैं। उपन्यास महाकाव्य का स्थानापन्न होकर और कहानी खंडकाव्य के रूप में गद्य के प्रबंधकाव्य कहे जा सकते हैं। गद्यकाव्य तो मुक्तक है ही, पत्र भी मुक्तक की कोटि में आएँगे। उनकी निबंध और जीवनी के बीच की-सी स्थिति है। समस्त संग्रह की दृष्टि से एक-एक निबंध मुक्तक कहा जा सकता है किंतु निबंध के भीतर एक बंध रहता है (यद्यपि उनमें निजीपन और स्वच्छंदता भी रहती है।)"*[22]

भगीरथ मिश्र ने अपने ग्रंथ 'काव्यशास्त्र' में काव्य के मुख्यतः दो भेद गद्य और पद्य स्वीकार कर दोनों के क्षेत्रों में विद्यमान रहने वाले प्रबंधत्व और मुक्तत्व की प्रकृति को रेखांकित किया है। रूप के स्तर पर पद्य-काव्य को इन्होंने प्रबंध और मुक्तक के अलावा एक और भाग में बाँटा और उसका नाम दिया 'निबंध काव्य'। काव्य का ये नया भेद इन्होंने इस स्तर पर स्वीकार किया कि यह प्रबंध का भेद नहीं है और न ही मुक्तक का। इसका लक्षण इन्होंने यह निर्धारित किया है –*"निबंध काव्य वह पद रचना है जिसके अंतर्गत छंद किसी विचार-सूत्र या भावधारा से व्यवस्थित रहते हैं। इस रचना में भाव या विचार का विकास क्रमशः दिखलाई देता है इसी की निबद्धता रहती है।"*[23] प्रबंधकाव्य की परिभाषा में उन्होंने

---

[21] काव्य के रूप : गुलाबराय, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, चतुर्थ संस्करण, 1958, पृष्ठ 20

[22] काव्य के रूप : गुलाबराय, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, चतुर्थ संस्करण, 1958, पृष्ठ 20

[23] काव्यशास्त्र : भागीरथ मिश्र, विश्वविद्याल प्रकाशन वाराणसी, पाँचवाँ संस्करण, 1972, पृष्ठ 42

कहा है कि 'इसके छंद कथा सूत्र की व्यवस्था से पिरोये रहते हैं, इसके छंदों के क्रम को बदला नहीं जा सकता।' अतः उनके अनुसार प्रबंध और निबंध में मुख्य अंतर का बिंदु कथा होती है। प्रबंध में कथा होती है और निबंध में नहीं। आजकल की कथेतर लंबी कविताओं को उनके द्वारा किये गये इस भेद में शामिल किया जा सकता है। कथासहित जिन प्रबंधात्मक कविताओं को भी लंबी कविता में समेटा जा रहा है उसका समाधान तो फिर भी इससे नहीं होता है ! बंध सहित होने की वजह से अगर वे इसे ('निबंध काव्य' को) प्रबंध काव्य का ही एक भेद मान लेते तो शायद कथेतर लंबी कविताओं और कथा सहित लंबी कविताओं को एक साथ इनमें समेटा जा सकता था। फिलहाल इन्होंने यह 'निबंध काव्य' या 'निबद्ध काव्य' नाम से जिस अलग भेद की चर्चा की है इसको हिंदी-जगत की आलोचना ने स्वीकार नहीं किया। बंध के स्तर पर 'प्रबंध' और 'मुक्तक' दो ही भेद स्वीकार किये गये। वैसे भी संस्कृत में निबद्ध और अनिबद्ध नाम पहले से चले आ रहे थे और निबद्ध-काव्य का अर्थ प्रबंध काव्य से ही था, किसी अलग काव्य-रूप से नहीं।

प्रबंध काव्य के भगीरथ मिश्र ने मुख्यतः दो भेद किये—महाप्रबंध और खंडप्रबंध या खंडकाव्य। फिर उन्होंने महाप्रबंध के चार भेद पुराण, आख्यान, चरितकाव्य और महाकाव्य किया। पुराण में सृष्टि के प्रारंभ और विकास की कहानी अवतारी नायकों, ऋषियों-मुनियों आदि के माध्यम से कही जाती है। आख्यान में काल्पनिक कथानक को रोचक शैली में प्रस्तुत किया जाता है। आख्यान को रोचकता प्रदान करने के लिए इसमें ऐतिहासिक नामों या स्थानों का समावेश कर लिया जाता है। मध्यकालीन प्रेमाख्यानों को इस क्षेत्र के उदाहरणों के रूप में भगीरथ मिश्र ने चुना है। चरितकाव्य एक प्रकार से पद्य में काव्यात्मक रूप से लिखी गयी जीवनी है। महाकाव्य के स्वरूप के संबंध में विचार पहले ही हो चुका है।

खंडकाव्य के स्वरूप के विषय में विस्तृत जानकारी संस्कृत में किसी ने नहीं दी है। इसके स्वरूप को भगीरथ मिश्र भी बहुत अच्छी तरह स्पष्ट नहीं कर पाये, जबकि उनके सामने हिंदी के तमाम खंडकाव्य व्यावहारिक रूप में मौजूद थे। खंडकाव्य के स्वरूप के बारे में उन्होंने कहा है –*"इसमें कथावस्तु संपूर्ण न होकर उसका एक अंश ही होती है। प्रायः जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना या दृश्य का मार्मिक उद्घाटन होता है और अन्य प्रसंग संक्षेप में रहते हैं।"*[24] रचनाकार जिस वस्तु को अपनी रचना में प्रस्तुत करना चाहता है, उसके लिए एक संपूर्ण कथा गढ़ता है, फिर वह कथा चाहे उसके जीवन के कितने भी छोटे अंश को लेकर क्यों न हो ! खंडकाव्य इस अर्थ में महाकाव्य का एक अंश नहीं है, बल्कि वह अपने आपमें

[24] काव्यशास्त्र : भागीरथ मिश्र, विश्वविद्याल प्रकाशन वाराणसी, पाँचवाँ संस्करण, 1972, पृष्ठ 57

स्वतःपूर्ण रचना है । और खंडकाव्य के इन्होंने जो दो भेद—एकार्थ खंडकाव्य और अनेकार्थ खंड काव्य—छंदों के आधार पर यह कहकर निर्धारित किया है कि जिसमें एक ही छंद में कथा कही गयी हो वह एकार्थ खंडकाव्य और जिसमें अनेक छंदों का व्यवहार हुआ हो वह अनेकार्थ खंडकाव्य है, वह भी बहुत प्रासंगिक नहीं है। छंदों के आधार पर अर्थ नहीं बदला करता और इतनी छोटी-छोटी बातों के लिए नये-नये नामों का स्वागत शास्त्रीय जगत में होता भी नहीं है।

## 1.2 प्रबंध काव्य तथा मुक्तक काव्य

भामह ने मुक्तक या अनिबद्ध काव्य के स्वरूप के बारे में मात्र इतना कहा है–

*अनिबद्धम पुनर्गाथाश्लोकमात्रादि तत्पुनः।*
*युक्तम वक्रस्वभवोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते ॥ काव्यालंकार : १, ३० ॥*

अर्थात यदि गाथा या श्लोक मात्र में स्वभावोक्ति या वक्रोक्ति पूर्वक कुछ कहा जाता है तो यह मुक्तक काव्य कहलाता है। ये श्लोक या गाथा अपने आप में स्वायत्त या पूर्वापर गाथा-श्लोक निरपेक्ष होते हैं, यह बात भामह के इस लक्षण में नहीं पायी जाती। इन्होंने मुक्तक के कोई भेद भी नहीं गिनाये।

मुक्तक उस रचना को कहा जाता है जिसका प्रत्येक छंद हर दूसरे छंद से मुक्त होता है, यदि रचना मुक्तकों का संग्रह है तो—जैसे बिहारी सतसई । और यदि वह मात्र एक ही छंद में रचित है तो वह छंद अपने आपमें स्वतः पूर्ण और स्वायत्त होगा, उसका अर्थ लगाने के लिए किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं होगी । मतलब मुक्तक पूर्वापर संबंधों से रहित, स्वतःपूर्ण और स्वायत्त छंद होते हैं । हिंदी में रीतिकाल तक प्रायः संस्कृत काव्यशास्त्र की पद्धति पर ही रचनाएँ होती रहीं। मुक्तकों के रूप में कवित्त, सवैया, दोहा, सोरठा आदि बनते रहे। रीतिकाल के बाद जब ऐसी रचनाएँ आने लगीं जिनका वर्ण्य विषय एक छंद में न सिमटकर एकाधिक छंदों में होने लगा तब उनको भी मुक्तक काव्य परंपरा का अंग माना जाने लगा जबकि संस्कृत आचार्यों ने मुक्तक के अतिरिक्त ऐसे अन्य काव्य-रूपों, जिनमें एक से अधिक श्लोक हों, की चर्चा करते हुए उन्हें अलग-अलग नाम दिये थे। हिंदी में इन तमाम नामों का अंतर्भाव सिर्फ एक नाम 'मुक्तक' में कर लिया गया। कारण हिंदी में 'मुक्तक' नाम संस्कृत के 'अनिबद्ध' का भी पर्याय बनकर आया, और मामूली अंतरों के चलते एक ही रूप के लिए अनेक नाम स्वाभाविक रूप से परंपरया ग्राह्य भी नहीं होते, सो नहीं हुए। संस्कृत आचार्यों में कुछ ने काव्यभेदों का वर्णन करते समय सर्गबंध और अनिबद्ध का जिक्र अलग से किया और अन्य काव्य-रूपों का अलग से, जैसे भामह ने काव्य के पाँच भेदों में दो भेद सर्गबद्ध और अनिबद्ध के माने पर बाकी तीन भेदों का नाम अलग से दिया, यह नहीं

कि सर्गबद्ध में ये काव्य हैं और अनिबद्ध में ये काव्य। जबकि कुछ आचार्यों ने, जैसे वामन ने, प्रबंध काव्य और मुक्तक काव्य दो भेद करके फिर प्रबंध रूप-विधान के अंतर्गत गद्य और पद्य के प्रबंधात्मक काव्यों को रखा। मुक्तकों को उन्होंने अलग रखा, और इस तरह रूप के आधार पर मात्र दो भेद प्रबंध और मुक्तक स्वीकार किये। इन सब कारणों से भी आचार्यों द्वारा गिनाये गये सभी अलग-अलग काव्य के भेदों को टीकाकारों या व्याख्याकारों ने सर्वसम्मति को ध्यान में रखते हुए उन्हें गद्य या पद्य तथा प्रबंध या मुक्तक के अंतर्गत ही रखा। अतः एक से अधिक श्लोकों या छंदों में समाप्त होने वाले जिन श्लोक-काव्यों को मुक्तक के अतिरिक्त अन्य नाम दिये गये थे वे सब आगे की परंपरा में मुक्तक के ही भेद स्वीकार किये गये।

आचार्य आनंदवर्धन ने अपने साहित्यशास्त्रीय ग्रंथ 'ध्वन्यालोक' में काव्य-भेदों की चर्चा करते हुए काव्य के इतने भेद गिनाए – मुक्तक (एक श्लोक में), संदानितक (दो श्लोकों में), विशेषक (तीन श्लोकों में), कलापक (चार श्लोकों में), कुलक (पाँच या अधिक श्लोकों में), पर्यायबंध (बसंत आदि एक विषय का वर्णन करने वाला प्रकरण), परिकथा (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से किसी एक का वर्णन करने वाली बहुत सी कथाओं का संग्रह), खंडकथा (किसी बड़ी कथा के एक देश का अनुसरण करने वाली कथा), सकलकथा (फल पर्यंत संपूर्ण इतिवृत्त की कथा), सर्गबंध (महाकाव्य), अभिनेयार्थ (नाटक), आख्यायिका तथा कथा।[25]

इसमें मुक्तक, संदानितक, विषेशक, कलापक, कुलक को एक नाम 'मुक्तक' के अंतर्गत ही शामिल किया जाता है। पर्यायबंध को भी 'बंध' विशेषण होने के बावजूद मुक्तकों की श्रेणी में ही स्वीकार करने की प्रवृत्ति रही है। मुक्तकों के भेदों के संबंध में हिंदी और पाश्चात्य काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ आचार्य देवेंद्रनाथ शर्मा ने संस्कृत आचार्यों के मतों का निचोड़ प्रस्तुत किया है – *''समापिका क्रिया की अन्विति को ध्यान में रखकर मुक्तक के भी अनेक भेद किये गये हैं, पर उनका निर्देश भामह में नहीं है। उत्तरवर्ती आलंकारिकों के अनुसार वे भेद निम्नलिखित हैं :*

१. *मुक्तक—यदि एक छंद में वाक्य समाप्त हो जाय।*
२. *संदानितक—यदि दो छंदों में वाक्य समाप्त हो। विश्वनाथ ने संदानितक के बदले युग्मक शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु अभिनवगुप्त, हेमचंद्र आदि ने इसे संदानितक ही कहा है।*

[25] यतः काव्यस्य प्रभेदा मुक्तकं संस्कृतप्राकृतापभ्रंशनिबद्ध, संदानितक-विशेषक-कलापक-कुलकानि पर्यायबन्ध, परिकथा, खंडकथासकलकथे, सर्गबंधो, अभिनेयार्थं, आख्यायिकाकथे, इतयेवमादय:। (हिंदी ध्वन्यालोक : सं. डॉ. नगेंद्र, गौतम बुक डिपो, दिल्ली, 1952, पृष्ठ 248---ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, कारिका संख्या 7 की व्याख्या)

*३. विषेशक—यदि तीन छंदों में वाक्य समाप्त हो । विश्वनाथ इसे ही संदानितक कहते हैं ।*

*४. कलापक—यदि चार छंदों में वाक्य समाप्त हो ।*

*५. कुलक—यदि पाँच या उससे अधिक छंदों में वाक्य समाप्त हो ।*

*कुछ आचार्यों ने छह छंदों से वाक्य की समाप्ति में 'करहाटक' नामक प्रभेद की कल्पना की है—षड्भिस्तु करहाटकः।*

*६. बीच में वाक्य समाप्त हो जाने पर भी यदि बसंत आदि एक विषय का वर्णन हो तो अभिनवगुप्त उसे पर्यायबंध की संज्ञा देते हैं ।*

*इसी प्रकार कोश या संघात-काव्य आदि और भी अनेक प्रभेद हैं, जिनकी चर्चा अनपेक्षित है ।"*[26]

इस प्रकार स्पष्ट है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में मुक्तक काव्य अनिबद्ध काव्य के पर्याय के रूप में भी व्यवहृत हुआ है और अनिबद्ध काव्य के एक भेद के रूप में भी । अनिबद्ध काव्य के पर्याय के रूप में इसका प्रयोग पूर्ववर्ती है जब भामह आदि आचार्यों ने इसके लिए 'अनिबद्ध' नाम का प्रयोग किया था । परवर्ती आचार्यों ने, जैसा कि ऊपर के उनके मतों से स्पष्ट है, काव्य के अनेक भेदों में ऐसे नाम गिनाये जो निबद्ध-काव्य के अंतर्गत नही थे, अतः उन्हें अनिबद्ध काव्य के अंतर्गत स्थान दिया गया । इनमें 'मुक्तक' के साथ-साथ अन्य अनेक नाम थे, पर परंपरा में सब नामों के लिए मुक्तक का ही व्यवहार हुआ क्योंकि 'मुक्तक' पहले से ही अनिबद्ध काव्य के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होता आया था । अतः अब अनिबद्ध काव्य के सभी भेद 'मुक्तक' में समाहित कर लिए गये हैं । आचार्य दंडी ने तो पद्य-काव्य के भेद के अंतर्गत मात्र महाकाव्य का भेद दिया है और मुक्तक आदि अनिबद्ध काव्यों को उन्होंने महाकाव्य के छिट-पुट अंशों में गिन लिया है :

*मुक्तकं कुलकं कोशः संघात इति तादृशः ।*
*सर्गबंधांग रूपत्वादनुक्तः पद्यविस्तरः ।* [27]

'अर्थात् मुक्तक, कुलक, कोश, संघात आदि सर्गबंध महाकाव्य के अवयव मात्र हैं, अतः इनका विस्तृत पद्यविस्तार नहीं किया गया है'।[28] इस तरह की प्रवृत्ति कुछ संस्कृत आचार्यों में थी कि वे मुक्तक और इसके अन्य भेदों को महाकाव्य के अवयव मान बैठते थे । कुछ ऐसा ही मत वामन ने मुक्तकों के विषय में व्यक्त किया है जब वे इसकी तुलना जुगनुओं से करते हैं और उन्हें महाकाव्य का ही अंश मान लेते हैं ।

---

[26] आचार्य भामह विरचित काव्यालंकार : (भाष्यकार) देवेंद्र नाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, द्वितीय संस्करण, 1985, पृष्ठ 23 (भूमिका)

[27] काव्यादर्श : आचार्य दंडी १.१३.

[28] भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा : डॉ. नगेन्द्र, पृष्ठ 47

ऐसे में उनका आशय यह होता होगा कि मुक्तक श्लोक आदि छंदों में होते हैं और महाकाव्य तो इन छंदों का भंडार ही होता है, अतः मुक्तक की तरह तो तमाम काव्य-रूपों को वह समाहित ही किये रहता है, इसलिए इनका अलग से कोई महत्व नहीं। पर ये प्रवृत्ति बहुत उचित नहीं थी। वास्तव में प्रबंध में मुक्तक आ सकते हैं, पर मुक्तकों की अपनी स्वतंत्र पहचान है, जिसका जिक्र ऊपर किया जा चुका है।

मुक्तक दो प्रकार के होते हैं—पाठ्य मुक्तक और गेय मुक्तक। यह भेद अपेक्षाकृत नया है। गेय मुक्तकों से आशय प्रगीत काव्यों से है। पाठ्य मुक्तक वो होते हैं जो मुख्यतः पढ़े जाने के लिए होते हैं और गेय मुक्तक वो होते हैं जो मुख्यतः गाए जाने के लिए होते हैं –*"स्फुट कविताएँ मुक्तक में आती हैं। मुक्तकों में कुछ तो पाठ्य होते हैं कुछ विशेष रूप से गेय। गेय को ही प्रगीत काव्य कहते हैं। बिहारी के दोहे, निराला जी की 'तुम और मैं' शीर्षक कविता पाठ्य कही जाएगी। सूर के पद, महादेवी, पंत, प्रसाद, निराला के गीत प्रगीत काव्य कहे जाएँगे।"*[29]

### 1.3 प्रबंध काव्य तथा नाट्य-काव्य

भारतीय काव्यशास्त्र की शुरुआत ही नाट्यशास्त्र से आरंभ होती है, और आचार्य भरत का ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' इसका प्रस्थानबिंदु और उपजीव्य दोनों बनता है। आचार्य भरत ने अपने ग्रंथ में नाटक और रंगमंच के सभी अंगों पर  विस्तार से प्रकाश डाला है। आचार्य वामन ने यदि यह माना है कि महाकाव्य, कथा, आख्यायिका आदि नाटकों के विस्तार मात्र हैं तो उनका यह आधार गलत नहीं है। वस्तु, नेता (नायक) और रस के विधान के जो विस्तृत नियम नाटक में पहले से संदर्भित थे उन्हीं को फिर श्रव्य या पाठ्य प्रबंधों में स्थान मिला। नाट्यसंधियों को भी महाकाव्य जैसे बड़े फ़लक वाले काव्य-रूप में संदर्भित किया ही गया।

नाटक गद्य और पद्य दोनों को मिलाकर लिखी जाने वाली दृश्य-काव्य विधा थी, संस्कृत-साहित्य के समय। आचार्य भरत ने अपने ग्रंथ के 18वें और 19वें अध्यायों में नाटक के स्वरूप और भेद के बारे में विस्तार से लिखा है। उनका ग्रंथ 36 अध्यायों में विभक्त है। आचार्य भरत ने रूपकों (नाटकों) के दस भेद माना है – १. नाटक २. प्रकरण ३. अंक  ४. व्यायोग ५. भाण ६. समवकार  ७. वीथी ८. प्रहसन ९. डिम और १०. ईहामृग।[30] नाटक और प्रकरण में अंतर मात्र इतना रखा गया था कि नाटक में कथावस्तु

---

[29] काव्य के रूप : गुलाबराय, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, चतुर्थ संस्करण, 1958, पृष्ठ 20

[30] नाटकम सप्रकरणमंको व्यायोग एव च।

भाण: समवकारश्च वीथी प्रहसनम डिम: ॥ १४.२ ॥

ईहामृगे विज्ञेया दशेमे नाट्यलक्षणे।

प्रख्यात और इतिहास-प्रसिद्ध होनी चाहिए और प्रकरण में कल्पित; या पुराण, इतिहास से इतर अन्य प्रसिद्ध रचनाओं का सहारा लेकर कल्पित । दोनों में पाँच से कम तथा दस से अधिक अंक नहीं रखने चाहिए । समवकार में देव तथा असुरों की प्रख्यात कथावस्तु होती है । ईहामृग के कथानक में दिव्य नायक दिव्य स्त्री को प्राप्त करने के लिए युद्ध करता है । डिम में श्रृंगार तथा हास्य को छोड़कर शेष सभी रस रहते हैं । कथावस्तु प्रख्यात होती है । अंक चार होते हैं । माया तथा इंद्रजाल की प्रचुरता होती है । सोलह नायक देव, नाग, राक्षस, यक्ष और पिशाच जाति के होते हैं । व्यायोग में एक ही अंक होता है । नायक प्रख्यात होता है । अंक की कथावस्तु प्रख्यात और कभी-कभी अप्रख्यात भी होती है । इसमें दिव्य पात्र नहीं होते । प्रायः करुण रस का ही निवेश रहता है । अतः युद्ध आदि की घटनाएँ नहीं रहती हैं । प्रहसन में पात्रों की हास्यास्पद स्थिति को प्रदर्शित किया जाता है । पात्र भी इसी अनुसार रखे जाते हैं । भाण मे एक अंक तथा एक ही पात्र होता है । वीथी में एक अंक तथा एक या दो पात्र होते हैं । पात्र उत्तम, मध्यम या अधम हो सकते हैं ।

इसमें इस बात की ओर खास ध्यान ले जाने की जरूरत है कि रूपकों के एक भेद का नाम 'नाटक' बताया गया है, जो अब खुद पुराने 'रूपक' के अर्थ में रूढ़ हो गया है । भरत आदि संस्कृत के आचार्यों ने रूपक का पर्याय शब्द 'नाट्य' रखा है 'नाटक' नहीं, उनके ग्रंथ का नाम है 'नाट्यशास्त्र' । दरअसल दृश्य-काव्य के दो भेद रूपक और उपरूपक हैं । भरत ने रूपकों के दस भेद स्वीकार किये हैं, जिनमें एक भेद का नाम 'नाटक' है । बाद में रूपक की जगह सिर्फ 'नाटक' शब्द का प्रयोग होने लगा ।

दृश्य-काव्य के दो भेद रूपक और उपरूपक हैं । भरत आदि प्रारंभिक आचार्यों ने उपरूपक की चर्चा नहीं की । उपरूपक के विषय में डॉ. दशरथ शर्मा कहते हैं – *"नाट्य पर आधृत दृश्यकाव्य रूपक कहलाते हैं और नृत्य पर आधृत उपरूपक । उपरूपकों का स्पष्ट उल्लेख प्रारंभिक नाट्याचार्यों ने कहीं नहीं किया ।"*[31] उपरूपकों की संख्या १८ मानी गयी है । नाट्य-गीत जैसी विधा के विकास में इनके योगदान की संभावना पर बात की जाय इससे पहले यह समझ लेना चाहिए कि ये मुख्यतः ऐसे नृत्य होते थे जो गाकर किये जाते थे । वैसे भी बिना बाजे-गाजे के नृत्य कैसा ! गाने में ही इनका अभिनय होता था । ये शास्त्र की अपेक्षा लोकबद्ध हुआ करते थे, अतः नाट्यशास्त्र के प्रारंभिक ग्रंथों में इनका उल्लेख नहीं मिलता । बाद के कुछ ग्रंथों में भी इनका वर्णन चलते ढंग से ही किया गया है जिससे पता चलता है कि ये लोक में उत्तरोत्तर मज़बूत रूप से प्रचलित होते जा रहे थे, अतः शास्त्र मजबूरी में इनका भी कुछ वर्णन कर

---

एतेषां लक्षणमहं व्याख्यास्याम्यनुपूर्वश: ॥ १४.३ ॥

[31] नाट्य समीक्षा : डॉ. दशरथ ओझा,नेशनल पब्लिशिंग हॉउस, दिल्ली प्रथम संस्करण, 1959, पृष्ठ 27

देना ज़रूरी समझने लगा– *"धनंजय के नाट्यग्रंथ का नाम दशरूपक इस तथ्य का साक्षी है कि उनकी दृष्टि में उपरूपकों का महत्व नहीं था। उन्होंने उपरूपकों का प्रसंग स्पष्ट रूप से कहीं नहीं उठाया है। ... आज जो १८ उपरूपक सर्वमान्य बन गये हैं, उनके नाम और लक्षण आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' में विस्तार के साथ लिखे हैं, किन्तु उन्होंने उपरूपक की परिभाषा देने की आवश्यकता न जाने क्यों नहीं समझी।"*[32] धीरे-धीरे ये नृत्यप्रधानता से नाट्यप्रधानता की ओर झुके, शास्त्रों में स्थान पाने का शायद एक कारण यह भी रहा हो, और इन्होंने पद्यात्मक नाटक की एक शैली विकसित की। हिंदी का काव्य नाटक पूरी तरह से भले ही इस रूप का विस्तार न हो पर वह सर्वथा इससे मुक्त है, ऐसा कहना भी ग़लत होगा। एक चीज़ के विकास में कई चीजें योग दिया करती हैं। काव्य-नाटक ने प्रारंभिक अवधारणा यहाँ से लेकर उसे अपने और युग के अनुरूप विस्तारित किया।

हिंदी में जयशंकर प्रसाद के 'करुणालय' से पद्यों में आधुनिक ढंग के नाटक लिखने की परंपरा का विकास होता है, जिसे बाद में आलोचकों ने काव्य-नाटक, नाट्य-काव्य, गीतिनाट्य आदि नाम दिये। ये विभिन्न नाम एक ही काव्यरूप के लिए हैं—कविता में लिखे हुए नाटक के लिए, इसमें उलझने की कोई ज़रूरत नहीं कि ये विभिन्न नाम साहित्य की एक ही विधा के लिए क्यों प्रचलित हैं ! वैसे भी अब इस विधा के लिए 'काव्य-नाटक' नाम को ज्यादा महत्ता दी जा रही है।

कविता में लिखे गये नाटक अंततः पद्यविधा के क्षेत्र में ही आएँगे, अतः नयी कविता के प्रबंध काव्यों की परिधि में इन्हें भी समेट लिया जाता है। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि नयी कविता के दौर में लिखे गये महत्वपूर्ण काव्य-नाटकों को महत्वपूर्ण आलोचकों ने नयी कविता की उपलब्धि स्वीकार किया है। इस संबंध में नंददुलारे वाजपेयी की कृति 'नई कविता' उल्लेखनीय है, जिसमें उन्होंने 'नई कविता के कतिपय प्रबंध या खंडकाव्य' शीर्षक के अंतर्गत जहाँ काव्य-नाटक से इतर काव्य-रूप 'चिंता' और 'आत्मजयी' को विवेचन का आधार बनाया है, वहीं काव्य-नाटक 'अंधायुग', 'संशय की एक रात' और 'एक कंठ विषपायी' को भी। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने भी अंधायुग को नयी कविता की महान उपलब्धि स्वीकार किया है—*"नयी कविता की मूल प्रतिभा अपेक्षया छोटी कविताओं में व्यक्त होते रहने पर भी कुछ रचनाएँ अपने प्रबंधात्मक रूप में पूरी व्यवस्था तथा क्षमता के साथ उभरती हैं। इनमें से धर्मवीर भारती का 'अंधायुग' (१९५५) तथा कुँवर नारायण का 'आत्मजयी' (१९६५) नयी कविता की महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं।"*[33]

[32] नाट्य समीक्षा : डॉ. दशरथ ओझा,नेशनल पब्लिशिंग हॉउस, दिल्ली प्रथम संस्करण, 1959, पृष्ठ 27-28

[33] हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास : रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, इक्कीसवाँ संस्करण, 2008, पृष्ठ 240

# अध्याय 2

# नयी कविता : सैद्धांतिक पक्ष

2.1 'नयी कविता' आंदोलन

2.2 'नयी कविता' की सामान्य प्रवृत्तियाँ

2.3 'नयी कविता' के प्रबंध काव्य

## 2.1 नयी कविता आंदोलन

साहित्य की प्रकृति, उसका स्वरूप और मिजाज़ युगीन परिस्थितियों के अनुकूल हुआ करते हैं। दूसरे शब्दों में, युगीन परिस्थितियों में बदलाव के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप, उसकी प्रकृति और उसके मिजाज़ में भी बदलाव होता चलता है। युगीन परिस्थितियों की व्याख्या परिवेश, काल और स्थान से संदर्भित होती है; अर्थात किसी विशेष काल में किसी विशेष स्थान या देश का परिवेश जैसा है, उसी के अनुरूप वहाँ के साहित्य का स्वरूप होगा। यहाँ एक बार फिर परिवेश की व्याख्या को सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि परिस्थितियों से संदर्भित करना होगा।

बहुत प्राचीन काल से नहीं बल्कि युगीन परिवेश के आयाम को वहाँ तक विस्तृत करते हुए, जहाँ से संस्कृत साहित्य के लेखन की शुरुआत होती है, मोटे तौर पर भारतीय समाज को मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—सामंतवादी-परिवेश और राष्ट्रवादी-परिवेश। यद्यपि इन दोनों कालों के बीच इन्हीं से मिलते-जुलते किंचित् भिन्न प्रकार के परिवेश भी तरंगायित होते रहे, पर लंबे समय तक स्थायी यही दोनों रहे। और इन्हीं का व्यापक प्रभाव तत्-तत् कालीन साहित्य पर विशेष रूप से पड़ा है, इसे इन दोनों परिवेशों के लक्षण और स्वरूप के विश्लेषण द्वारा समझा जा सकता है।

सामंतवाद की मुख्य विशेषता यह है कि यह मानवीय जीवन को स्थायित्व प्रदान करता है; क्योंकि इसकी उत्पादन-प्रणाली के मुख्य साधन के रूप में भूमि और मुख्य माध्यम के रूप में मनुष्य के हाथ का प्रयोग होता है, अतः मनुष्य जमीन से जुड़ा हुआ रहता है। जमीन से जुड़े हुए होने के कारण मानव बसावट में स्थायित्व और इसीलिए उनके आपसी रिश्तों में प्रगाढ़ता सामंती-परिवेश का बहुत ही सकारात्मक पक्ष है। रिश्तों में प्रगाढ़ता के फलस्वरूप मनुष्य की अनुभूतियों में सहज एकतानता, अनुभवों में सघनता और स्थिरता होती है; अतः इस युग के साहित्य में भी भावों का स्थायित्व और सघनता पायी जाती है। इसीलिए संस्कृत साहित्य के लक्षण, स्वरूपादि के निर्धारण में या इनके विवेचन-विश्लेषण तथा आस्वादन के लिए स्थायी भावों और उन पर आधारित रसों का प्रतिमानीकरण हुआ। हिंदी साहित्य में भी आदिकाल से रीतिकाल तक का हिस्सा सामंती परिवेश की उपज है, अतः इस युग तक का साहित्य मुख्यतः भावों के स्थायित्व को ही अभिव्यक्त करता गया है; यही कारण है कि इस साहित्य के मूल्यांकन या अस्वादन के लिए भी जो प्रतिमान प्रयोग में लाये गये वे प्रायः स्थायी भावों से ही संबंधित हैं।

भारत में अंग्रेजों के आगमन से सामंती ढाँचे चरमराने लगे। उन्होंने यहाँ के छोटे-छोटे स्वायत्त राज्यों को जीतकर अपने अधीन करना शुरू किया। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप भारतीय सामंतीयता राष्ट्रीयता में रूपांतरित होने लगी। भारत के बड़े भूमि-क्षेत्र को जीतकर, उस पर राज्य करने के लिए अंग्रेजों ने उसकी एक राजधानी विकसित की। अंग्रेजों द्वारा विकसित किया जा रहा यह राष्ट्रवाद साम्राज्यवादी और पूँजीवादी मानसिकता और विचारधारा से प्रेरित था। अतः भारतीय उत्पादन प्रणाली के मुख्य साधन के रूप में मशीनें और मुख्य माध्यम के रूप में प्रौद्योगिकी का विकास हुआ। पूँजीवाद का प्रभाव बढ़ने के कारण गाँवों के स्थायी निवासी शहर की ओर पलायन करने लगे, पैसा कमाने के लिए। अतः पूँजीवादी युग ने मानव-बसावट में स्थिरता को भंग करना शुरू किया और इसीलिए स्थायी बसावट के कारण उपजी रिश्तों की प्रगाढ़ता को भी। सामंतवाद और पूँजीवाद में मुख्य अंतर यह है कि सामंतवाद में मनुष्य अपनी जरूरत की सामग्री प्रायः स्वयं उत्पादित करता था और मूल्य उसी का होता था; इसीलिए वस्तु-विनिमय जैसी प्रणाली का रूप प्रचलित था। जबकि पूँजीवाद में मनुष्य उत्पादन-प्रणाली के लिए प्रायः मशीनों पर निर्भर रहने लगा और उत्पादित वस्तुओं का मूल्य मुख्यतः पैसों में आँका जाने लगा। सामंवाद में आदमी मूल्य (वस्तु) को अपने पास बुलाता था और पूँजीवाद में वह मूल्य (पैसा) के पीछे भागने लगा। अतः पूँजीवादी युग में मानव-बसावट में स्थायित्व के समाप्त होते जाने की प्रक्रिया में अनुभव और अनुभूतियों का क्षरण होना शुरू हुआ। भावों का स्थायित्व समाप्तप्राय होने लगा। मनुष्य की महत्वाकांक्षा में बढ़ोत्तरी होने लगी, फलतः उसका चित्त अस्थिर होना शुरू हुआ। अतः इस काल के साहित्य में प्रायः स्थायी भावों का अभाव-सा रहना शुरू हुआ, और सामंती युग के साहित्य के प्रतिमान पूँजीवादी युग के साहित्य के मूल्यांकन के लिए अशक्त साबित होने लगे। धीरे-धीरे जीवन में अति महत्वाकांक्षा के परिणामस्वरूप एकतानता, स्थिरता और स्थायित्व के समाप्तप्राय होने की अनुगूँज साहित्य में छंद, सुर, ताल और लय के क्षयीकरण के रूप में सामने आयी। हिंदी साहित्य के क्षेत्र में ऐसे युग की कविताओं को 'नयी कविता' का नाम दिया गया, तत्कालीन समय में उन कविताओं की प्रवृत्ति के अनुरूप कोई बढ़िया नाम न पाकर। समयांतराल में यही नाम प्रचलित हो गया। 'नयी कविता' की पुरानी कविता से भिन्न अपनी विशेष स्वायत्त प्रवृत्तियाँ हैं।

एक युग या परिवेश के दूसरे युग या परिवेश में रूपांतरण की प्रक्रिया में, रूप और रूपांतरण के बीच के युग में, इन दोनों से भिन्न प्रकार का, यद्यपि इन्हीं के तत्वों के योग से, युग और परिवेश निर्मित

हुआ करता है जिसे प्रायः संक्रमण काल कहा जाता है। हिंदी साहित्य की यात्रा में भी ऐसे संक्रमण-काल आए हैं, जिन्हें ध्यान में रखकर हिंदी साहित्य के इतिहासकारों और आलोचकों ने साहित्य की संक्रमणकालीन और स्थायी प्रवृत्तियों को युग और परिवेश के अनुकूल नामांकित किया है, या करने का प्रयास किया है; अतः सामंतवादी और पूँजीवादी समय के संदर्भ में नयी कविता और पुरानी-कविता एक मोटा, विस्तारित और मुख्य विभाजन है—'नयी कविता' नामक काव्यांदोलन से परे और निरपेक्ष।

उल्लेखनीय है कि अंग्रेजों के आने और उनके प्रशासनिक रवैये से ही भारतीय जीवन का स्थायित्व छिन्न-भिन्न होना शुरू हुआ था और साहित्य में बदलाव की अनुगूँज इसके साथ ही शुरू होती है; पर अंग्रेजों द्वारा विकसित पूँजीवाद का बढ़ता प्रभाव आजादी के बाद भी अपनी गति अप्रतिहत रखता है और साहित्य के स्वरूप को लगातार प्रभावित करता रहा है। अंग्रेजों के जाने के बाद फिर से तो सामंतवाद आया नहीं, रहा तो पूँजीवाद का ही दौर। अतः कविता उत्तरोत्तर भावों के स्थायित्व को छोड़ती गयी। आगे चलकर हिंदी-साहित्य में जिस काव्यांदोलन को 'नयी कविता' नाम दिया गया उसकी कविताएँ इन्हीं बढ़ते हुए पूँजीवादी तत्वों की उपज हैं, अंग्रेजी-प्रशासन की खिलाफ़त वाले तत्वों की नहीं, यद्यपि कि पूँजीवादी परिस्थितियों का निर्माण अंग्रेजों ने ही किया। अंग्रेजी शासन में कविता की एक धारा अंग्रेजी प्रशासन के खिलाफत वाले तत्वों को लेकर चल रही थी, आजादी के बाद जिसका विकास जनवादी कविताओं के रूप में हुआ। नयी कविता की पृष्ठभूमि के तत्व अपेक्षाकृत बाद की उपज हैं, इनका राष्ट्रवादी कविताओं से सीधा संबंध नहीं है। 'नयी कविता' मुख्यतया आजादी के बाद विकसित होती है, यद्यपि इसकी प्रवृत्तियों के दर्शन प्रयोगवादी कविताओं में ही होने शुरू हो गये थे। अतः 'नयी कविता' आजादी के पहले से अपना स्वरूप खोजना शुरू करती है और आजादी के बाद उसमें कामयाबी हासिल करती है।

उक्त विशिष्ट प्रकार की काव्यधारा के लिए 'नयी कविता ' नामकरण जगदीश गुप्त और रामस्वरूप चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित, १९५४ ई० से, 'नयी कविता ' नामक पत्रिका से रूढ़ हुआ यद्यपि, जैसा कि कहा गया, इस प्रकार की विशिष्ट कविताएँ अपने स्वरूप निर्माण में पहले से ही संघर्षरत थीं—विशेषतः अज्ञेय द्वारा संपादित 'तार सप्तक' (१९४३ ई०) से चलने वाली 'सप्तक-श्रृंखला' और 'प्रतीक' (१९४७ ई०) पत्रिका के माध्यम से। इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि जिन प्रवृत्तियों के बल पर सप्तक-कवियों को प्रयोगवादी कहा गया उस तरह की प्रवृत्तियाँ, इससे कुछ मुखर रूप में ही, कुछ सप्तकेतर छायावादोत्तर

कवियों की रचनाओं में ही मिलने लगीं थीं। इस संदर्भ में सप्तक-कवि-परंपरा में आने वाले 'नयी कविता' के ही एक विशिष्ट कवि समशेर बहादुर सिंह का एक उद्धरण नामवर सिंह ने अपनी पुस्तक 'कविता के नए प्रतिमान' में दिया है। उद्धरण यों है—*''मौलिक रूप से तार सप्तक के प्रयोग अन्यत्र कई और कवियों के इससे काफी पहले के संग्रहों में मिल जाएँगे : प्रथमतः निराला में ही—न केवल तार सप्तक के लगभग सभी प्रयोग बल्कि उससे भी और कहीं अधिक; दूसरे पंत जी में उनकी अतुकांत और मुक्त छंद की कविताओं में—लगाकर ग्रंथि से युगवाणी तक। फिर नरेन्द्र शर्मा ने भी अपनी कतिपय वर्णात्मक अतुकांत मुक्तछंद की कविताओं में अपनी एक विशिष्ट शैली का परिचय दिया है ('मसलन वासना की देह' है (में?)—पलाश वन), यद्यपि वह उनकी सामान्य धारा नहीं। उनकी एक कविता 'बटन-होल' भी पाठकों को अपरिचित न होगी।''*[1] स्वयं नामवर सिंह ने भी इसी मान्यता को बल प्रदान किया है, अपनी उसी पुस्तक में वे कहते हैं—*''सारांश यह कि तार सप्तक के प्रकाशन से चार-पाँच वर्ष पूर्व तार सप्तक के कवियों के अतिरिक्त केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर बहादुर सिंह, त्रिलोचन, भवानीप्रसाद मिश्र-जैसे अनेक समर्थ कवि नए ढंग की काव्य-रचना कर रहे थे। इस बीच नरेन्द्र शर्मा ने भी रूमानियत से अलग हटकर नए काव्य-प्रयोग किये। निराला की अनामिका में संकलित 1937-38 की कविताओं और आगे चलकर 1941 में प्रकाशित कुकुरमुत्ता शीर्षक लम्बी कविता से स्पष्ट है कि हिंदी में तार सप्तक के प्रकाशन से पहले ही नए परिवर्तन की जोरदार हवा बह चुकी थी।''*[2]

यहाँ जिस रूमानियत से हटने को नयी प्रवृत्ति माना जा रहा था, उसकी शुरुआत मुखर रूप में प्रगतिवादी कविता के दौर से शुरू होती है, यद्यपि निराला जैसे कवियों में यह प्रगतिवादी-आंदोलन की मोहताज़ नहीं रही, उनमें यह बराबर पायी जाती रही है। नयी कविता नाम युग-सापेक्ष भी है, अतः छायावाद की रूमानियत वाली प्रवृत्ति के बाद जैसे ही प्रगतिवाद की यथार्थवादी कविताओं का दौर चलता है तो नयी कविता को वहाँ से शुरू हुआ मान लिया जाता है। रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'नयी कविता और अस्तित्ववाद' में इस प्रवृत्ति का जिक्र किया है कि कैसे प्रगतिशील कविताओं की शुरुआत से नयी कविता आंदोलन का नाम जुड़ा हुआ है –*''नयी कविता का इतिहास प्रगतिशील कविता*

---

[1]कविता के नए प्रतिमान : नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, बारहवीं आवृत्ति 2014, पृष्ठ 82

[2] वही, पृष्ठ 83

*से जुड़ा हुआ है, इस तरह से जुड़ा हुआ है कि कभी-कभी विद्वानों को दोनों में कोई फर्क नहीं दिखाई देता।"*[3] नामवर सिंह ने खुद इस प्रवृत्ति को बल प्रदान किया है कि नयी कविता का दौर प्रगतिवादी कविता के ही दौर से आरंभ हुआ है। इस संदर्भ में उनका चर्चित उद्धरण 'कविता के नए प्रतिमान' पुस्तक से वह होता है जिसमें उन्होंने कहा है कि नयी काव्य-धारा से मतलब उस काव्य-धारा से है जो प्रगति और प्रयोग के कल्पित कगारों को तोड़ती हुई आगे बढ़ी है—*"नई कविता से आशय प्रगति और प्रयोग के कल्पित कगारों को तोड़ती हुई समग्र नई काव्यधारा से है।"*[4] पर अब यह हिंदी साहित्य में मान्य धारणा हो चुकी है कि प्रगतिवाद एक अलग काव्य-आंदोलन है, प्रयोगवाद अलग है और नयी कविता अलग—यद्यपि कि अधिकांश प्रयोगवादी कवि नयी कविता के भी कवि हैं, और कुछ प्रगतिवादी कवि भी। इस संदर्भ में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी अपनी कृति 'नई कविता' में लिखते हैं– *"पिछले कुछ वर्षों से एक समाहार का प्रयत्न किया जा रहा है, जिसके पुरस्कर्ता प्रयोगवादी या प्रगतिवादी विशेषणों को स्वीकार नहीं करते और एक नई धारा के प्रवर्तन का लक्ष्य रखते हैं जिसे वे नई कविता की धारा कहा करते हैं।"*[5] इस समाहार के समर्थकों में एक नाम नामवर सिंह का लिया जा चुका है। इसी समाहार का प्रयत्न करता हुआ मत गिरिजाकुमार माथुर का है। वे मानते हैं कि नयी कविता का उद्भव छायावाद के बाद ही इसकी प्रतिक्रया में शुरू होता है और धीरे-धीरे इसका स्वरूप स्पष्ट होता है –*"सन् १९४०-४६ के बीच समाजोन्मुखी काव्य-प्रवृत्ति का स्वरूप स्पष्ट हुआ, जो नयी कविता में प्रगतिवाद के नाम से प्रतिष्ठित हुई। धीरे-धीरे दूसरी ओर 'प्रयोगवादी' कहलाने वाली प्रवृत्ति स्पष्टतया अलग होकर सामने आयी। इसके बाद दोनों प्रवृत्तियों की ओर से आलोचना का एक समूचा युद्ध नयी कविता की दिशा, स्वरूप, उद्देश्य, प्रतिपाद्य विषयवस्तु, काव्यगत मूल्य, मान्यताओं, रागात्मक संबंध, यहाँ तक कि कवि कर्म, उपकरण और शब्दों के प्रयोगों तक चला।"*[6]

अक्सर साहित्य में एक ही विशेष समय में अलग-अलग प्रवृत्तियों वाली रचनाएँ साथ-साथ चलती रहती हैं पर जब साहित्य का इतिहास लिखा जाता है तो अध्ययन की सुविधा के लिए साहित्य के

---

[3] नयी कविता और अस्तित्ववाद : रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, आवृति 2014, दुसरे संस्करण की भूमिका से

[4] कविता के नए प्रतिमान : नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, चौथा संस्करण 1990, बारहवीं आवृत्ति 2014, पृष्ठ 64

[5] नई कविता : आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, संस्करण 1997, पृष्ठ 3

[6] नयी कविता : सीमाएँ और संभावनाएँ : गिरिजाकुमार माथुर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली, संस्करण 1973, पृष्ठ 69

समग्र सामयिक विस्तार को विभिन्न कालों में बाँटा जाता है। यह काल-विभाजन विभिन्न आधारों पर हुआ करता है जिनके विषय में विद्वानों के बीच माथापच्ची चलती रही है। फिर भी काल-विभाजन का सर्व प्रमुख आधार काव्य-प्रवृत्ति ही है। जब किसी युग के साहित्य की प्रवृत्तियों के आधार पर उस युग का नामकरण किया जाता है तब देखा यह जाता है कि इस युग की विभिन्न प्रवृत्तियों में बलवती और बहुसंख्यक रचनाओं वाली प्रवृत्ति कौन सी रही है। प्रायः उसी प्रवृत्ति के आधार पर नामकरण कर दिया जाता है। इसमें होता यह है कि दूसरी प्रवृत्तियों की रचनाओं के साथ 'ऐतिहासिक-अन्याय टाइप' का हो जाता है। काल के प्रभाव में लोग अन्य प्रवृत्तियों वाली रचनाओं को भूल जाते हैं क्योंकि प्रायः नामकरण वाली प्रवृत्ति के अनुकूल न होने के कारण उनका उल्लेख नहीं किया जाता। अगर किया भी जाता है तो गौड़ रूप में 'अन्य-प्रवृत्तियों' की तरह। जैसे नगेंद्र के 'हिंदी साहित्य के इतिहास' में वर्गीकरण होता है 'भक्तिकाल की अन्य प्रवृत्तियाँ'। अतः उपर्युक्त समाहारी प्रयत्नों के संदर्भ में यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि भले ही प्रगति-प्रयोग और नयी कविता की कुछ प्रवृत्तियाँ सामान्य रही हों पर अधिकांशतः उनमें अंतर ही था। और 'नयी कविता' नाम प्रगति-प्रयोग से लेकर नयी कविता के काल तक की कविताओं के लिए उनकी किसी सामान्य प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर दिया भी नहीं गया है। यह या तो पाश्चात्य साहित्य आंदोलन 'न्यू पोएट्री' की नकल पर दिया गया है या कोई उपयुक्त नाम न पाकर काल-सापेक्षता में यूँ ही दे दिया गया है। और यह प्रगति और प्रयोग के दौर में दिया भी नहीं गया था। यह नाम उस समय रूढ़ हुआ था जब 1954 ई० में 'नयी कविता' नाम की एक पत्रिका निकलने लगी थी। यह भी उल्लेखनीय है कि नयी कविता आंदोलन चलाने वाले कवि प्रायः प्रयोगवादी कवि रहे हैं, प्रगतिवाद से इसका बहुत लेना देना नहीं है। और प्रयोगवादी कवियों का प्रगतिवाद से विरोध भी रहा है। इस संदर्भ में नामवर सिंह ने एक बात उठायी है कि क्योंकि मुक्तिबोध प्रगतिवादी विचारधारा के समर्थक थे इसलिए उन्होंने नयी कविता की रोमैंटिकता का विरोध किया, उनके इस समर्थन के कारण उन्हें नयी कविता वालों की उपेक्षा का शिकार होना पड़ा – *"इस प्रतिरोध के कारण मुक्तिबोध नई कविता के पूरे दौर में प्रायः उपेक्षित रहे; यहाँ तक कि नई कविता साहित्य के प्रतिष्ठानों में जब बहुत-कुछ स्वीकार भी कर ली गई तो मुक्तिबोध उस दायरे से बाहर रहे। मुक्तिबोध को छोड़कर नई कविता का स्वीकृत होना इस बात का पक्का प्रमाण है कि नई कविता ने कहीं-न-कहीं पूर्ववर्ती रोमांटिकता के साथ चुपचाप समझौता कर लिया था। इस बारे में नई कविता के अंतर्गत मुक्तिबोध की स्थिति बहुत कुछ वही है, जो छायावाद*

*के अंतर्गत निराला की थी।"*[7] मुक्तिबोध क्योंकि तार-सप्तक के कवियों में भी थे, उनकी शैली और उनका शिल्प-विधान भी प्रगतिवादी कवियों की तरह न होकर जटिल था, अतः वे नयी कविता के कवियों में गिने जा सकते हैं, गिने जाते हैं। मुक्तिबोध की तरह ही शमशेर बहादुर सिंह की भी स्थिति है। वे भी सप्तक-श्रृंखला के कवि रहे हैं, रूप-विधान उनका भी जटिल रहा है और वे भी नयी कविता और प्रगतिवाद दोनों में गिने जाते हैं; अन्यथा नागार्जुन, त्रिलोचन और केदारनाथ अग्रवाल सरीखे घोषित रूप से प्रगतिवादी कवि और अलग शिल्प-शैली के रचनाकार कहीं भी नयी कविता आंदोलन के कवियों में परिगणित नहीं किये जाते। और यह तो गिरिजाकुमार माथुर और रामविलास शर्मा के माध्यम से स्पष्ट ही है कि प्रगतिवाद और प्रयोगवादी कवियों और आलोचकों में एक युद्ध-सा छिड़ा ही रहता था एक-दूसरे को काटने–छेड़ने का। इस संदर्भ में नंददुलारे वाजपेयी का कथन भी उद्धरणीय है–*"यह तो स्पष्ट है कि प्रगतिवादी और प्रयोगवादी भावधारा और शैली में बहुत कम साम्य है। जो कुछ साम्य रहा भी हो उसे प्रयोगवाद के अतिवादी व्याख्याताओं ने समाप्त करने में सहयोग दिया है। वर्तमान स्थिति यह है कि नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, रामविलास शर्मा, त्रिलोचन जैसे कवियों को प्रयोगवादी अपने मजहब या खेमें में लेने को तैयार नहीं हैं और दूसरी ओर अज्ञेय, धर्मवीर भारती, गिरिजाकुमार माथुर जैसे कवियों को प्रगतिवादी अपने मंतव्यों-विचारों के अनुकूल नहीं पाते।"*[8] इस तरह स्पष्ट है कि प्रगतिवाद और प्रयोगवाद दो अलग-अलग विचारधारा और शैली वाले काव्य-आंदोलन हैं। और यद्यपि प्रयोगवादी कवियों में से ही अधिकांश कवि नयी कविता आंदोलन के भी कवि हैं, पर फिर भी नयी कविता आंदोलन की भी प्रयोगवाद से भिन्न कुछ अपनी मान्यताएँ थीं। प्रयोगवाद के पुरस्कर्ता अज्ञेय थे; नयी कविता के जगदीश गुप्त, लक्ष्मीकांत वर्मा आदि। अज्ञेय को धक्का लगा जब इन लोगों ने कुछ प्रयोगवादी मान्यताओं से असहमतियाँ जताकर नयी कविता नाम का एक नया आंदोलन खड़ा कर लिया। रामविलास शर्मा ने अपनी कृति 'नयी कविता और अस्तित्ववाद' में उन घटनाओं का जिक्र किया है कि कैसे अज्ञेय ने नयी कविता के पुरस्कर्ताओं से आहत होकर नयी कविता : संभाव्य भूमिका', 'नया-कवि : आत्म स्वीकार' और 'नए कवि : आत्मोपदेश' जैसी कविताएँ लिखीं; और कैसे अज्ञेय को नयी कविता

---

[7] कविता के नए प्रतिमान : नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, बारहवीं आवृत्ति 2014, पृष्ठ 34-45

[8] नई कविता : आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, संस्करण 1997, पृष्ठ 3

वालों ने क्रमशः अपने खेमे से दूर करना शुरू किया। इस संदर्भ में रामविलास शर्मा का यह कथन द्रष्टव्य है –*"स्पष्ट ही अज्ञेय नयी कविता के सूत्रधारों से आश्वस्त न थे। ... इधर नयी कविता के सूत्रधार उसे क्रमशः प्रयोगवाद से अलग करते जा रहे थे। ... अज्ञेय ने सन् ३७ में निराला के लिए जो लिखा था— 'ऐज़ ए लिटररी फ़ोर्स, ऐट एनी रेट, निराला इस आलरेडी डेड', वही बात सन '६१ की पीढ़ी ने अज्ञेय के लिए दुहराई।"*[9]

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता नाम के तीन आंदोलन चले। और तीनों की अपनी-अपनी अलग-अलग कुछ मान्यताएँ थीं। यद्यपि अधिकांश प्रयोगवादी कवि नए कवि बन गये थे, फिर भी क्योंकि तीनों आंदोलन समय के एक बिंदु पर भी गतिमान थे—नयी कविता के दौर तक प्रगतिवाद और प्रयोगवाद वाले भी लिख ही रहे थे—अतः अगर प्रगति-प्रयोग और नयी कविता के संपूर्ण युग को किसी एक काल के अंतर्गत रखने का आग्रह हो तो उसे कोई और नाम दिया जाना चाहिए—न तो प्रगतिवाद न ही प्रयोगवाद और न ही नयी कविता। क्योंकि ये तीनों आंदोलन क्रमशः साहित्य-पटल पर उभरते गये थे और तीनों का अपना अलग-अलग महत्व है, अतः किसी एक आंदोलन के नाम में दोनों अन्य आंदोलन समेटे नहीं जा सकते। इसलिए 'नयी कविता' के नाम पर प्रगति और प्रयोग से लेकर नयी कविता तक के काल को जो एक में समाहारित करने का प्रयत्न किया जाएगा वह अनुचित ही होगा; यद्यपि यह भी महत्वपूर्ण है कि साहित्य में किसी नाम से आंदोलन चलता है तो यह ज़रूरी नहीं कि नाम उस दौर के साहित्य के स्वरूप और प्रकृति को वहन करने की क्षमता भी रखता हो, एक आंदोलन की कुछ कविताएँ दूसरे आंदोलन की कविताओं से मेल खा सकती हैं—यह बहुत संभव है। पर यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि कोई नाम दे दिये जाने से वह प्रायः उस युग की रचनागत प्रवृत्तियों के लिए रूढ़ हो जाता है। इस दृष्टि से 'नयी कविता' नाम उस युग की रचनाओं के लिए रूढ़ हो गया है जो 1954 में नयी कविता आंदोलन के शुरू हो जाने पर उसके लिए, मतलब उससे जुड़कर अस्तित्व में आयीं। अब सभी जगह यह बात स्वीकृत है कि आंदोलन के स्तर पर 'प्रगतिवाद' प्रगतिवाद है, 'प्रयोगवाद' प्रयोगवाद और 'नयी कविता ' नयी कविता; यद्यपि प्रवृत्ति के स्तर पर तीनों में कुछ या बहुत-कुछ समानताएँ हो सकती हैं, हैं भी । प्रगतिवाद और प्रयोगवाद में तो यह समानताएँ कुछ ही जगह

---

[9] नयी कविता और अस्तित्ववाद : रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, आवृत्ति 2014, पृष्ठ 35-36

ढूँढ़ी जा सकती हैं, पर प्रयोगावाद और नयी कविता में तमाम प्रवृत्तियाँ लगभग समान हैं। इसका कारण है कि अधिकांश प्रयोगवादी कवि नयी कविता के भी कवि हैं। यह ऊपर रामविलास शर्मा के उद्धरण द्वारा संकेतित किया जा चुका है कि पहले नयी कविता और प्रयोगवाद में फर्क करने की प्रवृत्ति नहीं थी, धीरे-धीरे नयी कविता ने अपना रास्ता अलग कर लिया। यहाँ उसे और स्पष्ट कर दिया जाता है। रामविलास शर्मा ने प्रमाणों के आधार पर लिखा है –*"सन् 1954 में डॉ. जगदीश गुप्त और उनके मित्रों ने इलाहाबाद से 'नई कविता' का प्रकाशन आरंभ किया। पहले अंक में नयी कविता पर पंत का लेख छपा। तीन साल पहले रेडियो-गोष्ठी में पंत ने प्रयोगवाद पर जो कुछ कहा था, वही शीर्षक बदलकर अब नयी कविता पर छाप दिया गया। ...पंत का कार्य उचित था क्योंकि आरंभ में नयी कविता को उसके सिद्धांतकार प्रयोगवाद से अलग न करते थे। 'प्रयोगवादी जिसे हम नयी कविता भी कहते हैं'—सन् '५४ में लक्ष्मीकांत वर्मा ने लिखा था। (आलोचना जुलाई '५४)।[10]"*

ऊपर जो यह कहा गया कि आंदोलन के स्तर पर प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता एक-दूसरे से पृथक हैं, भले ही प्रवृत्ति के स्तर पर तीनों में कुछ या बहुत समानताएँ लक्षित की जा सकें, उसके संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि आंदोलन और प्रवृत्ति में अंतर होता है; भले ही आंदोलन प्रायः प्रवृत्तिगत होते हों या प्रवृत्तियाँ आंदोलनरत होती हों। मतलब यह है कि अक्सर साहित्यिक आंदोलन पुरानी साहित्यिक प्रवृत्ति के विरोध में नयी साहित्यिक प्रवृत्ति को लाने के लिए चलते हैं, और क्योंकि ऐसे आंदोलन व्यावहारिक प्रवृत्ति-प्रदर्शन द्वारा संचालित किये जाते हैं अतः इसी को दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि 'नयी प्रवृत्ति आंदोलनरत है'। प्रवृत्ति और आंदोलन में अंतर एक तो इसी प्रकरण में स्पष्ट है कि प्रायः 'प्रवृत्ति' के लिए 'आंदोलन' होता है, दूसरे यह ज़रूरी नहीं कि हर साहित्यिक आंदोलन प्रवृत्तिगत ही हो या हर प्रवृत्ति आंदोलन द्वारा ही स्थापित हो। आंदोलन संगठित रूप से चलाए जाते हैं। आदिकालीन साहित्य की तमाम प्रवृत्तियाँ समान हैं, पर वे संगठित होकर किसी एक बैनर तले नहीं चलायी गईं। जबकि भक्तिकाल एक साहित्यिक आंदोलन है, उसका प्रभाव पूरे देश में छाया रहा। यह संगठित रूप में चला, भले ही अलग-अलग संगठनों द्वारा। तमाम भक्ति-संप्रदाय इस दृष्टि से आंदोलनरत संगठन ही थे। उसके बाद रीतिकालीन साहित्य भी किसी आंदोलन का नहीं बल्कि एक ख़ास प्रवृत्ति की

---

[10] नयी कविता और अस्तित्ववाद : रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, आवृत्ति 2014, पृष्ठ 34

ओर झुकाव का ही परिणाम था। रीतिकाल के बाद भारतेंदु-युग, द्विवेदी-युग और छायावादी युग साहित्यिक आंदोलन थे, क्योंकि प्रायः ये क्रमशः एक-दूसरे की प्रवृत्तियों से असंतुष्ट होकर उनके विरोध में उपजे थे। प्रायः कहने का यह मतलब है कि भारतेंदु युग में बहुत सी रीतिकालीन प्रवृत्तियाँ थीं। यह उन प्रवृत्तियों के विरोध में नहीं बल्कि देश की राजनीतिक और सामाजिक ज़रूरतों से उपजा हुआ आंदोलन था। इस काल में पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन और गद्य की विविध विधाओं के माध्यम से देश की जनता को अपने देश की हीन दशा के प्रति सचेत किये जाने का आंदोलन चला। द्विवेदी युग में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने रीतिविरोधी और भाषा के गद्य-पद्य एकीकरण और परिमार्जन का अभियान चलाया। पद्य में भी व्याकरण-सम्मत कर्ता-कर्म-क्रिया के वाक्यात्मक प्रयोग पर जोर देने के कारण इस युग की कविता प्रायः नीरस गद्य में 'इतिवृत्तात्मक टाइप' की होने लगी। इस इतिवृत्तात्मकता के खिलाफ विद्रोह में उठा हुआ साहित्यिक आंदोलन छायावाद था। नगेंद्र की छायावाद की बहुप्रचलित परिभाषा भी है–*'छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है।'* इसी प्रकार छायावाद के बाद प्रगतिवाद एक साहित्यिक आंदोलन था। प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना द्वारा ऐसे कवियों को एक बैनर तले इकट्ठा कर इस आंदोलन की प्रक्रिया को अंजाम दिया गया। प्रयोगवाद भी एक आंदोलन ही था। इस आंदोलन का नेतृत्व अज्ञेय ने संभाल रखा था। उन्होंने सप्तक-श्रृंखला और प्रतीक के ज़रिए कवियों को एक बैनर तले इकट्ठा किया था और उनके साथ-साथ उनके सहयोगी अन्य कवि भी अपने द्वारा प्रवर्तित की जा रही काव्य-प्रवृत्ति के समर्थन और दूसरी काव्य-प्रवृत्तियों की नुक्ता-चीनी के लिए आलोचना के क्षेत्र में उतर चुके थे। मतलब यह सब संगठित तरीके से किया जा रहा था तो आंदोलन ही हुआ ! इसके बाद नयी कविता भी एक आंदोलन के रूप में ही चली, यद्यपि आरंभ में यह प्रयोगवादी प्रवृत्तियों के विस्तार की मुद्रा में थी, पर धीरे-धीरे इसने अपना रास्ता अलग कर लिया, और उसी तरह अपने पक्ष समर्थन और दूसरों के विपक्ष में इसने भी आलोचना के क्षेत्र में मत दिये जिस तरह से प्रयोगवादी कवियों ने दिया था। इस दृष्टि से जगदीश गुप्त और लक्ष्मीकांत वर्मा के आलोचनात्मक विचार ख़ास महत्व रखते हैं। नयी कविता इस अर्थ में भी प्रवृत्ति से ज्यादा एक आंदोलन है कि यह प्रयोगवादी कवियों से अलग अपनी कुछ ख़ास प्रवृत्ति नहीं निर्मित कर सकी। इस दृष्टि से लक्ष्मीकांत वर्मा का यह कथन बहुत उचित नहीं है कि—*"नयी कविता*

*कोई आंदोलन नहीं है : वह एक साहित्यिक प्रवृत्ति है जिसमें आज का भाव बोध अधिक व्यंजना के साथ अभिव्यक्ति पाता है।"*[11] नयी कविता, जिसको लेकर साहित्यिक क्षेत्र में बहुत दिनों तक कश्मकश जारी रही, जिसके समर्थन के लिए नए कवि संगठित होकर आलोचना के क्षेत्र में उतरे, वह एक साहित्यिक आंदोलन ही थी, इसमें कोई शक नहीं। यद्यपि यह दिखाया जा चुका है कि नयी कविता आंदोलन ने अपने को प्रयोगवादी आंदोलन से पृथक कर लिया था फिर भी प्रयोगवादी प्रवृत्तियों से मेल खाने और कुछ आलोचकों के इस ओर रुझान के कारण अगर प्रयोगवाद को नयी कविता में मिलाकर भी यह कहने की कोशिश की जाएगी कि नयी कविता आंदोलन नहीं एक प्रवृत्ति विशेष है तो भी वह अधूरा कथन ही होगा। इस दृष्टि से भी नयी कविता अंततः एक साहित्यिक आंदोलन ही है, क्योंकि प्रयोगवाद भी एक साहित्यिक आंदोलन है।

'नयी कविता' पर पाश्चात्य दर्शन और साहित्य का पर्याप्त प्रभाव है। यहाँ तक कि कहीं-कहीं यह प्रभाव मात्र प्रभाव के रूप में न रहकर अंधानुकरण की हद तक जा पहुँचा है। प्रतीकवाद, बिंबवाद, फ्रायडवाद, अस्तित्ववाद आदि को इसने कहीं आत्मसात किया है, कहीं प्रचारात्मक रवैया अपनाया है और कहीं अपनी सतह पर चढ़ाकर अपने स्वरूप में सतही छिछलापन झलकाया है। इस पाश्चात्यवादी दृष्टि के संदर्भ में नंददुलारे वाजपेयी ने लिखा है –*"यद्यपि कवियों को सीख देना खतरे से खाली नहीं है पर साहस बटोरकर इतना तो कहा ही जा सकता है कि नई कविता में पश्चिमी अनुकरण की मात्रा आवश्यकता से अधिक है।"*[12]

'नयी कविता' नाम के पीछे भी शायद पाश्चात्य का प्रभाव है। आधुनिक काल में आकर नये-नये रचनाकारों और आलोचकों ने पाश्चात्य साहित्यकारों और आलोचकों से प्रभावित होना शुरू किया और प्रभावित भी हुए तो आक्रांतता की स्थिति तक। अगर पाश्चात्य साहित्य में 'न्यू पोएट्री' नाम से आंदोलन चला तो हिंदी में भी 'नयी कविता' आंदोलन चलना ही चाहिए। अगर पाश्चात्य समीक्षा-जगत में 'न्यू क्रिटिसिज्म' नाम का आंदोलन चला तो हिंदी में भी 'नयी आलोचना' आंदोलन चलना ही चाहिए।

[11] नयी कविता के प्रतिमान : लक्ष्मीकांत वर्मा, भारती प्रेस प्रकाशन इलाहाबाद, 1957, पृष्ठ [2] भूमिका से

[12] नई कविता : आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, संस्करण 1997, पृष्ठ 82

अतः बहुत हद तक स्पष्ट है कि 'नयी कविता' नाम पाश्चात्य साहित्य की प्रवृत्तियों की होड़ में दिया गया नाम है। इस आंदोलन के कवियों ने बहुत से पाश्चात्य कवियों की नक़ल करने की कोशिश की है जिससे इनकी कविता 'दुरूह-टाइप' की हो गयी है। इन कवियों ने पाश्चात्य दार्शनिक विचारों को भी अपनी कविता में घुसाने की चेष्टा की है जिससे इनकी कविता में दुरूहता के साथ-साथ अतिरिक्त बौद्धिकता की छाप दृष्टिगोचर हुई है। इन तमाम कारणों से इस नयी कविता की पाठकों द्वारा उपेक्षा और आलोचकों द्वारा तीखी आलोचना की गयी। बाद में अपनी कविता के समर्थन के लिए नए कवियों को खुद आलोचक बनना पड़ा, तब जाकर स्थिति कुछ संभली!

ऊपर कुछ उद्धरण इस संदर्भ में दिये गये हैं कि तार-सप्तक के प्रकाशन से पूर्व ही कविता में प्रयोग शुरू हो गये थे। प्रयोगशीलता के पुरस्कर्ताओं की सप्तकेतर या सप्तकपूर्व कवियों की सूची पेश करने वाले उपर्युक्त उद्धरणों, और इन जैसे तमाम उद्धरणों वाली मान्यताओं पर गहरे विचार की आवश्यकता है—काव्य प्रवृत्तियों और काल विभाजन के संदर्भ में। विचारणीय बात यह है कि सप्तक-पूर्व कवि सप्तक-श्रृंखला के बहुत पहले से ही कविता करते आ रहे थे और उनकी कविताओं का मूल और प्रारंभिक स्वर और प्रवृत्तियाँ प्रयोगवादी कवियों से भिन्न थीं, जबकि सप्तक-कवियों ने शुरू से ही अपने आपको 'राहों का अन्वेषी' मानकर काव्य को नए पथ की ओर अग्रसर करने की युक्तियों को पाने के लिए संघर्ष किया। गिनाये गये सप्तक-पूर्व कवि अलग-अलग काव्य-प्रवृत्तियों या खेमों के थे, जबकि सप्तक-कवि घोषित रूप से सामूहिक थे; नये ढंग की कविताओं के सृजन के लिए ही ये कवि एक बैनर तले इकट्ठे हुए थे। विचारणीय बात यह भी है कि प्रयोग तो अपने-अपने ढंग से सभी कवि करते हैं, अतः बात प्रयोग के साथ-साथ नवीनता की भी है—शिल्प-कथ्य, भाव-विचार, शब्द-भाषा सभी दृष्टियों से। इन सभी में नवीनता के लिए प्रयोग के आग्रही या दुराग्रही घोषित और सजग रूप में सप्तक कवि ही हुए; अतः नये तरह के काव्य-सृजन का प्रस्थान बिंदु तार सप्तक के प्रकाशन-काल से ही माना जाता है, और यही उपयुक्त भी है। नवीनता के लिए प्रयोग के 'आग्रही' के साथ 'दुराग्रही' भी विकल्प रूप में इसलिए रखा गया है कि नूतन प्रयोग के अतिरिक्त उत्साह में इन कवियों की कविताएँ प्रायः अस्पष्ट हो गयी हैं जिसे साधारण-सामान्य पाठक तो क्या, बड़े-बड़े आलोचक-आचार्य भी समझने में खासी परेशानियों के शिकार हुए हैं, और यह अस्पष्टता ही 'नयी कविता' की मूल और बलवती भेदक प्रवृत्ति है, पुरानी-कविता से—इससे पहले की कविता में यह अस्पष्टता प्रायः मौजूद नहीं थी।

‘नयी कविता’ की अपनी इस अस्पष्टता के कारण प्रायः नये कवियों को अपनी कविताओं की व्याख्या खुद करनी पड़ी। इस संदर्भ में गणपति चंद्र गुप्त ने अपने ‘हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास’ में तीसरे सप्तक की कवयित्री कीर्ति चौधरी के एक कथन का दिलचस्प उत्तर दिया है। कथन है–*“अपनी रचनाओं की व्याख्या आजकल प्रायः सभी लेखक करने लगे हैं। पहले युगों में ऐसी बात नहीं थी। इस दृष्टि से हमारे साहित्य ने बड़ी प्रगति की है।”*[13] उत्तर है –*“चौधरी जी को शायद मालूम नहीं कि पहले ऐसी अस्पष्ट रचनाएँ नहीं लिखी जाती थीं जिनकी व्याख्या स्वयं लेखकों (कवियों) को करनी पड़े अन्यथा इसे वे ‘प्रगति’ के स्थान पर ‘दुर्गति’ ही मानतीं।”*[14]

काव्य-प्रवृत्तियों और काल-विभाजन के संदर्भ में एक बात और विचारणीय है कि यदि एक कवि, या उसी प्रवृत्ति के कई कवियों का समूह अपने युग की काव्य प्रवृत्तियों के समाप्तप्राय हो जाने के बाद भी कविता करने में सक्रिय रहते हैं—जैसे निराला और पंत—तो क्या दूसरे युग की काव्य-प्रवृत्तियों की शुरुआत या उनके प्रवाह में ऐसे कवियों का भी नाम लिया जाता है, यदि वे नयी-प्रवृत्ति के अनुरूप रचना करने लगते हैं तो—जैसे कि पंत; और यदि वे अपनी ही मूल प्रवृत्ति या उसके विकसित रूप को अपनाते चले जाते हैं तो—जैसे कि निराला। निश्चय ही इसका उत्तर नकारात्मक रुझान की ओर अधिक झुकता है। पंत प्रगतिवादी कवि के रूप में नहीं, छायावादी कवि के रूप में ही प्रतिष्ठित हैं; यद्यपि बाद में उनकी रचनाएँ प्रगतिवादी विचारधारा से लैस होने लगीं और छायावाद का ‘युगांत’ उन्होंने ही घोषित किया। निराला शुरू से ही—प्रगतिवादी आंदोलन से पहले—प्रगतिशील विचारधारा वाले कवि रहे और अंत तक उन्होंने उसी का निर्वाह किया, पर वे प्रगतिवादियों की सूची से बाहर रहे हैं; छायावादी कवि के रूप में प्रतिष्ठित हैं। स्पष्ट है की प्रवृत्ति-विशेष के पुरस्कर्ता-कवियों की मान्यता और प्रतिष्ठा उसी प्रवृत्ति पर निर्भर होती है। उस प्रवृत्ति के समाप्त या क्षीण हो जाने पर या तो कवि की सृजन-शक्ति क्षीण हो जाती है या वह अपनी पूर्व-प्रवृत्ति में ही विस्तार करता है। इस आधार पर भी सप्तक-पूर्व कवि अपनी प्रवृत्तियों के साथ थे, और नयी-प्रवृत्तियों की शुरुआत सप्तक-कवियों ने की, सप्रयास।

---

[13] हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, द्वितीय खंड : गणपति चन्द्र गुप्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, तेरहवाँ संस्करण 2013, पृष्ठ 159

[14] वही, पृष्ठ 159

यद्यपि कुछ लोग यह भी मानते हैं कि 'प्रयोगवाद' और 'नयी कविता' दो नाम से प्रचलित एक ही काव्यांदोलन है। उनके ऐसा मानने के पीछे कारण हैं कि न सिर्फ 'प्रयोगवाद' और 'नयी कविता' के कवि प्रायः समान हैं, बल्कि सप्तक-श्रृंखला १९७९ ई० (चौथा सप्तक) तक चलती रही—'प्रतीक' और 'नयी कविता' के समानांतर। इसके समर्थन में वे यह तर्क दे सकते हैं कि नयी कविता 'तार सप्तक', 'प्रतीक' और 'नयी कविता' नामक पत्रिकाओं के सम्मिलित उद्योग और सहयोग से विकसित हुई। पर, जैसा कि पूर्व में ही संकेत किया गया, इस भ्रम की स्थिति के बनने के पीछे कारण यह है कि नयी कविता के पुरस्कर्ताओं और सिद्धांतकारों में अधिकांशतः प्रयोगवाद के ही कवि थे, अतः इसके शुरुआती दौर में प्रयोगवाद को इससे बहुत भिन्न नहीं माना जाता था। धीरे-धीरे नयी कविता के कवियों ने अपने आपको प्रयोगवादी सीमा से अलग कर लिया और नयी कविता को एक स्वतंत्र आंदोलन का स्वरूप दिया। अतः अब नयी कविता और प्रयोगवाद व्यावहारिक और सैद्धांतिक रूप से दो अलग-अलग काव्यांदोलन माने जाने लगे हैं, भले ही उनकी अधिकांश कविताएँ प्रायः समान कवियों की होने के नाते समान प्रवृत्तियों वाली हों। और फिर यह उपर्युक्त विश्लेषणों और उद्धरणों से स्पष्ट ही है कि उनमें समानताओं के साथ-साथ पर्याप्त अंतर भी थे। प्रयोगवाद से जब कुछ वैचारिक या भावात्मक असहमति महसूस हुई होगी तभी नयी कविता आंदोलन चलाने की ज़रूरत समझी गयी होगी। ज़रूरत न भी रही हो तो भी अगर आंदोलन अलग नाम से चला और उसकी सत्ता साहित्येतिहास में मौजूद रह गयी तो उसकी अपनी अलग महत्ता है ही। उसकी अपनी कुछ विशेषताएँ अन्य काव्य-आंदोलनों से पृथक होनी ही चाहिए।

'नयी कविता' के कवियों में जगदीश गुप्त, लक्ष्मीकांत वर्मा, विजयदेव नारायण साही, धर्मवीर भारती, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय', गजानन माधव 'मुक्तिबोध', गिरिजाकुमार माथुर, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, शमशेर बहादुर सिंह, कुँवर नारायण, भवानी प्रसाद मिश्र, प्रभाकर माचवे, रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह, नरेश मेहता, कीर्ति चौधरी, दुष्यंत कुमार आदि प्रमुख हैं।

### 2.2 नयी कविता की सामान्य प्रवृत्तियाँ

नयी कविता की प्रवृत्ति छोटी कविताओं को लिखने में ज्यादा रही है बजाय प्रबंध काव्य लिखने के। यह युग भावनाओं के अस्थिरीकरण का है। विज्ञान के कारण हुई प्रगतिशीलता ने लोगों के स्थानीय और व्यक्तिगत संबंधों को अस्थिर बना दिया है। आदमी एक जगह रुक ही नहीं पा रहा है। उसके पास

इतनी ज़रूरतें आ गयीं हैं कि वह उन्हें पूरा करने के लिए या उनको पूरा करने का सपना लिए इधर से उधर भाग रहा है। भागने के लिए विज्ञान ने रेल और जहाज जैसे तेज से तेज साधन उपलब्ध कराए हैं। उसके पास समय नहीं है। वह जल्दी ही अपने लक्ष्य को पा लेना चाहता है। इसके लिए 'शार्टकट्स' की संस्कृति का चलन हो रहा है, और उसी संस्कृति की प्रक्रिया का एक परिणाम हैं आधुनिक युग की छोटी कविताएँ। बड़े प्रबंध काव्यों को समय निकालकर पढ़ने का धैर्य अब पाठकों के पास नहीं रह गया है, और न ही लेखकों के पास उन्हें रचने का समय रह गया है। इसलिए अब छोटी कविताओं का युग आ गया है।

यहाँ एक सवाल यह किया जा सकता है कि जब कवि या पाठक के पास महाकाव्य को लिखने या पढ़ने का समय नहीं बच रहा है तो गद्य के क्षेत्र में इन दिनों उपन्यासों का चलन क्यों है ? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि कविता की भाषा ज्यादा सर्जनात्मक होती है और गद्य की उससे कम। मतलब कविता की भाषा का संप्रेषण सायास होता है और गद्य की भाषा का अनायास। पाठक इस संप्रेषण के लिए किये जाने वाले प्रयास से, और उस प्रयास में लगने वाले समय से बचना चाहता है, अतः वह इसकी अपेक्षा अनायास रूप से संप्रेषित होते जाने वाले उपन्यास आदि का पठन करता है। एक और कारण यह हो सकता है कि साहित्य से मिलने वाला वह आनंद जो पाठक को चाहिए आज के कवि अपनी कविताओं में न दे पाते हों, महाकाव्य प्रणयन अपने आप में एक विशिष्ट प्रतिभा का काम है; और उपन्यास के क्षेत्र में कथा के वैशिष्ट्य से वह आनंद पाठक को अपनी ओर खींचता हो। रचना में पाठक को अपनी ओर खींचने की शक्ति भी होनी चाहिए। नीरस साहित्य को पाठक पढ़ने से बचते ही हैं। प्रबंधात्मकता में चाहे वह गद्य के क्षेत्र में हो या पद्य के क्षेत्र में, कथा वह महत्वपूर्ण तत्व है जिस पर रचना का भविष्य निर्भर करता है। कथा सुगठित और आकर्षक होनी चाहिए। उसके बाद उसका प्रस्तुतीकरण भी आकर्षक रूप से किया जाना चाहिए। कविता में क्योंकि प्रस्तुतीकरण का माध्यम अलग है और गद्य में अलग, अतः कविता को आकर्षक बनाने का गुण जब तक कवि के पास नहीं है तब तक वह पाठक पैदा नहीं कर सकता। कविता को आकर्षक बनाना थोड़ा कठिन काम है, गद्य को आकर्षक बनाने की अपेक्षा। आधुनिक युग इसीलिए गद्य का युग है, जैसा कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने साहित्य के इतिहास में पहले ही लक्षित किया था।

जनता के दिलो-दिमाग में जड़ जमाकर बैठ चुके ऐसे मिथकीय अभिप्रायों के प्रति भी नये कवियों

के मन में एक विद्रोह-सा है जो अंततः इस वैज्ञानिक युग में भी उन पर अपना प्रभाव जमाये रखने में समर्थ साबित हो रहे हैं और इस वजह से मानवता के रास्ते में आड़े आ रहे हैं। इसके विरोध के लिए इन कवियों ने मिथकीय कथानक का आधार लेकर कई खंडकाव्य या काव्य-नाटक लिखे हैं। अतः प्रकारांतर से मिथक आधारित छोटे प्रबंध-काव्यों का प्रणयन भी इस काल की एक प्रवृत्ति है जिसके ज़रिये इन कवियों ने पुरानी जड़ परंपरा और ग़लत, पर लोक-स्थापित, नैतिक मूल्यों के खिलाफ़ विद्रोह किया है। अतः आधुनिक दृष्टिकोण के साथ चीजों को परखने की प्रवृत्ति इन कवियों ने दिखाई।

जैसा कि पहले ही जिक्र किया जा चुका है, नयी कविता की सबसे भेदक प्रवृत्ति है अस्पष्टता। इसे अपनाने के पीछे कवि का यह दंभ हो सकता है कि वह ऐसा करके पुराने ढंग की कविताओं की तुलना में एकदम नए ढंग की कविता कर रहा है; एक कारण यह भी हो सकता है कि वह ऐसी रचनाएँ दे रहा है जो साधारण लोगों की समझ से परे हैं, अतः उत्कृष्ट हैं। वस्तुतः अस्पष्टता इसलिए आती है कि कवि के सामने विषय स्पष्ट नहीं होता या फिर वह विषय को स्पष्ट करना ही नहीं चाहता—विषय और कथ्य में भेद दिखलाने के लिए या इसे तथाकथित साधारण पाठकों को समझाने के लिए। अस्पष्टता आने का एक प्रमुख कारण और है कि कवि प्रस्तुत के माध्यम से अप्रस्तुत का कथन तो करता है पर उस कथन में प्रस्तुत का नाम तक नहीं लेता। इसी से मिलती-जुलती प्रवृत्ति मुक्तिबोध ने छायावादी कविता में लक्षित की है –*"छायावादी काव्य में उत्तेजित भाव तथा सदृश वस्तुओं की योजना तो रहती है, किन्तु जिन तथ्यों से भावोत्तेजना होती है उसको सामान्यतः ओझल कर दिया जाता है। तथ्यों को ओझल करके मात्र भाव-चित्र प्रस्तुत कर दिये जाते हैं। इससे अस्पष्टता तो आती ही है, भाव-प्रेरक तथ्य की ओर केवल अंतः-साक्ष्य की सीढ़ियों से पहुँचना पड़ता है। कभी-कभी, बीच-बीच में, ये सीढ़ियाँ खंडित भी होती हैं, किंतु क्रम की लकीर समझ में आ जाती है। बीच-बीच में, कभी-कभी, दो-दो तीन-तीन सीढ़ियाँ नदारद होती हैं, फलतः एकदम चौथी या पाँचवीं सीढ़ी पर चढ़ना पड़ता है।"*[15] यद्यपि यह प्रवृत्ति मुक्तिबोध ने छायावादी कवियों की रचनाओं में लक्षित की है, मुक्तिबोध के अलावा भी और कई आलोचकों ने छायावादी कविता में अस्पष्टता की प्रवृत्ति को लक्षित किया है, पर इस प्रवृत्ति का चरम परिपाक जाकर नयी कविता की रचनाओं के भीतर हुआ। तथ्यों को ओझल करके मात्र भाव-चित्र देने का मतलब उस

---

[15] कामायनी : एक पुनर्विचार : गजानन माधव मुक्तिबोध, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पाँचवीं आवृत्ति 2010, पृष्ठ 95

विभाव को, जिसके कारण उसके मन में तदनुकूल भाव उठे, ओझल कर मात्र उसके कारण उठे अपने भावों को व्यक्त करना है। यह प्रवृत्ति 'नयी कविता' की छोटी कविताओं में बहुत पायी जाती है। नयी कविता की इस प्रकार की अस्पष्ट कविताओं की प्रकृति के संबंध में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी का कथन है –*"आगे बढ़ने पर ऐसी रचनाओं से साबका पड़ता है जिसमें अर्थ परंपरा टूट जाती है और पूरी रचना पढ़ लेने पर किसी भावान्विति का बोध नहीं होता। ऐसी रचनाएँ अंतर्मन से अधिक संबंध रखती हैं और (जब तक ?) उसकी (पाठक की) प्रज्ञा उसी सांचे में नहीं ढल जाती, जिसमें रचयिता की ढली है, तब तक वह रचना उसकी समझ से बाहर ही रहेगी।"*[16] अतः पाठक माथापच्ची करता रहे कि अमुक कविता में किस चीज का वर्णन या कथन किया जा रहा है। जब पाठक से आगे, आलोचक भी प्रस्तुत का पता लगाने में अशक्त साबित होने लगे तो नया कवि खुद आलोचना के क्षेत्र में उतरने लगा, पाठकों और आलोचकों को यह समझाने और दिखाने कि अमुक कविता में इस चीज का बयान किया गया है।

नयी कविता की प्रवृत्ति छंदों के बंधन को पूर्णतः त्यागने की ओर है। सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' का 'परिमल' की भूमिका में का यह कथन कि *'मनुष्यों की ही तरह कविता भी मुक्ति चाहती है। मनुष्यों की मुक्ति का अर्थ यदि कर्मों के बंधन से छुटकारा पाना है तो कविता की मुक्ति छंदों के बंधन से अलग हो जाने में है'*, नये कवियों के लिए वेद-मंत्र-सरीखा बहाना बन गया। यह एक प्रामाणिक तथ्य है कि छंदबद्ध कविता लिखना मुश्किल काम है, अतः यह सबके वश की बात नहीं है—क्योंकि इसमें कविता को एक पैमाने के अनुसार लिखना है, प्रबल अभिव्यंजना के साथ। निराला ने मुक्त छंद की वकालत जरूर की थी, पर बमुश्किल छंदों में भी बाकायदा कविताएँ की थी। और उनकी छंदों वाली कविताएँ ही कालजयी (क्लासिकल) रचनाएँ साबित हुईं, चाहे वह 'राम की शक्ति पूजा' हो, 'सरोज-स्मृति' हो या 'तुलसीदास'। तथ्य यह भी विचारणीय है कि निराला ने मुक्त-छंद का प्रयोग कवित्त-छंद को परिवर्तित कर के किया था। इस तरह से उनमें तुक और लय का समावेश होता था, भले ही अनिश्चित यति-गति के अनुसार। लेकिन नये कवियों ने क्रमशः इसे भी त्याग दिया। अतः उनकी कविता और गद्य में प्रायः कोई अंतर नहीं रह गया, पंक्तियाँ जरूर ऊपर-नीचे, पैमाना-विहीन छोटी-बड़ी होती हैं। इस प्रवृत्ति ने हर सामान्य प्रतिभा वाले को भी कवि बन जाने के लिए प्रेरित किया, और अस्पष्टता की प्रवृत्ति भी इसमें

[16] नई कविता : आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, प्रकाशन संस्थान नयी दिल्ली, संस्करण 1997, पृष्ठ 91

सहयोगी साबित हुई।

नयी कविता की एक प्रवृत्ति बौद्धिक अनुभूति से संबद्ध वैचारिक कविताएँ लिखने की है। यह लक्षित किया जा सकता है कि नया कवि अनुभूति की प्रमाणिकता की दुहाई चाहे जितना देता हो पर उसकी अनुभूतियाँ प्रायः कोरी बौद्धिकता से परिचालित होती हैं। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक 'भाषा और सर्जन' में माना है कि 'अनुभूति' शब्द से परे नहीं हो सकती, कोरा संवेदन भले होता हो। इस तरह उन्होंने संवेदन और अनुभूति में अंतर स्थापित किया है। संवेदन ऐंद्रिक और बौद्धिक दो प्रकार का हुआ करता है, और इसी आधार पर अनुभूतियाँ भी। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि अनुभूति प्रायः संवेदन से ही परिचालित होती है, खासकर ऐंद्रिक अनुभूति। शारीरिक पीड़ा ऐंद्रिक संवेदन है और मानसिक पीड़ा बौद्धिक संवेदन है। ऐंद्रिक अनुभूति प्रायः सभी मनुष्यों में समान होती है और बौद्धिक अनुभूति प्रायः वैयक्तिक होती है। अतः बौद्धिक अनुभूति से परिचालित होने कारण ही नये कवि की कविताएँ वैयक्तिकता से युक्त होती हैं, और प्रायः इसीलिए दुरूह भी। वैयक्तिक अनुभूति से परिचालित कविताओं के साथ पाठक की अनुभूति तालमेल नहीं बिठा पाती, अतः ऐसी कविताओं को समझना पाठकों के लिए कठिन हो जाता है।

नयी कविता में पाश्चात्य दर्शन की ओर पर्याप्त रुझान रहा है। रामविलास शर्मा ने अपनी एक पुस्तक का नाम ही दिया है 'नयी कविता और अस्तित्ववाद'। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि कविता और दर्शन का संबंध बहुत स्वाभाविक है, पर इस संबंध में दोनों का अनुपात सही होना चाहिए। कालजयी कविताओं में से दर्शन की निर्मिति की जाती है, और सतही कविताएँ दर्शन से अपनी निर्मिति करती हैं। दूसरे शब्दों में, कालजयी कविताओं की गहराई में जाकर दर्शन की खोज की जाती है, जबकि सतही कविताएँ दर्शन में से खोजी जाती हैं। और सरल शब्दों में कहें तो कालजयी कविताओं में दर्शन सतह पर नहीं होता, कवित्व के कारण वह आसानी से नहीं दिखाई देता, अतः खोजकर निकाला जाता है, सायास; जबकि सतही कविताओं में दर्शन सतह पर झलकता रहता है। 'नयी कविता' में आधुनिक पाश्चात्य-दर्शन की प्रायः ऐसी ही सतही अभिव्यक्ति की गयी है। उदाहरण के लिए, अस्तित्ववादी दार्शनिक विचारधारा में पीड़ा का बहुत महत्व स्वीकार किया गया है, उसे अस्तित्व का आधार माना गया है, और यह भी माना गया है कि उससे मुक्ति का साधन उसके स्वीकार में ही है। इसकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति 'नयी कविता' में इस तरह हुई कि 'पीड़ा की स्वीकृति' स्वयं में 'नयी कविता' की

काव्य-प्रवृत्ति स्वीकार ली गयी। नरेश मेहता की कविता है –*"वहन करो,/ ओ मन ! वहन करो पीड़ा !/ यह अंकुर है उस विशाल वेदना की,/ तुम में भी जन्मजात/ आत्मजा है स्वीकार करो/ आचल से ढँक कर रक्षण दो !/ वहन करो, वहन करो पीड़ा !"*[17] इसी प्रवृत्ति के अनुसार 'अज्ञेय' की भी प्रसिद्ध पंक्तियाँ हैं– *"दुःख सबको माँजता है/ और..../ चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने, किंतु/ जिनको माँजता है/ उन्हें यह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें !"*[18]

अस्तित्ववाद का 'नयी कविता' पर सबसे ज्यादा प्रभाव है, इसी के फलस्वरूप अनास्था, वैयक्तिकता, उन्मुक्त-भोग, निराशा आदि वृत्तियों का खुला चित्रण नयी कविता में मिलता है। अनास्था यहाँ ईश्वर, परंपरा, प्रतिष्ठित प्राचीन मूल्यों आदि से ही संदर्भित है। जीवन के प्रति अनास्था नयी कविता में नहीं है, बल्कि उसके प्रति गहरी आस्था है—भोगवादी दृष्टि के साथ।

नये-कवियों की मान्यता है कि जीवन का एक-एक क्षण महत्वपूर्ण है, अतः उसे व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिए; उसका यथाशक्य उपभोग किया जाना चाहिए, अनुभव के छोटे-से-छोटे टुकड़े को भी सहेजा जाना चाहिए। नया कवि *'और सब समय पराया'* घोषित करते हुए *'सिर्फ़ एक वह क्षण अपना'* मानता है जिसमें उसे अपनी प्रिया की *'पलकों का कँपना'* नज़र आता है। कवि के लिए महत्वपूर्ण क्षण वही है जिसमें उसकी प्रिया की पलकें सिर्फ उसके लिए कँपती है। यह हो सकता है कि अगले आने वाले क्षणों में प्रिया की पलकें उसके लिए न कँपें, पर कवि उस आने वाले क्षण के लिए उस एक वर्तमान क्षण का भरपूर आनंद क्यों न ले जिसमें उसकी प्रिया की पलकें उसके लिए कँपती हैं !

नये कवियों में अनास्था का भी चरम देखा जा सकता है। वे जीवन की किसी भी सामाजिक मर्यादा के पालन में प्रायः अरुचि-सी दिखाते पाए जाते हैं, अगर वह किसी तार्किकता से परे है तो। नया जीवन-मूल्य गढ़ने की आकुलता भी नये कवियों में पायी जाती है। इस दृष्टि से तमाम छोटी कविताओं के अलावा इस युग में लिखे गये तमाम छोटे प्रबंध-काव्य उल्लेखनीय हैं जिनमें प्रायः ही युद्ध की समस्या को

---

[17] हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, खंड दो : गंपतिचंद्र गुप्त, पृष्ठ 162 से उद्धृत

[18] वही, पृष्ठ 163-64 से

उठाकर उसे मानवीय जीवन के लिए त्रासदी समझते हुए उससे यथासंभव बचने का दर्शन व्यक्त किया गया है। इस संदर्भ में लक्ष्मीकांत वर्मा जोकि स्वयं एक नए कवि हैं, का यह कथन द्रष्टव्य है–*"नयी कविता का मूल भाव-स्रोत उस मनोवैज्ञानिक स्थिति के समर्थन से विकसित हुआ है जिसमें गत दो दशकों के बीच मानव इतिहास ने दो भयंकर युद्धों का साक्षात्कार किया है और उस साक्षी के नाते यह अनुभव किया है कि कहाँ-कहाँ किन-किन स्थलों पर पुराने मूल्य टूटे और बिखरे हैं और कहाँ-कहाँ सामाजिक, सांस्कृतिक एवं वैयक्तिक धरातलों पर मानव सम्मान को अपमानित होना पड़ा है।"*[19]

## 2.3 नयी कविता के प्रबंध काव्य

यद्यपि समय की गति में निरंतर परिवर्तनशीलता के युग में रहने वाले नगरीय जीवनबोध के मध्यवर्गीय कवियों के जीवन में विशिष्ट क्षणों को जीने की ही प्रधानता रही, इस कारण यद्यपि नये कवि जीवन की समग्रता को चित्रित करनेवाले महाकाव्य-सरीखे प्रबंधकाव्यों की रचना नहीं कर सके, पर अपनी प्रबल बौद्धिकता के चलते जीवन जीने के ढंग की गतानुगतिकता के प्रति आलोचनात्मक व दार्शनिक दृष्टिकोण रखने की प्रवृत्ति रखने के कारण खंडकाव्य-सरीखे कुछ प्रबंधकाव्यों के ज़रिये जीवन को कुछ नये मूल्य प्रदान करने का प्रयास इन कवियों ने अवश्य किया है। इन नये प्रबंध-काव्यों में अधिकांश काव्य-नाटक या गीति-नाट्य हैं, और प्रायः सभी पौराणिक मिथकों पर आधारित हैं। वस्तुतः खंडकाव्य जीवन के किसी एक पक्ष को लेकर ही लिखा जाता है, अतः जिस पक्ष को लेकर लिखा जाता है उससे पूर्व के पक्ष या पक्षों से परिचित होना कभी-कभी पाठक के लिए अपेक्षित हो जाता है, ख़ासकर तब जब खंडकाव्य उत्पाद्य कथावस्तु का सहारा न लेते हों। नयी कविता के खंड-काव्य क्योंकि पौराणिक कथाओं और मिथकीय कथाओं को आधार बनाकर लिखे गये हैं अतः इनकी समझ के लिए वर्णित घटनाओं या कार्यव्यापारों के पहले की घटनाओं या कार्यव्यापारों की जानकारी अपेक्षित हो उठी है। अतः इस तरह के खंडकाव्य के लिए आवश्यक है कि जिस पात्र या जिन पात्रों के जीवन का कोई एक अंश लेकर उसे काव्य में चित्रित किया जाता है उन पात्रों के जीवन की पूरी जानकारी, मोटी-मोटी ही

[19] नयी कविता के प्रतिमान : लक्ष्मीकांत वर्मा, भारती प्रेस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1957, पृष्ठ [4], भूमिका से

सही, पाठकों के लिए आवश्यक होती है। मिथक या पौराणिक कथाओं से आम जनता प्रायः परिचित ही हुआ करती है। इसलिए खंडकाव्य में कथा के स्रोत के रूप में ऐतिहासिक या पौराणिक पात्र या घटनाएँ अधिक ली गई हैं, मिथकों का अधिक इस्तेमाल भी इसीलिए खंडकाव्यों की रचना के लिए किया जाता है कि मिथक आम जनता की भी जातीय संपत्ति हुआ करते हैं। हिंदी में प्रायः प्रचलित कथानकों पर आधारित खंडकाव्य ही लिखे गये हैं। लेकिन इन सबका यह मतलब नहीं है कि खंडकाव्यों की कथा का अपना स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं होता, या खंडकाव्य उत्पाद्य कथावस्तु को आधार बना कर नहीं लिखे जा सकते ! आधुनिक काल के प्रमुख कवि रामनरेश त्रिपाठी ने 'मिलन' और 'पथिक' नामक खंडकाव्य अपनी काल्पनिक कथाओं के सहारे लिखा है। जैसे गद्य के क्षेत्र में कहानियों में जीवन के किसी एक पक्ष को चुना जाता है और उपन्यासों में जीवन के संपूर्ण पक्षों को, पर कहानियाँ उपन्यासों का एक हिस्सा नहीं हुआ करतीं, उनका अपना स्वतंत्र अस्तित्व हुआ करता है; वैसे ही पद्य के क्षेत्र में खंड-काव्यों का अपना स्वतंत्र अस्तित्व हुआ करता है, वे महाकाव्यों के एक भाग नहीं हुआ करते। पौराणिक या ऐतिहासिक घटनाएँ और पात्र तो महाकाव्य के कथास्रोत के रूप में भी काफी व्यवहृत होते रहे हैं। वस्तुतः कविताओं के क्षेत्र में प्रबंध लिखने पर यह प्रवृत्ति ही बन गयी कि हम अपनी मिथकीय चेतना का सहारा कथानक के स्रोत के रूप में लें। ऐतिहासिक, पौराणिक या लोककथाओं का सहारा हम कथानक के स्रोत के रूप में लें। इससे एक सुविधा कवियों को यह होती है कि वे कल्पना द्वारा एक अच्छी कथा के सर्जन की कठिनाई से बच निकलते हैं। खैर !

हिंदी कविता के इतिहास में जितनी भी प्रबंध कविताएँ लिखी गयी हैं उनमें अक्सर कथा का स्रोत ऐतिहासिक या पौराणिक घटनाएँ और पात्र रहे हैं। यह एक प्रकार की प्रबंध प्रवृत्ति रही है हिंदी कविताओं की। नयी कविता के युग में भी जितने प्रबंध-काव्य लिखे गये सभी में प्रायः पौराणिक घटनाएँ और पात्र कथानक का आधार बनाये गये हैं, एकाध में ऐतिहासिक घटनाओं को भी कथानक के आधार के रूप में लिया गया है, जैसे कि देवराज के 'इला और अमिताभ' या जगदीश गुप्त के 'गोपा-गौतम' में।

यहाँ यह प्रश्न समीचीन हो सकता है कि कवि या लेखक बार-बार मिथकों को अपनी रचनाओं में क्यों उठाते रहते हैं ? ज़ाहिर है कि लेखक या कवि का मंतव्य बार-बार उसी कथा को प्रस्तुत करना नहीं होता होगा। लेखक या कवि किसी पौराणिक कथावस्तु का सहारा लेता है युग के संदर्भ में देश या समाज हित में अपनी कोई बात रखने के लिए। गजानन माधव 'मुक्तिबोध' ने कामायनी पर आलोचना लिखते

समय इन्हीं प्रश्नों को अपने केंद्र में रखा है और कामायनी की पौराणिक कथा को कवि के मंतव्यों को प्रकट करने वाली मात्र एक फैंटेसी माना है। मुक्तिबोध ने अपनी कृति 'कामायनी : एक पुनर्विचार' में 'कामायनी' के विषय में कहा है कि—*"कामायनी उस अर्थ में कथा-काव्य नहीं है कि जिस अर्थ में साकेत है। कामायनी की कथा केवल एक फैंटेसी है।"*[20] यों, इसके अनुसार 'कामायनी' और 'साकेत' दोनों 'कथा-काव्य' हैं, इस स्तर पर उनमें कोई भिन्नता नहीं है। पर कथा की प्रकृति के स्तर पर दोनों एक दूसरे से भिन्न हो जाते हैं। दोनों को एक-दूसरे से भिन्न करने वाला तत्व 'फैंटेसी' है। कामायनी की कथा 'फैंटेसी' है और साकेत की कथा नहीं। अब हमें यह देखना चाहिए कि कथा का फैंटेसी होना क्या है ? मुक्तिबोध ने स्पष्ट करते हुए आगे लिखा कि—*"जिस प्रकार एक फैंटेसी में मन की निगूढ़ वृत्तियों का, अनुभूत जीवन समस्याओं का, इच्छित विश्वासों और इच्छित जीवन-स्थितियों का, प्रक्षेप होता है, उसी प्रकार कामायनी में भी हुआ है।"*[21] अर्थात कथा के फैंटेसी होने का मतलब है 'कथा' का इन सारे तत्वों को वहन करने का माध्यम भर होना। दूसरे शब्दों में कहें तो इसमें कलाकार का मुख्य उद्देश्य कोई कथा कहना या कथा रचना नहीं होता है, कथा को वह मात्र अपने मंतव्यों को वहन करने वाले माध्यम के रूप में ही लेता है। मुक्तिबोध ने उसी पुस्तक में दूसरी जगह इस बात को *फिर उठाया है— "हम पहले ही बता चुके हैं कि कामायनी उस अर्थ में कथा-काव्य नहीं है कि जिस अर्थ में साकेत अथवा प्रियप्रवास। कामायनी की कथावस्तु, पात्र, चरित्र, घटनाएँ आदि वे माध्यम हैं जिनके द्वारा लेखक के हृदय-अंतराल में संचित जीवन-निष्कर्ष और जीवन-अनुभव प्रकट हो रहे हैं। संक्षेप में कामायनी में प्रधान हैं लेखक के जीवन-निष्कर्ष और जीवन-अनुभव, न कि कथावस्तु और पात्र।"*[22] मतलब लेखक अपने निष्कर्षों, अनुभवों आदि को स्थापित करने के लिए कथा की प्रकृति को तोड़-मरोड़ देता है क्योंकि वह कथा या पात्रों के अनुसार अपने अनुभवों को नहीं परखता बल्कि अपने अनुभवों और निष्कर्षों के अनुसार कथा और पात्र की प्रकृति निर्धारित करता है। अर्थात वह कथा या पात्रों का स्वाभाविक विकास न होने देकर उन पर अपनी मान्यताओं और निष्कर्षों को आरोपित करता चलता है, और प्रायः इस प्रक्रिया में कृति की आंगिक-अन्विति को भी भंग करता चलता है। मुक्तिबोध का कथन है—*"साधारणतः, कथावस्तु के*

---

[20] कामायनी : एक पुनर्विचार : गजानन माधव मुक्तिबोध, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पाँचवाँ संस्करण, 1991, पृष्ठ 8

[21]वही, पृष्ठ 8

[22] वही, पृष्ठ 15

*भीतर पात्र अपने व्यक्तित्व-चरित्र का स्वतंत्र रूप से विकास किया करते हैं, अर्थात लेखक की अपनी इयत्ता से स्वतंत्र होकर पात्र-चरित्र विकसित होते हैं। किन्तु कामायनी में पात्र और घटनाएँ लेखक की भावना के अधीन हैं। कथानक, घटनाएँ, पात्र आदि तो वे विशेष-सुविधारूप हैं, कि जो सुविधारूप लेखक को अपने भाव प्रकट करने के लिए चाहिए।"*[23]

इस तरह मुक्तिबोध ने कथा-काव्य (प्रबंध-काव्य) के दो भेद स्वीकार किये—फैंटेसी वाला और बिना फैंटेसी वाला। बिना फैंटेसी वाले कथा-काव्य में कथावस्तु और पात्र स्वाभाविक विकास पाते हैं और फैंटेसी वाले कथा-काव्य में उनका स्वतंत्र विकास बाधित हो जाता है—लेखक के व्यक्तित्व के प्रक्षेप के कारण। मुक्तिबोध ने दोनों प्रकारों में ये व्यावहारिक अंतर किया है पर इस विभाजन को उन्होंने कोई सैद्धांतिक आधार नहीं दिया है और न ही दोनों कथा-काव्य प्रकारों को कोई नाम ही दिया है।

अब देखना यह है कि फैंटेसी के विषय में स्वीकृत मान्यताओं से मुक्तिबोध की मान्यताएँ मिलती हैं या भिन्न हैं। मुक्तिबोध द्वारा दी गयी फैंटेसी की परिभाषा या प्रकृति मूल फैंटेसी से मेल खाती है या नहीं। कथा-काव्य के वे दो प्रकार क्या वास्तव में ठोस आधारों पर किये जा सकते हैं या नहीं। कवि-व्यक्तित्व तो लगभग सभी रचनाओं में प्रक्षेपित होते होंगे, क्या यह आधार विभाजन के लिए उपयुक्त होगा ? व्यक्तित्व का प्रक्षेप क्या कृति के निष्कर्षों या पात्रों को प्रभावित करता है या नहीं, करता है तो कहाँ-कहाँ ? क्या पात्रों का स्वाभाविक विकास कुछ भी नहीं ? पात्रों आदि का स्वाभाविक विकास होना या न होना लेखक या कृति को सफल या असफल बनाते हैं या काव्य का कोई अलग रूप विकसित करते हैं ? फिर क्या काव्य में कथावस्तु, घटनाएँ, पात्र आदि प्रधान होते हैं या लेखक के अपने मंतव्य ? क्या कथावस्तु, पात्र आदि अपने स्वाभाविक विकास में ही लेखक के मंतव्यों को वहन नहीं कर सकते यदि कथा का चुनाव उपयुक्त संदर्भों को ध्यान में रखकर किया जाय ? क्या लेखक आदि अपने मंतव्यों के अनुरूप ही कथावस्तु का चुनाव नहीं करते हैं फैंटेसी के लिए ?

मुक्तिबोध ने जिन तत्वों को फैंटेसी का आधार माना है, वे तत्व फैंटेसी के अभिलक्षण को पूरी तरह प्रकट नहीं करते हैं। कोई भी लेखक अपने मन की निगूढ़ वृत्तियों, अपनी अनुभूतियों या अपने

---

[23] कामायनी : एक पुनर्विचार, गजानन माधव मुक्तिबोध, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पाँचवाँ संस्करण, 1991, पृष्ठ 15

विचारों को अपने पात्रों पर यदि आरोपित करता है तो मात्र इतने से ही वह रचना फैंटेसी नहीं हो जाती है। यह काम जाने-अनजाने, कमोवेश रूप में, प्रायः सभी लेखक करते हैं। फैंटेसी वस्तुतः उन तथ्यों, घटनाओं या दृश्यों से संबंधित होती है जो वास्तविक जगत में असंभव होते हैं। लेखक अपनी कल्पना द्वारा ऐसे तथ्य, घटनाएँ या दृश्य निर्मित करता है जिनका संबंध मात्र कल्पना-जगत से होता है, जैसे-परियों की कथाएँ, देवताओं या दानवों की कथाएँ, पशु-पक्षियों का मानवीय-गुणों और क्रिया कलापों के साथ चित्रण, या और भी तमाम अचरज से भरे दृश्य और घटनाओं का चित्रण जो वास्तविक जगत में असंभव होते हैं। अतः फैंटेसी का जो रूप साहित्य के शिल्प-रूप में स्वीकार किया गया है उसका आधार ही असंभाव्य घटनाओं और दृश्यों का चित्रण या वर्णन है। फैंटेसी अपने अर्थ में कल्पना या काल्पनिक लोक को जो समाहित किये हुए है उसका मतलब नितांत काल्पनिकता से ही है, संभाव्य कल्पना से नहीं। अतः मुक्तिबोध की परिभाषा अतिव्याप्ति दोष से ग्रसित है। मुक्तिबोध ने उसे फैंटेसी मान लिया है जिसे कवि या लेखक वास्तविक जीवन में घटित होते हुए देखना चाहता है पर नहीं देख पाता, तब उसे वह अपने कल्पना-लोक में घटित करके संतुष्ट हो जाता है। फैंटेसी का एक अर्थ यह भी हो सकता है, जैसा कि फ्रायड ने दिवास्वप्न के रूप में फैंटेसी को परिभाषित किया है। पर साहित्यिक-शिल्प रूप में यह दिवास्वप्न असंभव घटनाओं की कल्पना से ही जुड़ा हुआ है। मुक्तिबोध की परिभाषा के अनुसार देखा जाए तो हिंदी साहित्य में बहुत सारी कृतियाँ फैंटेसी के रूप में आ जाएँगी, पर वास्तव में शायद हिंदी की बहुत कम कृतियाँ फैंटेसी रूप में मिलेंगी—मध्यकालीन मिथक-काव्यों या सूफियों के प्रेमाख्यान में। लेखक या कवि अपने मन की आकांक्षाओं को स्वप्नलोक या कल्पनालोक में, पात्रों पर अपने मनोभावों का आरोप करते हुए, घटित जरूर करता है पर उसका वह कल्पना-लोक असंभाव्य घटनाओं और दृश्यों से ही निर्मित होता है। मुक्तिबोध की परिभाषा से फैंटेसी और गैर-फंटेसी साहित्यिक रूप में भेद करना थोड़ा मुश्किल है।

मुक्तिबोध की कामायनी और फैंटेसी विषयक मान्यताओं का विश्लेषण यहाँ इसलिए किया जा रहा है क्योंकि नयी कविता के प्रबंध काव्यों का रूप प्रायः मुक्तिबोध द्वारा माने गये कामायनी के रूप के समान है—बल्कि और भी मुखर रूप में उनकी कथा-फैंटेसी वाली धारणा इन प्रबंध-काव्यों के रूप से परिपुष्ट होती है। मुक्तिबोध की मान्यता है कि कमायनी इसलिए फैंटेसी है क्योंकि कामायनीकार का मुख्य उद्देश्य मनु की पौराणिक या ऐतिहासिक कथा कहना नहीं है। वह मनु की कथा को मात्र एक माध्यम

बनाता है अपने आधुनिक-जीवन की समस्याओं को अभिव्यक्त करने के लिए—*"हम यह पहले ही कह चुके हैं कि प्रसादजी का यह वेदकालीन आख्यान, कामायनी को ऐतिहासिक काव्य न बनाकर, केवल एक ऐसी फैंटेसी का काम करता है, कि जिसके भीतर प्रसाद अपने चरित्रों का विस्तार कर सकें, तथा उनके द्वारा अथवा उनके माध्यम से अथवा उनके बहाने, जो कुछ कहना हो कह सकें।"*[24] नयी कविता के कवियों ने अपने प्रबंध काव्यों का कथानक मिथकों या इतिहासों से ही लिया है, पर उनका भी उद्देश्य कोई पौराणिक या ऐतिहासिक कथा कहना नहीं रहा है। मिथक या इतिहास यदि आधुनिक समय में काव्य के माध्यम से दुबारा उपस्थित किया जा रहा है तो स्वाभाविक रूप से उसका उद्देश्य पुनर्प्रस्तुति नहीं ही हो सकता। कवि या लेखक उसे आधुनिक समय के अनुरूप ही प्रस्तुत करना चाहेगा। तो क्या वह मिथक कवि के लिए, जैसा कि मुक्तिबोध कहते हैं, मात्र एक फैंटेसी रचने का माध्यम है! वह फैंटेसी का माध्यम हो या न हो पर इतना तो निश्चित है कि आधुनिक समय में मिथकों या इतिहास का आधार लेकर कोई काव्य लिखा जाता है तो उसका उद्देश्य पौराणिक या ऐतिहासिक कथा कहना न होकर आधुनिक समस्या का चित्रण और समाधान ही होता है। इस प्रक्रिया में कवि या लेखक मिथक या इतिहास के रूढ़ चरित्रों में नयी संभवानाएँ खोज सकता है, खोजता भी है; तभी वह काव्य पुराने की पुनर्प्रस्तुति न होकर कुछ नया रचता है। अब इस प्रक्रिया में रूढ़ पौराणिक या ऐतिहासिक चरित्रों, कथानकों या घटनाओं में नयी संभावनाएँ खोजते समय उनका रूढ़ रूप विकृत होता है या विकसित, ये और बात है।

फिर भी मुक्तिबोध द्वारा संकेतित कथाकाव्यों के दोनों भेदों में अंतर तो स्पष्ट है ही। एक वह जिसका मुख्य उद्देश्य कोई कहानी कहना होता है और उस कहानी में से ही वह कुछ मानवोचित उपदेश भी दे जाता है, इसे 'चरित-काव्य' कहा जा सकता है और एक वह जिसका मुख्य उद्देश्य कोई कथा कहना न होकर किसी समस्या का साक्षात्कार करवाकर उसका हल देना रहता है, इसे 'समस्या-काव्य' कहा जा सकता है। हिंदी-साहित्य में प्रबंध-काव्यों के रूप में द्विवेदी-युग तक प्रायः चरित-काव्य ही लिखे गये। छायावाद से समस्या-प्रधान कथा-काव्य लिखे जाने लगे।

---

[24] कामायनी : एक पुनर्विचार, गजानन माधव मुक्तिबोध, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पाँचवाँ संस्करण, 1991, पृष्ठ 41

अब एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि किसी कृति में पात्रों आदि का स्वाभाविक विकास होना या न होना लेखक या कृति को सफल या असफल बनाते हैं या कृति का कोई अलग रूप विकसित करते हैं ? इस प्रश्न के वस्तुनिष्ठ उत्तर के लिए यही कहना पड़ेगा कि किसी कृति में पात्रों, घटनाओं आदि का स्वाभाविक विकास होना या न होना कृति या कृतिकार को सफल या असफल बना सकते हैं, वे कृति का कोई अलग रूप—जैसा कि मुक्तिबोध की मान्यताओं से आभास होता है—विकसित नहीं करते हैं। लेखक या कवि अपनी भावनाओं को पात्रों पर उसी सीमा तक आरोपित कर सकता है जिस सीमा तक उनमें इसे वहन करने की क्षमता होती है। मतलब उसे आदि से अंत तक कथा, पात्र और घटनाओं का सामंजस्य बनाए रखना ही पड़ता है। यदि उसे अपनी मान्यताओं को स्थापित करने के लिए ही काव्य लिखना है तो भी वह शुरू से अंत तक की कहानी अपने दिमाग में बैठा कर उसी के अनुसार पात्रों और घटनाओं को संघटित करता है। पहले से ही प्रचलित किसी कथा को आधार बना कर यदि वह अपना मंतव्य लोगों तक पहुँचाना चाहता है तो उसे अपने मंतव्य के अनुरूप ही कथावस्तु का चुनाव करना होता है जिसमें कि वह अपनी बातें उचित संदर्भ से लोगों तक पहुँचा सके।

लेखक या कवि की किसी कृति में अपनी मान्यताओं के आरोपण या अनारोपण के आधार पर इसलिए भी काव्य का कोई भेद नहीं किया जा सकता कि लेखक यदि कथा खुद गढ़ता है तो अपने अनुकूल ही उसे विकसित करेगा, और उसी के अनुसार पात्रों और घटनाओं को उसमें जोड़ेगा। इससे उनके स्वाभाविक या अस्वाभाविक विकास की बात की प्रासंगिकता इसी में है कि इस प्रक्रिया में लेखक को इतना सफल ज़रूर होना चाहिए कि कथा और पात्रों का प्रवाह बाधित न होने पाये। कथा या पात्रों का प्रवाह बाधित हुआ तो कृति या कृतिकार को असफल कहा जाएगा, वह कृति ही दूसरे रूप वाली सफल रचना नहीं कही जाएगी।

लेखक या कवि अपने काव्य के लिए मूलतः दो प्रकार की कथावस्तु का सहारा लेता है। एक प्रचलित—ऐतिहासिक, लौकिक, या पौराणिक—दूसरी कल्पित। कल्पित कथावस्तु के साथ तो अपनी मान्यताएँ स्थापित करने में लेखक को विशेष कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता। वह अपने मंतव्यों के अनुकूल ही कथा और पात्र गढ़ता है और घटनाएँ कल्पित करता है। पर प्रचलित कथावस्तु के साथ लेखक को अपनी मान्यताएँ स्थापित करने में बहुत सावधान रहना पड़ता है। पहले से ही स्थापित कथा, पात्र और घटनाओं में लेखक अपने मंतव्यों को स्थापित करने की संभावनाएँ खोजता है और उनकी

प्रकृति को बिना खंडित या विकृत किये उनके माध्यम से अपना संदेश भी दे जाता है। फिर सफल कृति की एक पहचान यह भी होती है कि उसमें संदेश या मंतव्य व्यंग्य रूप में रहते हैं, प्रत्यक्षतः कथा और पात्रों का प्रवाह-संघटन इतना घना होता है कि वे सहज रूप में लक्षित नहीं किये जा सकते।

नयी कविता के कवियों ने पहले से ही स्थापित कथावस्तु को अपने मंतव्यों को आरोपित करने का माध्यम बनाया है, अतः उनके सामने यह कठिनाई उपस्थित रही है कि वे उस कथावस्तु के अनुरूप ही अपने मंतव्यों को उसमें कैसे आरोपित करें। इस दृष्टि से इन काव्यों के मूल्यांकन की एक मुख्य दृष्टि यह होगी कि इनमें कथावस्तु और पात्रों का स्वाभाविक विकास हुआ है या नहीं। लेखक ने अपने मंतव्यों और निष्कर्षों को कथा, घटनाओं, और पात्रों के अनुकूल परिस्थितियों में आरोपित किया है या नहीं ? लेखक ने जिस समस्या को काव्य में उठाया है उसका समाधान क्या वास्तविक धरातल और उचित परिस्थितियों में किया है या नहीं ?

इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'नयी कविता' एक काव्यांदोलन है, जिसने प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के बाद अपनी स्थिति हिंदी-साहित्य के क्षेत्र में मज़बूत करने की कोशिश की। इसमें तमाम प्रयोगवादी कवि भी हैं पर मात्र प्रयोगवादी कवि ही नहीं हैं। यद्यपि इस काल में रचनात्मक और आलोचकीय रुझान का केंद्र प्रायः छोटी कविताएँ रहीं पर इस युग में अच्छे खंडकाव्यों और काव्य-नाटकों का भी प्रणयन हुआ जिन्होंने पाठकों और आलोचकों को अपनी ओर आकर्षित किया।

# अध्याय 3

# शिल्प विधान : सैद्धांतिक पक्ष

## 3.1 शिल्प क्या है ?

## 3.2 साहित्य और शिल्प

## 3.3 साहित्यिक-विधाएँ और शिल्प

## 3.4 प्रबंध काव्य और शिल्प

### 3.4.1 प्रबंध काव्य के शिल्प की अवधारणा

### 3.4.2 प्रबंध काव्य के शिल्प की हिंदी अवधारणा

### 3.4.3 क्या ऐसा भी हो सकता है कि किसी काव्य में कथा तो हो पर वह प्रबंध काव्य न हो ?

### 3.4.4 हिंदी आलोचकों द्वारा लक्षित काव्य-रूप 'लंबी कविता' और 'प्रबंध काव्य'

## 3.1 शिल्प क्या है ?

'शिल्प' का अर्थ है रूप, बनावट। बनावट है तो बनाने वाला भी कोई होगा ही ! अतः बनाने वाले को शिल्पकार कहा गया। यह संपूर्ण दृश्यमय जगत भी किसी ने बनाया ही होगा ! ऐसी रहस्यमयी जिज्ञासा ने इस जगत को देवशिल्प का नाम दिया; और कला क्योंकि दृश्य जगत की अनुकृति है, अतः देवशिल्प की अनुकृति का नाम हुआ मनुष्यशिल्प–*"शिल्पानि शंसति । देवशिल्पान्येतेषां वै शिल्पानामनुकृतीह शिल्पमधिगम्यते—हस्ती कंसो वासो हिरण्यमश्वतरीरथः शिल्पम् ।"*[1] अर्थात् 'शिल्प दो प्रकार के होते हैं—देवशिल्प और मानुषशिल्प। देवशिल्पों की अनुकृति पर इस मनुष्य लोक में शिल्प सृष्टि देखी जाती हैं, जैसे—(मिट्टी आदि से रचित) हाथी, (काँसे से बना चमकता) कंस (दर्पण), (तंतुवाय रचित) वस्त्र, हिरण्मय आभूषण, रथ आदि शिल्प।[2] मतलब कलाकार अपनी कला यानी शिल्प में संसार की वस्तुओं, दृश्यों, क्रियाकलापों की अनुकृति करता है, यद्यपि यह अनुकृति हू-ब-हू वही नहीं होती है, कलाकार उसमें कल्पना का प्रयोग करके अनुभवों और स्मृतियों के सहारे एक नयी घटना, नया दृश्य या नया बिंब बनाते हैं। इस अनुकरण की प्रक्रिया का जिक्र मुख्यतः पाश्चात्य विचारक अरस्तू ने और दृश्य जगत से अनुभव के जरिए प्राप्त बिंबों को कल्पना के सहारे नया रूप देने की प्रक्रिया का जिक्र मुख्यतः पाश्चात्य विचारक कॉलरिज ने किया है। खैर ! 'शिल्प' शब्द अपने प्राचीन अर्थ में 'कला' का पर्याय माना जाता था–*"संस्कृत वाङ्मय में शिल्प एवं कला का परस्पर पर्याय रूप में प्रयोग हुआ है। ... वैदिक वाङ्मय में कला की अपेक्षा शिल्प शब्द अधिक प्राचीन एवं व्यापक है। कला शब्द का कृति या सृष्टि के अर्थ में सर्वप्रथम प्रयोग छान्दोग्य उपनिषद में प्राप्त होता है। ब्राह्मण साहित्य में शिल्प शब्द का बहुल प्रयोग है तो उपनिषदों में कला का।"*[3]

अब शिल्प का अर्थ कला के व्यापक अर्थ में नहीं लिया जाता, बल्कि कला के तमाम भेदों में शिल्प को भी एक भेद के रूप में परिगणित किया जाता है, और उस भेद को 'शिल्पकला' नाम से जाना जाता है –*"वैदिक वाङ्मय में जिस व्यापक अर्थ में शिल्प शब्द का प्रयोग होता था उस अर्थ में वर्तमान*

---

[1] संस्कृत वाङ्मय में शिल्पकलाएँ : डॉ. (श्रीमती) इला घोष, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2004, पृष्ठ 5 (ऐतरेय ब्राह्मण का उद्धरण, ऐतरेय ब्राह्मण-6.5.1)

[2] वही, पृष्ठ 5-6

[3] वही, पृष्ठ 21

*युग में कला शब्द का प्रयोग होता है तथा 'शिल्प शब्द कला का विशेषण' बन गया है।"*[4] भाषा के साथ अर्थ-परिवर्तन की यह प्रक्रिया चलती रहती है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से 'शिल्प' शब्द का अर्थसंकोच हो गया है।

आधुनिक अर्थ में शिल्प कला का एक भेद है—अर्थात शिल्प एक कला है। इस कला में किसी वस्तु को हाथ और हाथ से चलाए जाने वाले औजारों के माध्यम से तराश कर एक कलात्मक आकार दिया जाता है। अतः शिल्प के पर्याय के रूप में 'हस्तकला' और 'दस्तकारी' जैसे शब्द प्रयोग किए जाते हैं। शिल्प कला के क्षेत्र में पत्थरों को काट और तराशकर मूर्ति-निर्माण कला ने काफी विस्तार पाया, इसीलिए अब प्रायः शिल्प-कला को मूर्ति-कला के पर्याय के रूप में लिया जाने लगा है। तराशने के अर्थ में शिल्प का प्रयोग प्राचीन काल से ही चला आ रहा है, यद्यपि यह पत्थरों से संबंधित नहीं है –*"ऋग्वेद में सामान्य रूप से शिल्प रचना के लिए तक्ष् धातु का प्रयोग हुआ है। वैदिक ऋषियों ने द्युलोक और पृथ्वीलोक को एक उत्तम तक्षण शिल्प के रूप में देखा था जिसे किसी महान वृक्ष को तराशकर बनाया गया है – "किं स्विद्वनम क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्ठतक्षुः।"*[5] खैर ! इस क्षेत्र में शिल्पी का काम पत्थरों को छेनी और हथौड़े से काटकर उसे एक कलात्मक आकार देना होता है, चाहे वह आकार मूर्ति का हो, फूल-पत्तियों का हो या अन्य चीजों का। यद्यपि शिल्पकारी की प्रक्रिया पत्थरों को तराशने और उन्हें काटकर रूप प्रदान करने की दिशा में रूढ़ होने की प्रवृत्ति में है फिर भी अभी हस्तकला के सामान्य पर्याय के रूप में यह प्रचलित है। और 'हस्तकला' या 'दस्तकारी' जैसा शब्द जो शिल्पकला का पर्याय है, वस्तुतः हाथ से बनाई या गढ़ी या तराशी गयी उन कलात्मक वस्तुओं की ओर संकेत करता है जो मूर्त (ठोस) रूप में हमारे सामने आती हैं। अतः शिल्प के पर्याय के रूप में 'गढ़न'-जैसा देहाती शब्द इसके अर्थ की पूरी वज़नियत रखता है, जो प्रायः आदमी के नैन-नक्श की बनावट, उसके पूरे रूपाकार (आंगिक बनावट) को व्यंजित करता है। अक्सर कहा जाता है कि अमुक आदमी गोरा (गौर-वर्ण का) तो है पर उसकी गढ़न ठीक नहीं है; या कोई साँवला तो है पर उसकी गढ़न बहुत अच्छी है ! अतः गढ़न का अर्थ हुआ बनावट, रूपाकार। शिल्प का यही संक्रमित अर्थ साहित्य-कला में प्रयुक्त होता है—शिल्प—गढ़न—बनावट। बनावट नैन-नक्श की, नैन-नक्श मतलब पूरा अंग, मतलब आंगिक बनावट—किसी व्यक्ति या वस्तु की।

---

[4] संस्कृत वाङ्मय में शिल्पकलाएँ : डॉ. (श्रीमती) इला घोष, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2004, पृष्ठ 26

[5] वही, पृष्ठ 13 (ऋग्वेद 10.81.4)

यद्यपि साहित्य शिल्पकला नहीं है, यह ठोस नहीं है, बहुतों ने साहित्य को कला भी नहीं माना है; फिर भी साहित्य का अपना एक रूप होता है, एक बनावट होती है, एक आकार होता है; और यही बनावट साहित्य का शिल्प है। शिल्प यहाँ रूप के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। साहित्य खुद कोई ठोस वस्तु नहीं है, अतः इसके शिल्प-विधान का विश्लेषण एक जटिल प्रक्रिया है। जटिल है किसी रचना के रचनात्मक तत्वों (अंगों) का पता लगाना, और फिर उनके सौंदर्य की व्याख्या करना। हर आलोचक अपने ढंग से रचनात्मक तत्व निर्धारित कर सकता है, रचनात्मक तत्व यहाँ रूढ़ नहीं हैं, और फिर व्याख्या तो और स्वतंत्रता चाहती है रूढ़ियों से। दरअसल कला खुद अपनी प्रकृति में रूढ़िविरोधी होती है ! और साहित्य अंततः एक कला ही है !

**3.2 साहित्य और शिल्प :**

साहित्य के क्षेत्र में 'शिल्प' का प्रयोग 'बनावट' या 'गढ़न' के समानार्थी रूप में ही होता है, जैसा कि पहले ही संकेतित किया गया। यहाँ शिल्प से आशय किसी कृति की कलात्मक बनावट से है, उसके संपूर्ण रूपाकार से है। शिल्प एक प्रक्रिया भी है और उसका परिणाम भी—कोई भी परिणाम किसी न किसी प्रक्रिया से ही निर्गत होता है। इस रूप में कोई भी साहित्यिक कृति अपने रचे जाने के समय से लेकर अंतिम रूप पाने तक की जिन-जिन प्रक्रियाओं से गुजरती है, वे सब उसके शिल्प के अंतर्गत आती हैं; और अंतिम रूप पाने पर उसका स्वरूप भी शिल्प के अंतर्गत ही होगा। इस दृष्टि से कृति के शिल्प के अंतर्गत उसका कथ्य भी आता है और रूप भी। भाषा में रचित होने के कारण अन्य कलाओं की अपेक्षा काव्य में भावनाओं और विचारों का मिश्रण अधिक होता है, अतः इसके शिल्प में भावनाओं और विचारों का भी योगदान रहता है। इसीलिए काव्य-कला पर बात करते समय वस्तु और रूप दोनों का उल्लेख किया जाता है। वस्तुतः हिंदी-जगत में शिल्प के अंतर्गत काव्य के बाहरी रूपाकारों को ही परिगणित करने की प्रवृत्ति रही है, अतः शिल्प की चर्चा आते ही यहाँ पर भाषा, छंद और अलंकार आदि की ही बात की जा ती है। पर यह प्रवृत्ति ठीक नहीं है, शिल्प के अंतर्गत काव्य के सभी तत्वों को परिगणित किया जाना चाहिए। अतः शिल्प में काव्य के वस्तु और रूप दोनों आयेंगे।

साहित्य का मुख्य उपादान शब्द है। शब्द अपने साथ अर्थ को लिए रहता है। अतः यह स्पष्ट है कि शब्द यानी रूप के साथ अर्थ यानी कथ्य भी जुड़ा रहता है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो कहना होगा कि कथ्य को ही शब्दों में अभिव्यक्त किया जाता है। अतः कथ्य मुख्य है, इसे व्यक्त करने के लिए शब्दों

का सहारा लिया जाता है। प्रभावित रूप में व्यक्त करने के लिए शब्दों को तरह-तरह की युक्तियों से आपस में जोड़ा जाता है, जिन्हें प्रतीक, अलंकार आदि नाम दिये जाते हैं। खैर ! तमाम शब्द एक-दूसरे से तरह-तरह से संबंधित होकर गद्य में एक वाक्य या पद्य में किसी उक्ति-विशेष की रचना करते हैं। यह शब्दों को तरह-तरह की युक्तियों के अनुसार एक-दूसरे से अंतः-संबंधित करने की प्रक्रिया ही शिल्प गढ़ने की प्रक्रिया है । यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक कोई साहित्यिक कृति अपना पूरा रूप नहीं ग्रहण कर लेती। प्रबंध काव्यों में शब्दों के आपसी अंतः-संबंध से एक छंद या बंद फिर उस छंद या बंद से दूसरे छंद या बंद, फिर दूसरे से तीसरे छंद या बंद का अंतः-संबंध बनता चला जाता है। फिर एक सर्ग या अध्याय का दूसरे से, दूसरे का तीसरे से अंतः-संबंध बनता जाता है और इस तरह के अंतः-संबंधों के आपसी जाल के सहारे कोई कृति अपना रूप ग्रहण करती है। यही रूप साहित्य का शिल्प है और इसी रूप का विश्लेषण शिल्प का विश्लेषण होता है। इस विश्लेषण में इन्हीं अंतः-संबंधों के जाल की पड़ताल करके यह जाना जाता है कि कौन-कौन से संबंध-खंड कहाँ-कहाँ साहित्यिक कृति को उसका रूप प्रदान करने में अहम् भूमिका निभा रहे हैं। ये अंतः-संबंध बड़े जटिल तरीके से किसी कृति में मौजूद रहते हैं। छंद या बंद या सर्ग आपसी अंतः-संबंध से कुछ अंग-विशेष निर्मित करते हैं संपूर्ण कृति के शरीर या रूप के लिए। संपूर्ण कृति को रूपाकार प्रदान करने में ये उसके अलग-अलग तत्वों के रूप में काम करते हैं। इन अलग-अलग तत्वों की पहचान कर उनके स्वरूप का विवेचन और उनके आपसी अंतः-संबंधों की पड़ताल करके संपूर्ण कृति के स्वरूप को आकार देने में उनके योगदान को रेखांकित करना उस कृति के शिल्प का अध्ययन करना होगा। मुक्तक-काव्यों में शब्द आपसी अंतः-संबंध कायम करके एक या अनेक छंद या बंद रचते हैं। इसका स्वरूप छोटा होता है। फिर भी रूप तो होता ही है। मुक्तक का रूप उसका शिल्प होता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि रूप में शब्द भी होते हैं और अर्थ भी। इसके भी रूप यानी शिल्प के विश्लेषण में भी शब्दों, छंदों या बंदों के अंतः-संबंधों की पड़ताल की जाती है, उनके अर्थों के साथ-साथ। इसी तरह गद्य के क्षेत्र में भी उपन्यास, कहानी, नाटक, निबंध, जीवनी, आत्मकथा, संस्मरण, यात्रावृत्त आदि के रूप-गठन की प्रक्रिया शब्द से ही चलती है। शब्द उन भावों या विचारों को रूप प्रदान करते जाते हैं जो लेखक के मन में पहले से एक आकार ग्रहण कर चुके होते हैं। इस दृष्टि से भी विचार करने पर यह कहा जाएगा कि रचनाकार के मन में भी भाव या विचार शब्दों के द्वारा ही अपना आकार निर्मित करते हैं। उन्हीं को वह कागज़ में उतार देता है। पाश्चात्य काव्यशास्त्री और दार्शनिक क्रोचे कागज़ पर इसे उतारने को अतिरिक्त क्रिया के रूप में लेते थे और इसे बहुत आवश्यक नहीं मानते थे। पर समाज के सामने आने के लिए यह आवश्यक ही है कि उसे कागज़ पर उतारा जाय।

बहरहाल, बात इस पर चल रही है कि रचना के रूप गठन का आधार अंततः शब्द ही ठहरते हैं क्योंकि मन में अनुभूति के द्वारा अभिव्यक्त रचना-रूप भी शब्दों के द्वारा ही आकार ग्रहण करता है। इस संदर्भ में रामस्वरूप चतुर्वेदी का यह कथन द्रष्टव्य है –*"सहज वृत्तियों (इंस्टिन्क्ट्स) और सहजानुभूति (इंट्यूशन) को छोड़कर भाषाविहीन अनुभूति संभव नहीं, इस दृष्टि से सहजानुभूति शब्द अपने आपमें बड़ा सटीक है। यहाँ स्पष्टीकरण के लिए हम जोड़ सकते हैं कि अनुभव होने का अनुभव होना अनुभूति है, और भाषा भी। भाषा के बिना इसलिए शिशु का काम चलता है, या फिर साधक का। संवेदन (सेंसेशंस) के आगे जितना (?) वह सहजानुभूति को बाद देकर भाषा का है। और शुद्ध संवेदन जैसा मनोविज्ञान में कहा गया, वयस्क जीवन में एक कपोल-कल्पना है, जबकि सहजानुभूति अपवाद है। यों भाषा से बाहर और परे हम जा नहीं सकते।"*[6] 'सहजानुभूति ही कला है' यह विचार पाश्चात्य काव्यशास्त्री क्रोचे ने व्यक्त किया है। उनके अनुसार हर कलाकृति कलाकार के मन में ही आकार पा लेती है, और उतने से ही वह कलाकार के नाम से अभिहित किये जाने की योग्यता रखता है। तूलिका, छेनी-हथौड़ी या कागज़-कलम के माध्यम से उसे बाहरी आकार प्रदान करना एक अतिरिक्त और गैरज़रूरी काम है। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने सहजानुभूति को अपवाद माना कि वह बिना शब्दों के भी संभव हो सकती है। क्रोचे का मत क्योंकि मात्र साहित्य के क्षेत्र तक सीमित न होकर अन्य कलाओं के लिए भी था अतः अन्य कलाएँ मूर्ति, चित्र आदि अपने स्वरूप के अनुभूतीकरण में शायद शब्दों की अपेक्षा न रखें पर साहित्य तो बिना शाब्दिक अनुभूति के अपना रूप ही नहीं पा सकता। अज्ञेय ने भी कविता की परिभाषा देते हुए यह कहा है कि *'कविता सबसे पहले शब्द है और अंत में भी यही बात रह जाती है कि कविता शब्द है'*। खैर, यहाँ इस प्रकार के उद्धरणों से इस तर्क को पुष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है कि रचनाकार के मन में आकार ग्रहण करने वाली कृति भी शब्दों में ही आकार ग्रहण करती है और कागज़ पर उसका मूर्त रूप भी शब्दों के माध्यम से ही व्यक्त होता है। अतः साहित्य के शिल्प का मूल आधार शब्द होता है। शब्द आपस में तरह-तरह से जुड़कर एक रचना का ढाँचा खड़ा करते हैं। यही ढाँचा उस कृति का शिल्प विधान होता है।

### 3.3 साहित्यिक विधाएँ और शिल्प

दरअसल साहित्य में हर विधा का अपना शिल्प होता है—कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि सभी अलग-अलग रूपाकारों वाले होते हैं। फिर प्रत्येक विधाओं की अलग-अलग कृतियाँ समान आंगिक-अन्वितियों वाले शिल्प के बावजूद गुणात्मक रूप से एक दूसरे से पृथक हो सकती हैं, होती हैं;

---

[6] कविता का पक्ष : रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 1994, पृष्ठ 15

वैसे ही जैसे प्रत्येक मूर्ति में हाथ-पैर, आँख-नाक-कान-मुँह आदि अंग समान रूप से रहते हैं पर एक मूर्ति दूसरे से गुणात्मक रूप में उत्कृष्ट या निकृष्ट हो सकती है, होती है। कहने का आशय यह है कि कविताओं, कहानियों, उपन्यासों, निबंधों आदि का शिल्प परस्पर भिन्नता तो रखता ही है; एक कविता का शिल्प दूसरी कविता से, एक कहानी का दूसरी कहानी से, एक उपन्यास का दूसरे उपन्यास से अलग होता है, यह भी उल्लेखनीय है। अतः विधागत सामान्य शिल्प सभी विधाओं के अलग-अलग—जिसे सरल करने के लिए विधागत लक्षण कहा जा सकता है—और रचनागत विशेष शिल्प सभी रचनाओं के अलग-अलग हुआ करते हैं। उदाहरण के लिए कविताओं में रस, छंद, अलंकार, प्रतीक, बिंब, लय, यति, गति आदि तथा कहानियों में कथावस्तु, पात्र, संवाद आदि उसके अंग होते हैं। कहानियों और उपन्यासों में यद्यपि एक तत्व ही निर्धारित किए जाते रहे हैं, पर उपन्यास में कथावस्तु का फ़लक विशाल होता है। अतः रूप इसका कहानियों से अलग होता है। एक उपन्यास का शिल्प दूसरे उपन्यास से इस अर्थ में अलग हो सकता है कि उसकी कथावस्तु वही नहीं है जो दूसरे की है; भाषा, शैली आदि वही नहीं हैं जो दूसरे के हैं। और इन बाहरी रूप-विधानों के अलावा भी आंतरिक वस्तु और उस वस्तु के फलीभूतीकरण के लिए रचना-प्रक्रिया के दौरान रचना के विभिन्न अंगों की कल्पना और उन अंगों के आपसी सामंजस्य की प्रक्रिया हर रचना की अलग-अलग होती है। इसीलिए कहा गया कि एक विधा की अलग-अलग कृतियाँ अपनी सामान्य आंगिक अन्वितियों के बावजूद एक दूसरे से पृथक विशेषताओं वाली होती हैं। और यही पृथक विशेषता हर कृति का शिल्प-विधान है।

### 3.4 प्रबंध काव्य और शिल्प

**3.4.1 प्रबंध काव्य के शिल्प की अवधारणा :** प्रबंध काव्य का अपना अलग शिल्प हुआ करता है। आरंभ में प्रबंध काव्य महाकाव्य का पर्यायवाची था, यह पहले अध्याय में दिखाया जा चुका है। बाद में संस्कृत आचार्यों ने प्रबंध-काव्य को कुछ और भागों—जैसे महाकाव्य, खंडकाव्य आदि—में बाँटकर उनके अलग-अलग रूपाकार और तत्व निश्चित किए हैं। आदि कहने से तात्पर्य यह है कि महाकाव्य और खंडकाव्य के अलावा भी एकाध और भेद की चर्चा संस्कृत-काव्यशास्त्र में की गयी, जैसे एक प्रबंध-भेद का नाम 'काव्य' ही दे दिया गया; पर परंपरा में स्वीकृत महाकाव्य और खंडकाव्य ही हुए। इसमें भी महाकाव्य का स्वरूप व्यापक चर्चा का विषय बना। अपनी परंपरा में इसके लक्षण का स्वरूप स्थिर होते-होते आचार्य विश्वनाथ तक पहुँचता है, और वहाँ पहुँचकर प्रायः स्थिरता प्राप्त कर लेता है।

उन्होंने महाकाव्य की बहुत मूर्त और व्यापक परिभाषा प्रस्तुत की, अतः उनके द्वारा निर्धारित महाकाव्य के लक्षण को एक मानक के तौर पर लिया जाने लगा। उनके बाद कोई उस तरह का आचार्य भी संस्कृत काव्यशास्त्र में नहीं आया, जो इसकी परिभाषा में कुछ और मजबूत परिवर्तन कर पाता। खंडकाव्य नामक काव्य-रूप का पहली बार जिक्र भी आचार्य विश्वनाथ ने ही किया। यद्यपि उन्होंने इसका परिचय बहुत अभिलाक्षणिक तरीके से नहीं दिया था, फिर भी इसे व्यापक मान्यता मिली।

हिंदी में प्रायः द्विवेदी युग तक संस्कृताचार्यों द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार प्रबंध काव्यों की रचनाएँ होती रहीं। छायावाद युग से कुछ ऐसी प्रबंधात्मक कृतियाँ सामने आने लगीं जो निर्धारित प्रबंध-नियमों का पालन नहीं करती थीं। रचनाकारों ने रूढ़िगत होते हुए प्रबंध-नियमों की उपेक्षा करते हुए कुछ अलग 'प्रबंध-टाइप' की रचनाएँ दीं। हिंदी में संस्कृत की तरह प्रबुद्ध आचार्यों की कमी की वजह से ऐसी रचनाओं को कोई उपयुक्त नाम नहीं मिल पाया, फिर भी हिंदी आलोचकों ने उसे एक 'यौगिक-नाम' दिया—'लंबी कविता'। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि नाम प्रायः 'रूढ़' ही हुआ करते हैं। 'यौगिक' भी जब नाम के क्षेत्र में कदम रखता है तो 'रूढ़' बनकर ही, जैसे—'पंकज' जो 'कमल' का 'रूढ़' अर्थ देता है। 'लंबी कविता' शब्द कोई रूढ़ अर्थ देने में लगभग असफल रहा है क्योंकि यह अपने द्वारा संकेतित कविता की किसी ख़ास विशेषता की ओर संकेत नहीं कर पाता, सिवाय इसकी लंबाई के—यद्यपि इसके रूढ़िगत अर्थ के लिए आलोचकगण प्रयासरत हैं। वैसे बेकाम का 'यौगिक-नाम' केवल हिंदी-आलोचकों की ही देन-समस्या नहीं है, तकनीकी और वैज्ञानिक शब्दावली 'आयोगी विद्वानों' ने अंग्रेजी शब्दों के फिजूल हिंदी 'यौगिक-नाम' खूब बनाये हैं जो कभी किसी हिंदी-भाषी जनता के मुँह पर नहीं आते, जैसे—'रेल' की जगह 'लौहपथगामिनी', 'मोबाइल' की जगह 'स्व-चालित यंत्र', 'कंप्यूटर' की जगह 'संगणक' आदि। खैर ! आलोचकों ने लंबी-कविताओं के दायरे में उन कविताओं को भी समेट लिया जो परस्पर बहुत भिन्न शिल्प-विधान की थीं, यह बेहद सरलीकरण का नतीजा है। इसी कारण एक ही कविता को कहीं लंबी कविता तो कहीं खंड काव्य की श्रेणी में रखा जाता रहा है। निराला की 'राम की शक्तिपूजा' और 'तुलसीदास' वैसे ही लंबी कविताएँ नहीं हैं जैसे पंत की 'परिवर्तन' है, यह ध्यान देने वाली बात है।

'नयी कविता' में जो प्रबंधात्मक काव्य लिखे गए उनका विधान खंडकाव्य का-सा है, यद्यपि उनमें से अधिकतर नाटक के लिए लिखे गए हैं और इसीलिए काव्य-नाटक या गीति-नाट्य कहलाते हैं। खंडकाव्य को ही अगर पात्रों के माध्यम से नाट्य-रूपांतरित किया जाय तो वह आसानी से काव्य-नाटक का रूप ले सकता है। पर इसका यह मतलब नहीं कि खंडकाव्य और काव्य-नाटक एक ही हैं। यह

बिलकुल वैसे ही है जैसे गद्य के क्षेत्र में कहानी या उपन्यास का नाट्य-रूपांतरण। अतः जैसे गद्य के क्षेत्र में कहानी, उपन्यास और नाटक अलग-अलग विधाएँ हैं, वैसे ही काव्य के क्षेत्र में महाकाव्य, खंडकाव्य और काव्य-नाटक या गीतिनाट्य भी। पर एक बात यहाँ यह उल्लेखनीय है कि नाटक की इन विधाओं से बहुत निकट की समानता होती है, जो परस्पर अन्य विधाओं को सुलभ नहीं है। कहानी का रूपांतर उपन्यास में या उपन्यास का रूपांतर कहानी में नहीं किया जा सकता; वैसे ही महाकाव्य का रूपांतर खंडकाव्य में या खंडकाव्य का रूपांतर महाकाव्य में नहीं किया जा सकता। कारण है कि इन विधाओं का विधान आपस में इतना समान नहीं है कि इनका आपस में रूपांतर किया जा सके। जबकि नाटक इन विधाओं से बहुत अधिक समानता रखता है। कहानी, उपन्यास, महाकाव्य, खंडकाव्य आदि कथात्मक विधाओं में पात्रों के विषय में जो भी कहानी वर्णित है नाटक में उसे पात्रों का संवाद बनाकर प्रस्तुत किया जाता है; परिस्थितियों, परिवेश या पात्रों की चेष्टाओं आदि को संकेत रूप में कोष्ठक में लिख दिया जाता है। अतः नाटक का इन विधाओं से समानता का प्रमुख तत्व है कथा-वस्तु। मतलब किसी भी कृति के शिल्प में 'कथा' मुख्य और अभिलाक्षाणिक तत्व के रूप में होती है, और अन्य चीजें उसके आनुषंगिक रूप में। इन विधाओं की कथा का ही नाट्य रूपांतर नाटक में किया जाता है। नाट्य-रूपांतर करने का मतलब है कि कथात्मक पठनीय ग्रंथों को दृश्य-नाटकों में बदल देना। मतलब कथा वही रहती है, बस उसे पाठ्य-रूप से दृश्य-रूप में परिवर्तित किया जाता है। पुस्तक में जिसे हम पढ़ते हैं, मंच पर उसे हम सजीव रूप में देखते हैं, यही नाटक का इन विधाओं से समानता का मुख्य बिंदु है। इसके लिए 'नाटक' के सभी आवश्यक तत्व रूपांतरित कथा में लाने पड़ते हैं अन्यथा रूपांतरण 'नाटक' नहीं बन पाता है। मतलब इतनी समानता के बावजूद नाटक 'नाटक' है, और अन्य कथात्मक विधाएँ अन्य विधाएँ। पात्रों के सीधे कथोपकथन के माध्यम से कहानी या उपन्यास; महाकाव्य या खंडकाव्य का कथा-प्रवाह आगे बढ़ सकता है, बढ़ता है; पर मात्र कथोपकथन ही नाटक नहीं होते। नाटक के कुछ तत्व अन्य कथात्मक विधाओं से अलग, निजी होते हैं। लेखन या रूपांतर में वो तत्व आने चाहिए अन्यथा नाटक रंगमंच पर असफल हो जाएगा। और नाटक का असली रूप रंगमंच पर ही प्रस्तुत होता है, लिखित-सामाग्री तो मात्र 'स्क्रिप्ट' होती है।

'नयी कविता' में प्रबंधात्मक काव्य के रूप में जो खंडकाव्य और काव्यनाटक लिखे गए हैं उनका विधान क्या है, और वो अपने इस रूप में कितने सफल हैं, खासकर काव्यनाटक, यह विश्लेषण का विषय है। जैसा कि पहले ही इस विचार किया गया कि शिल्प-विधान किसी आकृति की गढ़न है, उसका आंगिक रूप में सावयविक रूप है। प्रबंध काव्यों का अपना शिल्प-विधान होता है, महाकाव्य का

अलग, खंडकाव्य का अलग और पद्यात्मक नाटक का अपना अलग। हर विधा का अपना अलग शिल्प-विधान होने के बावजूद हर कृति का भी अपना अलग शिल्प होता है, इसे ऊपर कहा जा चुका है। इन्हें सामान्य शिल्प-विधान (विधा के रूप में) और विशेष शिल्प-विधान (किसी कृति के रूप में) का नाम दिया जा सकता है। किसी भी कृति का शुरू से लेकर अंत तक क्या और कैसा रूप है, इसकी जानकारी देना कृति के शिल्प-विधान की जानकारी देनी है। हर रचना कुछ तत्वों से बनी होती है, ये तत्व मिलकर एक संपूर्ण रचना का विधान खड़ा करते हैं, अतः रचना के शिल्प का विश्लेषण करने के लिए इन तत्वों की पहचान और पहचान के बाद स्वयं इनके स्वरूप का विवेचन, फिर रचना के अंग रूप में इनका विवेचन और इन तत्वों के—रचना के सावयविक रूप में—आपसी संबंधों के नियमों का विवेचन, और अंत में रचना के पूर्ण रूप का विवेचन आदि शिल्प के ही विवेचन हैं।

हर साहित्यिक-युग की अपनी-अपनी कुछ सामान्य प्रवृत्तियाँ हुआ करती हैं। यह प्रवृत्तियाँ मुक्तक-रचना के साथ-साथ प्रबंध-रचना में भी विद्यमान रहती हैं। अतः 'नयी कविता' की अपनी वह सामान्य प्रवृत्तियाँ क्या हैं जिसकी वजह से वह अन्य काव्य-युगों से अलग अपनी पहचान बना पाता है ? अब देखना यह है कि वे सामान्य प्रवृत्तियाँ 'नयी कविता' के 'मुक्तक' और 'प्रबंध काव्यों' में एक साथ पायी जाती हैं या नहीं। अगर पायी जाती हैं तो किस परिमाण या गुण के साथ दोनों में उपस्थित हैं, क्योंकि किसी काव्य युग की प्रवृत्तियों की पहचान मुक्तक और प्रबंध दोनों के अध्ययन और विश्लेषण से ही होनी चाहिए। इस अध्ययन में एक यह बिंदु भी महत्वपूर्ण है कि नयी काव्य-धारा के भीतर प्रबंध लिखने की प्रवृत्ति सामान्य है या मुक्तक की ! प्रवृत्ति और शिल्प में अंतर होता है, इसका ध्यान रखना महत्वपूर्ण है।

**3.4.2 प्रबंध काव्य के शिल्प की हिंदी अवधारणा :** जो काव्य एक निश्चित कथा में बंधा हुआ हो वह प्रबंध काव्य है—*"सानुबंध कथा प्रबंध काव्य का बहुत ही आवश्यक तत्व है। यही वह तत्व है जो प्रबंध को स्फुट रचनाओं से अलग करता है।"*[7] अब यदि काव्य में कोई कथा कही जाएगी तो उसका एक निश्चित विस्तार होगा, अतः उसकी पूरी कथा को सर्गों में विभाजित करने की परंपरा रही है। कथा किसकी कही जाएगी ? किसी मनुष्य की; मनुष्य किसी स्थान और समय का होगा ! अतः पात्र, वातावरण और काल भी कथा के, और इसीलिए प्रबंध काव्य के, अनिवार्य तत्वों में हुए। अतः कहा जा सकता है कि प्रबंध काव्य का मुख्य अभिलक्षण 'कथा' है, मुक्तक काव्यों में कोई कथा नहीं होती। प्रबंध काव्य के रूप और भेदों में सामयिक विकास के कारण उनके सैद्धांतिक और व्यावहारिक रूपों में

[7] वाङ्मय विमर्श : विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिंदी साहित्य कुटीर, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 2005, पृष्ठ 37

चाहे जितना परिवर्तन होता आया हो, पर 'कथा' इस प्रकार के काव्यों का सदैव भेदक तत्व रही है। मतलब प्रबंध और उसके भेदों के पारंपरिक लक्षणों से और चाहे जो लक्षण निकाल दिये गये हों, पर कथा को नहीं निकाला गया। कथा को निकाला ही नहीं जा सकता, क्योंकि यही प्रबंध का मूल है। अतः मान्य पारंपरिक प्रबंध-लक्षणों में से कुछ लक्षणों की अवहेलना भले ही हिंदी प्रबंध काव्यों में दिखलायी पड़ी, पर कथा पर आधारित होने के कारण वे कहलाये प्रबंध काव्य ही जाएँगे, उनके स्वरूप को लेकर भले ही उन्हें किसी भी प्रबंध-भेद में डालने की कश्मकश जारी रही हो। यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि कथा यदि प्रबंध काव्य का अनिवार्य अंग है तो पात्र, स्थान और समय कथा के अनिवार्य अंग होते हैं, भले ही कभी-कभी स्थान और समय का स्पष्ट निर्देश कथा कहते समय नहीं किया जाता, जैसे 'किसी नगर में एक राजा राज्य करता था', या 'एक समय अयोध्या में अकाल पड़ गया' आदि। यहाँ 'किसी नगर' या 'एक समय' ही स्थान और समय की उपस्थिति को दर्शाते हैं। इससे भी कम संकेत दिया गया हो, या संकेत न भी दिया गया हो तो भी कथा के मूल में ये दोनों तत्व प्रछन्न रूप में विद्यमान रहते हैं, क्योंकि कथा किसी पात्र या पात्रों की होगी, और पात्र किसी स्थान और समय के। अतः प्रबंध काव्यों के अनिवार्य और भेदक लक्षणों में कथा के साथ-साथ पात्र, स्थान और समय भी सदैव होंगे। वैसे महाकाव्य में स्थान और समय का स्पष्ट निर्देश रहता है, खंडकाव्य में चाहे न हो। समय, स्थान और पात्र कथा से ही संबंधित हैं, अतः जिस भी काव्य में कथा हो वह निश्चित रूप में प्रबंध-काव्य होगा ही। निष्कर्षतः 'कथा' ही काव्य को प्रबंध काव्य बनाती है।

**3.4.3 क्या ऐसा भी हो सकता है कि किसी काव्य में 'कथा' तो हो पर वह 'प्रबंध काव्य' न हो ?** इस संदर्भ में यह बात बिलकुल ध्यान में रखनी होगी कि प्रबंध काव्यों की कथा में शुरू से लेकर अंत तक एक प्रवाह रहता है, उसका आदि, मध्य और अंत होता है। भक्तिकाल में भक्तों द्वारा भगवान के प्रति अलग-अलग पदों के रूप में किये गये आत्मनिवेदन मुक्तक हैं, पर जहाँ उन लोगों ने भगवान की लीला का गान करने के लिए उनके लीला-रूप की तारतमिक ढंग से प्रस्तुति की है वहाँ वह प्रबंधात्मक काव्य का रूप प्राप्त कर सका है। 'सूरसागर' इस दृष्टि से प्रबंध काव्य है, यद्यपि उसमें मुक्तक की विशेषताएँ भी मुखर रूप में विद्यमान हैं। इसीलिए आलोचकों ने उसे 'उन्मुक्त-प्रबंध' जैसा नाम देने की सिफ़ारिश की है—*"विधान की दृष्टि से सूरसागर को उन्मुक्त प्रबंध कहा जा सकता है। जहाँ प्रत्येक पद स्वतः पूर्ण होने पर भी एक सूक्ष्म कथा-क्रम में है। ... सूरसागर पर कार्य करने वाले विद्वान उमाशंकर शुक्ल तथा व्रजेश्वर वर्मा ने लक्षित किया है कि बाल लीला के पदों में कृष्ण की आयु के जो संकेत रखे*

*हैं... वे पूरी रचना में कथा-क्रम की स्थिति के महत्वपूर्ण साक्ष्य हैं। ... आदि से अंत तक सूरसागर का यह उन्मुक्त प्रबंध अपने विधान में बेजोड़ है।"*[8] इस संदर्भ में यह बात भी ध्यान में रखने की है कि पहले रचनाएँ आती हैं और उनका नियम, जिसे 'काव्यशास्त्र' कहा जाता है, उन्हीं रचनाओं के आधार पर बाद में रचा जाता है। पर यह शास्त्र उन्हीं रचनाओं को अपना उपजीव्य बनाता है जो अपने विशिष्ट रूप-विधान के कारण तत्कालीन समय में लोकप्रिय और सामयिक प्रवाह में कालजयी साबित होती हैं—*"कालजयी साहित्यिक कृतियाँ अपने सृजन के साथ कुछ मूल्य-मान लेकर आती हैं। वे पाठकों की रुचि का निर्धारण करती हैं और उनमें आगे आने वाली कृतियों के लिए कुछ विशेष अपेक्षाएँ जगाती हैं। इस प्रकार साहित्य-समीक्षा का आरंभ एक प्रकार से साहित्य के साथ ही हो जाता है। इन मूल्य-मानों और अपेक्षाओं का सिद्धांत के रूप में सुव्यवस्थित विवेचन समीक्षा को शास्त्र का रूप देता है।"*[9] सूरदास का सूरसागर भी कालजयी साबित हुआ है, अतः इसे भी समीक्षा या शास्त्र के नियामक के रूप में देखा जा सकता है। वास्तव में यह भी प्रबंध का ही रूप है, नाम देना है तो 'उन्मुक्त प्रबंध' को प्रबंध के किसी एक भेद में शामिल कर लिया जाय ! 'उमुक्त प्रबंध' नाम उसमें विद्यमान 'कथा-क्रम' के कारण ही उसके लिए प्रस्तावित किया गया है, अतः कथा-क्रम है तो वह 'प्रबंध-काव्य' होगा ही, भले ही संस्कृत आचार्यों द्वारा गिनाए गए प्रबंध-लक्षणों में से एक या एकाधिक, जिनके बिना भी वह अपना प्रबंधत्व बरक़रार रख सकता है, उनमें से गायब हों; भले ही आचार्यों को प्रबंध के कुछ और भेदों को इसके या अन्य प्रबंध-रूप रखने वाले ग्रंथों के रूपों के अनुरूप लक्षित करना पड़े। कमोवेश यही स्थिति 'कनुप्रिया' के विधान की है।

**3.4.4 हिंदी आलोचकों द्वारा लक्षित काव्य-रूप 'लंबी कविता' और 'प्रबंध काव्य':** लंबी कविताओं का उद्भव हिंदी-साहित्य के छायावादी काल में हुआ। ये कविताएँ हिंदी-साहित्य का अपना रूप-विधान हैं, संस्कृत काव्यशास्त्र में इन पर चर्चा नहीं की गई है और हिंदी-साहित्य का अपना कोई व्यवस्थित मौलिक काव्यशास्त्र नहीं है। ऐसे में विभिन्न प्रकृति और स्वरूप रखने वाली हिंदी की लंबी कविताओं को हिंदी आलोचना-जगत में कहीं खंड-काव्य कहा जाता रहा है, कहीं प्रबंध-काव्य और कहीं लंबी-कविता। लंबी कविताएँ प्रबंध-काव्य की श्रेणी में आती हैं या मुक्तक-काव्य की, इस पर भी कोई निर्णयात्मक एकता देखने को नहीं मिलती। लंबी कविताओं को पहचानने या उन्हें नियमित करने का उपक्रम आलोचना जगत में नहीं हुआ ज़रूर; पर उनमें परस्पर सामंजस्य का अभाव रहा। दरअसल,

[8] हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास : रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, इक्कीसवाँ संस्करण 2008, पृष्ठ 46-47

[9] पाश्चात्य साहित्य चिंतन : निर्मला जैन, कुसुम बांठिया, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1990, पृष्ठ 13

लंबी कविताएँ प्रबंध काव्य की श्रेणी में ही आएँगी, मुक्तक में नहीं; पर इनकी रचना-प्रक्रिया में मुक्तक काव्य का भी योगदान रहता है। लंबी कविताएँ प्रबंध काव्य और मुक्तक काव्य, दोनों के ढाँचे को तोड़कर निर्मित होती हैं। इस तरह उनकी प्रकृति दो तरह की हो जाती है—प्रबंधधर्मी लंबी कविताएँ और मुक्तकधर्मी लंबी कविताएँ। प्रबंधात्मकता दोनों तरह की लंबी कविताओं में होती है, यद्यपि कि मुक्तकधर्मी लंबी कविताओं में मुक्तक काव्य के गुण भी विद्यमान रहते हैं।

यद्यपि कि कृतियाँ पहले लिखी जाती हैं और शास्त्रीय नियम उनको आधार में रखकर बाद में बनाये जाते हैं, पर मात्र इतने से ही शात्रीय विधानों की अपनी महत्ता गौण नहीं हो जाती। कालजयी कृतियों के आधार पर बनाये हुए शास्त्रीय नियम आने वाली कृतियों को लगातार प्रभावित करते हैं, यह बात किसी से छुपी हुई नहीं है। अतः नये शिल्प की रचनाओं को शास्त्र-संवलित करना आलोचकों का धर्म होना चाहिए। हिंदी आलोचना-जगत में लक्षित 'लंबी कविता' पर यद्यपि काफ़ी चर्चा-परिचर्चा हो चुकी है परंतु आज भी किसी के लिए यह जिज्ञासा का विषय हो सकता है कि 'लंबी कविता' क्या कोई सैद्धांतिक नाम है? मतलब क्या 'लंबी कविता' के मानक-लक्षण निर्धारित हैं? किन कविताओं को 'लंबी कविता' के नाम से अभिहित किया जा सकता है? लंबी कविता प्रबंध काव्य की श्रेणी में आती है या मुक्तक काव्य की ? आदि-आदि। यह जिज्ञासा का विषय इसलिए हो सकता है क्योंकि जिन-जिन कविताओं को लंबी कविता के दायरे में समेटने की कोशिश की गयी उनमें परस्पर अंतर-बाह्य स्तर पर बहुत कुछ विभेद परिलक्षित किये जाते हैं। इन्हीं कारणों से एक ही कविता को कहीं खंडकाव्य तो कहीं लंबी कविता कहा जाता रहा है, प्रसाद की 'आँसू' इसी तरह का काव्य-रूप है। *"निराला की कविता 'राम की शक्तिपूजा' के बारे में यह सवाल आलोचकों द्वारा उठाया जाता रहा है कि इस कविता का काव्यरूप क्या है ? दरअसल यह कविता महाकाव्य या खंडकाव्य नहीं है बल्कि आधुनिक युग का एक नया काव्यरूप है।"*[10]

दरअसल इन सब संशयों के मूल में प्रबंध और मुक्तक काव्य का निर्धारित ढाँचा है। 'लंबी कविता' क्योंकि दोनों काव्य-रूपों को तोड़कर उन्हीं की सामग्रियों से नया काव्य-रूप खड़ा करती है, अतः इसके दो रूप परिलक्षित होते हैं। जब यह मुक्तक के ढाँचे को तोड़ती है तब इसका स्वरूप मुक्तकधर्मी और जब प्रबंध के ढाँचे को तोड़कर निर्मित होती है तब प्रबंधधर्मी होता है। इन प्रबंधधर्मी लंबी कविताओं को कुछ आलोचक 'प्रबंध काव्य' के भेद के अंतर्गत आने वाले 'खंडकाव्य' के रूप में देखते हैं, वे उसे 'लंबी कविता' मानने के पक्ष में नहीं हैं। ऐसा दृष्टिकोण रखने वाले विद्वान मुक्तकधर्मी

---

[10] राजेंद्रप्रसाद सिंह : हिंदी की लंबी कविताओं का आलोचना पक्ष, राजकमल प्रकाशन, पटना, पेपरबैक संस्करण, 2011, पृष्ठ 5

लंबी कविताओं को ही 'लंबी कविता' की श्रेणी में रखना पसंद करते हैं। इस तरह की मान्यता के पीछे भी कुछ तार्किक कारण मौजूद हैं। दरअसल यह एक अघोषित प्रवृत्ति है कि 'कविता' शब्द का आशय छोटी कविता या मुक्तक काव्य से लगाया जाता है, बड़ी कविताओं को 'काव्य' कहने की प्रवृत्ति रही है—महाकाव्य, खंडकाव्य या प्रबंध काव्य। इस हिसाब से 'लंबी कविता' का आशय मुक्तकधर्मी लंबी कविताओं से जोड़ा जाता है और प्रबंधधर्मी लंबी कविताओं को 'खंड-काव्य' कह दिया जाता है।

यह पहले कहा जा चुका है कि मुक्तकधर्मी लंबी कविता मुक्तक विधान के ढाँचे को तोड़कर विकसित होती है। पहले कवि मुक्तकों में कोई 'भाव-खंड' व्यक्त करते थे, अतः उनकी अभिव्यक्ति भावों के अनुकूल किसी एक छंद यानी 'छोटी कविता' में हुआ करती थी; पर जब कविता में 'विचार-खंड' अभिव्यक्ति पाने लगे तब छंद का बंधन भी टूट गया और विचार-खंड की प्रकृति के अनुसार कविता का आकार छोटा-बड़ा होने लगा; तब छोटी कविताओं के मुक़ाबले बड़ी कविताओं को अलगाने के लिए उन्हे 'लंबी कविता' नाम दिया जाने लगा। मतलब 'लंबी कविता' को यह नाम 'छोटी कविता' के मुकाबले दिया गया, और छोटी कविताएँ प्रबंध काव्य के मूल तत्व 'कथात्मकता' से अलग होती थीं। अतः शुरू में कथात्मक लंबी कविताओं को 'खंडकाव्य' की श्रेणी में रखने का उपक्रम हुआ।

कथात्मक लंबी कविताओं का विधान यद्यपि पुराने खंडकाव्यों से अलग है, पुराने खंड काव्य सर्गबद्ध हैं और आकार में उनसे बड़े भी हैं, पर खंडकाव्य की परिभाषा और लक्षण में ही यह बात कह दी गयी है कि ये सर्गबद्ध भी हो सकते हैं और बिना सर्ग के भी। उनके स्थूल आकार के बारे में भी किसी बंधन की बात नहीं की गयी है। अतः इस नियम ने भी इस तरह की लंबी कविताओं को खंडकाव्य माने जाने का रास्ता दिखाया। खंडकाव्य का पहली बार लक्षण आचार्य विश्वनाथ ने दिया था और उन्होंने उसे बहुत स्थूल माप-तौल के बंधन से मुक्त रखा था। काव्य के भेदों का विवेचन अपने ग्रंथ साहित्यदर्पण के छठवें अध्याय में करते हुए उन्होंने महाकाव्य के अलावा प्रबंध काव्य के दो और भेद किये हैं—'काव्य' और 'खंडकाव्य'। खंडकाव्य के लक्षण उन्होंने महाकाव्य के नहीं, बल्कि 'काव्य' के लक्षणों के सापेक्ष दिया। 'काव्य' नामक भेद का लक्षण देते हुए उन्होंने कहा–

*भाषाविभाषानियमात्काव्यं सर्गसमुज्झितम्।*
*एकार्थ प्रवणैः पद्यैः संधिसामग्र्यवर्जितम्॥*[11]

अर्थात 'काव्य' भाषा या विभाषा में लिखा जाने वाला वह पद्यमय काव्यरूप है जिसमें सर्गों का बंधन अनिवार्य नहीं है और न ही सभी संधियों का। वह एकार्थ (चार पुरुषार्थों में से एक) प्रवण होता है। इसके

[11] विश्वनाथ : साहित्यदर्पण (सं. सत्यव्रत सिंह), चौखंभा विद्याभवन प्रकाशन, वाराणसी, पेपरबैक संस्करण 2021, पृष्ठ 554

बाद इसी के सापेक्ष खंडकाव्य की परिभाषा आचार्य विश्वनाथ ने इस प्रकार दी है–"*खंडकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च ।*"[12] अर्थात खंडकाव्य 'काव्य' का एकदेशानुसारी होता है । ऐसे में प्रबंधात्मक लंबी कविताओं को खंडकाव्य की श्रेणी में लाने का उपक्रम हो, स्वाभाविक है। इन सबके अलावा भी आधुनिक काल में आकर जब कामायनी जैसे अपेक्षाकृत बहुत छोटे आकार के प्रबंध को उसके भव्य-विधान के कारण महाकाव्य की श्रेणी में रखा जाता है तो इन प्रबंधों को खंडकाव्य की श्रेणी में रखे जाने के पर्याप्त कारण हैं ! पर इन कारणों का परिहार इस तर्क से किया जा सकता है कि हिंदी में प्रचलित खंडकाव्यों का रूप इन प्रबंधात्मक कविताओं से काफी अलग है, अतः नये प्रकार के काव्य के रूप के लिए नया नाम ही उपयुक्त हो सकता है। नया-नाम 'लंबी कविता' अब रूढ़ हो चुका है तो इसे ही स्वीकार किया जा सकता है।

अब देखना यह है कि प्रबंधधर्मी और मुक्तकधर्मी लंबी कविताएँ जिन्हें अब संयुक्त रूप से 'लंबी कविता' के नाम से अभिहित किया जाता है, उनमें क्या इतना अंतर्विरोध है कि उनके रूप को लेकर विवाद की स्थिति बने ! दरअसल यहाँ जो विवाद का भासित तत्व है वह है प्रबंधात्मकता । यह आभासित इसलिए होता है क्योंकि इसे अब तक कथात्मकता से जोड़कर देखा जाता रहा है । प्रबंधात्मकता जब बड़े काव्य से इतर छोटे काव्य को अपनाएगी तब उसका स्वरूप अकथात्मक भी हो सकता है, यह इस संशय या विवाद का मुख्य समाधान हो सकता है। अकथात्मक-प्रबंध मुक्तकधर्मी लंबी कविता का रूप लेता है और कथात्मक-प्रबंध प्रबंधधर्मी लंबी-कविता का। यों 'प्रबंधात्मकता' लंबी कविता का अनिवार्य तत्व है। मुक्तकधर्मी लंबी कविता भी प्रबंध काव्य है।

लंबी कविताओं के जन्म का मामला छायावाद से जुड़ा हुआ है और पंत की 'परिवर्तन' नामक कविता से इसका आविर्भाव माना जाता है। छायावाद में वैचारिक दबाव के कारण कवियों ने मुक्त-छंद का आविष्कार किया। लंबी कविताओं के जन्म का मामला मुख्य रूप से 'मुक्त-छंद' और 'वैचारिक तनाव' के जन्म से ही जुड़ा हुआ है। छायावादी युग में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक आंदोलन की जिम्मेदारी के वैचारिक दबाव, समाज में व्याप्त अनेकानेक रूढ़ियों से मुक्ति चाहने के वैचारिक दबाव और मानवता की स्थापना आदि के वैचारिक दबावों ने कवियों के दिलो-दिमाग को हिलाकर रख दिया। उनके अंदर तमाम विचार-खंड या विचार-श्रृंखलाएँ पनपने लगीं। इनकी अभिव्यक्ति किसी एक छंद या छोटी कविताओं में नहीं हो सकती थी, अतः मुक्त-छंद का आविष्कार किया गया। और फिर मुक्त-छंद ने प्रायः मुक्तकधर्मी लंबी कविताओं के सृजन का रास्ता साफ किया। पहले कवि जब मुक्तकों में रचना करते थे तो अपनी

[12] विश्वनाथ : साहित्यदर्पण (सं. सत्यव्रत सिंह), चौखंभा विद्याभवन प्रकाशन, वाराणसी, पेपरबैक संस्करण 2021, पृष्ठ 555

एक बात वे एक छंद में खत्म कर देते थे और कहते थे कि 'मैंने एक सवैया बनाया है, एक कवित्त बनाया है या एक अमुक छंद बनाया है।' मुक्त-छंद का प्रचार होने से कविता का आकार अनिश्चित होने लगा। आकार यहाँ छंदों पर निर्भर न रहकर पंक्तियों पर निर्भर हो गया। एक बात के लिए, बात की प्रकृति के अनुकूल, कविताएँ दो-तीन पंक्तियों में भी सिमटने लगीं और बहुत सारी पंक्तियों में बद्ध होकर कई पेजों में भी विस्तृत होने लगीं। वैचारिक दबाव, आंतरिक तनाव आदि के चलते जब कविताएँ चार-पाँच या इससे अधिक पेजों में विस्तृत होने लगीं तो उन्हें सामान्य कविताओं से अलगाने के लिए उनके आकार को ध्यान में रखकर उन्हें 'लंबी कविताएँ' कहा जाने लगा। इस तरह की लंबी कविताएँ मुक्तकधर्मी होती हैं। वैचारिक तनाव एक निश्चित आयाम चाहते हैं। ज्यादा छोटे आकार में वे अट नहीं पाएँगे और ज्यादा बड़े आकार में उनकी कसावट के ढीले होने का ख़तरा है। अतः वे मुक्तक के ढाँचे को तोड़कर जहाँ अपना आकर निर्मित करते हैं, वहीं प्रबंध के ढाँचे को सिकोड़कर ! प्रबंधात्मक ढाँचे से निर्मित प्रबंधात्मक कविताओं को भी इसीलिए 'लंबी कविताएँ' कहा जाने लगा।

जैसा कि ऊपर कहा गया, पंत की परिवर्तन नामक कविता से लंबी कविताओं की शुरुआत मानी जाती है। उल्लेखनीय है कि पंत की 'परिवर्तन' मुक्तकधर्मी लंबी कविता है, इसी युग में बाद में आने वाली प्रबंधधर्मी लंबी कविताओं से अलग; यद्यपि कि, जैसा कहा गया, प्रबंधात्मकता लंबी कविताओं का अनिवार्य लक्षण है। इन सारे संदर्भों में लंबी कविता का 'लंबी' शब्द एक तरह से 'प्रबंध' का ही पर्याय है। लंबी कविताओं के जन्म के पहले तक मुक्तकों और प्रबंधों में अंतर स्थापित करने वाला मुख्य तत्त्व 'कथा' होती थी। लंबी कविताओं ने इस स्थिति में थोड़ा परिवर्तन उत्पन्न कर दिया है। उसने दिखाया कि छोटे प्रबंध को गढ़ने के लिए कथा कोई ज़रूरी तत्व नहीं रह जाता। बावजूद इन सबके, कथा प्रबंध काव्य से अनिवार्य रूप से जुड़ी है। मतलब जिस काव्य में सुसंबद्ध कथा होगी वह अनिवार्यतः प्रबंध काव्य ही होगा, वह मुक्तक नहीं हो सकता; भले ही कुछ प्रबंध काव्य कथाविहीन होते हों। कथा के साथ प्रबंध के इसी संबंध के कारण ही लंबी कविता के यहाँ प्रबंधधर्मी और मुक्तकधर्मी दो भेद कियये गए हैं। मुक्तकधर्मी लंबी कविता यहाँ उन्हें कहा जा रहा है जो किसी 'कथा' के ढाँचे में बंधी हुई नहीं होतीं, यद्यपि कि वे किसी न किसी मन:-स्थिति, विचार, परिस्थिति, वातावरण आदि के वर्णन के ढाँचे में अवश्य बंधी हुई होती हैं। इसीलिए उन्हें मुक्तकधर्मी प्रबंध वाली लंबी कविता कहा जा रहा है। मुक्तकधर्मी इसलिए कि उनमें मुक्तकों के गुण भी विद्यमान रहते हैं। प्रबंधधर्मी लंबी कविताएँ किसी न किसी कथा के ढाँचे में बंधी हुई होती हैं। अतः लंबी कविता के दो पक्ष हुए—प्रबंधधर्मी लंबी कविता

और मुक्तकधर्मी लंबी कविता। इन्हें कथात्मक और अकथात्मक लंबी कविता भी कहा जा सकता है, कहा जाता है।

यह बात भी विचारणीय है कि स्थूल स्तर पर मुक्तकधर्मी लंबी कविताएँ नये तरह की प्रबंधात्मक लंबी कविताओं के आकार-प्रकार की होतीं थीं, दोनों मुक्तक और प्रबंध के लिए निर्धारित या प्रचलित दायरों का अतिक्रमण करती थीं, अतः नामकरण के संदर्भ में दोनों को 'लंबी कविता' के दायरे में समेट लिया गया। यों, लंबी कविता के नामकरण में आकारगत तत्व की प्रमुखता को नकारा नहीं जा सकता। मुक्तकधर्मी या अकथात्मक लंबी कविताओं के भी दो रूप परिलक्षित किए जा सकते हैं—प्रगीतात्मक लंबी कविता और विचारात्मक लंबी कविता। प्रगीतात्मक लंबी कविताओं में मुक्तकधर्मिता कुछ ज्यादा मात्रा में होती है, शायद इसीलिए कई आलोचक प्रगीतात्मक लंबी कविताओं को लंबी कविता नहीं मानना चाहते—*"पंत का अधिकांश काव्य प्रगीतात्मक है। बावजूद इसके उनकी कविता 'परिवर्तन' को कई आलोचकों ने लंबी कविता कह डाला है। कारण कि लंबी कविता के केंद्र में उसकी लंबाई मान ली गई है।"*[13] विचारात्मक लंबी कविताएँ अपनी प्रबंधात्मकता के मामले में प्रगीतात्मक लंबी कविताओं से ज्यादा कसी हुई होती हैं। उनमें वैचारिक-तनाव के सहारे किसी भी स्थिति-परिस्थिति का मंथनपरक विश्लेषण रहता है। मुक्तिबोध की 'अँधेरे में' या धूमिल की 'पटकथा' आदि इसी तरह की लंबी कविताएँ हैं।

कथात्मक लंबी कविताओं में खंडकाव्यों या प्रबंधात्मक कविताओं की तरह कोई कथा कही जाती है, उनमें पात्र होते हैं, स्थान होता है, समय होता है और वातावरण होता है। और उसकी कथा तारतमिक ढंग से कही जाती है। मतलब इसमें कथा-क्रम का निर्वाह किया जाता है। कथा व्यक्ति के जीवन के किसी एक खंड से जुड़ी होती है, फिर वह जीवन-खंड चाहे जितना छोटा हो। जबकि मुक्तकधर्मी लंबी कविताओं में किसी कथा का नहीं, किसी स्थिति और परिस्थिति का चित्रण होता है। इसमें पात्र प्रायः नहीं रहते, रहते हैं तो भी प्रछन्न या संकेतित रूप में—स्थितियों या परिस्थितियों के चित्रण की गहनता में ही सहायक होने के लिए। जिनमें 'कथा' नहीं, वो मुक्तकधर्मी लंबी कविता हैं और जिनमें 'कथा' होती है, वो प्रबंधधर्मी लंबी कविता। निराला की 'राम की शक्तिपूजा' या 'तुलसीदास' नामक कविताएँ कथात्मक लंबी कविता की उदाहरण हैं।

---

[13]राजेंद्रप्रसाद सिंह : हिंदी की लंबी कविताओं का आलोचना पक्ष, राजकमल प्रकाशन, पटना, पेपरबैक संस्करण, 2011, पृष्ठ 6

ऊपर दी गई स्थापनाओं की पुष्टि के लिए हिंदी आलोचकों द्वारा ‘लंबी कविता’ में परिगणित प्रबंधात्मक लंबी कविताओं और मुक्तकधर्मी लंबी कविताओं के बीच के फ़र्क का विश्लेषण किया जा सकता है। क्योंकि लंबी कविताओं की शुरुआत छायावादी युग में हुई अतः इस संदर्भ में छायावाद के ही दो कवियों, पंत और निराला, की कृतियों को आधार बनाया जा सकता है। निराला की ‘राम की शक्ति पूजा’ और ‘तुलसीदास’ वैसे ही लंबी कविताएँ नहीं हैं जैसे की पंत की ‘परिवर्तन’ है। निराला की ये कविताएँ ‘कथात्मक लंबी-कविता’ के अंतर्गत आएँगी और पंत की परिवर्तन अकथात्मक। पंत की ‘परिवर्तन’ से ही लंबी कविताओं की अवधारणा ने जन्म लिया, इस दृष्टि से इसके स्वरूप का विवेचन महत्वपूर्ण है।

‘परिवर्तन’ नामक कविता जीवन और जगत के दिन-प्रतिदिन बदलते जाने की प्रक्रिया को रेखांकित करने वाली कविता है। ‘परिवर्तन प्रकृति का नियम है’ इस तथ्य को लेकर इस कविता में पल-पल परिवर्तित या समय-समय पर परिवर्तित जीवनगत स्थितियों का चित्रण किया गया है, इसमें कोई ‘कथा’ नहीं कही गयी है। कविता अतीत के सुख और वैभव की काल्पनिक दुनिया के परिप्रेक्ष्य में आधुनिक दुख-दैन्य को लेकर शुरू होती है–*“कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन, वह सुवर्ण का काल/ भूतियों का दिगंत छवि जाल,/ ज्योति चुंबित जगती का भाल?/ राशि-राशि विकसित वसुधा का वह यौवन विस्तार ?”*[14] इसके बाद दो बंद और इस काल्पनिक दुनिया पर, और फिर सीधे इस पर अविश्वास की घोषणा–*“हाय ! सब मिथ्या बात ! –/ आज तो सौरभ का मधुमास/ शिशिर में भरता सूनी साँस !/ वही मधुऋतु की गुंजित डाल/ झुकी थी जो यौवन के भार,/ अकिंचनता में निज तत्काल/ सिहर उठती, -जीवन है भार”*[15]। फिर पूरी कविता इसी अवधारणा को तरह-तरह के वर्णनों से चित्रित करती रहती है कि परिवर्तन के प्रहार से कोई बचता नहीं है। वह अपने में सबको लपेट ही लेता है ! परिवर्तन का प्रहार मतलब सुख के बाद दुख का आगमन ! दुख से परे रहने की दिली चाहत के बीच कवि का मन जीवन और जगत में इसकी सत्ता के स्थायित्व को नकार पाने की होड़ में हार-सा जाता है। और फिर स्वीकारोक्ति की इस प्रक्रिया से गुजरता है–*“हाय री दुर्बल भ्रांति ! –/ कहाँ नश्वर जगती में शांति ?/ सृष्टि का ही तात्पर्य अशांति !”*[16] कहीं-कहीं सुख संचारी भाव की तरह कवि के मानसपटल पर आ जाता है और वह इसकी भी संचारी सत्ता को अभिव्यक्ति प्रदान कर देता है, पर उसका मूल ध्यान परिवर्तन में दुख की ही तरफ है। कविता में मनःस्थितियों के अनुसार भावखंडों का चित्रण हुआ है। कहीं परिवर्तन का मानवीकरण कर उसे संबोधित

---

[14] सुमित्रानंदन पंत : पल्लव, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, नौवाँ संस्करण, 1993, (आवृत्ति 2014), पृष्ठ 140

[15] वही, पृष्ठ 140-41

[16] वही, पृष्ठ 145

करते हुए उसकी कार्यप्रणाली का वर्णन किया गया है तो कहीं उसे परिप्रेक्ष्य में रखकर उसकी विशेषताओं का। एक ही मन:स्थिति के चित्रण में भी कविता के हर बंद का चित्रण दूसरे बंद के चित्रण पर निर्भर नहीं है। कविता को कहीं भी खत्म किया जा सकता था या उसका इसी क्षेत्र की तमाम भावनाओं या विचारों के आधार पर और भी विस्तार किया जा सकता था, क्योंकि कविता में वैसा प्रबंधत्व नहीं है जैसा कथात्मक कविताओं में होता है। कुल मिलाकर यह प्रगीतात्मक लंबी कविता है और इसमें प्रगीत के गुण विद्यमान हैं।

'परिवर्तन' नामक कविता में आंगिक प्रबंधत्व नहीं होने का एक आधार पहले ही बताया गया कि इसमें कोई कथा नहीं कही गयी है, परिवर्तन को लेकर कवि ने अपनी मनःस्थितयों का चित्रण किया है। दूसरा यह है कि इसके सभी बंद आपस में इस तरह से बंधे हुए नहीं हैं कि एक के न रहने से दूसरे की संपूर्णता प्रभावित हो। अर्थात इसमें आंगिक अन्विति भी नहीं है। तीसरे, इसमें कोई पात्र नहीं है। चौथे, कोई समय और स्थान नहीं है, यद्यपि वातावरण मौजूद है। अतः यह कविता आंगिक प्रबंधत्व से रहित है; पर इसमें प्रबंधत्व है। इसमें भावों और विचारों का प्रबंधत्व है। सारे भाव और विचार 'परिवर्तन' की प्रकृति को व्याख्यायित करने में आपस में जुड़े हुए हैं। प्रगीतात्मक 'लंबी कविता' में प्रबंधत्व की प्रकृति ऐसी ही होती है। प्रगीत भी एक तरह की मनः-स्थिति को विभिन्न प्रकार से व्याख्यायित करने का उपक्रम हुआ करता है। जैसे महादेवी वर्मा का 'मैं नीर भरी दुःख की बदली' या निराला का 'स्नेह निर्झर बह गया है' नामक प्रगीत। अतः प्रगीतात्मक लंबी कविता भी प्रगीत के गुणों से लैस होती है। इस तरह की कविताओं को देखकर इस तथ्य की तरफ ध्यान जा सकता है कि पेज-विस्तार भी लंबी कविता का मुख्य अंग है। लगभग सोलह पेज की यह कविता है।

निराला की 'राम की शक्ति पूजा' रूप और वस्तु के स्तर पर पंत की परिवर्तन से भिन्न है, आलोचकों ने उसे भी लंबी कविता का नाम दिया है। राम की शक्तिपूजा में कथा है, पात्र हैं, आंगिक अन्विति है; और स्थान, समय, वातावरण सब हैं। वह कथा और इसके तत्वों से बंधी हुई रचना है। अतः 'राम की शक्तिपूजा' में आंगिक प्रबंधत्व है।

'राम की शक्तिपूजा' का विधान प्रबंधात्मक है। एक तो यह कथात्मक प्रवाह में लोकव्याप्त मिथकीय कथा से संबद्ध है, दूसरे इसमें लोक-मिथ की प्रकृति के अनुकूल ही कुछ और घटनाएँ जोड़कर कथा को प्रतीकात्मक विश्वसनीय संदर्भ देने की कोशिश की गई है। शुरू से लेकर अंत तक कविता में एक प्रवाह है। यह प्रवाह कथात्मकता का ही है। मिथकीय कथा के पूर्वापर-संबंध के आधार पर कथा शुरू होती है राम-रावण के बीच हुए युद्ध की विभीषिका के वर्णन से—*''रवि हुआ अस्त, ज्योति के पत्र*

*पर लिखा अमर/ रह गया राम रावण का अपराजेय समर ।”*[17] मिथकीय कथा के पूर्वापर संबंध का आशय है कि रामायण या महाभारत आदि मिथकीय ग्रंथों की कथाएँ लोक में व्याप्त होती हैं । यह जितनी ग्रंथों की नहीं होतीं उतनी शायद लोक की सामग्री होती हैं । उनके किसी भी प्रसंग को लेकर बिना किसी पूर्वापर भूमिका या परिचय के काव्य रचे जा सकते हैं । तमाम खंडकाव्य ऐसे ही मिथकीय कथा के पूर्वापर संबंधों के आधार पर ही लिखे गये हैं । यहाँ पर राम और रावण तथा उनके आपसी संबंधों से सभी पाठक पूर्व परिचित होते हैं । कथा शुरू होते ही यह पूछने की ज़रूरत नहीं पड़ती कि राम कौन है, रावण कौन है, और इनके बीच में लड़ाई क्यों हो रही है; आदि । पूरी प्रक्रिया से सामान्यतः पाठक परिचित रहता है । इस पृष्ठभूमि का सहारा लेकर मिथक की प्रकृति के अनुसार रचनाकार उसमें संभाव्य नये-नये प्रसंगों की उद्भावना कर सकता है । तमाम रचनाकार सफलतापूर्वक करते भी आये हैं । निराला ने कृत्तिवास के ‘बंगला रामायण’ से शक्तिपूजा का प्रसंग लिया और उसे तत्कालीन राष्ट्रीय आंदोलन के अनुरूप बनाकर पेश किया । किसी भी संघर्ष में हताश हो रहे व्यक्ति, समाज और देश को अपने अंदर नये तरीके से आत्मबल विकसित करने की प्रेरणा देने वाली है यह कृति । खैर !

इसकी प्रबंधात्मकता, जैसा कि पहले कहा गया, इसमें है कि इस पूरी कृति में एक कथात्मक प्रवाह है । इसके किसी भी अंग को इसमें से निकाला नहीं जा सकता, सभी अंग ज़रूरी हैं इसके लिए । किसी भी अंग को निकालने से काव्य का प्रवाह प्रायः बाधित-सा हो जाएगा । और इस काव्य को पंत की परिवर्तन कविता की तरह कहीं भी समाप्त नहीं किया जा सकता । इसमें पात्र हैं, स्थान है, वातावरण है, घटनाएँ हैं; जो कथा-काव्य के अनिवार्य तत्व हैं । आधुनिक युग में प्रबंध के सूक्ष्म-विधान आने के पहले तक कथा-काव्य ही प्रबंध काव्य हुआ करते थे । पात्र मुक्तक कविता में भी हो सकते हैं पर वहाँ उनकी स्थिति दूसरी होती है, यद्यपि प्रायः मुक्तक कविताओं में या तो पात्र रहते नहीं हैं या रहते भी हैं तो उनकी कोई विशेष ‘आइडेंटिटी’ नहीं होती है । मुक्तकों में जहाँ पात्र होते हैं प्रायः वहाँ पर कोई प्रसंगोद्भावना की गयी होती है और उसके अनुकूल उसमें या तो पात्रों के क्रियाकलापों का वर्णन कवि ने खुद किया होता है या किसी एक पात्र का ही किसी विशेष प्रसंग में कोई कथन होता है । और मुक्तकों में यह सब किसी पूर्वापर संबंध की अपेक्षा नहीं रखता, अपने में पूर्ण होता है—जैसे बिहारी के इस दोहे में का क्रियाकलाप, जिसमें उसका वर्णन कवि खुद कर रहा है—*“कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात ।/ भरे भौन में करत हैं, नैनन ही सौं बात ।।”*[18] यहाँ यह पूछने की कोई ज़रूरत नहीं पड़ती कि कौन बात कर

[17] सूर्यकांत त्रिपाठी निराला : अनामिका, भारती भंडार, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, 1948, पृष्ठ 148

[18] बिहारी-रत्नाकर : (सं.) जगन्नाथदास ‘रत्नाकर’, गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, अमीनाबाद, लखनऊ, 1926, पृष्ठ 19

रहा है, या क्या बात कर रहा है, किसलिए बात कर रहा है; आदि। सब कुछ पता चल जाता है। पात्रों की भी कोई ख़ास 'आइडेंटिटी' नहीं है। पात्र कौन हैं, यह भी जानने की विशेष जरूरत नहीं पड़ती। नायक और नायिका हैं, श्रृंगारिक क्रिया-कलाप कर रहे हैं। नायक-नायिका को लेकर ऐसे तमाम प्रसंगों की कल्पना की गयी है रीतिकाल के मुक्तकों में।

दूसरे उदाहरण के रूप में है कालिदास त्रिवेदी जी का यह कवित्त जिसमें एक पात्र 'नायिका' का कथन नायक 'कृष्ण' के प्रति है—"*चूमौ करकंज मंजु अमल अनूप तेरो/ रूप को निधान कान्ह मो तन निहारि दै।/ कालिदास कहैं मेरो पास हरै हेरि-हेरि/ माथे धरि मुकुट लकुट कर डारि दै।/ कुँवर कन्हैया मुख-चन्द्र को जुन्हैया चारु/ लोचन चकोरन की प्यासन निवारि दै।/ मेरे कर मेंहदी लगी है नंदलाल प्यारे/ लट उरझी है नकबेसरि संभारि दै।"*[19] यहाँ भी किसी पूर्वापर संबंध की अपेक्षा नहीं है, पात्र की भी कोई ख़ास 'आइडेंटिटी' नहीं है। यह किसी नायिका का किसी भी नायक से चुहल-भरा आग्रह हो सकता है। प्रसंगोद्भावना यह है कि नायिका को कृष्ण दिख जाते हैं, अब वह उनका सुंदर मुख निकट से देखना चाहती है। अतः वह अपने बालों को नकबेसर में उलझाकर उनसे बहाना बनाती है कि उसके हाथों में मेहंदी लगी है इसलिए वह अपनी उलझी हुई लट को अपने हाथों से नहीं सुलझा सकती, वे कृपा करके उसे सुलझा दें। यहाँ यह कवित्त अपने आपमें पूर्ण है। नायिका का कथन कहीं भी अधूरा-अधूरा सा नहीं लग रहा है कि इसके आगे-पीछे कुछ न कुछ होना चाहिए था अन्यथा यह समझ में नहीं आएगा, इसका अर्थ नहीं खुलेगा, आदि। जबकि 'राम की शक्तिपूजा' में का जाम्बवान का यह कथन पूर्वापर संबंधों की पूरी अपेक्षा रखता है—"*रघुवर,/ विचलित होने का नहीं देखता मैं कारण/ हे पुरुष सिंह, तुम भी यह शक्ति करो धारण,"*[20]। रघुवर क्यों विचलित हो रहे थे ? स्थितियाँ क्या थीं ? उन्हें कौन सी शक्ति धारण करने के लिए कहा जा रहा है ? यह कहाँ की बात है ? आदि की अपेक्षा तुरंत मन में जाग जाएगी। यद्यपि जाम्बवान का कथन और आगे तक चलता है पर उनके पूरे कथन को अलग से उद्धरित करने के बाद भी उसकी अपनी स्वायत्तता नहीं बन पायेगी। उसे पूर्वापर संबंध चाहिए ही ! और यद्यपि कभी-कभी प्रबंध काव्यों के कुछ छंदों या बंदों को मुक्तक की तरह स्वतंत्र रूप से पेश किया जा सकता है, पर प्रबंध में होते हैं वे उसी कथा-प्रवाह के अंग—प्रबंध में उनके न रहने से उसकी आंगिक अन्विति प्रभावित होगी।

'राम की शक्तिपूजा' की कथा में शुरुआत है, मध्य है और अंत है। शुरुआत में राम और रावण का युद्ध चल रहा है, राम लाख प्रयत्न करने के बावजूद रावण को हरा नहीं पाते हैं। मध्य में अपने

---

[19] रामचंद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, पेपर बैक संस्करण 2018, पृष्ठ 220

[20] सूर्यकांत त्रिपाठी निराला : अनामिका, भारती भंडार, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, 1948, पृष्ठ 159

पारिषदों के बीच वे इसके हल के लिए एक सभा आयोजित करते हैं, जिसमें तरह-तरह के विचार विमर्श होते हैं—रावण को हराने के लिए। अंत में इसका हल यह निकाला जाता है कि राम भी उस शक्ति की आराधना करें जो रावण की ओर होकर उन्हें मजबूत बना रही हैं। राम ने आराधना की, और शक्ति राम के वदन में समाहित हो गयी। इस कथात्मक बुनावट में वर्णनों के बीच-बीच में सघन भावनाओं, वातावरण की सघनताओं को रचा गया है, बिंबों और प्रतीकों के सहारे या सीधे-सीधे ! कठिन परिस्थितियों में लोगों को अपने जीवन के कोमलतम क्षण याद याते हैं, यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। राम के सामने जब कठिन परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं तो उन्हें अपनी पत्नी सीता और माँ की याद आती है। जब राम को एहसास होने लगता है कि वे रावण को शायद नहीं हरा पाएँगे, रावण के पास ज्यादा शक्ति है; जब इस एहसास के कारण वे सोच में पड़कर परेशान होते हैं तो उन्हें सीता की याद आती है—*"ऐसे क्षण घन अंधकार में जैसे विद्युत/ जागी पृथ्वी-तनया-कुमारिका छवि, अच्युत/ देखते हुए निष्पलक, याद आया उपवन/ विदेह का,—प्रथम स्नेह का लतान्तराल मिलन।"*[21] फिर राम के मन में उस समय के सारे दृश्य सजीव हो उठते हैं जब उन्होंने सीता को पहली बार जनक-वाटिका में देखा था, और दोनों की आँखें मिली थीं।

ऐसे ही जब पूजा पूरी होते-होते रह जाने के आसार दिखाई देने लगते हैं, पूजा का अंतिम पुष्प परिहास-वश देवी दुर्गा के उठा ले जाने के कारण। तब राम के मन में एक बार फिर निराशा का संचार होता है। बड़ी कठिन और महत्वपूर्ण तपस्या, जिसके पूरे हो जाने पर जीवन की पूरी आशाएँ टिकी हुई हैं, एकदम अंतिम पड़ाव पर, पूरे होते-होते खंडित हो जाने के कगार पर आ जाए तो तपस्वी का विचलित हो जाना स्वाभाविक है। इस स्थिति में आकर राम अपने जीवन को धिक्कारना शुरू करते हैं—*"धिक् जीवन को जो पाता ही आया विरोध/ धिक् साधन जिसके लिए सदा ही किया शोध/ जानकी हाय उद्धार प्रिया का हो न सका।"*[22] और फिर जीवन की इस कठिनतम बेला में उन्हें अपनी माँ की याद आती है। माँ की याद आते ही उन्हें समस्या के समाधान का बिंदु भी मिल जाता है। माता जी उन्हें राजीव-नयन कहकर बुलाया करती थीं। अतः पूजा के लिए कम हुए एक नील-कमल की पूर्ति वे अपने एक नयन को अर्पित कर करेंगे—*"यह है उपाय" कह उठे राम ज्यों मंद्रित घन/ कहती थीं माता मुझे सदा राजीव नयन !/ दो नील कमल हैं शेष अभी, यह पुरश्चरण/ पूरा करता हूँ देकर मात: एक नयन।"*[23] राजीव-नयन कहने से माँ

[21] सूर्यकांत त्रिपाठी निराला : अनामिका, भारती भंडार, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, 1948, पृष्ठ 151

[22] वही, पृष्ठ 163

[23] वही, पृष्ठ 164

का स्नेह अपने बेटे के प्रति झलक रहा है। और उस प्रसंग को निराला ने जीवन की उस कठिन परिस्थिति में लाकर वातावरण को संवेदनात्मक बनाने में पूरी सफलता प्राप्त की है। राम अपना नयन निकालने के लिए बाण निकालते हैं। ज्यों ही उसे नयनों के पास ले जाते हैं, दुर्गा आकर उनका हाथ पकड़ लेती हैं, और उन्हें जीत का आशीर्वाद देकर उनके वदन में लीन हो जाती हैं। इस तरह के कुतूहलपूर्ण घटनात्मक उतार-चढ़ाव के साथ शक्तिपूजा की कथा को ढाँचा प्रदान किया गया है। इससे स्पष्ट है कि यह कविता प्रबंधधर्मी है।

उपर्युक्त विवेचन और विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि लंबी कविता के मुख्यतः दो रूप हैं—कथात्मक और अकथात्मक। किसी मानसिक स्थिति या अन्य परिस्थिति आदि पर आधारित कथारहित लंबी रचना मुक्तकधर्मी लंबी कविता है और कथासहित लंबी रचना प्रबंधधर्मी लंबी कविता है। मुक्तकधर्मी लंबी कविताएँ भी किसी विशेष मनः-स्थिति से बंधी हुई होती हैं पर उनमें मुक्तकीय विशेषता भी होती है, खासकर प्रगीतात्मक लंबी कविताओं में। उनके बंदों को स्वतंत्र रूप में भी पेश किया जा सकता है, यद्यपि पूरी रचना में वे आवश्यक लगेंगे। इसीलिए इन्हें मुक्तक न कहकर मुक्तकधर्मी कहना अधिक समीचीन है। और क्योंकि प्रबंधात्मक कविताएँ कथा का बहुत ही छोटा सा अंश लेकर चलती हैं तथा अपनी प्रकृति में प्रबंध काव्य से छोटी होती हैं, इसीलिए उन्हें प्रबंध न कहकर प्रबंधधर्मी कहना अधिक उचित है। प्रबंधात्मकता दोनों में रहती है—एक में सघन रूप में तो एक में विस्तृत रूप में। यों, लंबाई किसी न किसी आधार पर ही टिक सकती है, अन्यथा वह निराधार होकर लुढ़क जाएगी! लंबी कविता की लंबाई प्रबंधात्मकता के आधार पर ही खड़ी होती है।

# अध्याय 4

# मिथक और आधुनिकता

**4.1 मिथक : परिभाषा और स्वरूप**

**4.1.1 मिथक और दर्शन**

**4.1.2 मिथक और धर्म**

**4.1.3 मिथक और संस्कृति**

**4.1.4 मिथक, यथार्थ और मानवीय विश्वास**

**4.1.5 मिथक, किंवदंती, दंतकथा, लोककथा और निजंधरी कथाएँ**

**4.1.6 मिथक और साहित्य**

**4.1.7 मिथक और हिंदी साहित्य**

**4.2 आधुनिकता : अवधारणा और स्वरूप**

**4.2.1 आधुनिक, आधुनिकता, आधुनिकीकरण, आधुनिकतावाद और आधुनिकताबोध**

**4.2.2 आधुनिकता : पाश्चात्य संदर्भ**

**4.2.3 आधुनिकता : भारतीय संदर्भ**

**4.2.4 आधुनिकता और साहित्य**

**4.3 मिथक और आधुनिकता का पारस्परिक संबंध**

**4.3.1 मिथक और आधुनिकता का सामंजस्य तथा साहित्य**

## 4.1 मिथक : परिभाषा और स्वरूप

मिथक का आशय देवी देवताओं की कहानियों से है। देवी देवताओं की कहानियाँ धर्म से जुड़ी होती हैं। धर्म और देवी देवता आस्था के प्रतीक होते हैं। अतः इन कहानियों की अलौकिक घटनाओं और पात्रों के प्रति भी लोग पूर्ण आस्था और विश्वास रखते हुए इन्हें सत्य मानते हैं—आस्था और विश्वास तर्क के विषय नहीं होते। मतलब मिथक ऐसी घटनाओं और पात्रों की कहानी होते हैं जिन्हें तर्क की कसौटी पर नहीं रखा जा सकता। इनका कोई ऐतिहासिक प्रमाण भी उपलब्ध नहीं होता। इन्हीं सब कारणों से कभी-कभी, प्रायः पाश्चात्य विद्वानों द्वारा, मिथ का अर्थ 'कपोल कल्पना' किया गया है।

'कपोल कल्पना' वाले अर्थ की ओर अंग्रेजी विद्वानों का झुकाव देखकर कुछ विद्वान ऐसा मानते हैं कि अंग्रेजी के मिथ से हिंदी का मिथक शब्द अलग है और हिंदी में इसका अर्थ कपोल कल्पना के दायरे से बिलकुल बाहर है—*''हिंदी में 'मिथक' शब्द का प्रयोग आधुनिक काल में आरंभ हुआ। यह शब्द स्व० आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की देन है। संस्कृत के 'मिथ' शब्द के साथ कर्तावाचक 'क' प्रत्यय जुड़ने से इसका निर्माण हुआ है। संस्कृत में 'मिथ' शब्द का अभिप्राय प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए भी होता है तथा दो तत्वों के परस्पर सम्मिलन के लिए भी। मिथक के संदर्भ में दोनों ही अर्थ जुड़े हुए प्रतीत होते हैं। वह लौकिक तथा अलौकिक तत्वों का सम्मिश्रण है। ... कुछ मनीषियों ने माना है कि आचार्य द्विवेदी ने इसका निर्माण अंग्रेजी के 'मिथ' के आधार पर किया है। 'क' प्रत्यय जोड़कर उन्होंने इसे हिंदी का शब्द बना दिया है। यह सत्य है कि आचार्य द्विवेदी ने ऐसे अनेक शब्द हिंदी को प्रदान किए जो मूलतः अंग्रेजी के शब्द थे। आचार्य द्विवेदी ने उन्हें हिंदी भाषा की वृत्ति के अनुरूप ढाल दिया था। मिथक भी इसी कोटि का शब्द है, यह कहना उचित्र नहीं जान पड़ता, क्योंकि अंग्रेजी के 'मिथ' से संस्कृत के 'मिथ' में अर्थगत अंतर है। अंग्रेजी में 'मिथ' कोरी कल्पना पर आधारित माना जाता है जबकि मिथक का अभिप्राय अलौकिकता का पुट लिए हुए लोकानुभूति बताने वाली कथा से है। यह संस्कृत के मिथ (प्रत्यक्ष ज्ञान, दो तत्वों के सम्मिश्रण) के अधिक निकट है।''[1]* हिंदी का मिथक शब्द अंग्रेजी के 'मिथ' से जुड़ते ही 'कपोल कल्पना' की परिधि में चला जाएगा, इसीलिए इसका संबंध संस्कृत के 'मिथ' से लगाना दरअसल अपने मिथकों के प्रति लगाव प्रदर्शित करना है। अपने मिथकों के प्रति आस्था ही विद्वानों को ऐसा कहने के लिए प्रेरित करती है।

उपर्युक्त उद्धरण उषा पुरी विद्यावाचस्पति की पुस्तक 'भारतीय मिथक कोश' से है, जिसमें उन्होंने यह दिखाया है कि हिंदी के 'मिथक' शब्द और अंग्रेजी के 'मिथ' शब्द के अर्थ में अंतर है। उनकी इस पुस्तक की भूमिका विजयेंद्र स्नातक ने लिखी है। भूमिका में मिथक के अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए

---

[1] भारतीय मिथक कोश : उषा पुरी विद्यावाचस्पति, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1986, पृष्ठ 21

उन्होंने इसे अंग्रेजी के 'मिथ' से उत्पन्न माना है—*"मिथक शब्द के मूल में अंग्रेजी का मिथ शब्द ही था किन्तु हिंदी में प्रयुक्त होकर इस शब्द ने नया कलेवर धारण कर लिया।"*[2] यहाँ ऐसा लग रहा है कि विजयेंद्र स्नातक मिथक को अंग्रेजी मिथ से उत्पन्न मानते हुए भी दोनों में किंचित अर्थगत भिन्नता स्वीकार रहे हैं। उनके आगे के वक्तव्य से यह आशय निकलता है कि अंग्रेजी के 'मिथ' का अर्थ मात्र 'पुराणकथा' ही है और हिंदी के 'मिथक' का अर्थ 'पुराणकथा' के अलावा भी इससे मिलती-जुलती कथाओं को अपने अंदर समेटने लगा है—*"यह कोई नवीन तत्व नहीं है किंतु संज्ञा अभिधान के कारण इसे नए ढंग से प्रस्तुत किया जा रहा है। मिथक के विस्तृत परिदृश्य में केवल पुराणकथा ही नहीं, वरन लोककथा, निजंधरी कथा तथा आख्यानात्मक कथाओं का भी समावेश होता है। प्राचीन साहित्य में उपलब्ध देवता, राक्षस, गंधर्व, यक्ष, किन्नर आदि के संदर्भ मिथक के अंग बन गए हैं। इस प्रकार मिथक का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है और उसके अंग उपादान असीम हो गए हैं।"*[3] पुराणकथा के अलावा इस उद्धरण में जितनी कथाएँ गिनायी गयी हैं उनके पात्रों के संकेत से यह ध्वनित होता है कि ये सब अलौकिक पात्रों और घटनाओं से संबंधित कथाएँ होती हैं। लोककथा या निजंधरी कथा अलौकिक पात्रों और घटनाओं से संबंधित हो सकती हैं। पर यह बात ध्यान देने की है कि ये सब मिथक नहीं, मिथकीय कथाएँ हैं। मिथकीय पात्रों से जोड़कर कोई लोककथा आदि कहना मिथक के अंतर्गत नहीं आयेगा, हाँ, मिथकों से उसका संबंध ज़रूर होगा। मिथक तो सिर्फ पुराकथाएँ ही होती हैं। वस्तुतः हिंदी के मिथक और अंग्रेजी के मिथ में कोई अर्थगत अंतर नहीं है। विजयेंद्र स्नातक ने जो यह संकेत किया कि अंग्रेजी के 'मिथ' से निकलकर हिंदी के 'मिथक' ने उससे अलग कुछ नया कलेवर धारण कर लिया है वह दरअसल 'मिथक' शब्द के अर्थ से 'मिथकीय' शब्द के अर्थ का अलगाव है। मिथक अंग्रेजी के मिथ का सीधा पर्याय है या नहीं, इसमें हिंदी के विद्वान एकमत नहीं हैं। डॉ. वीरेंद्र सिंह की पुस्तक 'मिथक दर्शन का विकास' की भूमिका में डॉ. सत्येंद्र ने लिखा है—*"लेखक ने एक प्रकार से मिथक और मिथ में कोई अंतर नहीं किया और यह स्वाभाविक ही है कि आरंभ में इतना ध्यान मिथक पर नहीं गया जितना मिथ पर। ... यद्यपि मैं मिथ और मिथक को पर्यायवाची नहीं मानता क्योंकि मिथक यदि शब्द के रूप में देखा जाय तो इसकी अलग सत्ता दिखाई पड़ती है और इसका सामान्य अर्थ होगा मिथ से संबंधित अथवा मिथ के तत्वों से युक्त जैसे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की 'बाणभट्ट की आत्मकथा' नामक उपन्यास में 'बाराह की मूर्ति' के आख्यान को मिथक कहा जा सकता है। बाराह पृथ्वी के उद्धारकर्ता के रूप में पुराणों और पुराणाख्यानों अथवा दैवत कथाओं में आया है इसीलिए यह मिथ के अंश हुए और उनकी अर्थवत्ता के एक स्वरूप को ग्रहण करते हुए मूर्ति रूप में प्रतिष्ठापित होकर एक विशेष अर्थ संदर्भ में ये मिथक हो गए हैं केवल मिथ नहीं रहे।"*[4] डॉ. सत्येंद्र का कथन विजयेंद्र

---

[2] भारतीय मिथक कोश : उषा पुरी विद्यावाचस्पति, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1986, पृष्ठ 7 ( भूमिका से)

[3]वही, पृष्ठ 7 (भूमिका से)

[4] मिथक दर्शन का विकास : डॉ. वीरेंद्र सिंह, स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद, 1984, पृष्ठ 6-7 (भूमिका से)

स्नातक के मतों से मिलता-जुलता है। इन विद्वानों ने 'मिथ' का कोई हिंदी अर्थ नहीं दिया है पर ऐसा लग रहा है कि इनके अनुसार 'मिथ' का हिंदी शब्द मिथ ही होगा और इन मिथों से संबंधित जो आगे की कथाएँ हैं वे 'मिथक' कही जाएँगी। यह बात उल्लेखनीय है कि हिंदी में 'मिथ' शब्द नहीं प्रचलित है। उसके स्थान पर ही हिंदी का 'मिथक' शब्द प्रचलित है। क्योंकि 'मिथ' शब्द में 'क' जोड़कर मिथक शब्द बनाया गया है अतः लोगों की समझ यहाँ तक चली जाती है कि मिथ से संबंधित वस्तु या कहानी को मिथक कहा जाता है। अब यह देखा जाने लगा है कि विद्वानों के बीच अंग्रेजी के 'मिथ' के पर्याय के रूप में ही 'मिथक' शब्द प्रचलित है। अतः कहा जा सकता है कि अंग्रेजी के मिथ से हिंदी का मिथक शब्द बना हो या न बना हो, पर दोनों का अर्थ समान है—देवी-देवताओं की कहानियाँ। इनकी कहानियों का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं उपलब्ध है, इनकी अलौकिकता तर्क से परे है, अतः कुछ विद्वानों ने इन्हें कपोल कल्पना कह दिया तो इसमें बहुत आश्चर्य नहीं होना चाहिए। हाँ, ऐसा कह देने से आस्थावानों की आस्था ज़रूर आहत हो जाएगी, इसमें संदेह नहीं। पर आहत आस्था को बचाने के लिए दो भाषाओं के समानार्थी शब्दों को भिन्नार्थी बताना, सिर्फ भ्रम उत्पन्न करने की एक असफल चेष्टा भर साबित होता है—इसके लिए चाहे जितने तर्क दिये जाएँ।

दरअसल 'कपोल कल्पना' शब्द को देखकर अपना रास्ता बदलने का भ्रम पालना उचित नहीं। ध्यान केंद्रित करना है देवी देवताओं की कथाओं पर जिन्हें मनुष्य ने लगभग सभ्यता की शुरुआत से अर्जित करना शुरू किया और जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी संचरित होती हुई वर्तमान काल तक आयी हैं, वरना कपोल कल्पना से तो बहुत सी कथाएँ गढ़ी जा सकती हैं। डॉ. रमेश कुंतल मेघ ने अपने एक लेख मिथक और मनोविश्लेषण' में लिखा है—*"मिथकों के संबंध में एक बात और भी ध्यान देने की है कि उनमें नायक या नायिका देवता ही हैं।"*[5] मतलब यह है कि मिथक की परिभाषा का केंद्र देवी देवताओं की अलौकिक कथाएँ हैं, न कि कपोल कल्पना। क्योंकि विद्वता आस्था का विषय न होकर तर्क का विषय होती है, अतः अलौकिक कथाओं का कोई तार्किक आधार न पाकर कुछ विद्वान इसे 'कपोल कल्पना' घोषित कर सकते हैं, पर हर 'कपोल कल्पना' को मिथक नहीं कहा जा सकता। पाश्चात्य जगत में मिथकों को कपोल कल्पना मानने पर आम सहमति हो, ऐसा भी नहीं है। वहाँ भी अपनी धार्मिक कथाओं पर लोक मानस उतनी ही आस्था रखता है, जितनी कि भारत में।

फिलहाल इसका कोई प्रमाण नहीं है कि मिथकों में कुछ सचाई है या ये कपोल कल्पना मात्र हैं, पर मिथकों का महत्व इस दृष्टिकोण से असंदिग्ध है कि ये अपने समाज के ऐतिहासिक आईने होते हैं, जिनमें उस समाज के विभिन्न पहलुओं का बिंब अंकित रहता है। मिथकों में अंकित घटनाएँ और पात्र इस तरह से सामाजिक प्रतीक होते हैं, और इसी दृष्टिकोण से ही विद्वानों ने उन्हें कपोल कल्पना मानने से इनकार किया है। अतः कहा जा सकता है कि मिथकीय घटनाएँ या पात्र ऐतिहासिक हैं या

[5] मिथक और भाषा : (सं.) डॉ. शंभुनाथ सिंह, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता, 1981, पृष्ठ 44

नहीं, इस विषय का कोई प्रमाण नहीं उपलब्ध है; पर ये सामाजिक आईना या सामाजिक प्रतीक अथवा सामाजिक सत्य के रूप में भारतीय विरासत को अपने में समेटे हुए हैं।

पुराकथाओं यानी मिथकों के माध्यम से मनुष्यों ने जीवन जीने के अपने तरीकों और सोचने-विचारने की दिशाओं को प्रस्तुत किया है। मनुष्य जिन भौगोलिक परिस्थितियों में रहता है, जिन घटनाओं और दृश्यों से उसका साक्षात्कार होता है वे सब उसके जीवन की दशा और दिशा निर्धारित करने और उसके विचारों और अवधारणाओं को निर्मित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। मनुष्य की कल्पना उन्हीं चीज़ों पर आधारित होती है जिनके संपर्क में वह कभी आया हुआ होता है, भले ही विभिन्न वस्तुओं की कल्पनाओं के मिश्रण से वह एक ऐसी चीज़ की कल्पना कर ले जिससे उसका साक्षात्कार कभी न हुआ हो। अतः मिथकीय कल्पना में भी उससे संबंधित वस्तुओं और दृश्यों और कार्य-प्रणालियों का ही योगदान रहता है। इसलिए मिथक यदि कपोल कल्पना पर भी आधारित हैं तब भी उनका महत्व किसी भी समाज और उसकी संस्कृति के लिए उतना ही असंदिग्ध है जितना कि उस समाज के साहित्य का है। मिथक भी एक प्रकार का साहित्य ही है।

मिथकों के जन्म का मामला अलौकिक शक्तियों की सत्ताओं की कल्पना करने की विवशता से जुड़ा हुआ है। यह विवशता मनुष्य और प्रकृति के बीच की कश्मकश से उत्पन्न हुई। मनुष्य के अंदर जब सोचने-समझने की क्षमता विकसित हुई तो वह अपने जीवन के विकास के लिए प्रकृति को परिवर्तित कर अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा करने लगा। जिन प्राकृतिक वस्तुओं, दृश्यों या घटनाओं पर उसका कोई वश न चल सका और जिन्होंने उसके जीवन को प्रकृति के अनुसार ढलने पर मजबूर किया, उन्हें उसने अलौकिक शक्तियों में परिगणित कर लिया। आँधी-तूफान, वर्षा, आग, भूकंप आदि प्राकृतिक आपदाओं को अलौकिक शक्तियों से संपन्न माना गया। और क्योंकि ये शक्तियाँ मनुष्य का अनिष्ट करने करने की सामर्थ्य रखती हैं, अतः उसने धीरे-धीरे इनमें देवत्व का आरोप कर दिया। देव यदि नाराज़ होने पर अनिष्ट कर सकता है तो प्रसन्न होने पर शुभ भी कर सकता है, अतः देवताओं को प्रसन्न रखने के लिए उनकी पूजा-उपासना करने और चढ़ावा अर्पित करने की शुरुआत हुई। देव चढ़ावा पाकर खुद तो अनिष्ट करने से बचते ही हैं, वे और भी तमाम संभावित अनिष्टों से लोगों को बचाते भी हैं।

इतना तो सहज अनुमान्य है कि पहले अनिष्ट की सामर्थ्य रखने वाली और उसी रूप में परिचित प्राकृतिक घटनाओं को अलौकिक शक्ति संपन्न मानते हुए उनमें देवत्व का आरोप किया गया होगा, फिर उन घटनाओं या दृश्यों में भी जिनका परिचय उसके परम सहायक और शुभकर्ता के रूप में हुआ था। पहले आँधी-तूफान, वर्षा आदि पर देवत्व का आरोप हुआ और इसके बाद नदियों, समुद्र, सूर्य, चंद्रमा और पृथ्वी आदि पर। आँधी-तूफ़ान के लिए मरुत देव, वर्षा के लिए वरुण या इंद्र देव, आग के लिए अग्नि देव, भूकंप के लिए शेषनाग को उत्तरदायी मानते हुए इनमें देवत्व का आरोप हुआ और

इनकी पूजा-अर्चना की जाने लगी। इसी प्रकार सूर्य के लिए सविता, ऊषा तथा पृथ्वी के लिए पूषा नामक देवों या देवियों की कल्पना की गयी। यह भी उल्लेखनीय है कि प्राकृतिक दृश्यों या घटनाओं के नाम पर देवी-देवताओं के नामों में थोड़ा-बहुत परिवर्तन समय के साथ होता ही रहा। धीरे-धीरे अनेक देवी-देवता और उनके शत्रु असुरों की कल्पना कर ली गयी। फिर देवों के देव यानी ईश्वर की परिकल्पना की गयी। ईश्वर देवों और असुरों के मध्य होने वाले युद्धों में देवों की सहायता करते हैं, यद्यपि दानवों द्वारा पूजे जाने पर ईश्वर को वरदान के रूप में दानवों को भी तमाम तरह की शक्तियाँ देनी पड़ती हैं। यद्यपि देव दानवों द्वारा उत्पन्न तमाम प्रकार के अनिष्टों से लोगों की रक्षा करते हैं, फिर भी कभी-कभी वे इसमें असमर्थ भी हो जाते है। ऐसी स्थिति में ईश्वर देवताओं के आग्रह पर दानवों के अनिष्ट से मनुष्यों को बचाने के लिए पृथ्वी पर अवतार लेते हैं। ईश्वर और उनके अवतार, देव और दानव सब अलौकिक आकार-प्रकार वाले तथा अलौकिक शक्तियों से संपन्न हुआ करते हैं। इनके इर्द-गिर्द मनुष्यों में जिन राजाओं, ऋषि-मुनियों की कहानियाँ गढ़ी गयीं, सबको अलौकिक शक्तियों से संपन्न दिखाया गया। इन सबकी समवेत कहानियों को ही मिथक कहा जाता है। यानी कि मिथक का अलौकिकता से गहरा संबंध है।

**4.1.1 मिथक और दर्शन :** मिथक दर्शन के पूर्व-रूप हैं। मनुष्यों में जब सोचने से आगे बढ़कर अवधारणा निर्मित करने की शक्ति का विकास हुआ तभी से दर्शन की शुरुआत मानी जा सकती है, और मिथक दर्शन का पूर्वरूप है। दर्शन जीव, जगत और इसके नियामक ईश्वर के आपसी संबंधों की प्रकृति की पड़ताल करने से जुड़ा हुआ है। मिथकों का जन्म भी लगभग इसी तरह की पड़ताल करने की ओर उन्मुख होने का परिणाम है। प्राकृतिक शक्तियों ने मनुष्यों को एक ऐसी शक्ति की ओर उन्मुख होने पर विवश किया जो मिथकीय विकास के साथ-साथ दार्शनिकों की 'परम सत्ता' के नाम से जानी गयी। फिर जगत का भार हरने के लिए की गयी ईश्वरीय अवतारों की परिकल्पना आदि सब आस्तिकतावादी दार्शनिक सिद्धांतों की पृष्ठभूमि हैं। मिथकों का भी कोई ऐतिहासिक आधार या प्रमाण उपलब्ध नहीं है और दर्शन भी बिना किसी प्रमाण के होने के कारण एक बौद्धिक विलास ही ठहरते हैं। फिर भी दर्शन के क्षेत्र में जितने भी सिद्धांत दिये गये हैं सब की अवधारणा इसी प्रत्यक्ष जगत से प्राप्त अनुभवों के आधार पर निर्मित हुई है। मिथकों का जन्म भी प्रत्यक्ष जगत से प्राप्त अनुभवों के आधार पर बनी अवधारणाओं से ही हुआ है। और क्योंकि इनका जन्म अवधारणा से शुरू हुआ अतः इनके विकास और विस्तार में भी अवधारणा का योगदान असंदिग्ध है। ये दोनों अवधारणाएँ पृथक-पृथक हैं और ये मिथकों के विकास और विस्तार में बारी-बारी से अपना योगदान देती रही हैं। इन दोनों अवधारणाओं को उत्तर-अवधारणा और पूर्व-अवधारणा में विभाजित किया जा सकता है। उत्तर-अवधारणा पहले किसी घटना या दृश्य को देखती है और बाद में उसका काल्पनिक या कल्पनापरक नियमन करती है जबकि पूर्व-अवधारणा अपने नियमन के हिसाब से घटनाओं और दृश्यों की कल्पना

करती है और उसे समाज के सामने आदर्श या सबक के रूप में पेश करती है। उत्तर-अवधारणा पहले आयी है और पूर्व-अवधारणा बाद में। वर्षा, आँधी-तूफ़ान आदि को देखकर इनसे संबद्ध देवताओं की कल्पना उत्तर-अवधारणा का तथा विभिन्न पुराणों की विभिन्न शिक्षाप्रद कहानियाँ पूर्व-अवधारणा के उदाहरण हैं। भारतीय संदर्भ में वेदों, उपनिषदों, ब्राह्मण ग्रंथों, स्मृतियों, पुराणों आदि तथा रामायण और महाभारत की कहानियों की तमाम दैवीय और दानवीय घटनाएँ तथा पात्र मिथक हैं।

**4.1.2 मिथक और धर्म :** मिथक धर्म की नींव हैं। मिथक, जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया, भय के कारण उत्पन्न हुए हैं। प्राकृतिक शक्तियों के भय से मनुष्य के क्रिया-कलाप नियंत्रित हुए और फिर एक विशेष दिशा की तरफ गतिशील हुए। प्राकृतिक शक्तियों के भय से बचने के प्रयास और क्रिया-विधियों ने भय के कारकों और उनकी संतुष्टि की विधियों की एक संहिता खड़ी की। इसके आधार पर लोग भय के कारकों में देवत्व की स्थापना कर उनकी संतुष्टि के लिए पूजा-पाठ, यज्ञ और बलि जैसे कर्मकांड में प्रवृत्त हुए। देवत्व की कल्पना धर्म की प्राथमिक अनिवार्यता है तथा उसके लिए कर्मकांडों की व्यवस्था द्वितीयक। धीरे-धीरे यह संहिता विस्तृत होती गयी और इसमें मनुष्य के करणीय और अकरणीय कर्मों और उनके आधार पर पाप-पुण्य तथा स्वर्ग-नरक की कल्पना की गयी। देवत्व की अवधारणा बढ़कर संसार के नियंता और कर्ता-धर्ता ईश्वर तक पहुँची और उसके आदेशों की परिकल्पना से जीवन के नैतिक सिद्धांत बने। कर्मकांडों के साथ-साथ जीवन के क्रिया-कलापों को नियंत्रित करने और उन्हें दिशा देने वाले नैतिक सिद्धांत धर्म के तृतीयक अंग हैं। निष्कर्ष यह है कि धर्म के केंद्र में जिस ईश्वर को स्थापित कर उसके आदेशों के आधार पर धर्म की स्थापना की गयी है उसका विकास क्रमशः मिथकों से हुआ है। यह अनावश्यक नहीं है कि भारत में सारे मिथकीय ग्रंथ ही धार्मिक ग्रंथ भी हैं।

**4.1.3 मिथक और संस्कृति :** मिथक और संस्कृति में गहरा सबंध है। संस्कृति जीवन के हर क्षेत्र में विकास के समग्र अर्जन को कहा जाता है। यद्यपि इसे एक अमूर्त वस्तु मानते हुए इसे आविष्कार कर सकने की बौद्धिक योग्यता के रूप में देखने की बात की जाती है, पर इसके रूप का दर्शन तो हमें आविष्कृत वस्तु यानी मूर्त रूप में ही मिल सकता है। आविष्कृत वस्तु को सभ्यता कहा जाता है। इस दृष्टिकोण से सभ्यता संस्कृति का उत्तर-पक्ष है। विचार, धर्म, दर्शन जैसे संस्कृति से संबंधित अमूर्त माने जाने वाले विषय भी मूर्त होने के बाद ही अपना रूप दूसरों को दिखा सकते हैं। अतः भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक सुख या संतुष्टि के लिए मनुष्य ने जिन चीज़ों का आविष्कार किया है वे सब संस्कृति की अंग हैं। ऊपर यह बात कही गयी है कि मनुष्य उन्हीं वस्तुओं पर आधारित कल्पनाएँ कर सकता है जिनके संपर्क में वह आया हुआ होता है। मिथकीय कहानियों में वर्णित विभिन्न दृश्य और घटनाएँ, विविध कलाएँ और सभ्यता संबंधी विभिन्न निर्माण संस्कृति और सभ्यता के विकास की अवस्था को चित्रित करने वाले हैं। मिथकीय पात्रों, यथा : राजा-रानी, ऋषि-मुनि, देवी-देवता या ईश्वर, सब की

जीवन-प्रणालियों और उनके संबंध में उनके विचारों में भारतीय समाज की संस्कृति को देखा जा सकता है।

**4.1.4 मिथक, यथार्थ और मानवीय विश्वास :** मिथकीय कहानियों तथा इनके पात्रों का इतिहास की पुस्तकों में कहीं जिक्र न होने से इनकी प्रामाणिकता के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता, पर इतना तो सत्य है कि ये कहानियाँ लिखी गयी हैं। सबसे प्राचीन भारतीय ग्रंथों में वेद आते हैं। विभिन्न विद्वानों ने इनकी रचना के समय के संबंध में भिन्न-भिन्न मत दिये हैं। फिर भी प्रायः ईसा पूर्व 7000 से 3000 के बीच इनका समय स्थिर किये जाने पर काफी विद्वान एकमत हैं। उल्लेखनीय है कि वेदों की रचना उस समय की गयी जब इतिहास लेखन का चलन नहीं था। यह संभव है कि वैदिक ऋषियों ने लौकिक कथाओं की सामग्री इस देश से ही उठायी हो और उसमें कल्पना द्वारा अलौकिकता का समावेश कर दिया हो। जो भी हो, वेदों-पुराणों को इतिहास का ग्रंथ नहीं माना जा सकता। फिर भी लोक-मानस मिथकीय कहानियों को उसी तरह सत्य मानता है जिस तरह पढ़े-लिखे विद्वान इतिहास की घटनाओं को। बल्कि इतिहास से भी ज्यादा प्रामाणिक। ऐसा भी नहीं है कि सभी पढ़े-लिखे विद्वान मिथकों को कपोल कल्पना पर आधारित मानते हों, अधिकांश विद्वान भी मिथकों पर इतिहास की तरह ही विश्वास करते हैं।

प्रश्न यह हो सकता है कि मिथकों पर जनता के इतने विश्वास का क्या कारण है ? सीधा-सा उत्तर है कि मिथक धर्म की नींव हैं और अपने धर्म की नींव को कोई व्यक्ति या समाज हिलने देना नहीं चाहता। ऊपर यह जिक्र किया जा चुका है कि मिथकों की उत्पत्ति देवों या ईश्वर की कल्पना से हुई। मिथक का आधार देव-कल्पना है, अतः जो भी व्यक्ति आस्तिक है वह मिथकों को असत्य नहीं मान सकता। उसकी उन पर अगाध आस्था तथा विश्वास होता है। कहा जा सकता है कि भारतीय जनता का अधिकांश आस्तिक है, अतः यहाँ मिथकों पर इतिहास से अधिक विश्वास किया जाता है। यह जरूर है कि कुछ पढ़े-लिखे यथार्थवादी दर्शनों से प्रभावित विद्वान ही मन से नास्तिक हो पाते हैं वरना पढ़ाई-लिखाई का मिथकीय अविश्वास से बहुत लेना-देना नहीं है। चाहे जितना भी पढ़ा-लिखा व्यक्ति हो, यदि वह नास्तिक नहीं है तो प्रायः उसी ईश्वर की पूजा-आराधना करता है जिनका वर्णन मिथकों में हुआ है। निराकार ईश्वर की उपासना करने वाला व्यक्ति भले ही मिथकीय पात्रों के प्रति अविश्वास प्रकट कर दे पर जैसा कि कहा गया ईश्वर की परिकल्पना ही मिथकों पर आधारित है, चाहे वह साकार रूप में हो या निराकार। जनता का मिथकों पर इतना भरोसा होता है कि वह उनका विकृत रूप सहन नहीं कर सकती।

**4.1.5 मिथक, किंवदंती, दंतकथा, लोककथा और निजंधरी कथाएँ :** इन सभी शब्दों को लगभग समानार्थी माना जाता रहा है, हैं भी ये लगभग समानार्थी। इनके अर्थ अक्सर एक-दूसरे के अर्थों को काटते और छूते चलते हैं। पर इनमें कुछ सूक्ष्म अंतर भी हैं जिनपर यहाँ विचार करना उचित

होगा। मिथक जिस तरह से पौराणिक देवी देवताओं की लौकिक और अलौकिक कहानियों से जुड़ा हुआ होता है उसी तरह से **किंवदंती** ऐतिहासिक महापुरुषों, घटनाओं, स्थानों और दृश्यों से जुड़ी हुई ऐसी बातें होती हैं जिसका कोई प्रमाण नहीं होता। मिथक लिखित रूप में होते हैं और किंवदंती मौखिक रूप में। यह उल्लेखनीय है कि मिथकीय पात्रों और घटनाओं का कोई ऐतिहासिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं होता, साक्ष्य के अभाव में एक तरह से कहा जा सकता है कि मिथक काल्पनिक पात्रों की काल्पनिक कथा है, जबकि किंवदंती में पात्र, दृश्य और घटनाएँ अपना साक्ष्य रखते तो हैं पर उन वास्तविक पात्रों, दृश्यों या घटनाओं के बारे में मौखिक रूप से प्रचलित उन अविश्वनीय बातों का कोई साक्ष्य नहीं उपलब्ध होता। ऐसी साक्ष्यहीन 'बातें' ही किंवदंती कही जाती हैं।

किंवदंती और **दंतकथा** शाब्दिक व्युत्पत्ति के दृष्टिकोण से अत्यंत निकट हैं, पर दोनों के अर्थ में किंचित भेद है। संस्कृत में 'वद' शब्द है, जिसका अर्थ बोलना होता है। वद का रूप इस प्रकार चलता है—वदति, वदतः, वदंति। वदंति का अर्थ होता है—'बोलते हैं' या 'कहते हैं'। वदंति से ही वदंत होते हुए दंत हो गया। दंत में कथा जोड़कर शब्द बना दंतकथा। दंतकथा का मतलब ऐसी कथा से होता है जिसका कोई लिखित साक्ष्य नहीं होता, जिसे लोग परंपरा से एक-दूसरे को कहते सुनाते चले आते हैं। इस तरह दंतकथा का 'दंत' वदंति से जुड़ा हुआ है। किंवदंती का 'वदंती' भी वदंति से ही जुड़ा हुआ है। दंतकथा और किंवदंती, दोनों का स्वरूप मौखिक ही होता है; पर जैसा कि संकेत किया गया, किंवदंती और दंतकथा में थोड़ा अर्थ-भेद होता है। किंवदंती, जैसा कि कहा गया, ऐतिहासिक महापुरुषों, घटनाओं, स्थानों और दृश्यों से जुड़ी हुई ऐसी 'बातें' होती हैं जिनका कोई साक्ष्य नहीं मिलता; जबकि दंतकथा पौराणिक पात्रों के बारे में फैली हुई पूरी 'कहानी' होती है। अर्थात किंवदंती सिर्फ 'बात' या 'प्रसंग' है, और दंतकथा 'पूरी कहानी'। पौराणिक पात्रों की वे मौखिक कहानियाँ जिनका उल्लेख वेदों और पुराणों में नहीं मिलता, दंतकथा कही जाती हैं। इसी अर्थ में तुलसीदास ने भी दंतकथा को ग्रहण किया है—"इति वेद वदंति न दंतकथा।" अर्थात 'ऐसा वेदों में कहा गया है, यह कोई दंतकथा नहीं है।' मिथक और दंतकथा में यह अंतर है कि मिथक पौराणिक पात्रों की संपूर्ण कहानियों या पूरी कहानियों को कहा जाता है, जबकि दंतकथा पौराणिक पात्रों के जीवन के कुछ एक प्रसंगों से जुड़ी हुई कहानियाँ होती हैं। इसके अलावा मिथक लिखित रूप में उपलब्ध होते हैं जबकि दंतकथाएँ मौखिक रूप में ही प्रचलित होती हैं।

**लोककथा** का स्वरूप भी मौखिक ही होता है। लोक में परंपरा से प्रचलित मौखिक कथाओं को लोककथा कहा जाता है। लोककथा और दंतकथा में यह अंतर होता है कि लोककथा के पात्र काल्पनिक या साधारण जन होते हैं, यद्यपि उनकी सहायता के लिए इनमें देव-पात्रों का विधान हो सकता है, जबकि दंतकथा के पात्र पौराणिक होते हैं। मतलब यह है कि लोककथा में जिनके जीवन का वर्णन होता है वे काल्पनिक या साधारण जन होते हैं, देवता यदि इसमें आते हैं तो साधारण पात्रों की

समस्याओं आदि के निराकरण हेतु उनके सहायक के रूप में; जबकि दंतकथा में देव-पात्रों के जीवन का ही वर्णन होता है । लोककथा का उद्देश्य उपदेशात्मक होता है, जबकि दंतकथा का नायकोत्थानात्मक । लोककथा में लोकजीवन की झांकी अपने विविध रंगों के साथ प्रस्तुत होती है, दंतकथा में ऐसा नहीं है । इसके अलावा लोककथा के नायक या पात्र इसके उद्देश्य के अनुसार प्रायः जातिवाची होते हैं, व्यक्तिवाची नहीं; जैसे, एक राजा था और एक रानी, और दंतकथाओं के पात्र व्यक्तिवाची होते हैं । स्पष्ट है कि लोककथा का उद्देश्य शिक्षा देना होता है, जबकि दंतकथा का नायक के चरित्र का उन्नयन करना । लोककथा के पात्र मनुष्यों के साथ-साथ पशु-पक्षी तथा प्राकृतिक उपादान यथा, नदी, पेड़, पर्वत आदि भी होते हैं; दंतकथा मुख्यतः पौराणिक पात्रों के बारे में होती है ।

**निजंधरी कथा** ऐतिहासिक वीरों के अद्भुत कारनामों और वीरता की कहानियों को कहा जाता है । इनका संबंध सिर्फ इतिहास के पात्रों से ही होता है । ‘निजंधरी कथा’ शब्द आचार्य हजारी प्रसाद का दिया हुआ है । उन्होंने अंग्रेजी के ‘लीजेंड्स’ शब्द का हिंदी अनुवाद ‘निजंधरी कथा’ किया है । ऐतिहासिक वीरों के उन अद्भुत और वीरतापूर्ण कार्यों की कथाओं को, जिनका कोई साक्ष्य इतिहास की किताबों में नहीं है, निजंधरी कथा कहा जाता है । ऊपर जिस तरह से किंवदंती का अर्थ बताया गया, वह दंतकथा की अपेक्षा निजंधरी कथा के निकट है । दोनों में अंतर यह है कि निजंधरी कथा ऐतिहासिक चरित्रों की पूरी कहानी होती है और किंवदंती उनसे संबंधित कुछ बातें या प्रसंग । होते दोनों हैं ऐतिहासिक चरित्रों से संबंधित ।

**4.1.6 मिथक और साहित्य** : मिथक और साहित्य में घनिष्ठ संबंध है । साहित्य और मिथक के प्राचीनतम रूप पर यदि विचार किया जाए तो यह कहा जा सकता है कि इनमें प्रायः कोई अंतर नहीं था । मिथकों की कल्पना में जो कुछ लिखा या कहा गया उसे ही साहित्य का प्राचीनतम रूप माना जाता है । कहा जा सकता है कि मिथकीय पात्रों का चरित्र-विकास साहित्य के ज़रिये होता आया है । मिथकीय पात्रों की कल्पना के बाद उनमें श्रद्धा रखते हुए उनकी काव्यात्मक स्तुतियाँ की गयीं । इस प्रकार की स्तुतियाँ वेदों में संग्रहीत हैं । वेद भारतीय वांग्मय के प्राचीनतम दस्तावेज हैं । यद्यपि इन्हें कभी-कभी इतिहास या काव्यात्मक-इतिहास की श्रेणी में रखने का उपक्रम होता रहता है पर इतिहास होने की तमाम शर्तों का इनमें अभाव है । इसीलिए बहुधा इन्हें काव्य की श्रेणी में ही रखा जाता है, और यही श्रेयस्कर भी है । काव्य की श्रेणी में रखने के लिए इनमें संस्कृत के श्लोक और छंद हैं, कहानियाँ हैं । वेदों के बाद मिथकीय पात्रों का चरित्र-विकास पुराणों में होता है । वेदों की संख्या चार है और पुराणों की अठारह । पुराणों को भी इतिहास की अपेक्षा साहित्य की श्रेणी में रखे जाने का पक्ष ज्यादा प्रबल है । पुराणों में मिथकीय चरित्रों का पर्याप्त विकास हुआ है । अवतारवाद की कहानियाँ, ईश्वर के विभिन्न स्वरूपों की कल्पना तथा विभिन्न देवी-देवताओं की कहानियाँ पुराणों के विषय बने । वेदों और पुराणों तक के वांग्मय को वैदिक साहित्य की संज्ञा दी जाती है । यहाँ तक के मिथकीय विकास

को जनमानस ने अपनी आस्था और विश्वास की विषयवस्तु बना लिया। मिथकीय पात्रों के चरित्र का विस्तार और मिथकीय घटनाओं का विस्तार इनके बाद भी होता रहा, पर वे उस तरह आस्था और विश्वास की विषयवस्तु नहीं बन सके, जितना कि पुराणों तक के बने। पुराणों के बाद क्रमशः संस्कृत, प्राकृत और हिंदी में भी इनके चरित्र-विस्तार की कोशिश की गयी, पर जैसा कि कहा गया, ये विस्तार या फैलाव जनता की चित्त-वृत्तियों पर उतना प्रभाव जमाने में कामयाब नहीं हुए, जितना कि पुराणों तक के हुए। इनका प्रभाव क्रमशः क्षीण हुआ। संस्कृत-साहित्य में वर्णित घटनाओं ने कुछ ज्यादा विश्वास अर्जित किया; प्राकृत की उनसे कम और हिंदी की उनसे भी कम। हाँ, हिंदी में तुलसीदास के वर्णन ने अवश्य आस्था और विश्वास अर्जित करने में अपूर्व सफलता अर्जित की है। बात यह है कि मिथकों का विकास जिसने भी सकारात्मक दिशा की तरफ किया, उसने जनता का विश्वास अर्जित करने में सफलता पायी और जिसने भी उनका विकास नकारात्मक दिशा की तरफ करने की कोशिश की, उसे विश्वास अर्जित करने में सफलता प्राप्त नहीं हुई।

साहित्य और मिथकों में यद्यपि कि घनिष्ठ संबंध है, पर इनमें पर्याप्त अंतर है। और वह अंतर बहुत साफ़ है। आरंभ में ही कहा गया कि मिथक देवी-देवताओं की कल्पना से संबंधित हैं। जब इन देवी-देवताओं का चरित्र-विस्तार करते हुए इनकी कहानियों को प्रस्तुत किया गया तो इन कहानियों को ही साहित्य की संज्ञा दी गयी। मतलब प्राचीन साहित्य में देवी-देवताओं के चरित्र को आधार बनाया गया। साहित्य में देवी-देवताओं के अलावा अन्य चरित्रों यथा मनुष्य और पशु-पक्षियों के चरित्र को भी आधार बनाया जा सकता है, बनाया गया है। अतः कहा जा सकता है कि मिथक साहित्य के लिए एक कच्ची सामग्री हैं। पर पहले मिथकीय पात्रों में अत्यधिक आस्था रखने के कारण साहित्यकार आम मनुष्यों के चरित्र को उनका आधार नहीं बनाते थे। राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था, अतः उसके चरित्र को ज़रूर आधार बनाकर साहित्य लिखे गये। राजाओं के चरित्रों को भी मिथकीय चरित्रों की तरह ही प्रस्तुत किया जाता था, अतः काफी दिनों तक मिथक और साहित्य लगभग पर्याय के रूप में देखे जा सकते हैं। पर, जैसा कि कहा गया, उनमें पर्याप्त अंतर है। हिंदी में, खासकर आधुनिक काल में, आम जनों को आधार बनाकर साहित्य रचना की प्रवृत्ति में वृद्धि हुई है। स्पष्ट है कि मिथकों के पात्र देवी देवता ही हुआ करते हैं और साहित्य के इनके अलावा भी।

**4.1.7 मिथक और हिंदी साहित्य :** हिंदी साहित्य का एक बड़ा हिस्सा मिथकों पर आधारित है। कथाकाव्यों के अलावा मुक्तकों में भी मिथकों का प्रभाव बराबर बरकरार रहा है। हिंदी साहित्य का कोई ऐसा काल नहीं है जिसमें मिथकों को आधार बनाकर रचनाएँ न लिखी गई हों। भारतीय वांग्मय के आधार रामायण और महाभारत नामक मिथकीय महाकाव्य हिंदी साहित्य के आधार रहे हैं। इसके अलावा वेद और पुराण भी लगातार हिंदी साहित्य में अपनी उपस्थिति दर्ज कराते रहे हैं। आदिकाल में मुख्यतः विद्यापति तथा जैनों एवं नाथों के काव्य में, भक्तिकाल के मुख्यतः संपूर्ण राम और कृष्ण-भक्ति

काव्य में, रीतिकाल में मुख्यतः कृष्ण और राधा की भक्ति और श्रृंगार में तथा आधुनिक काल के विभिन्न युगों की मिथकीय घटनाओं और चरित्रों की आधुनिक व्याख्या करने वाली रचनाओं में, यथा मैथिलीशरण गुप्त के साकेत प्रभृत विभिन्न मिथकीय काव्यों में, अयोध्या सिंह उपाध्याय के प्रिय-प्रवास, प्रसाद की कामायनी, निराला की राम की शक्तिपूजा, दिनकर की उर्वशी प्रभृत विभिन्न मिथकीय रचनाओं में, धर्मवीर भारती के अंधायुग तथा कुँवर नारायण की आत्मजयी के साथ-साथ नयी कविता के विभिन्न मिथकीय प्रबंध-काव्यों अथवा काव्य-नाटकों में मिथकों का सशक्त प्रयोग दर्शनीय है। हिंदी कविता से यदि मिथकीय काव्यों को निकाल दिया जाय तो इसके पास बहुत कम सामग्री बचेगी। स्पष्ट है कि मिथकों से हिंदी साहित्य का बहुत घनिष्ठ संबंध रहा है।

## 4.2 आधुनिकता : अवधारणा और स्वरूप

आधुनिकता का संबंध विज्ञान से है। विज्ञान ज्ञान का ऐसा अनुशासन है जो साक्ष्यों पर आधारित है। साक्ष्य इसे खोज और प्रयोग से मिलते हैं। अपनी खोजों और प्रयोगों द्वारा यह भौतिक तथ्यों और नियमों पर से पर्दा हटाता है तथा उन्हीं के आधार पर नयी-नयी वस्तुओं का आविष्कार भी करता है। विज्ञान, क्योंकि मानव-सभ्यता को एक निश्चित समयावधि के बाद मिला अतः उस अवधि के बाद के समय को आधुनिक युग कहा जाने लगा। अतः आधुनिकता का संबंध मानव-सभ्यता के विकास की एक निश्चित कालावधि से भी है। प्राचीन काल, मध्य काल के बाद आधुनिक काल का नाम इसी ओर संकेत करता है। अतः आधुनिकता को मात्र एक प्रवृत्ति विशेष मानकर इसकी कालगत अवधारणा से इनकार नहीं किया जा सकता, जैसा कि कुछ लोग करते नज़र आते हैं— *"आधुनिकता इस या उस काल खंड की बपौती नहीं है : यह एक प्रवृत्ति है जो काल से बंधकर नहीं चलती। तथाकथित ऐतिहासिक आधुनिक युग में रहने वाला मानस पूर्णतः या अंशतः मध्य युगीन हो सकता है और मध्य काल में भी आधुनिकता के कबीर जन्म ले सकते हैं। राम की तुलना में कृष्ण अधिक आधुनिक लगते हैं और तुलसी की तुलना में कबीर। वास्तविक बात व्यक्ति सापेक्षता की ही है।"*[6] पहले ही कहा गया कि आधुनिकता का संबंध विज्ञान से है। विज्ञान और आध्यात्मिकता एक-दूसरे के लगभग विपरीत हैं। न तो विज्ञान की पहुँच अध्यात्मिकता में है और न आध्यात्मिकता की विज्ञान में। कबीर आध्यात्मिक संत थे। आस्तिक थे। विज्ञान और आस्तिकता में बैर है। विज्ञान प्रत्यक्ष जगत को ही अपने ज्ञान का आधार मानता है, परोक्ष जगत को नहीं। प्रत्यक्ष जगत का ज्ञान खोज और प्रयोग का विषय है और परोक्ष जगत का मात्र अनुमान का। विज्ञान उन चीजों पर विश्वास नहीं करता जो प्रत्यक्ष नहीं हैं। ईश्वर प्रत्यक्ष नहीं है, अतः विज्ञान का उस पर विश्वास नहीं है। विज्ञान अगर ईश्वर पर विश्वास कर लेगा तो वह प्रत्यक्ष जगत के बहुत सारे रहस्यों पर से पर्दा हटाने की ओर प्रवृत्त ही नहीं हो सकता। अतः विज्ञान की प्रकृति ही नास्तिकतावादी है। क्योंकि मध्य युग में ज्ञान के विषय दर्शन होते थे जिनके ज्ञान का क्षेत्र

[6] आधुनिकता : एक पहचान, डॉ. चंद्रभान रावत और डॉ. रामकुमार खंडेलवाल, देवनागर प्रकाशन, जयपुर, 1985, पृष्ठ 11

मूलतः अनुमान पर ही आधारित होता है, अतः उस युग के बड़े से बड़े दार्शनिक को भी वैज्ञानिक नहीं माना जा सकता । वैसे भी दर्शन और विज्ञान अलग-अलग विषय हैं । दर्शन का ज्ञान आध्यात्मिकतावादी है और विज्ञान का यथार्थवादी। यहाँ प्रश्न यह हो सकता है कि यथार्थवादी दर्शन तो विज्ञान के आने के पहले भी हुए हैं, तो क्या उन्हें आधुनिकतावादी नहीं माना सकता ? बात यह है कि पहले जो भी यथार्थवादी दर्शन चले वे भी अनुमान के ही आधार पर चले, किसी साक्ष्य के आधार पर नहीं। उन्होंने यह अनुमान तो कर लिया कि प्रत्यक्ष जगत से परे कोई वस्तु नहीं है, पर वे प्रत्यक्ष जगत के नियम और कानूनों का पता नहीं लगा सके। या तो वे इनका पता लगाने की ओर प्रवृत्त ही नहीं हुए या वे इनके विषय में मात्र अनुमानाधारित तर्क और निष्कर्ष देते रहे। अधिकांशतः उन्होंने इसका पता लगाने की कोशिश ही नहीं की और प्रत्यक्ष जगत को सत्य मानकर जीवन के अबाध-सुख भोग लेने की उपलब्धि का दर्शन निर्मित करते रहे। भौतिक पदार्थों की आपसी क्रिया-प्रतिक्रियाओं को खोजना विज्ञान का विषय है और उनका मात्र अनुमान लगाना दर्शन का। अतः कहा जा सकता है कि दर्शन के आगे जब विज्ञान विषय अस्तित्व में आया तभी आध्यात्मिकता से आगे आधुनिकता की प्रवृत्ति लोगों के अंदर विकसित हुई—*"वैज्ञानिक दृष्टि से प्रेरित और परिचालित होने के कारण आधुनिकता ने धर्म और अध्यात्म की तानाशाही को जबरदस्त चुनौती दी थी तथा इनसे जुड़ी स्वीकृत मान्यताओं—मार्यादाओं के आगे प्रश्न चिह्न लगाने शुरू किये थे। आस्था केंद्रित दृष्टि के स्थान पर विज्ञान-सम्मत तर्क दृष्टि का महत्व बढ़ जाने से धर्म और अध्यात्म निर्भर मध्यकालीन जीवन-दृष्टि (और उससे जुड़ा बोध) उत्तरोत्तर अप्रासंगिक होती गयी।"*[7] अतएव आधुनिकता एक कालगत सीमा भी है और एक प्रवृत्ति भी। कालगत विकास के क्रम में ही मनुष्य आधुनिकता के उपकरण पाता है ! विज्ञान के अस्तित्व में आने के बाद इसका दार्शनिकों ने भी उपयोग करते हुए कुछ वैज्ञानिक दर्शन दिये। फिर भी वैज्ञानिक होने के बावजूद वे आते अंततः दर्शन की श्रेणी में ही हैं, अतः उनके निष्कर्ष सार्वभौमिक नहीं कहे जा सकते। वो चाहे कार्ल मार्क्स का मार्क्सवाद हो या डार्विन का विकासवाद। ऐसे वैज्ञानिक दर्शनों में प्रायः वर्तमान स्थिति के वैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर अतीत या भविष्य की अनुमान पर आधारित स्थिति की प्राक्कल्पना प्रस्तुत की जाती है। यह अनुमानाश्रित प्राक्कल्पना सही है या गलत, इसे जाँचने का उपकरण प्रायः उपलब्ध नहीं होता । फिर यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि आध्यात्मिक दर्शन के बाद ही विज्ञान के प्रभाव से वैज्ञानिक दर्शन का विकास हुआ है।

ऊपर कहा गया कि आधुनिकता एक कालसीमा भी है और प्रवृत्ति भी। यह दोनों का मिश्रण है। प्रवृत्ति का संबंध विचारों से है और कालसीमा का खोज, आविष्कार और निर्माणों से। आधुनिकता के आगमन से एक ओर जहाँ नयी चीज़ों के आविष्कार और तथ्यों के प्रकटीकरण से पुराने विचारों और मान्यताओं में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ, वहीं दूसरी ओर नये उपकरणों और मशीनों की सहायता से

[7] आधुनिकता : एक पहचान, डॉ. चंद्रभान रावत और डॉ. रामकुमार खंडेलवाल, देवनागर प्रकाशन, जयपुर, 1985, पृष्ठ 11

नगरीकरण और औद्योगीकरण की प्रक्रिया घटित हुई। नगरीकरण मनुष्य को अधिकाधिक कृत्रिम सुविधाएँ प्रदान कर उसके जीवन को आरामदायक और शानो-शौकत से भरा हुआ बनाने की प्रवृत्ति से शुरू हुआ और इसे इन सब के लिए सामग्री उपलब्ध कराने का कार्य औद्योगीकरण ने किया। औद्योगीकरण और नगरीकरण आधुनिक विकास के माध्यम हैं। इन दोनों के विकास की पराकाष्ठा मनुष्य को शहरी चमक-दमक में उलझाकर भावनाशून्य बना देने में है। अतः कहा जा सकता है कि हर वस्तु की तरह आधुनिकता के भी दो पहलू हैं। अपने अच्छे पहलू में यह मनुष्य को जहाँ अंधविश्वासों से हटाकर वैज्ञानिक सोच की तरफ ले जाती है वहीं अपने बुरे पहलू में यह मनुष्य को अधिकाधिक भौतिकता की तरफ मोड़ते हुए भावनाशून्य बना देती है। जिसे आधुनिकता का अंधानुकरण कहा जाता है वह दरअसल आधुनिकता का ही दूसरा पहलू है।

**4.2.1 आधुनिक, आधुनिकता, आधुनिकीकरण, आधुनिकतावाद और आधुनिकताबोध : आधुनिक** और **आधुनिकता** में कुछ लोग फर्क करने की कोशिश करते हैं। वैसे इन दोनों शब्दों में बहुत ख़ास अंतर नहीं है सिवाय इसके कि इनमें से एक विशेषण है और एक संज्ञा। विशेषण और संज्ञा होने से ही इन दोनों में एक ख़ास अंतर यह आ जाता है कि 'आधुनिक' विशेषण रहकर अपनी मूर्तता से भी जुड़ा रह जाता है और 'आधुनिकता' भाववाची संज्ञा के सहारे अमूर्त होकर 'भाव' में बदल जाता है। आधुनिक मनुष्य या किसी अन्य आधुनिक उपकरण को हम छू सकते हैं, देख सकते हैं, पर उसकी 'आधुनिकता' को न छुआ जा सकता है और न देखा। उसे सिर्फ महसूस किया जा सकता है। अपनी मूर्तता के कारण 'आधुनिक' साधारण शब्द बना रहता है, यद्यपि यह एक पारिभाषिक शब्द भी है, जबकि 'आधुनिकता' मात्र पारिभाषिक शब्द का रूप धारण कर लेता है। साधारण शब्दों के अर्थ होते हैं और पारिभाषिक शब्दों की परिभाषा। अपनी साधारणता में 'आधुनिक' कालगत अर्थ से जुड़ता है। तब इसका अर्थ होता है—नया, वर्तमान का, अभी का। अपनी पारिभाषिकता में यह प्रवृत्तिगत अर्थ लिए होता है और तब इसका अर्थ प्रगतिशील सोच या दृष्टिकोण पर केंद्रित रहता है। आधुनिकता एक प्रवृत्ति विशेष ही है, इसीलिए यह एक पारिभाषिक शब्द ही है, यद्यपि इस प्रवृत्ति की कालगत सीमा भी है। स्पष्ट है कि आधुनिकता आधुनिक होने का 'भाव' है।

**आधुनिकीकरण** आधुनिकता का मूर्त रूप है। कहा जा सकता है कि आधुनिकता मनुष्य के मन या बुद्धि की वस्तु है तो आधुनिकीकरण उसके शरीर की। आधुनिकता व्यक्ति के मन में बदलाव लाती है तो आधुनिकीकरण उसकी शरीर में। यहाँ 'शरीर' का थोड़ा विस्तृत अर्थ लेते हुए उसे बाहरी दुनिया की वस्तुओं और प्रकृति तक ले जाना होगा। *"आधुनिकता और आधुनिकीकरण—मॉडर्निटी और मॉडर्नाइजेशन—में भेद है और यह भेद लगभग वैसा वैसा ही है, जैसा भेद हम संस्कृति और सभ्यता में मानते हैं। ... मॉडर्नाइजेशन सभ्यता है, मॉडर्निटी संस्कृति है।"*[8] अर्थात भौतिक विकास जो मूर्त रूप

[8] आधुनिक बोध : रामधारी सिंह दिनकर, पंजाबी पुस्तक भंडार, दिल्ली, 1973, पृष्ठ 12

में हमारे सामने उपस्थित रहता है, आधुनिकीकरण कहलाएगा और मानसिक विकास आधुनिकता। इसमें आधुनिकता पहले की प्रक्रिया है और और आधुनिकीकरण बाद की, यद्यपि आधुनिकीकरण घटित होकर वापस फिर आधुनिकता को प्रभावित करता है। इस तरह ये दोनों प्रक्रियाएँ अंततः अन्योन्याश्रित हो जाती हैं। परिवर्तन प्रकृति का नियम कहा जाता है। यह परिवर्तन जड़ और चेतन दोनों प्रकार की वस्तुओं में होता है। मनुष्य की चेतना भी परिवर्तनशील है। चेतना का यह परिवर्तन विकास की तरफ होता है। मनुष्य की चेतना प्रकृति के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया की प्रक्रिया में विकसित होती रहती है। धीरे-धीरे वह प्रकृति की तमाम विशेषताओं को जानने लगता है। अपने विकास की प्रक्रिया में प्रकृति के रहस्यों को सुलझाने की कोशिशों के ज़रिये ही चेतना ने विकसित होकर विज्ञान को जन्म दिया, और विज्ञान ने आधुनिकता को। आधुनिकता से फिर आधुनिकीकरण की प्रक्रिया घटित होती है।

**आधुनिकतावाद** आधुनिकता के प्रति विशेष आग्रहशील होकर उसे अपनाने और लागू करने की प्रक्रिया है। वाद का मतलब सिद्धांत होते हैं। अतः आधुनिकता के सिद्धांतों को आधुनिकतावाद कहा जाता है। किसी भी वाद में वादी अपने द्वारा प्रस्तुत सिद्धांतों को दुनिया के लिए हितकारी सिद्ध करते हुए उन्हें दुनिया द्वारा अपनाये जाने पर बल देता है। दुनिया के लोगों द्वारा उसे अपनाये जाने या उस पर विचार-विमर्श किये जाने के बाद वह सिद्धांत 'वाद' का रूप धारण कर लेता है। अतः आधुनिकतावाद में आधुनिकता को दुनिया के लिए हितकारी बताते हुए उसे अपनाने पर जोर दिया जाता है। **आधुनिकताबोध** का आशय है आधुनिक होने का एहसास। इस एहसास में प्रायः आधुनिकता का नकारात्मक पक्ष ही हावी रहता है, क्योंकि 'बोध' अक्सर धक्का लगने के बाद ही होता है। अपनी अति-भौतिकता में आधुनिकता मनुष्य को मनुष्य से दूर करते हुए उसे एक शून्य भावनालोक में पहुँचा देती है। आधुनिकता के तमाम उपकरणों से घिरा हुआ मनुष्य चाहकर भी आधुनिकता के शिकंजे से छूट नहीं सकता। उसे उसके द्वारा प्रवर्तित स्थितियों परिस्थितयों को झेलना ही पड़ता है। उन्हीं परिस्थितियों के माध्यम से उसे आधुनिकता के स्वरूप का बोध होता है। इसे ही आधुनिकता-बोध कहते हैं। आधुनिकता के आकर्षण से बचने की हारी हुई प्रक्रिया में मनुष्य को आधुनिकता-बोध होता है। उसे उसके दुर्निवार आकर्षण की शक्ति मालूम होती है—*"हमारा ख्याल है कि साहित्य में, साधारणतः जिसे आधुनिक-बोध कहा जाता है, वह कोई शाश्वत मूल्य नहीं है। मूल्य शायद वह है ही नहीं। मूल्यों के विघटन से उत्पन्न वह एक दृष्टि है, जिसमें घबराहट, निराशा, शंका, त्रास और असुरक्षा के भाव हैं।"*[9] इस प्रक्रिया में व्यक्ति को आधुनिकता के पूरे इतिहास का बोध होता है। अतः जहाँ भी इस शब्द के सकारात्मक अर्थ का प्रयोग होता है वहाँ व्यक्ति के आधुनिकता के उपकरणों से पूरे परिचय का ही आशय होता है। पर आधुनिकता से परिचय आधुनिकता-बोध का

[9] आधुनिक बोध : रामधारी सिंह दिनकर, पंजाबी पुस्तक भंडार, दिल्ली, 1973, पृष्ठ 79

प्राथमिक और गौण अर्थ है, मुख्य अर्थ इस परिचय से इसके प्रति उत्पन्न आक्रांति-बोध से जुड़ा हुआ है।

**4.2.2 आधुनिकता : पाश्चात्य संदर्भ :** आधुनिकता पाश्चात्य जगत की अवधारणा है। इसका जन्म वहीं हुआ। यूरोप में आधुनिकता का आगमन 16वीं शताब्दी में माना जाता है। यह मुख्यतः दो रूपों में सामने आयी—अमूर्त तथा मूर्त रूप में। अपने अमूर्त रूप में यह मुख्यतः विवेक, तर्क और वैज्ञानिक सोच से जुड़ी हुई है और मूर्त रूप में मुख्यतः विभिन्न आविष्कार, औद्योगीकरण और नगरीकरण से। यूनान और रोम में चर्च द्वारा जनता पर धार्मिक बाना पहनाकर अनावश्यक रूढ़ियों, प्रथाओं और मान्यताओं को लादा जा रहा था। एक सीमा के बाद इन आस्थावादी रूढ़ियों और मान्यताओं के खिलाफ बौद्धिकों ने विद्रोह कर दिया। उन लोगों ने आस्थावादी सत्यों और मान्यताओं को तर्क और विवेक के आधार पर चुनौती देते हुए ख़ारिज कर दिया तथा तर्क और विवेक पर आधारित नयी मान्यताओं की नींव रखी। आधुनिकता की शुरुआत यहीं से होती है। बाद में इसके विभिन्न चरण यूरोपीय नवजागरण, फ्रांस की राज्यक्रांति और औद्योगीकरण तथा नगरीकरण में प्रकट होते हैं। यह उल्लेखनीय है कि मानवतावाद या मानव की प्रगति की विरोधी आस्थावादी और श्रद्धावादी तमाम धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों तथा मान्यताओं पर तार्किक और वैज्ञानिक चोट करते हुए आधुनिकता प्रकट हुई। बाद में इसने सभी सामंतवादी मूल्यों, परंपराओं और मान्यताओं को नकारा और स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व का नारा देते हुए संसार के लगभग सभी देशों पर छा गयी। सामंतवादी मूल्य और मान्यताएँ क्योंकि मानवीय शोषण, ऊँच-नीच और भेदभाव पर आधारित थीं, इनका आधार भी धर्म और आस्था था, अतः आधुनिकता ने इनका विरोध करते हुए इन्हें खारिज कर दिया। सभी देशों में आधुनिकता ने सामंतवादी मूल्यों और मान्यताओं के खिलाफ वैज्ञानिक सोच और मान्यताओं की स्थापना पर बल दिया। अपने मूर्त रूप में इसने सामंतवादी व्यवस्था को धराशायी करते हुए औद्योगीकरण और नगरीकरण के ज़रिये पूँजीवादी व्यवस्था को लागू किया। सामंतवाद से पूँजीवाद में रूपांतरण के साथ ही मूल्यों और मान्यताओं में भी भारी परिवर्तन हुआ।

**4.2.3 आधुनिकता : भारतीय संदर्भ :** भारतीय संदर्भ में देखें तो आधुनिकता यहाँ पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति से भारतीय सभ्यता और संस्कृति की टकराहट और उसके विरोध के फलस्वरूप उत्पन्न हुई। पाश्चात्य संस्कृति भौतिकतावादी थी और भारतीय संस्कृति आध्यात्मिकतावादी। भौतिकतावाद को प्रश्रय देने के कारण पाश्चात्य सभ्यता इहलोक की तरफ मुड़ी थी और भारतीय सभ्यता और संस्कृति अध्यात्मवाद को प्रश्रय देने के कारण परलोक की तरफ देखती थी। इहलोक को प्रमुखता देने वाला सिद्धांत विज्ञान को प्रमुखता देता है और परलोक को प्रमुखता देने वाला धर्म को। धर्म श्रद्धा और आस्था का विषय है और विज्ञान तर्क तथा विवेक का। अंग्रेजों के आने के पहले तक भारतीय रीति-रिवाज, परंपराएँ और मान्यताएँ धर्म से, और इसीलिए आस्था और श्रद्धा से संचालित होती थीं।

ध्यान देने की बात है कि भारत को अपना उपनिवेश बनाने से पहले यूरोप आधुनिकतावादी प्रक्रिया से गुज़रते हुए आस्थावादी ज्ञान को विवेकवादी और तर्कवादी ज्ञान से परख चुका था। अतः अंग्रेजी शासन स्थापित हो जाने के बाद अंग्रेजी शिक्षा और संस्कृति के आलोक में भारत की भी ऐसी परंपराएँ और मान्यताएँ तर्क और विवेक की कसौटी पर कसकर खारिज की जाने लगीं जो धर्म और आस्था पर आधारित थीं, और मानवता के लिए घातक थीं। उदाहरणस्वरूप सती-प्रथा और विधवा-पुनर्विवाह निषेध जैसी मान्यताओं को देखा जा सकता है जिसे क्रमशः राजा राममोहन राय और ईश्वरचंद विद्यासागर ने अंग्रेजी शासन के सहयोग से ख़त्म करवाया। यद्यपि भारत में आधुनिकता अंग्रेजों के प्रभाव के कारण आयी पर उसके लिए यहाँ के गणमान्य व्यक्तियों ने ही प्रयास किये थे—*"भारत में आधुनिकता का प्रवेश उन्नीसवीं सदी में हुआ था और उसके व्याख्याता राममोहन राय, केशवचंद्र, स्वामी विवेकानंद, स्वामी दयानंद, लोकमान्य तिलक, रवींद्रनाथ ठाकुर आदि भारतीय थे।"*[10]

अंग्रेजों के आने के बाद यहाँ आधुनिकता आयी, या उनकी सहायता से भारत के कुछ ऐसे रीति-रिवाज ख़त्म किये गये जो मानवता के लिए घातक थे, ये सब तथ्य हैं; पर इससे यह निष्कर्ष निकालना कि अंग्रेजों का रवैया भारत के प्रति बहुत सहानुभूतिपूर्ण था या वे भारत का विकास करने के उद्देश्य से यहाँ आये हुए थे, नितांत भ्रामक है। अंग्रेज यहाँ व्यापार के उद्देश्य से आए थे, अतः उन्होंने यहाँ जो भी विकास किया, अपने व्यापारिक फायदे के लिए किया, न कि भारतीयों के प्रति किसी सद्भावना से प्रेरित होकर; चाहे वह स्कूल और कॉलेजों की स्थापना हो, कल-कारखानों की स्थापना हो या रेल-तार जैसे आवागमन और संचार के तीव्र साधनों की स्थापना। पर उन्होंने भारत का आधुनिकीकरण शुरू किया, चाहे जिस उद्देश्य से किया हो; यह एक तथ्य है। शुरू-शुरू में भारतीय गणमान्य अंग्रेजों को अपने शत्रु के रूप में न देखकर मित्र के रूप में देखते थे। अंग्रेजों को भी भारतीय गणमान्यों को अपने भरोसे में रखना था, अतः उन्होंने कुछ कार्य गणमान्यों की प्रेरणा से भारत के हित में भी किये या उन्हें करने पड़े।

नवजागरण आधुनिकता का सबसे महत्वपूर्ण चरण है। आस्थावादी ज्ञान पर जब तर्क और विवेक हमला करते हैं तब नवजागरण की शुरुआत होती है। अतः यूरोप की तरह भारत में भी धार्मिक और आस्थावादी परंपराओं और सत्यों को विवेकवाद और तर्कवाद ने चुनौती देते हुए खारिज करना शुरू किया, जिसके फलस्वरूप यहाँ पर भी पुनर्जागरण की लहर आयी। पुनर्जागरण को धर्म-सुधार आंदोलन की संज्ञा दी जाती है, क्योंकि इस प्रक्रिया में धर्म के उन तत्वों का बहिष्कार करते हुए इसे मानवतावादी बनाये रखने का प्रयास किया जाता है जो तत्व विवेकवाद की कसौटी पर कसने के बाद मानवता के लिए घातक साबित हो जाते हैं। यों, किसी धर्म का बहिष्कार या परित्याग नहीं किया जाता; उसमें सुधार किया जाता है। भारत में नवजागरण की जो लहर आयी वो पाश्चात्य संस्कृति से भारतीय

---

[10] आधुनिक बोध : रामधारी सिंह दिनकर, पंजाबी पुस्तक भंडार, दिल्ली, 1973, पृष्ठ 44

संस्कृति की टकराहट के फलस्वरूप आयी। बंगाल पहले-पहल अंग्रेजी शासन की राजधानी बना। वहाँ पर अंग्रेजी शिक्षा और संस्कृति का प्रभाव सबसे पहले पड़ा, अतः नवजागरण की लहर भी सबसे पहले वहीं से उठी। राजाराम मोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, रवींद्रनाथ ठाकुर जैसे नेताओं के जरिये बंगाल से भारत में पुनर्जागरण की लहरें उठनी शुरू हुईं जो धीरे-धीरे संपूर्ण भारत में फैल गयीं। दयानंद सरस्वती, ज्योतिबा फूले, सावित्रीबाई फूले, डॉ. भीमराव आंबेडकर जैसे समाजसुधारक नेताओं ने भारत में नयी चेतना फैलाने का कार्य किया।

अंग्रेजी शासन का रवैया भारतीयों के प्रति सदैव दमनकारी और शोषणकारी रहा। धीरे-धीरे यह भारतीय जनता की भी समझ में आने लगा। इस शोषण के खिलाफ भारतीय नौजवानों का फूँका हुआ विरोधी विगुल उनकी आधुनिक सोच का परिणाम था। आधुनिकता किसी भी प्रकार के शोषण, भेदभाव, असमानता और अमानवीयता को नकारने की मुद्रा में रहती है। रजवाड़ों द्वारा अंग्रेजों के खिलाफ छेड़ा गया या लड़ा गया युद्ध उनके राज्य बचाने की मुहिम हो सकता है; पर गाँधी, सुभाष जैसे जननायकों या आजाद, भगतसिंह जैसे क्रांतिकारी युवाओं द्वारा अंग्रेजी राज्य के खिलाफ छेड़ा गया युद्ध नहीं। इनके युद्ध की तुलना फ्रांस की राज्य-क्रांति से की जा सकती है जिसका उद्देश्य स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व की स्थापना करना था। भारतीय स्वतंत्रता के बाद यहाँ भी आधुनिकता के प्रतीक स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व को स्थापित करने हेतु संवैधानिक गणतंत्र को लागू किया गया।

स्वतंत्रता के पहले और सामंतवादी युग के बाद भारत का शासन अंग्रेजों के हाथ में रहा। अतः उस समय तक आधुनिकीकरण की जो भी प्रक्रिया हुई, अंग्रेजों द्वारा संपन्न की गयी। हाँ, अंग्रेजी सभ्यता और संस्कृति से टकराकर भारतीय मनीषा में आधुनिकता ने प्रवेश ज़रूर कर लिया था। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि भारत में आधुनिकता की प्रक्रिया सभ्यता और संस्कृति के स्तर पर दो विरोधी मानसिकता के सहयोग से विकसित हुई। सभ्यता के स्तर पर इसका विकास अंग्रेजों द्वारा भारत के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से किया जा रहा था तो संस्कृति के स्तर पर भारतीय मनीषा में तर्क और विवेक के माध्यम से नये ज्ञान की सृष्टि हो रही थी। नवजागरण की प्रक्रिया भले ही अंग्रेजी-संपर्क के फलस्वरूप घटित हुई हो, पर वह है भारतीय मनीषा की ही उपज। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत में फिर इसके आगे के आधुनिक उपकरणों को अपनाया गया। इसके आगे के आधुनिक उपकरण अपनाना मतलब औद्योगीकरण और नगरीकरण और मशीनीकरण को बढ़ाया जाना; ज्ञान और मान्यताओं के क्षेत्र में लगातार वैज्ञानिकता और तार्किकता का विकास होना।

यह उल्लेखनीय है कि धीरे-धीरे वैश्वीकरण और बाजारीकरण ने संपूर्ण विश्व को एक ग्राम में बदल दिया। आधुनिकिकरण की जो प्रक्रिया पश्चिमी देशों से चली थी, और धीरे-धीरे विश्व के सभी देशों में फैल रही थी उसे वैश्वीकरण ने बाज़ार के माध्यम से त्वरित गति से फैलने में मदद की। आधुनिक उपकरणों और मशीनों का आविष्कार पश्चिमी देशों ने किया पर उसका उपयोग सभी देशों के नागरिक

कर रहे हैं। इंजन का आविष्कार किसी एक देश के नागरिक ने किया था, पर गाड़ी सभी देशों के लोग चला रहे हैं। टीवी का आविष्कार किसी एक देश ने किया था पर उसे सभी देशों के लोग देख रहे हैं। विज्ञान के नियमों को चाहे जिस देश का वैज्ञानिक प्रतिपादित करे, वे पहुँचेंगे सभी देशों में। अतः अब आधुनिकता किसी एक देश की बपौती नहीं रही गयी है। यह भी उल्लेखनीय है कि आधुनिक वस्तुओं का उपयोग करने वाला, यानी आधुनिकीकरण का लाभ लेने वाला व्यक्ति ज़रूरी नहीं कि आधुनिक हो। क्योंकि, जैसा कि पहले ही कहा गया, आधुनिकता मन की चीज है और आधुनिकीकरण शरीर की।

**4.2.4 आधुनिकता और साहित्य :** जैसा कि कहा गया, आधुनिकता का संबंध कालसीमा से भी है; अतः एक सीमा के बाद ही साहित्य से आधुनिकता का संपर्क मानना चाहिए। इतिहास में जिसे पुनर्जागरण काल कहा गया, साहित्य में आधुनिकता की शुरुआत वहीं से हुई। इसके पहले का साहित्य मध्ययुगीन माना जाता है। मध्ययुगीन मान्यताएँ, जीवन-मूल्य और संस्कृति आस्था और विश्वास पर आधारित थे। ये आस्था और विश्वास तर्क तथा तथ्य पर नहीं, मिथक पर आधारित होते थे। मिथक का आदिम आधार भय था। मिथकों का जन्म भय से हुआ, भय धीरे-धीरे आस्था में बदला और आस्था विश्वास में बदलती गयी। इस तरह से जन्म होता है मध्यकालीन आस्थाओं और विश्वासों का। जिन भी मान्यताओं और विश्वासों के पीछे कोई तर्क या तथ्य न होकर मात्र आस्था होती थी वे सब मध्यकालीन मानसिकता की उपज थे। ऐसी मान्यताओं को जागरूकता के बाद 'रूढ़ि' तथा ऐसे विश्वासों को 'अंधविश्वास' कहा जाने लगा। मध्यकाल की अधिकांश मान्यताएँ और विश्वास ऐसे ही थे, अतः आधुनिक-काल में इन्हें रूढ़ि और अंधविश्वास कहकर इनके विरुद्ध अभियान चलाकर इन्हें समाप्त करने की कोशिशें की गयीं। सती-प्रथा, बाल-विवाह आदि इसी तरह की रूढ़ियाँ थीं।

ऐसा नहीं है कि मध्ययुगीन सभी मान्यताएँ और विश्वास मानव-समाज के विकास के लिए बाधक ही थे, उनमें से कुछ इसमें सहायक भी थे; पर थे वे आस्था की ही उपज। परलोकवादी मान्यताएँ प्रायः प्रगतिशील मूल्यों की स्थापना करती थीं, पर वे सब आस्था पर ही आधारित होती थीं। मान्यता और मूल्य में अंतर है। परलोकवाद एक मान्यता है और उसके सहारे विकसित सद्कर्म मूल्य हैं। सती प्रथा भी परलोकवाद पर आधारित मान्यता थी जो स्त्री-समाज से उसके जीवन का अधिकार छीन लेती थी। अतः मध्यकालीन मान्यताओं की अपेक्षा मध्यकालीन मूल्य मानववादी या प्रगतिशील होते थे। यद्यपि मूल्य मान्यताओं के सहारे ही विकसित होते थे, और मान्यताएँ आस्था के। इस प्रकार आस्था का सीधा संबंध मान्यताओं से था, मूल्य उससे थोड़ा दूरी पर थे। अतः आस्था के नष्ट होने के बावजूद मध्यकालीन मूल्य लंबे समय तक स्थायी बने रहे, कुछ अभी भी हैं, उनकी तुलना में मान्यताएँ जल्दी नष्ट हुईं।

आधुनिकता जीवन का एक दृष्टिकोण है। विज्ञान के आने के पहले तक जीवन का दृष्टिकोण अलग था, उसके बाद अलग हो गया। विज्ञान के आने के पहले का समय मध्यकाल है और उसके बाद का आधुनिक काल। मध्यकालीन जीवन-दृष्टि सामंतवाद, अध्यात्मवाद और परलोकवाद से संचालित होती थी। धर्म इन सबके केंद्र में था। मध्यकाल तक के हिंदी साहित्य में इन्हीं मान्यताओं और इन पर आधारित जीवन मूल्यों की अभिव्यक्ति हुई है। जिसे हिंदी साहित्य में आदिकाल कहा गया है, वह भी भारतीय इतिहास का मध्यकाल है। आदिकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल इस परंपरा में मध्यकालीन साहित्य के काल हैं। यों, इन तीनों युगों में मध्यकालीन जीवन मूल्यों की ही अभिव्यक्ति हुई है। आदिकाल से लेकर रीतिकाल तक सामंतवादी और अध्यात्मवादी धारा अप्रतिहत प्रवाहित हुई है। आदिकाल के वीरकाव्य सामंतवादी, भक्तिकाल के भक्तिकाव्य अध्यात्मवादी और रीतिकाल के श्रृंगार-काव्य पुनः सामंतवादी जीवन-मूल्यों से संचालित रहे हैं। सामंतवाद असमानता का पोषण करने वाला और अध्यात्मवाद इहलोक का निषेध करने वाला सिद्धांत है। सामंती-युग में उच्च वर्ग या वर्ण और निम्न वर्ग या वर्ण में बड़ी भारी असमानता रहती है। धर्म द्वारा क्योंकि सामंती जीवन-मूल्यों को सबके लिए ग्राह्य बना दिया जाता है, इसीलिए लोग इसे अपनी नियति मान लेते हैं। सामंतीय कवियों ने इसीलिए उन जीवन मूल्यों का कहीं भी प्रतिरोध नहीं किया, उलटे उनका गुणगान ही किया। उन मूल्यों से किसी का शोषण भी हो रहा है, इसे दिखाने वाला न तो उनके पास कोई स्पष्ट आधार ही था और न ही वे इसका कोई प्रयास किया करते थे। प्रयास करने से आधार न सही, उस प्रकार का दृष्टिकोण तो उपलब्ध ही हो सकता था, जैसा भक्तिकाल के कवियों के पास था। भक्तिकाल के कवियों ने, खासकर संत कवियों ने, अधिकांश सामंतवादी जीवन-मूल्यों का विरोध किया। इस दृष्टिकोण से वे सामंतीय कवियों से ज्यादा प्रगतिशील थे। पर, जैसा कि पहले संकेत किया गया, भक्त-कवि परलोकवादी थे, इस संसार का निषेध करते थे। इहलोक का निषेध या परलोकवाद अंततः असमानता की जड़ों को नष्ट करने की बजाय उसे सींचता ही है, अतः भक्त कवियों को आधुनिक नहीं कहा जा सकता। वे प्रगतिशील थे, इसमें कोई दो राय नहीं।

आधुनिक जीवन-दृष्टि मानवतावाद, यथार्थवाद और इहलोकवाद से संचालित होती है। विज्ञान इन सबके केंद्र में है। आधुनिक काल के साहित्य में इन्हीं मान्यताओं और इन पर आधारित जीवन मूल्यों की अभिव्यक्ति हुई। विज्ञान ने अधिकांश मध्यकालीन मान्यताओं को—जो मानवता के विकास में बाधक थीं—तथ्यों, तर्कों और साक्ष्यों के सहारे गलत साबित कर दिया। इस प्रकार उसने आधुनिकता को मानवतावादी जीवन मूल्यों के प्रचार-प्रसार का रास्ता दिखाया। इन सबकी अभिव्यक्ति साहित्य में भी हुई। हिंदी में पुनर्जागरण-युग को भारतेंदु-युग के नाम से जाना जाता है और यहीं से हिंदी साहित्य के आधुनिक काल की शुरुआत होती है। इसके बाद आधुनिकता के उपकरणों विज्ञान, तर्क और साक्ष्य ने उत्तरोत्तर साहित्य को स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित किया। इसने

निरंतर प्रतिगामी शक्तियों को चिह्नित करते हुए इनके खिलाफ मुहिम छेड़ी, जिसके परिणामस्वरूप ही विभिन्न अस्मितावादी विमर्श उभर कर आये। आधुनिक दृष्टिकोण का ही परिणाम था कि हिंदी साहित्य में एक आंदोलन ही 'प्रगतिशील-साहित्य' के नाम से चलाया गया। आधुनिकता की ही माँग थी कि विभिन्न मिथकीय काव्यों या चरित्रों पर आधुनिक दृष्टिकोण के सहारे बार-बार उनका पुनर्सजन किया गया।

### 4.3 मिथक और आधुनिकता का पारस्परिक संबंध

आधुनिकता मिथकीयता से पलायन है। मिथक का जन्म, जैसा कि पहले ही बताया गया, डर, कल्पना और आस्था से हुआ है। प्राकृतिक घटनाओं और दृश्यों से डरकर या उनके प्रति आस्थावान होकर मनुष्यों ने ईश्वरीय शक्तियों की कल्पना की। हर प्राकृतिक घटना और दृश्य के लिए मनुष्य ने अलग-अलग देवी-देवताओं की कल्पनाएँ करते हुए उनसे संबंधित कहानियों की कल्पना की और इस तरह मिथकों का जन्म हुआ। मिथकों में विश्वास करने वाला व्यक्ति उन कहानियों को परम सत्य मानता है। वह उनमें श्रद्धा रखता है, अतः उन कहानियों में वर्णित घटनाओं की अलौकिकता में संदेह नहीं करता और उन्हें तर्कातीत मानता है। आधुनिकता, जैसा कि पहले ही कहा गया, विज्ञान के सहारे विकसित हुई है, जो साक्ष्यों पर आधारित ज्ञान को ही प्रामाणिक मानता है; अनुमान, आस्था या किसी अन्य स्रोत के सहारे प्राप्त ज्ञान को नहीं। मिथकीय घटनाएँ क्योंकि अलौकिकता से संबंध रखती हैं, आस्था और विश्वास पर आधारित हैं, उनका कोई साक्ष्य नहीं है, अतः आधुनिकता उन पर विश्वास नहीं करती। मिथकों में माना गया कि वर्षा इंद्र देव करते हैं; तूफान पवन देव चलाते हैं; धरती को शेषनाग ने अपने फनों पर उठा रखा है, उनके फन-परिवर्तन से भूकंप आता है, आदि। आधुनिकता इन चीजों पर विश्वास नहीं करती क्योंकि इनका कोई साक्ष्य नहीं है, ये आस्था और विश्वास के सहारे मान लिए गये ज्ञान की श्रेणी में आते हैं, सिद्ध नहीं किये गये हैं। विज्ञान ने इन भौतिक घटनाओं की कार्य-कारण श्रृखंला की खोज की और साक्ष्यों के आधार पर सिद्ध किया कि वर्षा समुद्र से उठने वाली वाष्प से होती है; तूफान वायुदाब के कारण आते हैं और भूकंप ज्वालामुखी और धरती की प्लेटों के खिसकने के कारण आते हैं। आधुनिकता साक्ष्य और तर्क पर आधारित ज्ञान को ही मान्यता प्रदान करती है। जो चीज़ें साक्ष्य और तर्क की कसौटी पर नहीं कसे जा सकते उन्हें वह विचार की श्रेणी से बाहर की वस्तु मान लेती है। मिथकों में व्यक्त अलौकिक घटनाएँ, क्योंकि तर्क की कसौटी पर नहीं कसी जा सकतीं, इनका कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं होता, अतः आधुनिकता मिथकीय कहानियों की अलौकिक घटनाओं पर विश्वास नहीं करती। इस प्रकार कहा जा सकता है कि आधुनिकता मिथकीयता से पलायन है।

**क्या आधुनिकता और मिथकीयता में आपस में बैर है? क्या ये दोनों साथ-साथ नहीं रह सकते?** मिथकीय पात्रों को प्रायः ही अलौकिक शक्तियों से संपन्न और गैर-मानवोचित रूपाकार

वाला दिखाया जाता रहा है। देवी-देवताओं की कहानियों के अतिरिक्त जहाँ मानवों की कथा कही गयी है, वहाँ भी उनका संपर्क देवी-देवताओं से दिखाया ही गया है। आधुनिकता इन कहानियों की हूबहू यथार्थता को मानने की प्रवृत्ति नहीं रखती। जो चीज़ें प्रकृति के नियम के विरुद्ध हैं उन्हें आधुनिकता स्वीकार नहीं कर सकती। हाँ, अगर इन घटनाओं में काव्योचित कल्पना की उपस्थिति को मानते हुए उनमें इनका प्रतीकात्मक व्यवहार माना जाय तो आधुनिकता का इनसे बहुत बैर नहीं रह जाता। वैसे भी मिथकों में हर जगह सिर्फ अलौकिक पात्र और घटनाएँ नहीं हैं, उनमें लौकिक पात्र और घटनाएँ भी काफी हैं। मिथकों में वर्णित घटनाओं और पात्रों के देश-काल का संकेत कर दिया गया है। कहीं-कहीं इनकी उपस्थिति से संबंधित साक्ष्य भी मिले हैं, अतः आधुनिकता मिथकों को पूरी तरह से नकारने की स्थिति में है, ऐसा दावा नहीं किया जा सकता। फिर भी यह निर्विवाद है कि मिथकों में वर्णित अलौकिक पात्रों और अलौकिक घटनाओं को आधुनिकता सीधे-सीधे उसी रूप में नहीं स्वीकार कर सकती। ऐसी घटनाएँ और पात्र प्राकृतिक नियमों के अनुकूल नहीं हैं, न ही इतिहास में उनका कोई साक्ष्य मौजूद है, अतः इनके सीधे रूप से आधुनिकता का सहज बैर है। अतः कहा जा सकता है कि मिथकीय अलौकिक घटनाओं और पात्रों पर सीधा विश्वास और आधुनिकता का वरण साथ-साथ संभव नहीं हैं। आधुनिकता जब भी मिथक को ग्रहण करेगी उन्हें प्राकृतिक नियमों के अनुकूल बनाकर ही ग्रहण करेगी, अन्यथा की स्थिति संभव नहीं है।

**4.3.1 मिथक और आधुनिकता का सामंजस्य तथा साहित्य :** आधुनिकता के चलन के पहले साहित्य मिथकीय चरित्रों और घटनाओं से परिपूर्ण था और उन चरित्रों तथा घटनाओं पर अविश्वास की स्थिति भी नहीं थी। सभी भक्ति-साहित्य को इसके उदाहरण के रूप में पेश किया जा सकता है। जब आधुनिकता के दबाव से मनुष्य की चेतना में बदलाव आने लगा तब से साहित्य में मिथकों की पेशी की दिशा बदल गयी। यह बात उल्लेखनीय है कि आधुनिकता का दबाव भी मिथकों को साहित्य की परिधि से बाहर धकेलने में नाकामयाब रहा। यह मिथक की सर्जनात्मक और लौकिक ताकत थी। मिथक की मौजूदगी साहित्य में बराबर बनी रही; हाँ, उनके प्रस्तुतीकरण की दिशा बदल गयी। आधुनिक सोच को मिथक के आवरण में प्रस्तुत किया जाने लगा। साहित्य ने इस प्रकार मिथक और आधुनिकता का, जिनका कि आपस में बैर है, सामंजस्य बैठाया। यह बात उल्लेखनीय है कि मिथक और आधुनिकता के बीच यह सामंजस्य काव्य की परिधि के अंदर होता है। दो विरोधी दलों को आपस में मिलाने के लिए काव्य जैसे यहाँ एक बड़े 'लीडर' की भूमिका अदा करता हो ! काव्य के क्षेत्र में आधुनिकता ने मिथकों की प्रकृति में छेड़-छाड़ किए बिना जहाँ अपने कुछ-एक तत्वों का उनमें समावेश किया, वहाँ उनका आपसी सामंजस्य बना रहा; पर जैसे ही आधुनिकता ने मिथक की मूल प्रकृति में छेड़-छाड़ करते हुए उनमें अपने तत्वों का समावेश करना चाहा, उनका आपसी सामंजस्य बिगड़ गया। 'प्रिय-प्रवास' और 'साकेत' आधुनिकता और मिथकों के समन्वय के उदाहरण हैं। 'संशय

की एक रात' और 'शंबूक' में आधुनिकता और मिथक का सामंजस्य पूरी तरह नहीं बन पाया है। बात यह है कि मिथकीय पृष्ठभूमि वाले काव्यों में आधुनिकता का समावेश करना बहुत मुश्किल और चतुराई भरा काम है। मिथक की मूल प्रकृति इसका तर्कातीत होना है और आधुनिकता की तर्क-शील। तर्क वह तत्व है जो दोनों को एक दूसरे का विरोधी बना देता है। काव्य में दोनों का सामंजस्य करने के लिए इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि मिथक की घटनाओं को हम आधुनिकता के तत्व 'तर्क' की कसौटी पर न कसें। आधुनिकता की और भी तमाम विशेषताएँ होती हैं, मिथकों की घटनाओं में विश्वनीय परिवर्तन करते हुए उन्हें उनमें अनुस्यूत किया जा सकता है। जैसे, मिथकों की कहानियों में ही कहीं थोड़ा-बहुत परिवर्तन करते हुए उनमें  मानवतावादी तत्वों का समावेश कर देना।

मिथक और आधुनिकता में सामंजस्य बैठाने वाला कवि आस्तिक होता है, या कम से कम मिथकीय घटनाओं पर विश्वास करता है। उसका उद्देश्य मिथक का युगानुरूप सर्जनात्मक और उपदेशात्मक उपयोग करना होता है। इन दोनों में सामंजस्य वही कवि बैठाने में असफल होता है जिसके मन में मिथक के इस तरह के उपयोग की कोई मंशा नहीं होती, बल्कि वह मिथकीय घटनाओं और उनकी लोक में गहरी आस्थावादी पैठ से परेशान रहता है। उसकी यह परेशानी व्यक्तिगत न होकर सामाजिक होती है। वह परेशान इसलिए होता है क्योंकि उसे लगता है कि अमुक मिथकीय कहानी या घटना मानव-विरोधी, स्त्री-विरोधी या दलित-आदिवासी-विरोधी है और उस कहानी या घटना के सहारे ही उसके नायक या पात्र का लगातार महिमामंडन होता चला आया है। इस तरह के कवि मिथक की मूल प्रकृति पर ही आक्रमण करते हैं। यानी उसकी घटना को तर्क या सही-गलत के घेरे में लेते हुए उस पर विमर्शमूलक सवाल खड़े करते हैं। इस तरह से न वह काव्य मिथकीय ही रह जाता है और न ही आधुनिक। एक तरफ ऐसे कवि यह मान लेते हैं कि ये अलौकिक मिथकीय घटना अतीत में घटी है, और दूसरी तरफ ये उस घटना को संभावना के तर्क की कसौटी पर भी कसना चाहते हैं ! यहीं दोनीं में असामंजस्य की स्थिति पैदा होती है।

# अध्याय 5

## नयी कविता के प्रबंध काव्यों के शिल्पगत उपादान

**5.1 अंधा युग**

**5.1.1 मिथकीय चेतना, 5.1.2 आधुनिकता-बोध, 5.1.3 मूल्यान्वेषण की चिंता, 5.14 दार्शनिकता, 5.1.5 विमर्श**

**5.2 कनुप्रिया**

**5.2.1 मिथकीय चेतना, 5.2.2 आधुनिकता-बोध, 5.2.3 मूल्यान्वेषण की चिंता, 5.2.4 दार्शनिकता, 5.2.5 विमर्श**

**5.3 संशय की एक रात**

**5.3.1 मिथकीय चेतना, 5.3.2 आधुनिकता-बोध, 5.3.3 मूल्यान्वेषण की चिंता, 5.3.4 दार्शनिकता, 5.3.5 विमर्श**

**5.4 आत्मजयी**

**5.4.1 मिथकीय चेतना, 5.4.2 आधुनिकता-बोध, 5.4.3 मूल्यान्वेषण की चिंता, 5.4.4 दार्शनिकता, 5.4.5 विमर्श**

**5.5 एक कंठ विषपायी**

**5.5.1 मिथकीय चेतना, 5.5.2 आधुनिकता-बोध, 5.5.3 मूल्यान्वेषण की चिंता, 5.5.4 दार्शनिकता, 5.5.5 विमर्श**

**5.6 शंबूक**

**5.6.1 मिथकीय चेतना, 5.6.2 आधुनिकता-बोध, 5.6.3 मूल्यान्वेषण की चिंता, 5.6.4 दार्शनिकता, 5.6.5 विमर्श**

**5.7 एक पुरुष और**

**5.7.1 मिथकीय चेतना, 5.7.2 आधुनिकता-बोध, 5.7.3 मूल्यान्वेषण की चिंता, 5.7.4 दार्शनिकता, 5.7.5 विमर्श**

**5.8 महाप्रस्थान**

**5.8.1 मिथकीय चेतना, 5.8.2 आधुनिकता-बोध, 5.8.3 मूल्यान्वेषण की चिंता, 5.8.4 दार्शनिकता, 5.8.5 विमर्श**

**5.9 सूर्यपुत्र**

**5.9.1 मिथकीय चेतना, 5.9.2 आधुनिकता-बोध, 5.9.3 मूल्यान्वेषण की चिंता, 5.9.4 दार्शनिकता, 5.9.5 विमर्श**

**5.10 अग्निलीक**

**5.10.1 मिथकीय चेतना, 5.10.2 आधुनिकता-बोध, 5.10.3 मूल्यान्वेषण की चिंता, 5.10.4 दार्शनिकता, 5.10.5 विमर्श**

## 5.1 अंधायुग

**5.1.1 मिथकीय चेतना :** 'अंधायुग' में महाभारत की घटनाओं को आधार बनाया गया है। महाभारत का युद्ध अठारह दिनों तक चला। अंधायुग में युद्ध के अठारहवें दिन से लेकर प्रभास तीर्थ में कृष्ण की मृत्यु तक की घटनाओं को लिया गया है। अधिकतर घटनाएँ और पात्र प्रख्यात हैं, कुछ की कल्पना कर ली गयी है; जैसा कि इस काव्य-नाटक के निर्देश में भी स्पष्ट कर दिया गया है—*"इस दृश्य काव्य में जिन समस्याओं को उठाया गया है, उनके सफल निर्वाह के लिए महाभारत के उत्तरार्द्ध की घटनाओं का आश्रय ग्रहण किया गया है। अधिकतर कथावस्तु 'प्रख्यात' हैं, केवल कुछ ही तत्त्व 'उत्पाद्य' हैं—कुछ स्वकल्पित पात्र और कुछ स्वकल्पित घटनाएँ।"*[1] अंधायुग में पाँच अंक हैं—शुरू के स्थापना, बीच के अंतराल और अंत के समापन नामक अध्यायों के अलावा। इस तरह कुल मिलाकर इस काव्य-नाटक में आठ अध्याय हैं। प्रहरी १, प्रहरी २ और वृद्ध याचक के अलावा सभी पात्र महाभारत के ही हैं। घटनाएँ और संवाद भी प्रायः प्रख्यात ही हैं, केवल कहीं-कहीं कुछ-एक स्थानों पर ही ये कल्पित हैं। 'स्थापना' में मंगलाचरण के माध्यम से आने वाली कथा का आभास दिया गया है। पहले अंक में धृतराष्ट्र, गांधारी और विदुर के संवाद हैं जिनमें कवि ने कुछ अपनी कल्पना का भी उपयोग किया है। कथावस्तु के उद्देश्य के संकेत के लिए शुरुआत में कल्पना का सहारा लेना उचित ही था, जिसके लिए प्रहरी १, प्रहरी २ और वृद्ध याचक नामक कल्पित पात्र इसी अंक में प्रवेश करते हैं। दूसरे अंक से कथावस्तु अधिक ठोस रूप में अपने प्रख्यात रूप में उपस्थित होती है। काव्य में घटनाओं का आरंभ भी यहीं से होता है। महाभारत के अठारहवें दिन की संध्या के समय संजय युद्धभूमि से हस्तिनापुर के लिए प्रस्थान करते हैं। कौरवों की लगभग सारी सेना का संहार हो चुका होता है। सात्यकि के हाथों अपमानित करके जीवित छोड़ दिए जाने के बाद संजय वहाँ से प्रस्थान करते हैं। महाभारत में यह कथा 'शल्यपर्व' में है। यहाँ से दुर्योधन द्वारा अश्वत्थामा को सेनापति बनाए जाने तक की कथा महाभारत के 'शल्यपर्व' में है। काव्य में यह कथा दूसरे अंक से लेकर तीसरे अंक तक फैली है। इसके बाद काव्य के तीसरे अंक से ही महाभारत के 'सौप्तिक पर्व' की कथा शुरू होती है। अश्वत्थामा के विश्राम करते समय कौवे और उलूक की कथा से लेकर अश्वत्थामा को पांडवों द्वारा परास्त करके उससे मणि लेने तथा उसे वन में भेजने तक की कथा 'सौप्तिक पर्व' में है। यह कथा काव्य में तीसरे अंक से लेकर चौथे अंक तक विस्तृत है। चौथे अंक से ही महाभारत के 'स्त्री-पर्व' की कथा भी शुरू होती है जब शोकाकुल धृतराष्ट्र को संजय और विदुर समझाकर युद्धभूमि में वीरगति को प्राप्त हुए कौरव वीरों के तर्पण को ले जाते हैं। वहीं युद्धभूमि में दोनों ओर के अपने संबंधियों का अपार संहार देखकर व्यथित गांधारी कृष्ण को शाप देती हैं। यह कथा काव्य के चौथे ही अंक में है। इसके बाद पाँचवें अंक की कुछ घटनाएँ काल्पनिक हैं। वन की आग में कुंती, गांधारी तथा धृतराष्ट्र का जलना तथा संजय का उससे

1 अंधायुग : धर्मवीर भारती, किताब महल प्रकाशन, इलाहाबाद, बयालीसवाँ पेपरबैक संस्करण, 2010, पृष्ठ x (निर्देश से)

बचना 'आश्रमवासिक पर्व' में है। 'समापन' में आयी हुई व्याध द्वारा कृष्ण को मारे जाने की कथा महाभारत के 'मौसल पर्व' में है। इस घटना के अलावा 'समापन' में अश्वत्थामा, संजय, युयुत्सु और व्याध के कथन रचना के उद्देश्य के अनुसार कल्पित हैं। इस तरह इस काव्य में महाभारत के नवें पर्व 'शल्य पर्व', दसवें पर्व 'सौप्तिक पर्व', ग्यारहवें पर्व 'स्त्री पर्व', चौदहवें पर्व 'आश्रमवासिक पर्व' तथा पंद्रहवें पर्व 'मौसल पर्व' की कथावस्तु को आधार बनाया गया है।

**5.1.2 आधुनिकता-बोध :** काव्य में जिस प्रकार घटनाएँ, पात्र और संवाद महाभारत का प्रतिनिधित्व करते हैं उसे देखते हुए इसे महाभारत के कुछ अंशों का संक्षिप्त हिंदीकरण कह दिया जाए तो कुछ गलत नहीं होगा। कवि मिथक की जातीयता के प्रति भी अत्यंत सचेत है। इसीलिए उसने संजय को प्राप्त दिव्य-दृष्टि, अश्वत्थामा एवं अर्जुन द्वारा ब्रह्मास्त्र के प्रयोग या गांधारी के शाप से कृष्ण के वंशजों के नाश के मिथ को ज्यों का त्यों प्रस्तुत कर दिया है। कहा जा सकता है कि तब काव्य में आधुनिकता कहाँ है ? दरअसल मिथकों में अपार संभावनाएँ हैं। उनका चरित्र ही ऐसा है कि कोई भी प्रतिभासंपन्न कवि या लेखक थोड़े से संकेतों के द्वारा ही उनसे मनोवांछित संदेश अपने युग की पीढ़ी को दे सकता है। धर्मवीर भारती ने भी इस काव्य के माध्यम से वही कार्य किया है। लगभग पूरे काव्य की परिकल्पना महाभारत की घटनाओं के अनुकूल करते हुए भी उन्होंने कुछ कल्पित पात्रों और घटनाओं के माध्यम से इस कथा के युगानुकूल संक्रमण के लिए संकेत दिए। उल्लेखनीय है कि उनके द्वारा कल्पित पात्र और घटनाएँ भी बहुत थोड़ी हैं और वे भी उस कथा-प्रवाह में एकदम घुल-मिल जाती हैं, अलग-थलग नहीं पड़तीं। काव्य-नाटक के प्रारंभ में ही 'स्थापना' नामक अध्याय के अंतर्गत आधुनिकता के उपकरणों का संकेत करके कवि ने महाभारत की कथा के आधुनिक युग में संक्रमित हो जाने का संकेत दे दिया है—*"जिस युग का वर्णन इस कृति में है/ उसके विषय में विष्णु पुराण में कहा है :/ ... सत्ता होगी उनकी ।/ जिनकी पूँजी होगी/ ...। जिनके नकली चेहरे होंगे/ केवल उन्हें महत्व मिलेगा"*[2] । विष्णु-पुराण का अनुकूल संदर्भ देते हुए कवि ने मिथक को आधुनिकता में संक्रमित किया है। पूँजी और सत्ता के बढ़ाव की अंधी प्रतिस्पर्धा आधुनिक-युग की देन है। यद्यपि कि आधुनिक युग के पहले भी सत्ता के लिए प्रतिस्पर्धा होती आई है, पर मात्र पूँजी के दम पर सत्ता प्राप्त कर लेना या उसका विस्तार करना आधुनिक-युग की ही प्रक्रिया है। पूँजीवाद आधुनिक युग का सिद्धांत है।

पूँजी और सत्ता के विस्तार की महत्वाकांक्षा ने दो-दो विश्व-युद्ध करवाए। इन युद्धों में संसार को अपार जन-धन की हानि झेलनी पड़ी। युद्ध की मानसिकता आदिम और बर्बर समाज की असभ्यता की निशानी है। आधुनिक-युग में मनुष्य को इसकी पीड़ा से गुज़रना पड़े तो उसकी सभ्यता पर प्रश्न-चिह्न लगना स्वाभाविक है। लगभग हर वस्तु या सिद्धांत की तरह आधुनिकता के दो भी पहलू हैं—सकारात्मक और नकारात्मक। इस शोध के सैद्धांतिक पक्ष वाले हिस्से में आधुनिकता पर विचार

---

[2] अंधायुग : धर्मवीर भारती, किताब महल प्रकाशन, इलाहाबाद, बयालीसवाँ पेपरबैक संस्करण, 2010, पृष्ठ 1

करते समय इस प्रश्न पर विचार किया गया है कि आधुनिकता एक मूल्य है अथवा नहीं ? यदि आधुनिकता कोई मूल्य है तो उसका नकारात्मक पहलू नहीं हो सकता, क्योंकि मूल्य स्वयं में एक सकारात्मक तत्व है। मूल्य के स्वरूप पर विचार करें तो यह पता चलता है कि मूल्य एक अमूर्त चीज़ है। प्रायः अच्छे विचार या अच्छी आदतें ही मूल्य कहे जाते हैं; जैसे ईमानदारी, सत्यवादिता, परोपकारिता आदि। ये सारी चीजें अमूर्त हैं। कोई इन चीजों को देख या छू नहीं सकता, सिर्फ महसूस कर सकता है। इस दृष्टि से आधुनिकता पर विचार करें तो यह बात सामने आती है कि आधुनिकता का स्वरूप मूर्त और अमूर्त दोनों है। अपने अमूर्त रूप में आधुनिकता एक सोच या दृष्टिकोण है जो विज्ञान और तर्क पर आधारित होता है और अपने मूर्त रूप में यह मशीनीकरण, औद्योगीकरण और तत्संबंधी भौतिक-विकास के रूप में सामने आती है।

आधुनिकता अपने अमूर्त रूप में ही मूल्य है, मूर्त रूप में नहीं। विज्ञान का सहारा लेकर जब आधुनिकता अपने 'कंक्रीट' रूप में आती है तो यह मनुष्य की प्रकृति के हिसाब से फिर उन पर सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रभाव डालती है। नकरात्मक प्रभाव का विस्तार पूँजी और सत्ता की विस्तारवादी सोच और उसके लिए युद्ध के अत्याधुनिक साधनों के विकास तक जाता है। यह ध्यान देने वाली बात है कि पूँजीवादी और सत्तावादी सोच एक अमूर्त तत्व है जो आधुनिक होने के बावजूद मानवतावादी नहीं हैं। तो क्या यह माना जाए कि आधुनिकता अपने अमूर्त रूप में भी मूल्य नहीं है ? नहीं, यह बात इतनी सीधी नहीं है। दरअसल यह पूँजीवादी और सत्तावादी सोच आधुनिकता के मूर्त रूप से ही जुड़ी हुई है, यह बात ध्यान देने की है। इस बात की तरफ संकेत किया जा चुका है कि आधुनिकता जब अपने 'कंक्रीट' रूप में सामने आती है तो मनुष्य की प्रकृति के हिसाब से उस पर सकारात्मक और नकारात्मक प्रभाव डालती है। युद्ध और शक्ति के आधुनिक 'कंक्रीट' साधन या उनके फार्मूले ही इस इस तरह की मानसिकता को जन्म देते हैं। यहाँ यह प्रश्न फिर हो सकता है कि फार्मूले तो अमूर्त होते हैं, अतः अपने अमूर्त रूप में भी आधुनिकता मूल्य नहीं है। दरअसल फार्मूले मूर्त वस्तुओं के अमूर्त रूप होते हैं, कार्यान्वयन के बाद वही मूर्त रूप ग्रहण करते हैं। अतः मूर्त रूप से जुड़े होने के कारण इनके स्वरूप को पूर्णतः अमूर्त नहीं कहा जा सकता। इसीलिए अपने मूर्त रूप में आने के बाद अमूर्त विचार या फार्मूले मानव-सभ्यता के लिए खतरनाक भी हो सकते हैं, प्रायः होते रहे हैं। जर्मन दार्शनिक कार्ल यास्पर्स का इससे मिलता-जुलता मत रामविलास शर्मा ने अपनी कृति 'अस्तित्ववाद और नयी कविता' में दिया है। यद्यपि वह अस्तित्ववादी-दर्शन के विषय में है, फिर भी यहाँ उद्धरणीय है—*''जर्मन दार्शनिक कार्ल यास्पर्स ने सिद्ध किया कि बड़े-बड़े कल कारखानों वाली वर्तमान सभ्यता एक रोग है। मनुष्य जितना ही विचारों को वस्तुगत कसौटी पर कसता रहा है, उतना ही मानव-अस्तित्व की वास्तविक विशेषता से वह दूर होता गया है। चिंतन की यांत्रिक और वस्तुगत*

*व्यवस्थाओं ने मानव जीवन को कुचल डाला है।"*[3] अतः अपने मूर्त रूप या उससे संबंद्ध विचारों के रूप में उपस्थित आधुनिकता को मूल्य की श्रेणी में नहीं लिया जा सकता। शुद्ध अमूर्त वह है जिसे मूर्त रूप में लाया ही नहीं जा सकता, जैसे ईमानदारी को मूर्त रूप नहीं प्रदान किया जा सकता। आधुनिकता के जिन वैज्ञानिक दृष्टिकोणों के सहारे सती-प्रथा, या विधवा-विवाह जैसी समस्याओं को समाप्त किया गया उन दृष्टिकोणों का कोई मूर्त रूप नहीं होता। ये दृष्टिकोण क्योंकि अमानवीय स्थितियों का अंत करते हैं, अतः इन्हें मूल्य कहा जा सकता है। इस तरह आधुनिकता के संबंध में जो निष्कर्ष निकलकर सामने आए उनके अनुसार आधुनिकता के दो पहलू हैं—मूर्त और अमूर्त। अपने अमूर्त रूप में आधुनिकता एक मूल्य है और अपने मूर्त रूप में बदलाव की प्रक्रिया। यह बदलाव सकारात्मक और नकारात्मक दोनों हो सकता है। कुल मिलाकर बात यह है कि आधुनिकता के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पहलू होते हैं।

पूँजी और सत्ता के विस्तार की महत्वाकांक्षा, जैसा कि संकेत किया गया, युद्ध की स्थितियाँ उत्पन्न करती है। युद्ध आदिम और मध्यकालीन प्रवृत्ति का परिचायक है। युद्ध में संलग्न होना बर्बरता और असभ्यता की निशानी है, यह सोच आधुनिक-प्रवृत्ति की परिचायक है। उल्लेखनीय है कि आदिम और मध्यकालीन प्रवृत्ति का परिचायक होने के बावजूद युद्ध आधुनिक युग में भी होते रहे हैं। क्यों होते हैं, इसका संकेत आधुनिकता के 'कंक्रीट' रूप का विश्लेषण करते हुए कर दिया गया है। युद्ध आधुनिकता के 'कंक्रीट' रूप से जुड़ा हुआ है और युद्ध को अमानवीय मानने का दृष्टिकोण इसके अमूर्त रूप से। अंधायुग में युद्ध और युद्ध पर मानवीय दृष्टि से विमर्श के ज़रिए आधुनिकता के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पक्षों पर दृष्टिपात किया गया है। इसमें महाभारत-युद्ध के बहाने आधुनिक युग की विभीषिका को तथा युद्ध-विमर्श के ज़रिए आधुनिक-दृष्टिकोण को उजागर किया गया है। युद्ध की विभीषिका काव्य-नाटक में लगभग सर्वत्र और युद्ध-विमर्श कहीं सीधे तो कहीं इन विभीषिकाओं के माध्यम से संकेत रूप में उपस्थित है। पहले ही अंक में युद्ध-दर्शन के ज़रिए आधुनिक दृष्टिकोण का परिचय दे दिया गया है— *"टुकड़े-टुकड़े हो बिखर चुकी मर्यादा/ उसको दोनों ही पक्षों ने तोड़ा है/ पांडव ने कुछ कम कौरव ने कुछ ज्यादा/ यह रक्तपात अब कब समाप्त होना है/ यह अजब युद्ध है नहीं किसी की भी जय/ दोनों ही पक्षों को खोना ही खोना है।"*[4] इस तरह कहा जा सकता है कि इस कृति के निर्माण में आधुनिकता भी एक तत्व के रूप में काम कर रही थी।

**5.1.3 मूल्यान्वेषण की चिंता :** जैसा कि आधुनिकता के संबंध में विचार करते समय पाया गया कि अपने अमूर्त रूप में आधुनिकता एक मूल्य है, युद्ध-विमर्श के ज़रिए आधुनिकता के इस रूप को दुनिया के सामने पेश करने की चिंता इस कृति में मौजूद है। युद्ध निरर्थक है, अमानवीय है, यह

---

[3] नयी कविता और अस्तित्ववाद : राम विलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पेपरबैक संस्करण 1993, आवृत्ति 2014, पृष्ठ 103

[4] अंधायुग :धर्मवीर भारती, किताब महल प्रकाशन, इलाहाबाद, बयालीसवाँ पेपरबैक संस्करण, 2010, पृष्ठ 3

आधुनिक दृष्टिकोण है; और आधुनिक दृष्टिकोण एक मूल्य है। इस दृष्टिकोण को सर्वत्र इस कृति में महसूस किया जा सकता है।

सत्यवादिता एक शाश्वत मूल्य है, जिसकी प्रासंगिकता आधुनिक युग के छल-प्रपंच ने लगभग समाप्त कर दी है। इसे स्थापित करने की चिंता इस कृति की एक महत्वपूर्ण चिंता है। युधिष्ठिर, जोकि अपनी सत्यवादिता के कारण ही धर्मराज कहे जाते थे और जिनकी इसी विशेषता की वजह से लोगों का उन पर अटूट विश्वाश था, स्वार्थ के लिए सत्य का साथ छोड़ देते हैं। उनके द्वारा बोले गये अर्द्धसत्य ने अजेय योद्धा द्रोणाचार्य का वध करवाया और अश्वत्थामा के हृदय में घनघोर अनास्था उत्पन्न की। जब अपने को धर्मराज कहलाने वाला व्यक्ति स्वार्थ के लिए मर्यादा-विरुद्ध आचरण कर सकता है, झूठ और धोखे का सहारा ले सकता है, तो अश्वत्थामा जैसा सामान्य मनुष्य, जिसे सत्य और मर्यादा के लिए जाना भी नहीं जाता, क्या-क्या अमर्यादित आचरण नहीं कर सकता ! धर्मराज के इस प्रपंच ने अश्वत्थामा के हृदय के सत्य और सुंदर का नाश करके उसे पशु में परिवर्तित कर दिया। सत्य, धर्म और मर्यादा आदि मूल्यवान शब्द उसे खोखले लगने लगे, क्योंकि अपने स्वार्थ के समय इनसे धर्मराज भी विमुख हो सकते हैं। जब धर्मराज ऐसा आचरण कर सकते हैं तो सामान्य मनुष्यों की गणना ही क्या ! इसी विचार ने अश्वत्थामा के हृदय को बदल दिया और उसे एक नृशंस तथा पशुवत अपराधी के रूप में अवतरित किया। अशत्थामा का यह कथन प्रकारांतर से सत्य और मर्यादा नामक मूल्यों को पुनः प्रतिष्ठित करने की चिंता लिये हुए है—*"भूल नहीं पाता हूँ/ मेरे पिता थे अपराजेय/ अर्द्धसत्य से ही/ युधिष्ठिर ने उनका/ वध कर डाला।/ उस दिन से/ मेरे अंदर भी/ जो शुभ था, कोमलतम था/ उसकी भ्रूण-हत्या/ युधिष्ठिर के/ अर्द्धसत्य ने कर दी/ धर्मराज होकर वे बोले/ 'नर या कुंजर'/ मानव को पशु से/ उन्होंने पृथक नहीं किया/ उस दिन से मैं हूँ/ पशुमात्र, अंध बर्बर पशु"*[5]। मानव को पशु से पृथक न करने वाली काव्य-पंक्ति उल्लेखनीय है। 'मनुष्यता' खुद एक मूल्य है। युधिष्ठिर ने मनुष्य को पशु से अलग न कर उस मूल्य का निरादर किया। अश्वत्थामा की चिंता—और प्रकारांतर से कवि की भी, क्योंकि कवि ने इस प्रसंग में अपनी कल्पना का सहारा लिया है—मनुष्यता के निरादर की है। अश्वत्थामा के मन में मनुष्यता के इस अवमूल्यन से उपजी अनास्था के चित्रण के सहारे कवि उसमें अपनी आस्था प्रकट कर रहा है, और आस्था स्वयं में एक मूल्य है। कुल मिलाकर मनुष्यता की प्रतिष्ठा कवि, काव्य और अश्वत्थामा की साझी चिंताएँ हैं। तब यदि अश्वत्थामा को काव्य का नायक या प्रतिनायक माना जाए तो कोई आश्चर्य नहीं।

**5.1.4 दार्शनिकता :** इस काव्य-नाटक में अस्तित्ववादी दर्शन का प्रभाव है। अस्तित्ववाद व्यक्तिवाद का चरम रूप है। व्यक्तिवाद में व्यक्ति समाज द्वारा निर्धारित ऐसे मूल्यों, परंपराओं, रीति-रिवाजों की दासता स्वीकार नहीं करता, जिनका स्वरूप जड़ हो चुका होता है; अस्तित्ववाद में वह

[5] अंधायुग :धर्मवीर भारती, किताब महल प्रकाशन, इलाहाबाद, बयालीसवाँ पेपरबैक संस्करण, 2010, पृष्ठ 25

किसी भी प्रकार के मूल्यों, परंपराओं, रीति-रिवाजों को महत्व नहीं देता। वह स्वयं अपना मार्ग चुनता है। *"सार्त्र का कहना था कि मनुष्य जब पैदा होता है तब वह तुरंत मानवीयता प्राप्त नहीं कर लेता; वह मानवीयता अर्जित करता है, स्वतंत्र इच्छा से उद्देश्य निश्चित करके। ... जब वह अपना उद्देश्य निश्चित करता है तब उसके द्वारा अपना हित ही नहीं करता वरन उद्देश्य का निश्चय मानव मात्र के लिए हितकर होता है। ने इस विराट दायित्वबोध के कारण ही उसे तीव्र वेदना का अनुभव होता है।"*[6] अस्तित्ववाद में वेदना, पीड़ाबोध, भय, त्रास, आत्महत्या के प्रयास, मृत्युबोध, आत्मनिर्वासन, विक्षिप्तावस्था आदि की स्थितियों से व्यक्ति गुजरता ही है, क्योंकि इनके अनुभवों से गुजरकर ही उसे ज्ञान प्राप्त होते हैं, जिनके माध्यम से वह अपने जीवन के निर्णय लेता है। इस संदर्भ में अस्तित्ववाद के प्रवर्तक सोरेन कीर्केगार्ड के विचारों का उल्लेख रामविलास शर्मा ने यों किया है—*"मनुष्य के मन में जो द्वंद्व फूटते है, जो वेदना वह सहता है, उसी से वह निर्णयों तक पहुँचता है। भय और त्रास से हमें बोध होता है कि मृत्यु क्या होती है। अपराध और पश्चाताप की भावनाओं से हमें ज्ञान प्राप्त होता है कि नैतिक आधार क्या है और हम कर्म करने में स्वतंत्र हैं। वेदना से व्याकुल होकर हम ऐसे संसार की आकांक्षा करते हैं जो सोद्देश्य और व्यवस्थित हो। अनिश्चय की स्थिति में जब मन दुखी होता है, तब हमें ज्ञात होता है कि ईश्वर क्या है।"*[7] अंधायुग के पात्र भी उपर्युक्त मनः-स्थितियों से गुजरते हैं।

सबसे पहले धृतराष्ट्र को आशंका और भय का बोध होता है, जब उन्हें युद्ध के परिणामों का आभास होता है। वे विदुर से कहते हैं—*"विदुर!/ जीवन में प्रथम बार/ आज मुझे आशंका व्यापी है।"*[8] विदुर एक अस्तित्ववादी विचारक की तरह ही कहते हैं—*"यह जो पीड़ा ने/ पराजय ने दिया है ज्ञान,/ दृढ़ता ही देगा वह।"*[9] पीड़ा और पराजय के बोध से ज्ञान उपजता है, यह अस्तित्ववादी मान्यता है। माता गांधारी भी इस पीड़ा-बोध से गुज़रते-गुज़रते विद्रोही हो जाती हैं। कृष्ण के लिए उनके मन में प्रायः ही आक्रोश उमड़ता रहता है—*"जिसको तुम कहते हो प्रभु/ उसने जब चाहा/ मर्यादा को अपने ही हित में बदल लिया।/ वंचक है।"*[10] अस्तित्ववाद में वस्तु-जगत को महत्व नहीं प्रदान किया जाता। इस संदर्भ में अस्तित्ववादी विचारक मार्टिन हाइडेगर के विचारों को रामविलास शर्मा ने यों लिपिबद्ध किया है—*"मनुष्य जिस संसार में जन्म लेता है उसे वस्तुगत रूप से जान नहीं सकता; वह स्वयं को रूपों के मायालोक में खोया हुआ पाता है। यह मायालोक निरर्थक और निरुद्देश्य है किन्तु इसी में मनुष्य को जीना है; जीने के इस दायित्व से वह घुट-घुट कर रह जाता है।"*[11] गांधारी के चरित्र में कवि ने इस तरह की मनः-स्थिति को प्रकट किया है। वस्तु-जगत की व्यर्थताओं से बचने और उबरने के लिए ही उन्होंने

---

[6] नयी कविता और अस्तित्ववाद : राम विलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पेपरबैक संस्करण 1993, आवृत्ति 2014, पृष्ठ 105

[7] वही, पृष्ठ 102

[8] अंधायुग : धर्मवीर भारती, किताब महल प्रकाशन, इलाहाबाद, बयालीसवाँ पेपरबैक संस्करण, 2010, पृष्ठ 8

[9] वही, पृष्ठ 11

[10] वही, पृष्ठ 13

[11] नयी कविता और अस्तित्ववाद : राम विलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पेपरबैक संस्करण 1993, आवृत्ति 2014, पृष्ठ 103

अपनी आँखों में पट्टी बाँध राखी है, यह कल्पना कवि ने प्रायः अस्तित्ववादी-दर्शन के दबाव में ही की है—*"लेकिन अंधी नहीं थी मैं ।/ मैंने यह बाहर का वस्तु-जगत अच्छी तरह जाना था ।/ धर्म, नीति, मर्यादा यह सब हैं केवल आडंबर मात्र, मैंने यह बार-बार देखा था ।/ निर्णय के क्षण में विवेक और मर्यादा व्यर्थ सिद्ध होते आए हैं सदा ।/ ... मुझको इस झूठे आडंबर से नफ़रत थी इसलिए स्वेच्छा से मैंने इन आँखों पर पट्टी चढ़ा रखी थी ।"*[12] वस्तु-जगत, निर्णय के क्षण, विवेक आदि अस्तित्ववादी शब्दों के माध्यम से इस संवाद में अस्तित्वावाद की झलक बिलकुल स्पष्ट है।

अश्वत्थामा की स्थिति भी गांधारी से मिलती-जुलती है। दोनों बाहरी दुनिया के यथार्थ का साक्षात्कार कर विद्रोही बनते हैं। दोनों के विद्रोह में अंतर सिर्फ इतना है कि गांधारी उस यथार्थ को आँखों से ओझल कर देना चाहती हैं और अश्वत्थामा को वह यथार्थ अपनी चपेट में ले लेता है, चाहकर भी अश्वत्थामा उससे बच नहीं पाता है। अश्वत्थामा निर्णय लेने की प्रक्रिया के पहले जिस मानसिक यातना और उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई विक्षिप्तता से गुज़रता है, उस यातना और विक्षिप्तता में अस्तित्ववाद की अनुगूँज है। व्यास द्वारा प्राप्त अभयदान के कारण संजय को युद्ध में अवध्य माना गया था। अपनी विक्षिप्तता में जब अश्वत्थामा संजय को मारने झपटता है तब कृतवर्मा संजय को युद्ध से तटस्थ बताकर उसे मारने से मना करते हुए अश्वत्थामा को कसकर पकड़ लेते हैं। इस पर कृतवर्मा के बंधन से छटपटाता हुआ अश्वत्थामा कहता है—*"तटस्थ ?/ मातुल मैं योद्धा नहीं हूँ/ यह तटस्थ शब्द है मेरे लिए अर्थहीन ।/ सुन लो यह घोषणा/ इस अंधे बर्बर पशु की/ पक्ष में जो नहीं है मेरे/ वह शत्रु है ।"*[13]

युयुत्सु ने अपनी जिम्मेदारी समझते हुए पांडवों के पक्ष में रहने का निराने लिया था। युद्ध के बाद अपने संबंधियों के पास आने पर उसे बहुत बुरी तरह प्रताड़ित किया जाता है, जिसके बाद वह अत्यंत मानसिक पीड़ा का शिकार हो जाता है। इस पीड़ा से उबरने के लिए वह आत्महत्या का प्रयास करता है। इस काव्य नाटक के पाँचवें अंक का नाम ही 'विजय : एक क्रमिक आत्महत्या' रखा गया है, जिसमें युयुत्सु, गांधारी और धृतराष्ट्र को आत्महत्या की स्थिति तक पहुँचने को विवश दिखाया गया है। इसके पहले ये सब घोर मानसिक यातना से गुज़र चुके होते हैं। मानसिक यातना, भय, त्रास, आत्महत्या, विक्षिप्तता आदि की स्थितियाँ अस्तित्ववाद में पायी जाती हैं, यह बात पहले ही रेखांकित की जा चुकी है। अंधायुग के अधिकांश पात्र इन मनः-स्थितियों से गुज़रते हैं, यहाँ तक कि कृष्ण भी। अतः यह बात स्पष्ट है कि इस कृति में अस्तित्ववाद का गहरा प्रभाव है।

**5.1.5 विमर्श :** संपूर्ण कृति में युद्ध की अनिवार्यता और निवार्यता पर वैचारिक विमर्श मौजूद है। इसे पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि युद्ध मानवता के लिए हानिकर है, इसे कहीं सीधे तो कहीं

---

[12] अंधायुग : धर्मवीर भारती, किताब महल प्रकाशन, इलाहाबाद, बयालीसवाँ पेपरबैक संस्करण, 2010, पृष्ठ 12

[13] वही, पृष्ठ 28

सांकेतिक रूप में प्रस्तुत किया गया है। युद्ध के बाद उपजी यातना, पीड़ा, अव्यवस्था, मूल्यहीनता, भय, त्रास आदि के चित्रण सांकेतिक रूप से युद्ध की निरर्थकता को व्यंजित करने के लिए ही आये हैं।

## 5.2 कनुप्रिया

**5.2,1 मिथकीय चेतना :** कनुप्रिया राधा और कृष्ण के प्रेम प्रसंगों को आधार बना कर लिखा गया प्रबंध काव्य है। राधा और कृष्ण का प्रेम भारतीय मिथकों में सर्वाधिक लोकप्रिय रहा है। लोकप्रियता का माध्यम पौराणिकता उतनी नहीं है जितनी कि बाद के कवियों की कविताएँ। कृष्ण की लीलाओं का आकर-ग्रंथ श्रीमद्भागवत महापुराण रहा है पर उसमें राधा नाम का कहीं जिक्र नहीं हुआ है, यद्यपि कृष्ण और गोपियों का प्रेम उसमें पर्याप्त रूप से वर्णित है और कृष्ण-काव्य लिखने वाले कवियों का वह उपजीव्य-ग्रंथ रहता आया है। बाद में कवियों ने राधा और कृष्ण के प्रेम को वह प्रसिद्धि दिलाई जो पौराणिक ग्रंथ भी नहीं दिला पाए थे। कनुप्रिया काव्य की कथावस्तु की अवधि का फलक थोड़ा व्यापक है, पर उसके वर्णन को राधा के आत्मकथ्यों में समेट कर इसके आयाम को निश्चित कर दिया गया है। इस काव्य में घटनाएँ नहीं हैं, बीती हुई या आगत घटनाओं के विषयों में राधा के एकालाप हैं। यों इसकी कथा का फलक गोकुल के किशोर कृष्ण की लीलाओं से लेकर महाभारत और द्वारिका के योद्धा और शासक कृष्ण की राजनीति और युद्धनीति तक फैला हुआ है। अतः इसकी कथावस्तु में राधा द्वारा वर्णित घटनाओं या दृश्यों का कोई एक उपजीव्य ग्रंथ नहीं है। फिर भी ऐसे ग्रंथों में श्रीमद्भागवत महापुराण और महाभारत का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। काव्य में राधा पहले कृष्ण के साथ बिताए हुए प्रेममय क्षणों को भावुकता के साथ याद करती है और बाद में योद्धा और शासक कृष्ण की युद्धनीतियों और उनकी युद्ध में संलग्नता पर आलोचनात्मक रूप से विचार करती है। दोनों ही स्थितियों में संबोधन कृष्ण के प्रति ही है। एक तरह से यह कृति पौराणिक संदर्भों के सहारे खुद का मौलिक रूप विकसित करती है जिसमें प्रेम को युद्ध के ऊपर मान्यता प्रदान की गई है।

**5.2.2 आधुनिकता-बोध :** यद्यपि यह कृति भावना-प्रधान है, पर भावनाएँ विचारशून्य नहीं होतीं। अतः आधुनिक युग के अनुकूल विचारों को भी इस कृति में जगह मिल सकी है। इस कृति में आधुनिकता के दोनों रूप मौजूद हैं—मूर्त और अमूर्त। अपने मूर्त रूप में आधुनिकता नगरीकरण और औद्योगीकरण से जुड़ी होती है और अमूर्त रूप में विचारों से। नगरीकरण और औद्योगीकरण जहाँ मानव-विकास के अनेक मार्ग खोलते हैं वहीं वे मानव के आपसी रिश्तों की सघनता को कम भी करते हैं। इस रूप में कृष्ण के गाँव की ओर से नगर की ओर अग्रसर होने की प्रक्रिया उनकी भावनाओं के क्षरण की भी प्रक्रिया है जो मानवता के लिए घातक है। नगरपति बन जाने के बाद कृष्ण में भावनाओं के क्षरण की यह प्रक्रिया तेज हो जाती है। उनके अंदर मानवीय रिश्तों के प्रति बहुत कम संवेदना बचती है। इस बात का प्रमाण यह है कि जिन-जिन वस्तुओं, पेड़-पौधों आदि के सानिध्य में कृष्ण अपने बाल्य-काल में रहे हैं, राधा या गोपियों के साथ विभिन्न प्रकार की लीलाएँ की हैं, उन्हीं को नगरपति

बन जाने के बाद उनकी सेनाएँ नष्ट करने पर आमादा हैं। आम की वह डाल जिस पर टिककर कृष्ण वंशी के माध्यम से राधा को बुलाया करते थे, कृष्ण के शासक बनने के बाद वही डाल उनके सैनिकों के द्वारा काट दी जाती है— *''आज यह आम की डाल/ सदा-सदा के लिए काट दी जाएगी/ क्योंकि कृष्ण के सेनापतियों के/ वायुवेगगामी रथों की/ गगनचुंबी ध्वजाओं में/ यह नीची डाल अटकती है''*[14]। पर्यावरण और प्रकृति को जिस तरह आधुनिकतावादी विकास और युद्ध की भेंट चढ़ाया जाता है, उसका स्वर और उसकी चिंता यहाँ राधा के माध्यम से मुखरित है। कृष्ण के नगरवासी, शासक और योद्धा बनने के बाद उनकी सेनाओं या उनके द्वारा जो मानव और प्रकृति के रिश्तों के प्रति विमुखता या उपेक्षा है, वह आधुनिकता के मूर्त-विकास का ही परिणाम है। उसकी अभिव्यक्ति और चिंता राधा के माध्यम से इस काव्य में की गई है।

आधुनिकता के मूर्त रूप की सीधी अभिव्यक्ति से उसके स्वरूप का पता भर चलता है, पर उसकी ऐसी अभिव्यक्ति जिसमें अभिव्यक्ति-कर्ता द्वारा इसके हानिकारक रूप के प्रति चिंता प्रकट की गई हो, या मात्र व्यंजित ही हो; तब वह चिंता आधुनिकता के अमूर्त रूप में आएगी। अपने अमूर्त रूप में यों आधुनिकता एक विचार या दृष्टिकोण होती है जो मूल्य बनकर संसार की भलाई का काम करती है। यों राधा के मन में कृष्ण का युद्ध की तरफ उन्मुख होना बराबर चिंता का विषय बना रहा और उन्होंने अपने वक्तव्यों या संकेतों के माध्यम से इसके हानिकारक पक्ष को बराबर उजागर भी किया। युद्ध अपने अंदर सदैव विनाशकारी परिणामों को समेटे रहता है, अतः इसकी इस प्रवृत्ति को पहचानना तथा इससे बचने का उपाय ढूँढना आधुनिकता का परिचायक है। राधा ने कृष्ण के साथ जिए हुए अपने प्रेम-भरे जीवन के आगे सदैव कृष्ण के युद्ध-भरे जीवन को निरर्थक मानकर आधुनिक-दृष्टिकोण का परिचय दिया है। राधा ने युद्ध को निरर्थक मानकर कृष्ण से सवाल किया है— *''हारी हुई सेनाएँ, जीती हुई सेनाएँ/ नभ को कँपाते हुए, युद्ध-घोष, क्रंदन-स्वर,/ भागे हुए सैनिकों से सुनी हुई/ अकल्पनीय अमानुषिक घटनाएँ युद्ध की/ क्या ये सब साथक हैं''*[15]। युद्ध के अलावा नगरवासियों और शासकों की असंवेदनशील प्रवृत्ति को कृष्ण के माध्यम से इस काव्य में राधा के द्वारा व्यक्त किया गया है। अतः कहा जा सकता है कि इस काव्य के माध्यम से आधुनिकता के सकारात्मक और नकारात्मक, दोनों पक्षों को वाणी दी गई है। युद्ध का विकल्प प्रेम ही हो सकता है। यह दो विश्व-युद्धों के बाद एक चेतना-संपन्न व्यक्ति अच्छी तरह समझ गया था। इस कृति पर भी दो-दो विश्व-युद्धों की विभीषिका का प्रभाव है। आधुनिकता विज्ञान के साथ आई। विज्ञान ने तकनीकी विकास के माध्यम से अत्याधुनिक हथियार विकसित किये। हथियारों का प्रयोग शासकों ने अपने-अपने राज्य की शक्ति बढ़ाने में एक-दूसरे के खिलाफ किया। इस कृति में यह आधुनिकताबोध है कि नगरीकरण की प्रक्रिया और सत्ता पर काबिज होने की

[14] कनुप्रिया : धर्मवीर भारती, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, उन्नीसवाँ संस्करण 2013, पृष्ठ 65
[15] वही, पृष्ठ 68

ललक ने भावनाओं को नीचे कर बुद्धि को ऊपर कर दिया। लिहाजा मानवीय-संबंध और प्रकृति-प्रेम पीछे छूटता गया और चालाकी, कूटनीति असंवेदनशीलता आदि आगे बढ़ते गये। इन सब के खिलाफ इस काव्य में विरोध का स्वर मुखरित या व्यंजित है, युद्ध के खिलाफ तो है ही।

**5.2.3 मूल्यान्वेषण की चिंता :** इस काव्य में 'प्रेम' और 'संवेदना' को बचाने की चिंता प्रमुखता से उभर कर आई है। पर्यावरण और प्रकृति के संरक्षण की चिंता भी इसी से लगी हुई चलती है। यों भी प्रेम और प्रकृति अन्योन्याश्रित रूप से एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। इस शोध-प्रबंध के 'नयी कविता' नामक सैद्धांतिक अध्याय के अंतर्गत इस तथ्य को रेखांकित किया गया है कि सामंत-युगीन समाज की सबसे बड़ी सकारात्मक विशेषता यह थी कि उसमें मानवीय रिश्तों में स्थायित्व और सघनता बनी रहती थी, जबकि पूँजीवादी समाज इनमें बिखराव ला देता है। सामंत-युगीन समाज में रिश्तों की सघनता बनी रहने के पीछे कारण यह था कि इस युग में उत्पादन के साधन मुख्यतः हाथ थे, और माध्यम खेती-बाड़ी और पशु-पालन। खेती-बाड़ी या पशु-पालन करने के लिए दो नहीं, अनेक हाथों की जरूरत पड़ती है। मदद करने के अर्थ में 'हाथ-बटाना' नामक मुहावरा ऐसी ही ज़रूरतों को पूरा करने के लिए चला होगा। उत्पादन के ऐसे माध्यमों के चलते ही परिवार संयुक्त रहता था। पशु-पालन तो फिर भी परिवार के सदस्य मिलकर कर सकते हैं, पर खेती के लिए परिवार से बाहर के लोगों की भी मदद लेनी पड़ती है। इस तरह मदद और सहयोग के सहारे पारिवारिक और ग्रामीण रिश्ते बनते थे। खेत अचल संपत्ति है, उसे उठाकर कहीं और नहीं ले जाया जा सकता। अतः उसमें संलग्न लोग स्थायी रूप से गाँव में ही निवास करते थे, और प्रायः सभी इसमें संलग्न ही रहते थे। इस तरह उनके रिश्तों में स्थायित्व भी बरकरार रहता था।

यह उल्लेखनीय है कि यहाँ सामंत-युगीन समाज की बात की जा रही है, स्वयं सामंतों की नहीं। सामंत उत्पादन के साधनों से सीधे नहीं जुड़ते, अतः यह ज़रूरी नहीं कि उनमें मदद और सहयोग की वे भावनाएँ विकसित हों जो उस समाज के लोगों के अंदर पायी जाती हैं। प्रायः सत्ता पर आरूढ़ व्यक्ति संबंधों के प्रति उतना संवेदनशील नहीं होता जितना साधारण लोग होते हैं। कारण यह है कि सत्ताधारी का संबंध सत्ता के साथ-साथ धन और शक्ति से हो जाता है। वह निरंतर अपनी सत्ता, धन और ताकत बढ़ाना चाहता है। इसके लिए वह युद्धों में संलग्न होता है। और युद्ध तमाम संवेदनाओं को नष्ट कर देता है। जहाँ समाज के साधारण-लोग अपने जीवन की प्रक्रिया में अपने अंदर एक-दूसरे के प्रति संवेदना और प्रेम विकसित करते जाते हैं, वहीं सत्ता से जुड़े हुए लोग एक-दूसरे के लिए तो चालाकी, कूटनीति, धूर्तता आदि विकसित करते ही हैं, जनता के प्रति भी वे असंवेदनशील और निर्मम होते जाते हैं।

ऊपर यह तो बताया गया कि सामंती-युग का साधारण-समाज मानवीय संवेदना और प्रेम की सघनता विकसित कर लेता है, पर पूँजीवादी-युग का समाज मानवीय संबंधों में बिखराव कैसे लाता है,

इसका विवेचन अभी बाकी है। पूँजीवादी समाज में उत्पादन के साधन प्रायः मशीनें हो गयीं। मशीनों के बल पर औद्योगीकरण शुरू हुआ। औद्योगीकरण ने नगरीकरण को बढ़ावा दिया। और इस तरह शहर और कारखाने स्थापित हुए। लोग गाँवों से पैसा कमाने के लिए शहर में जाने लगे। वे शहर में सुविधानुसार अस्थायी या स्थायी रूप से रहने भी लगे। इस तरह गाँवों से लोगों के निवास का स्थायीकरण बाधित हुआ। संयुक्त परिवार बिखरने लगे। परिवार का कोई व्यक्ति इस शहर में तो कोई उस शहर में रहने लगा, या इसके लिए बाध्य हुआ। अलग-अलग रहने की वजह से, एक-दूसरे के प्रति बहुत सहयोगी भाव न रखने से उनके बीच संबंधों की वह प्रगाढ़ता न रह गयी जो सामंती-युग की विशेषता थी। शहरों में लोग बसते तो बिलकुल सघन रूप से हैं, पर जीविका के लिए एक दूसरे पर बिलकुल भी निर्भर नहीं रहते। इसीलिए परस्पर सहयोग की भावना का विकास उनमें बिलकुल भी नहीं हो पाता। अपने परिवार के अलावा अन्य लोगों के लिए संवेदना का विकास शहर के माहौल उपलब्ध नहीं करा पाते। अतः मानव-संबंधों में वहाँ सघनता विकसित ही नहीं हो पाती। इस तरह पूँजीवादी युग में मानवीय रिश्तों में बिखराव आया है। इसके अलावा भी, पूँजीवाद हर व्यक्ति को योग्यतानुसार पैसा कमाने की स्वतंत्रता देता है। ऐसे में लोग पैसों को ज्यादा और रिश्तों को कम अहमियत देने लगे।

ऊपर पूँजीवादी साधारण-समाज के लोगों की प्रवृत्तियों या कार्यप्रणालियों की विवेचना की गयी है। विवेचन से स्पष्ट है कि पूँजीवाद ने साधारण लोगों को भी अपनी गिरफ्त में ले रखा है, शासन और सत्ता से जुड़े लोग फिर उसके कितने प्रभाव में आते होंगे ! यह ध्यान रखना होगा कि बात यहाँ संवेदना के संदर्भ में हो रही है। पूँजीवाद का संवेदना को ख़त्म करने में बहुत बड़ा योगदान है, इसीलिए यह तथ्य एक कहावत का रूप ले चुका है कि 'पैसे वाले लोगों के पास दिल नहीं होता'।

इस संपूर्ण विवेचन को यदि इस काव्य-कृति के संदर्भ में देखें तो यह सहज ही दिखता है कि राधा यहाँ सामंत-युगीन साधारण-नारी हैं। अतः उनके अंदर प्रेम और संवेदना अत्यधिक मात्रा में हैं। उनका प्रेम प्रकृति के साहचर्य में विकसित होता है, अतः प्रकृति की उन सभी जड़ और चेतन वस्तुओं से उन्हें लगाव होता है, जिनके सानिध्य में वे कृष्ण के साथ रही होती हैं। वे जिस आत्मीयता से प्रकृति के उन उपकरणों को याद करती हैं, उससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रेम और प्रकृति का अन्योन्याश्रित संबंध है। कनुप्रिया की शुरुआत ही इसीलिए प्रकृति-प्रेम से होती है। कनुप्रिया के पहले गीत में अशोक वृक्ष को जिस रागात्मकता के साथ याद किया गया है, वह इस बात का प्रमाण है कि प्रकृति का साहचर्य मनुष्य में संवेदना और रागात्मक-संबंध विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं—*"ओ पथ के किनारे खड़े/ छायादार पावन अशोक-वृक्ष/ तुम यह क्यों कहते हो कि/ तुम मेरे चरणों के स्पर्श की प्रतीक्षा में/ जन्मों से पुष्पहीन खड़े थे/ तुम को क्या मालूम कि/ मैं कितनी बार केवल तुम्हारे लिए—/ धूल में मिली हूँ"*[16]। यमुना का जल श्याम रंग का होता है, कृष्ण का रंग भी श्याम है। इस समानता के

[16] कनुप्रिया : धर्मवीर भारती, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, उन्नीसवाँ संस्करण 2013, पृष्ठ 11

कारण राधा के मन में यमुना के प्रति जो रागात्मक संबंध विकसित होता है वह भी द्रष्टव्य है—*"मानो यह यमुना की साँवली गहराई नहीं है/ यह तुम हो जो सारे आवरण दूर कर/ मुझे चारों ओर से कण-कण, रोम-रोम/ अपने श्यामल प्रगाढ़ अथाह आलिंगन में पोर-पोर/ कसे हुए हो !"*[17] प्रेम और प्रकृति के इसी स्वरूप को बचाए रखने की चिंता इस काव्य में व्याप्त है।

कृष्ण भी आरंभ में साधारण-जन ही थे। अतः उनमें भी प्रेम और संवेदना थी। पर कालांतर में कृष्ण जब द्वारिका के राजा बनते हैं, तब से उनमें प्रेम और संवेदना के प्रति आकर्षण कम होने लगता है। राधा के माध्यम से नगर और नगर के अधिपतियों की विशेषताएँ इस काव्य में उकेरी गयी हैं। नगर से जुड़कर कृष्ण अपने और अपने राज्य के विकास के लिए जिन गतिविधियों में संलग्न होते हैं वे प्रेम और प्रकृति दोनों के लिए हानिकर साबित होती हैं। नगरीय विकास मानवीय-रिश्तों में बिखराव कैसे लाता है, इसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। युद्ध की गतिविधि में कृष्ण इस कदर संलग्न रहते हैं कि उन्हें यह सब देखने या सोचने-समझने का अवकाश नहीं रहता कि जिस अशोक वृक्ष से राधा को इतना प्यार होता है, उसे उनके सैनिक काटकर इसलिए गिरा देते हैं कि युद्ध के लिए जाते हुए उनके सैनिकों के मार्ग में यह बाधक बनकर खड़ा था—*"और यह पथ के किनारे खड़ा/ छायादार पावन अशोक-वृक्ष/ आज खंड-खंड हो जाएगा तो क्या—/ यदि ग्रामवासी, सेनाओं के स्वागत में/ तोरण नहीं सजाते/ तो क्या सारा ग्राम नहीं उजाड़ दिया जाएगा ?"*[18] कृष्ण के साहचर्य के कारण राधा जिस यमुना से अत्यंत स्नेह करती हैं, कृष्ण की युद्ध-प्रियता ने उसे भी दूषित कर दिया—*"अपनी जमुना में/ जहाँ घंटों अपने को निहारा करती थी मैं/ वहाँ अब शस्त्रों से लदी हुई/ अगणित नौकाओं की पंक्ति रोज-रोज कहाँ जाती है ?/ धारा में बह-बह कर आते हुए, टूटे रथ/ जर्जर पताकाएँ किस की हैं ?"*[19] एक ओर साहचर्य के कारण प्रकृति के सुरम्य रूप के प्रति आकर्षण और रागात्मकता के भाव और दूसरी तरफ उनके नष्ट या दूषित होने पर चिंता के भाव एक ओर प्रकृति और पर्यावरण के तथा दूसरी ओर प्रेम और संवेदना के संरक्षण-बोध से जुड़े हुए हैं। कृष्ण क्योंकि राधा के प्रेमी हैं, अतः वे उनका स्वरूप विकृत नहीं होने देना चाहतीं। इसीलिए वे कृष्ण को आत्मालाप के माध्यम से बार-बार चेताना चाहती हैं कि युद्ध और राज्य-लिप्सा का यह व्यवहार उचित नहीं है। इससे न जाने कितनी विकृतियाँ समाज और पर्यावरण में फैलती हैं। काव्य के अंत में यह संकेत है ही कि निरंतर युद्ध और राज्य-विस्तार की नीतियों में संलग्न रहने वाले कृष्ण इन सबसे थक गये हैं और अब उन्हें विश्राम के लिए कोई उपयुक्त आश्रय चाहिए। युद्ध क्षेत्र से वापस आते समय कृष्ण उसी मार्ग का अनुसरण करते हैं, जिस मार्ग पर वे प्रायः राधा के साथ चला करते थे। मार्ग में राधा उनकी प्रतीक्षा में खड़ी रहती हैं।

---

[17]कनुप्रिया : धर्मवीर भारती, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, उन्नीसवाँ संस्करण 2013, पृष्ठ 16

[18] वही, पृष्ठ 65

[19] वही, पृष्ठ 68

**5.2.4 दार्शनिकता :** इस काव्य-कृति का उद्देश्य प्रेम की महत्ता का प्रतिपादन है। इसीलिए इसमें प्रेम की बड़ी सघन और प्रगाढ़ व्यंजना है। प्रेम स्वयं में एक दर्शन है, अतः इसकी सघनता की व्यंजना कराने में यदि इसका वर्णन दार्शनिक शैली अख्तियार कर ले तो कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। काव्य के 'सृष्टि-संकल्प' नामक अध्याय का वर्णन अपनी प्रकृति में पूरी तरह दार्शनिक है। कृष्ण सृष्टि के सर्जक रूप में चित्रित हैं और राधा उनकी सृजन-संगिनी के रूप में। सृष्टि की रचना में राधा कृष्ण की सहयोगी भूमिका में हैं। आदर्शवादी-दर्शन कहता है कि ईश्वर अकेला था, अतः उसके मन में इच्छा जागृत हुई कि वह एक से अनेक हो जाए। तब उसने सृष्टि की रचना की। इसी अद्वैतवादी दर्शन पर राधा और कृष्ण का सृष्टि-सर्जन वाला दर्शन आधारित है। कृष्ण को सर्वशक्तिमान महापुरुष के रूप में चित्रित किया गया है, वे अपनी इच्छा से ही सृष्टि का सर्जन करते हैं। राधा कृष्ण की इसी इच्छा की प्रतीक हैं। इच्छा के वश में होकर ही कृष्ण सृष्टि का सर्जन करते हैं, अतः वे सृष्टि के रूप में खुद के साथ-साथ अपनी इच्छा अर्थात राधा का भी सृजन अनेक रूपों में करते हैं—*"कौन है वह/ जिसकी खोज में तुमने/ काल की अनंत पगडण्डी पर/ सूरज और चाँद को भेज रक्खा है/ कौन है जिसे तुम ने/ झंझा के उद्दाम स्वरों में पुकारा है/ कौन है जिस के लिए तुम ने/ महासागर की उत्ताल भुजाएँ फैला दी हैं/ कौन है जिस की आत्मा को तुम ने/ फूल की तरह खोल दिया है/ और कौन है जिसे/ नदियों जैसे तरल घुमाव दे-दे कर/ तुम ने तरंग-मालाओं की तरह/ अपने कंठ में, वक्ष पर, कलाइयों में/ लपेट लिया है—/ वह मैं हूँ मेरे प्रियतम! वह मैं हूँ/ वह मैं हूँ"*[20]। इस उद्धरण में स्पष्ट है कि सृष्टि की प्रत्येक वस्तुओं के माध्यम से कृष्ण राधा का ही संधान करते हैं। सूर्य और चंद्रमा राधा को खोजते हुए दिन रात घूमते रहते हैं, आँधी-तूफ़ान राधा को पुकारते हुए चलते हैं, महासागर ने राधा के लिए अपनी भुजाएँ पसारी हैं, फूल के रूप में राधा की आत्मा खिली है और नदियों के रूप में भी राधा अवतरित हैं। संधान करने वाले रूप कृष्ण के, और जिनका संधान किया जा रहा है, वे राधा के प्रतिरूप हैं। इस तरह संपूर्ण सृष्टि कृष्ण और राधा का ही विस्तार है—*"और अगर ये रहस्य मेरे हैं/ और तुम्हारा संकल्प मैं हूँ/ और तुम्हारी इच्छा मैं हूँ/ और इस तमाम सृष्टि में मेरे अतिरिक्त/ यदि कोई है तो केवल तुम, केवल तुम,/ केवल तुम/ तो मैं डरती किससे हूँ प्रिय !"*[21]

'सृष्टि-संकल्प' नामक अध्याय के 'आदिम भय' नामक उपअध्याय के अंतर्गत संपूर्ण सृष्टि में राधा ने अपना ही प्रतिरूप देखा है, जो कृष्ण ने अपने प्रेम के लिए बना रखा है—*"अगर यह निखिल सृष्टि/ मेरा ही लीलातन है/ तुम्हारे आस्वादन के लिए"*[22]। उल्लेखनीय है कि यह दार्शनिक-चेतना राधा के प्रगाढ़ प्रेम का परिणाम है। प्रेमी की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वह अपने प्रेम को निखिल सृष्टि में अनुभव करे। इसीलिए उसे संपूर्ण संसार में अपने प्रेमास्पद या स्वयं अपना रूप दृष्टिगत होने

---

[20] कनुप्रिया : धर्मवीर भारती, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, उन्नीसवाँ संस्करण 2013, पृष्ठ 42

[21] वही, पृष्ठ 47

[22] वही, पृष्ठ 45

लगता है। इसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर राधा ने सृष्टि-सर्जन की प्रक्रिया को कल्पित करते हुए उसमें कृष्ण की सहयोगी के रूप में अपने को रखा। वैसे भी लोक में कृष्ण और राधा ईश्वर के अवतार माने जाते हैं, अतः कवि की यह कल्पना निराधार नहीं कही जा सकती। यह कल्पना इस कृति के अपने उद्देश्य प्रेम की महत्ता के प्रतिपादन में सहायक हुई है, इसमें संदेह नहीं।

**5.2.5 विमर्श :** कनुप्रिया भावना-प्रधान कृति है। इसमें घटनाएँ नहीं हैं, बीती हुई घटनाओं पर राधा की भावनाएँ व्यक्त हुई हैं। भावनाएँ बिलकुल विचारशून्य नहीं हुआ करतीं, अतः यथास्थान इन भावनाओं में विचार भी अनुस्यूत हैं। अपने वैचारिक स्तर पर युद्ध-विमर्श का काव्य यह भी है; पर जैसा कि स्पष्ट किया गया, यह एक भावना-प्रधान कृति है, अतः विचार यहाँ भावों के अनुवर्ती ही हैं। आधुनिक-दृष्टि का परिचय देते हुए राधा ने काव्य में युद्ध के विनाशकारी परिणामों की ओर संकेत कर इसके मानवता के लिए हानिकारक पक्षों को उजागर किया है। सार्थक जीवन-दृष्टि की खोज की प्रक्रिया में 'युद्ध' राधा को सदैव निरर्थक ही लगा है, अतः वे कृष्ण से इसकी सार्थकता के बारे में पूछती हैं—*"जितनी समझ तुम से अब तक पायी है कनु,/ उतनी बटोरकर भी/ कितना कुछ है जिस का/ कोई भी अर्थ मुझे समझ नहीं आता है/ अर्जुन की तरह/ मुझे भी समझा दो/ सार्थकता है क्या बंधु ?/ मान लो कि मेरी तन्मयता के गहरे क्षण/ रँगे हुए, अर्थहीन, आकर्षक शब्द थे—/ तो सार्थकता फिर क्या है कनु"*[23]। राधा अपनी संपूर्ण भावुकता के बावजूद इतनी वैचारिक है कि वह युद्ध को सार्थक नहीं मानना चाहती। राधा की यही वैचारिकता काव्य में उस विचारधारा को जन्म देती है, जिसके तहत युद्ध मानवता के लिए किसी भी दृष्टिकोण से उचित नहीं है। प्रेम के गहन क्षणों के प्रति मोह के चित्रण भी इसी विचारधारा को बल प्रदान करने के लिए आये हुए हैं कि प्रेम का मार्ग ही सार्थक है, युद्ध का नहीं।

### 5.3 संशय की एक रात

**5.3.1 मिथकीय चेतना :**'संशय की एक रात' नामक काव्य नाटक राम-कथा को आधार बनाकर लिखा गया है। इसमें कवि ने अपनी कल्पना के माध्यम से मिथकीय-कथा में निहित संभावनाओं के सहारे कथा को आधुनिक रूप देने का प्रयास किया है। रामायण की प्रख्यात कथा का मात्र आधार-भर लिया गया है, बाकी के सारे कार्य-व्यापार और संवाद कवि की अपनी कल्पना की उपज हैं। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि यह कृति घटना-प्रधान न होकर विचार-प्रधान है, अतः मिथक की मूल-प्रकृति सुरक्षित रह सकी है, अन्यथा राम के स्थापित व्यक्तित्व में विपरीत गुणों के आरोपण के कारण मिथक की जातीयता संकट में पड़ जाती। मिथक की प्रकृति अपने युग के अनुरूप स्थूल तथा घटना-प्रधान होती है। आधुनिक युग के अनुरूप लेखक उन घटनाओं में निहित संभावित सूक्ष्म विचारों या भावों के सहारे ही उनमें आधुनिकता का समावेश कर सकता है। ऐसा करते समय

---

[23] कनुप्रिया : धर्मवीर भारती, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, उन्नीसवाँ संस्करण 2013, पृष्ठ 68-69

लेखक को यह ध्यान रखना चाहिए कि खोजी गयी संभावनाएँ मिथकीय घटनाओं और पात्रों की प्रकृति के अनुकूल ही रहें, अन्यथा की स्थिति में पाठकों की मान्यता उसे नहीं मिल पाती। 'संशय की एक रात' में कवि ने यद्यपि घटनाओं में निहित संभावनाओं के सहारे ही उसे आधुनिक रूप देना चाहा है, पर राम पर उनके परंपरागत व्यक्तित्व से अलग प्रकार के व्यक्तित्व के आरोपण तथा ऐसा करते समय उनके संवादों की सार्वजनिक अतार्किकता के कारण इस कृति में असहजता आ गयी है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता।

समुद्र पर पुल निर्माण के बाद लंका पर आक्रमण करने के पहले राम ने रावण के पास युद्ध टालने के लिए संधि-प्रस्ताव भिजवाया था। यह एक मिथकीय घटना है। इसी मिथकीय घटना के सहारे राम के मन का विश्लेषण करते हुए लेखक ने 'संशय की एक रात' की रचना की है। उपर्युक्त मिथकीय घटना से सिद्ध होता है कि राम अनावश्यक युद्ध नहीं चाहते थे, वह एक शांतिप्रिय और समझदार व्यक्ति थे, आदि-आदि। इस घटना में निहित ऐसी संभावनाओं से राम के व्यक्तित्व का सकारात्मक विकास किया जा सकता है, लेखक ने करने का प्रयास भी किया है, पर वह उन संभावनाओं को इतनी दूरी तक खींच ले गया है जहाँ से न सिर्फ राम के मिथकीय व्यक्तित्व पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है बल्कि युद्ध के विपक्ष में उनके द्वारा दिए गये तर्क भो खोखले-से लगते हैं।

**5.3.2 आधुनिकता-बोध :** यह कृति भी दो-दो विश्वयुद्धों और भारत-चीन युद्ध के बाद लिखी गई। युद्ध से मानवता को बचाने की समस्या इस कृति के भी केंद्र में है। यह इस अध्याय में एकाधिक बार कहा जा चुका है कि युद्ध की प्रवृत्ति आदिम और मध्यकालीन मनोवृत्ति की, और युद्ध से विमुखता की प्रवृत्ति आधुनिक काल की मनोवृत्ति की परिचायक है। यों, युद्ध किसी भी समस्या का समाधान नहीं है। युद्ध के बाद किसी समस्या का निवारण हो ही जाएगा, इस बात पर भी विश्वास नहीं किया जा सकता। इस कृति के केंद्रीय पात्र 'राम' की चिंता के केंद्र में यही आधुनिक प्रवृत्ति है—*"हनुमत वीर! युद्ध की अनियार्यता को जानता हूँ/ अपने से अधिक/ इस पृथुज्जन को मानता भी हूँ/ किंतु/ इस युद्ध के उपरांत होगी शांति/ इसका तो नहीं विश्वास।"*[24]

'हनुमान' के संवादों के अंदर निहित दासता और गुलामी जैसे मध्यकालीन मूल्यों के स्थान पर स्वतंत्रता और समानता जैसे आधुनिक मूल्यों को स्थापित करने की बेचैनी को पहचाना जा सकता है। उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद से विद्रोह आधुनिक युग की महत्वपूर्ण प्रवृत्ति है, इसे भी हनुमान के माध्यम से कवि ने इस कृति में व्यक्त किया है। राम से संवाद करते हुए हनुमान कहते हैं—*"महाराज !/ साम्राज्यवृत्ति के द्वारा/ हम साधारण जन/ अर्द्धसभ्य कर दिये गये ।/ हमने राक्षस रथ खींचे/ दासभाव*

[24] संशय की एक रात : नरेश मेहता, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2012, पृष्ठ 64

*से।/ ... हे रघुकुल तिलक/ हमारा यह सुंदर दक्षिण प्रदेश/ रावण/ या किसी अन्य का उपनिवेश हो/ यह स्वीकार नहीं अब/ किसी मूल्य पर।"*[25]

**5.3.3 मूल्यान्वेषण की चिंता :** राम के उपर्युक्त संवाद में शांति स्थापित करने की अकुलाहट को साफ तौर पर देखा जा सकता है। शांति एक अवस्था है जो एक सुव्यस्थित और सुसभ्य समाज या देश में कायम रहती है। वह अवस्था या व्यवस्था जो देश या समाज के अधिकांश व्यक्तियों को संतुष्टि प्रदान करती है, मूल्य कही जाती है। अतः 'शांति' एक प्रकार का मूल्य है, जो राम की चिंता के केंद्र में है। इसी तरह ऊपर उद्धृत हनुमान के संवादों में स्वतंत्रता और समानता जैसे मूल्यों को स्थापित करने की चिंता को भी स्पष्ट पहचाना जा सकता है। इसके अलावा कृति में विभीषण के संवादों में भविष्य में बने रहने की उनकी चिंता को देखा जा सकता है। व्यक्ति जीवन में उत्कृष्ट मूल्यों को अपनाकर ही आने वाली पीढ़ियों के लिए सम्मान का पात्र बना रह सकता है। उन मूल्यों को पाने की चिंता विभीषण को सताती है—*"कल/ जब हम नहीं केवल/ वृद्ध, ठंडी शिला सा/ इतिहास होगा।/ जब हमारे तर्क तक मर जाएँगे/ तब/ हमें क्या कहकर पुकारा जाएगा ?/ राष्ट्र संकट के समय/ मैं आक्रमण के साथ था/ राज्य पाने के लिए।"*[26] राष्ट्रप्रेम एक मूल्य है, जिसे अपनाने में विभीषण को अन्याय जैसी मूल्य-विरोधी और अमानवीय गतिविधि के पाले में चले जाने का खतरा नज़र आता है। अतः वे न्याय के लिए राष्ट्रद्रोह जैसी मूल्य-विरोधी, पर मानवीय गतिविधि के पाले में जाने के लिए विवश होते हैं। और इसके लिए अंततः उन्हें युद्ध जैसी अमानवीय और मूल्य-विरोधी गतिविधि में संलग्न होना पड़ता है। कुल मिलाकर विभीषण के चरित्र में राष्ट्रद्रोह के बदले राष्ट्रप्रेम जैसे मूल्य को ही महत्ता प्रदान करने की अकुलाहट देखी जा सकती है—*"मैं भी युद्ध की अनिवार्यता को मानता हूँ/ किंतु/ अपने राष्ट्र के प्रति/ क्या यही कर्तव्य है मेरा/ उस पर हो रहे/ इस आक्रमण में साथ दूँ ?"*[27] इस प्रकार देखा जा सकता है कि इस काव्य-नाटक में शांति, स्वतंत्रता, समानता, न्याय और राष्ट्रप्रेम जैसे मूल्यों की स्थापना के महत्व को रेखांकित किया गया है।

**5.3.4 दार्शनिकता :** इस काव्य-नाटक में दर्शन का बहुत तो नहीं, पर प्रभाव अवश्य है। कर्मवाद के प्रभाव को लक्ष्मण तथा दशरथ और जटायु की आत्माओं के संवादों में देखा जा सकता है। राम को युद्ध यानी कर्म से विमुख होते देख ये सब मनुष्य को कर्म की नियति में बंधा हुआ बताकर उन्हें कर्म करने के लिए प्रेरित करते हैं। संशयग्रस्त राम के प्रति लक्ष्मण का कथन है—*"हम केवल चलते हैं/ अपने में/ अपने से बाहर/ धूप और अंधकार चीरे/ हम चलते हैं।/ चलने पर संभव है—/ तीर्थ मिले/ कीर्ति मिले/ चामर की छाँह मिले।/ संभव है—/ पसली में बाण फँसे/ प्यासे ही दम तोड़ें,/ चीलों*

---

[25] संशय की एक रात : नरेश मेहता, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2012, पृष्ठ 63-64
[26] वही, पृष्ठ 73
[27] वही, पृष्ठ 69

*से/ आखिर तक/ युद्ध करें जीवन हित।/ ... किंतु/ यह असंभव है/ बंधु ! यह असंभव है/ कर्म और वर्चस को/ छीन सके कोई भी/ जब तक हम जीवित हैं।"*[28] दशरथ और जटायु की आत्माएँ संशयग्रस्त राम को कर्म की ओर जिस तरह से प्रेरित करती हैं, उसे देखकर गीता के कृष्ण और अर्जुन की याद आ जाती है। दशरथ की आत्मा राम को समझाती है—*"पुत्र मेरे ! संशय या शंका नहीं/ कर्म ही उत्तर है/ यश जिसकी छाया है/ उस कर्म को वरो।"*[29] *जटायु की आत्मा उत्तरोत्तर और दार्शनिक रूप धारण करती जाती है—"यहाँ कुछ नहीं समाप्त हुआ/ क्योंकि कभी भी/ कुछ नहीं आरंभ हुआ।/ वह तो क्षण था/ गुण था/ जो कि है, रहेगा भी।/ केवल हम ही उस क्षण के पूर्व तक उसमें नहीं थे,/ केवल हम ही उस क्षण के बाद नहीं होते/ इसीलिए हमें/ कुछ जन्म लेता, मरता लगता है।/ अजन्मे अविनश्वर क्षण या समय को नहीं।"*[30]

राम और विभीषण के चरित्र में अस्तित्ववादी दर्शन का प्रभाव है। अस्तित्ववाद में मनुष्य अपने जीवन के किसी महत्वपूर्ण निर्णय पर पहुँचने के पहले समाज के प्रति अपने दायित्वबोध के कारण संशयग्रस्त रहता है। इस संशय के कारण ही मानसिक वेदना, अनास्था, निराशा, अविश्वास, आत्मनिर्वासन आदि परिस्थितियों से गुज़रता है। राम और विभीषण दोनों ही अपने दायित्वबोध के कारण संशयग्रस्त होकर इन सारी परिस्थितियों के शिकार होते हैं। मानव-कल्याण के दायित्वबोध के कारण अनिर्णय की स्थिति में राम मानसिक वेदना और आत्मनिर्वासन के शिकार हो जाते हैं—*"यह चेतना/ यह बोध—/ आस्था में/ आत्मा में ही विभाजन कर रहे।/ ... दो सत्य/ दो संकल्प/ दो दो आस्थाएँ/ व्यक्ति में ही/ अप्रमाणित व्यक्ति पैदा हो रहा है,/ कौन जाने/ अप्रमाणित व्यक्ति में भी/ अन्य आसित हों।"*[31] इसी तरह विभीषण भी राष्ट्र के प्रति अपने दायित्वबोध के कारण मानसिक वेदना और आत्मनिर्वासन के शिकार होते हैं। राम द्वारा युद्ध के संबंध में उनकी राय पूछे जाने पर वे कहते हैं—*"अभी टूटे हुए व्यक्तित्व की जो बात/ आपने कही थी/ सार्थक लगी।/ द्वंद्व मुझमें भी कहीं पर है,/ मुझे भी सालता है/ स्वयं का संघर्ष,/ मैं भी विभाजित हूँ, मैं भी ऐतिहासिक भग्न हूँ/ तभी तो आपकी ही भाँति/ राम !/ मुझमें भी अनिर्णय है।"*[32]

**5.3.5 विमर्श :** युद्ध-विमर्श संबंधी अन्य प्रबंध काव्यों की तरह इसमें भी संपूर्ण काव्य में युद्ध के प्रति विचार-विमर्श किया गया है। जैसा कि पहले ही संकेत किया गया है, यह काव्य घटना-प्रधान न होकर विचार-प्रधान है। काव्य के नायक राम संपूर्ण कृति में विचारमग्न रहते हैं। युद्ध को लेकर अपने मन में उठ रही तरह-तरह की शंकाओं और प्रश्नों से वे घिरे रहते हैं। कभी स्वयं उनका उत्तर खोजने के

---

[28] संशय की एक रात : नरेश मेहता, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2012, पृष्ठ 23-24

[29] वही, पृष्ठ 56

[30] वही, पृष्ठ 55

[31] वही, पृष्ठ 31-32

[32] वही, पृष्ठ 69

लिए वे विचारशील रहते हैं और कभी दूसरों के सामने उनको रखकर उनसे तर्क-वितर्क कर इसका समाधान चाहते हैं।

## 5.4 आत्मजयी

**5.4.1 मिथकीय चेतना :** आत्मजयी की कथावस्तु कठोपनिषद से ली गयी है। कठोपनिषद वैदिक कालीन संस्कृत का छोटा-सा ग्रंथ है जिसमें आत्मचेतस नचिकेता की कहानी है। नचिकेता के पिता वाजश्रवस ने विश्वजित यज्ञ किया और ब्राह्मणों को दान में बूढ़ी और कमज़ोर गायों को देने लगे। दान में इस तरह की गायों को देते हुए देखकर नचिकेता के मन में अपने पिता के अनिष्ट की आशंका होने लगी। अनिष्ट से बचाने के लिए नचिकेता ने उन्हें समझाना चाहा। पिता की चेतना को जागृत करने के लिए नचिकेता ने उनसे व्यंग्य प्रश्न किया कि 'वे उसे किसे देंगे'। पिता द्वारा इस पर ध्यान न दिए जाने पर उसने तीन बार यही प्रश्न दोहराया। झल्लाकर पिता ने कह दिया कि जा मैंने तुझे मृत्यु को दिया। पिता की वाणी को सत्य मानकर नचिकेता यमपुरी जाता है। उस समय यम वहाँ नहीं रहते हैं, अतः वह तीन दिन तक भूखा-प्यासा यमपुरी के दरवाजे पर यम की प्रतीक्षा करता है। यम के आने पर जब उन्हें यह समाचार प्राप्त होता है तो उन्हें बड़ा पश्चाताप होता है। अतः यमराज ने उन तीन दिनों की प्रतीक्षा के बदले नचिकेता से तीन वरदान माँगने को कहा। नचिकेता ने पहले वरदान में पिता के क्रोध की शांति तथा दूसरे वरदान में स्वर्ग की प्राप्ति में सहायक अग्निविद्या के ज्ञान को माँगा। इन दोनों वरदानों को यम ने सहज ही नचिकेता को दे दिया। पर जब तीसरे वरदान के रूप में नचिकेता ने मृत्यु के बाद आत्मा की स्थिति के बारे में पूछा तब यमराज सतर्क हो गये। क्योंकि इस ज्ञान का अधिकारी कोई साधारण व्यक्ति नहीं हो सकता, अतः उन्होंने नचिकेता को पहले तमाम सांसारिक भोग-विलासों का लालच देकर उसकी परीक्षा ली। जब नचिकेता ने आत्मज्ञान के सम्मुख सभी विलास की सामाग्रियों और भौतिक सुखों को तुच्छ बताकर उन्हें ठुकरा दिया तब यमराज ने उसे आत्मज्ञान का अधिकारी मान आत्मा की स्थिति के बारे में संपूर्ण जानकारी दी।

'आत्मजयी' में इस कथा की स्थूलता सांकेतिकता के आवरण में प्रस्तुत हुई है। सांकेतिकता का सहारा लेने के कारण बिंबों और प्रतीकों के सहारे भाषा में सूक्ष्मता ज़रूर आयी है पर वस्तु इसकी स्थूल ही है। सांकेतिक भाषा जिस वस्तु की ओर संकेत करती है वह पौराणिक घटना ही होती है। इसकी कथा में संभावनाओं की सूक्ष्मता नहीं, पौराणिक घटनाओं की स्थूलता है। अतः यह कृति लगभग पूर्वकथा की पुनर्प्रस्तुति बनकर रह जाती है।

**5.4.2 आधुनिकता-बोध :** मिथक को काव्य के ज़रिए बार-बार सामने लाने का कारण यह होता है कि उसमें युगानुकूल अर्थ को वहन करने की क्षमता होती है। कवि मिथकों में मौजूद युगीन संभावनाओं को काव्य के ज़रिए वाणी देता है और इस तरह वह मिथकों में नये अर्थ भरता है। ऊपर यह कहा जा चुका है कि आत्मजयी काव्य लगभग मिथक की पुनर्प्रस्तुति बनकर रह गया है। मतलब

कवि इसमें युगानुकूल अर्थ भरने में लगभग नाकामयाब हुआ है। मिथक कथा क्योंकि न सिर्फ भौतिक-सुख की अपेक्षा मानसिक-सुख को तरजीह देती है बल्कि मानसिक-सुख के सामने भौतिक-सुख को उपेक्षा और हेय की दृष्टि से देखने की ओर झुकी हुई है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह प्रवृत्ति मध्यकालीन जीवन दृष्टि की परिचायक है। काव्य में इस कथा की मूल प्रकृति में क्योंकि कोई बदलाव नहीं किया गया है, अतः अपने समग्र रूप में यह कृति आध्यात्मिक-चेतना की ओर झुकी हुई है। हाँ, बीच-बीच में अवसरानुकूल आधुनिकता के उपकरणों की झलक लेखक ने ज़रूर दिखाई है—जैसा कि उसे इसका आभास है कि यह कृति अपने युग के अनुरूप देखी-समझी जाए। भूमिका में लेखक ने इसका उल्लेख किया है— *"आत्मजयी में ली गयी समस्या नयी नहीं—उतनी ही पुरानी है (या फिर उतनी ही नयी) जितना जीवन और मृत्यु-संबंधी मनुष्य का अनुभव। इस अनुभव को पौराणिक संदर्भ में रखते समय यह चिंता बराबर रही कि कहीं हिंदी की रूढ़ आध्यात्मिक शब्दावली अनुभव की सचाई पर इस तरह न हावी हो जाए कि 'आत्मजयी' को एक आधुनिक कृति के रूप में पहचानना ही कठिन हो।"*[33]

नचिकेता के पिता वाजश्रवा परंपरा के तथा स्यवं नचिकेता आधुनिकता का प्रतीक है। नचिकेता की अपने पिता से असहमति परंपरा से आधुनिकता की असहमति है। असहमत वह व्यक्ति होता है जिसके अंदर विवेक होता है, बुद्धि होती है, तर्क होता है। बुद्धि, विवेक और तर्क आधुनिकता के तत्व हैं जिनका महत्व नचिकेता अपने पिता से असहमति के क्रम में व्यक्त करता है— *"असहमति को अवसर दो। सहिष्णुता को आचरण दो/ कि बुद्धि सर ऊँचा रख सके.../ उसे हताश मत करो काइयाँ स्वार्थों से/ हरा-हरा कर।"*[34] परंपरा-पालक समूह होता है और परंपरा-भंजक व्यक्ति। पालन आस्था के सहारे होता है और भंजन तर्क के सहारे। आस्था समूह के सहारे चलती है और तर्क व्यक्ति के। आस्था के विषय तर्कातीत होते हैं। अतः तर्कशील व्यक्ति उनसे संतुष्ट नहीं होता—"नया जीवन-बोध संतुष्ट नहीं होता/ ऐसे जवाबों से जिनका संबंध/ आज से नहीं अतीत से है,/ तर्क से नहीं रीति से है।"[35] आस्था और तर्क आपस में विरोधी होते हैं, अतः इस आधार पर इनके वाहक समूह और व्यक्ति में भी विरोध होना स्वाभाविक है। तर्क के आधार पर व्यक्ति समूह से विद्रोह करता है, क्योंकि समूह की मान्यता व्यक्तिगत स्वतंत्रता में बाधक होती है और अंततः यह मानवता के विपरीत आचरण करने वाली साबित होती है—"बहुमत यही है—ऐसा ही सब करते—/ (कितनी शक्ति है इस स्थिति में!)/ जिससे भिन्न सोचते ही/ मैं विधर्मी हो जाता हूँ—/ किसी बहुत बड़ी संख्या से घटा दिया जाता हूँ/ इस तरह/ कि शेष समर्थ बना रहता गलत भी,/ एक—सही भी, अनर्थ हो जाता है !"[36] नचिकेता के पिता समूह की गतानुगतिक चाल का अनुसरण कर रहे थे। वे स्वर्ग की प्राप्ति के लिए सामूहिक अनुष्ठान कर रहे थे। इस सामूहिक अनुष्ठान में नचिकेता को व्यक्ति के अधिकार नष्ट होते दीख रहे थे। अतः नचिकेता व्यक्ति की हैसियत

---

[33] आत्मजयी : कुँवर नारायण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, नौवाँ संस्करण, 2012, पृष्ठ 11

[34] वही, पृष्ठ 25

[35] वही, पृष्ठ 26

[36] वही, पृष्ठ 26

से उन्हें समझाने का प्रयास कर रहा था, पर वे उसकी बातों पर ध्यान नहीं दे रहे थे। वे अपना विवेक खो चुके थे—"मनुष्य स्वर्ग के लालच में/ अकसर उस विवेक तक की बलि दे देता/ जिस पर निभर करता/ जीवन का वरदान लगना।"[37]

अवसरानुकूल बीच-बीच में इस तरह की आधुनिक-दृष्टि का परिचय देने के बावजूद अपनी समग्र अन्विति में यह कृति आध्यात्मिक-चेतना को ही वाणी देती है। आध्यात्मिकता आधुनिकता की नहीं, मध्यकाल की प्रवृत्ति है। कवि का अपना मत ज़रूर है कि 'काव्य में उठायी गयी समस्या शाश्वत है, पर उस पर विचार नये ढंग से किया गया है'। विचारणीय है कि इस पर नये ढंग से विचार करने का क्या अर्थ होगा ! उल्लेखनीय है कि आधुनिकता भौतिकतावाद को लेकर आयी, आध्यात्मिकता को इसने नीचे दबा दिया। यह कहा जा चुका है कि आधुनिकता का संबंध विज्ञान से है और विज्ञान अपने विचार-क्षेत्र में उन्हीं चीजों को शामिल करता है जो गोचर होती हैं। अगोचर वस्तुओं की स्थिति को वह स्वीकार ही नहीं करता, अतः उसके विचार क्षेत्र से वे बाहर होती हैं। आत्मा क्योंकि एक अगोचर वस्तु है, अतः इसकी स्थिति-परिस्थिति पर विज्ञान विचार नहीं कर सकता और इसीलिए विज्ञान पर आधारित आधुनिकता भी इसे अपनी चिंता के दायरे से बाहर की वस्तु मान लेती है। आत्मा-परमात्मा की स्थिति-परिस्थिति पर संशयात्मक नज़रिया रखने के कारण आधुनिकता अति-भौतिकतावादी हो जाती है। अतः इस अति की प्रतिक्रिया में मनुष्य पुनः आध्यात्मिकता की ओर लौटने की मुद्रा अपना सकता है। यही इस समस्या पर नये ढंग से विचार करना है और यही इस काव्य का प्रमुख उपजीव्य है। इस समस्या पर नये ढंग से विचार करने के लिए कवि ने मूल कथा में थोड़ा परिवर्तन किया है—*"कठोपनिषद से लिए गये नचिकेता के कथानक में मैंने थोड़ा परिवर्तन किया है, लेकिन इतना नहीं कि आधार-कथा की वस्तुस्थितियाँ ही भिन्न हो गयी हों। कथा को आधुनिक ढंग से देखा गया है, पौराणिक दिव्य-कथा के रूप में नहीं।"*[38]

**5.4.3 मूल्यान्वेषण की चिंता :** पूरा काव्य मनुष्य के मृत्यु के बाद भी भविष्य में बने रहने की चिंता को लेकर लिखा गया है। मनुष्य मरने के बाद भी अपने सद्कर्मों के सहारे याद किया जाता है। सद्कर्मों के द्वारा ही मनुष्य इस नश्वर संसार में अपनी कीर्ति और यश छोड़ जाता है। सद्कर्म ही मूल्य हैं। अतः वे कौन से कर्म होंगे जो मनुष्य को अमर करेंगे, इसकी चिंता काव्य का प्रमुख उपजीव्य है। नयी कविता के अन्य प्रबंध काव्यों की तरह इसमें भी युद्ध और राज्य-विस्तार की आकांक्षा की उपेक्षा की गयी है क्योंकि इनसे मूल्यों का विघटन होता है—*"एक साँप उस मुकुट में छिपा है—/ दोनों को अपने से दूर फेंक दो।/ तुम्हारे सिंहासन के पीछे अभी-अभी/ एक तीर की नोक चमकी थी।/ रनिवास में यह असमय विलाप कैसा ?"*[39]

---

[37] आत्मजयी : कुँवर नारायण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, नौवाँ संस्करण, 2012, पृष्ठ 27

[38] वही, पृष्ठ 9

[39] वही, पृष्ठ 22

राज्य करते हुए एक राजा दुनिया भर में प्रसिद्ध होता है, इसलिए नहीं कि उसने अपने सद्‌कर्मों से लोगों का दिल जीता है बल्कि केवल इसलिए कि वह राजा है। भोग-विलास और ऐश्वर्यमयी जीवन जीता है। राज्य के छिनते ही ऐसे राजाओं की प्रसिद्धि छिन जाती है। वहीं जो व्यक्ति अपने सद्‌कर्मों के बल पर प्रसिद्धि हासिल करता है वह उसके मरने के बाद भी उसके साथ लगी रहती है। नचिकेता की चिंता यही है कि व्यक्ति अपने सद्‌कर्मों के सहारे प्रसिद्ध हो न कि उत्तराधिकार में मिले हुए राज्य आदि साधनों से; क्योंकि ऐसी प्रसिद्धि अस्थायी होती है—*"तुम हर जगह भूख-प्यास वाले साधारण प्राणी हो/ जिसके मुकुट और सिंहासन पर/ सूर्य की किरणें इस तरह पड़ रही हैं/ कि तुम दिव्य दिखते हो... पर यह सारी शोभा/ सूर्यास्त होते ही बिलख उठेगी।"*[40] काव्य में नचिकेता के पिता मूल्यों के विघटन के कर्ता के रूप में उपस्थित हैं और नचिकेता को मूल्यों के अन्वेषण की चिंता है। युद्ध, राज्य और सांसारिक वैभव से प्राप्त प्रसिद्धि अंततः मिट जाती है और इन्हें प्राप्त करने की प्रक्रिया में मानवीय मूल्यों का हनन किया जाता है। नचिकेता की चिंता मूल्य स्थापना की है, विघटन की नहीं।

**5.4.4 दार्शनिकता :** यह कृति कठोपनिषद पर आधारित है। उपनिषदों को वेदांत कहा जाता है, जिनमें भारतीय दर्शन का मूल है। संपूर्ण उपनिषदों में लगभग समान दर्शन की अभिव्यक्ति हुई है अतः इनके दर्शन को 'भारतीय वेदांत-दर्शन' के नाम से जाना जाता है। उपनिषदों में आत्मा, परमात्मा, जगत, माया और इनके परस्पर संबंधों पर विचार किया जाता है। कठोपनिषद में, और इसीलिए उस पर आधारित आत्मजयी में भी, भारतीय वेदांत-दर्शन की स्पष्ट छाप है। नचिकेता को भौतिक उन्नति नहीं, आत्मिक उन्नति चाहिए। वह शरीर के सुख को आत्मा के सुख के आगे नगण्य मानता है और आत्मा के सुख का मार्ग खोजता है—*"केवल शरीर के भोगों को दोहराने से/ पूर्णता नहीं मिलती/ बस, मन भर जाता है।/ जीवन कृतकृत्य नहीं होता,/ यौवन-मद भीगा तन/ केवल गर जाता है।"*[41] मन जैसे ही शरीर से हटकर आत्मा की ओर उन्मुख होता है वह भौतिकता से हटकर आध्यात्मिकता की तरफ झुकने लगता है। आध्यात्मिकता दार्शनिक तत्वों से युक्त होती है। आत्मा पर विचार-विमर्श करना दर्शन के क्षेत्र में प्रवेश करना है—*"नचिकेता, तू केवल/ इंद्रियों की अपेक्षा ही उदास है।/ उस अव्यय आत्म-चेतना को पहचान/ सच्चिदानंद रूप/ जो शुद्ध ज्ञान है : तुझसे दूर नहीं/ तेरे ही आस-पास है।"*[42]

आत्मज्ञान के बाद वह स्थिति आती है जब आत्मा अपने को परमात्मा से अभिन्न मानता हुआ समस्त संसार में अपनी ही छवि देखने लगती है। इस स्थिति के बाद मनुष्य में यह आत्मविश्वास आता है कि वह संसार को अपने अनुसार बदल सकता है, संशोधित कर सकता है, पुनःनिर्मित कर सकता है। उसकी गति को संयमित कर सकता है या नियंत्रित कर सकता है। आत्मज्ञान के पहले जो संसार सिर पर एक बोझ की तरह रखा हुआ था, आत्मज्ञान के बाद उसमें भविष्य की अपार संभावनाएँ नज़र

[40] आत्मजयी : कुँवर नारायण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, नौवाँ संस्करण, 2012, पृष्ठ 21-22

[41] वही, पृष्ठ 94

[42] वही, पृष्ठ 100

आने लगती हैं। यही है आत्मा का शोध जो नचिकेता ने अपना सब कुछ समय को अर्पित कर प्राप्त किया—*"यह तुझसे उत्पन्न हुआ संसार/ स्वप्न है तेरा ही/ तेरी इच्छाओं का विकास है।/ तेरे आत्म-बोध से छनती हुई ज्योति का/ खाली पट पर एक अनर्गल छाया-नर्तन।"*[43] यहाँ पर भारतीय वेदांत-दर्शन की वह झलक देखी जा सकती है जिसके अनुसार आत्मा परमात्मा का स्वरूप है। माया के कारण वह अपने स्वरूप को पहचानने में अक्षम रहता है। माया का पर्दा हटते ही उसे आत्म-बोध होता है। संसार यहाँ मिथ्या नहीं, परमात्मा याकि आत्मा की इच्छा का विस्तार है जिसे आत्मबोध के बाद अपने अनुसार ढाला जा सकता है। आत्मवादी दर्शन के अनुसार संसार आत्मा की छाया है। आत्मा को पहचानकर संसार को नियमित किया जा सकता है। यह दृश्यमय संसार आत्मा के अंदर अदृश्य रूप से वर्तमान है, आत्मा का नियमन कर लेने के बाद बाह्य संसार का नियमन स्वतः हो जाएगा। यथार्थवादी दर्शन के अनुसार अगर कहा जाए तो कहना होगा कि बाह्य संसार ही वास्तविक है आंतरिक संसार जैसी कोई चीज़ नहीं। हाँ, बाह्य संसार से मनुष्य को अपने मन की प्रवृत्तियों से संगति बैठानी होती है, अन्यथा वह परेशान रहता है। मन की प्रवृत्तियों को ही यदि कहना हो तो व्यक्ति का आंतरिक संसार कह सकते हैं, कहते भी हैं। मुक्तिबोध ने अपनी कृति 'कामायनी : एक पुनर्विचार' में आंतरिक और बाहरी संसार से व्यक्ति के मन की क्रिया-प्रतिक्रया की चर्चा करते हुए इनके संबंधों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। नचिकेता भी अंततः अपने अंतर्मन को बाह्य संसार के अनुसार ढालना ही सीखता है। यही आत्मा को पहचानना है, यही भीतर के प्रकाश को देखना है।

इस काव्य में पाश्चात्य-दर्शन अस्तित्ववाद की झलक भी देखी जा सकती है। भौतिक जगत का निर्माण करने वाले तमाम अणुओं-परमाणुओं के बीच नचिकेता अपने को रखकर उसमें अपने अस्तित्व की सार्थकता की तलाश करता है जिसे 'मैं क्या हूँ' नामक सर्ग में वाणी दी गई है। सार्थकता उसके हाथ नहीं आती, उसे अपना जीवन निरर्थक लगने लगता है। वह चरम निराशा से भर कर अपने जीवन को ही समाप्त करने पर तुल जाता है। अस्तित्ववाद के अनुसार चरम पीड़ा के क्षणों से गुज़रकर ही मनुष्य को अपने अस्तित्व का बोध होता है। मृत्यु से साक्षात्कार के बाद नचिकेता को भी आत्मबोध हुआ। मृत्यु के कोण से जीवन को देखना जीवन की नयी संभावनाओं को देख पाना होता है। नचिकेता फिर जीवन की ओर लौटता है, नयी संभावनाओं से भरकर।

**5.4.5 विमर्श :** इस काव्य में यद्यपि विमर्श का बहुत सहारा नहीं लिया गया है, पर अपने शुरुआती अंशों में यह नयी कविता के युद्ध-आधारित काव्यों की तरह युद्ध-विमर्श की थोड़ी-बहुत सामग्री ज़रूर प्रस्तुत करता है। नचिकेता अपने पिता वाजश्रवा से असहमति जताने के क्रम में राज्य से जुड़े हुए व्यक्तियों की युद्ध-लिप्सा को रेखांकित करता है—*"एक साँप उस मुकुट में छिपा है—/ दोनों को अपने से दूर फेंक दो।/ तुम्हारे सिंहासन के पीछे अभी-अभी/ एक तीर की नोक चमकी थी।"*[44]

---

[43] आत्मजयी : कुँवर नारायण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, नौवाँ संस्करण, 2012, पृष्ठ 100
[44] वही, पृष्ठ 22

आशय यह है कि ये मुकुट और सिंहासन युद्ध और आतंक से प्राप्त किए गये हैं, और उन्हीं का प्रतीक भी हैं। अपने राज्य का अस्तित्व बचाए रखने के लिए तथा स्वयं अपना अस्तित्व दुनिया के सामने घोषित करने के लिए भी राजा युद्ध किया करते हैं—*"अस्तित्व एक घातक तर्क भी हो सकता है/ एक पाशविक भावना भी—इस तरह/ कि युद्ध और कलह ज़रूरी लगे,/ स्वार्थ और छल से जीना मजबूरी लगे।"*[45] इस प्रकार देखा जासकता है कि इस काव्य में भी राज्य और युद्ध की समस्या के ज़रिये युद्ध-विमर्श की सामग्री को प्रस्तुत किय्या गया है, पर वह बहुत थोड़ी है। यह काव्य मूलतः दार्शनिक है।

## 5.5 एक कंठ विषपायी

**5.5.1 मिथकीय चेतना :** 'एक कंठ विषपायी' काव्य-नाटक का उपजीव्य-ग्रंथ मूलतः 'शिव-पुराण' है। 'शिव-पुराण' की कथा सात अध्यायों में है। अध्यायों को 'संहिता' नाम दिया गया है। 'रुद्र-संहिता' के अंतर्गत 'सती-खंड' नामक 'उप-अध्याय' में दक्ष-यज्ञ और तत्संबंधी वे घटनाएँ हैं जिन्हें आधार बनाकर यह काव्य-नाटक लिखा गया है। मूल-कथा का सार यह है : सती के पिता प्रजापति दक्ष शिव जी से नाराज रहा करते थे। उनकी नाराजगी का कारण यह था कि शिव जी ने उनकी बेटी सती से बिना उनकी मर्जी के प्रेम-विवाह किया था। शिव जी की वेश-भूषा, रहन-सहन और विद्रोही स्वभाव के कारण दक्ष उनसे चिढ़े से रहते थे। अतः वे जब-तब शिव जी के अपमान का अवसर ढूँढ़ते रहते थे। इसी अवसर को प्राप्त करने के लिए एक बार प्रजापति दक्ष ने एक बड़े यज्ञ का आयोजन किया। अपने उस यज्ञ में उन्होंने पृथ्वी और स्वर्गलोक के सभी गणमान्य अतिथियों को आमंत्रित किया। ब्रह्मा, विष्णु, समस्त देवता, समस्त ऋषि-मुनि, राजा आदि सबको बुलाया गया। पर शिव जी का अपमान करने के लिए ही शिव जी को आमंत्रित नहीं किया। सती को यह सब जानकार बड़ा क्रोध आया। शिव जी की अनुमति लेकर वे नंदी और तमाम गणों के साथ यज्ञ-स्थल पर गयीं। वहाँ अपने पति के लिए कोई स्थान और भाग नियत न देख वे और भी क्रोध में भर गयीं। उन्होंने वहाँ उपस्थित ब्रह्मा, विष्णु, देवताओं और ऋषियों को फटकारा जो शिवजी के बिना ही अपना-अपना यज्ञ भाग लेने के लिए वहाँ उपस्थित थे। अपने पिता की भी उन्होंने निंदा की। इसके बाद क्रोध में आकर उन्होंने दक्ष से उत्पन्न अपने शरीर को योगबल से भस्म कर डाला। इस घटना से यज्ञ-सभा में हाहाकार मच गया। सती के साथ आए हुए गण यह देखकर अत्यंत कुपित हुए। उन्होंने यज्ञ-शाला में उत्पात मचाना शुरू कर दिया। यज्ञ में उपस्थित भृगु ऋषि ने अपने मंत्र-बल से गणों से युद्ध करने के लिए बलशाली सैनिकों की सृष्टि की। उन सैनिकों ने गणों को हरा दिया। गण पराजित होकर शिव के पास पहुँचे और उन्हें सारा वृत्तांत सुनाया। शिवजी को यह सब सुनकर अत्यंत क्रोध आया। उन्होंने अपनी जटा से महाबलशाली

[45] आत्मजयी : कुँवर नारायण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, नौवाँ संस्करण, 2012, पृष्ठ 23

और अजेय योद्धा वीरभद्र को प्रकट किया तथा अपने सभी सहचरों का भी आह्वान किया। इसके बाद उन सबको निर्देश देकर यज्ञ-ध्वंस करने के साथ-साथ वहाँ उपस्थित सभी को भस्म करने के लिए भेज दिया। यज्ञ-स्थल पर पहुँचकर वीरभद्र और शिव के गणों ने भयंकर मारकाट और उत्पात मचाया। इंद्र आदि सारे देवता, यहाँ तक कि विष्णु भी वीरभद्र से हार कर भाग गये। वहाँ उपस्थित सभी को भस्म कर यज्ञ का ध्वंस कर दिया गया। प्रजापति दक्ष का सर वीरभद्र ने धड़ से अलग कर दिया। फिर उसके बाद वह शिव के पास लौट गया।

इन सबके बावजूद भी शिवजी का मन शांत नहीं होता है। सती की मृत्यु को वे स्वीकार नहीं पाते हैं और उनके शव को कंधे पर रखकर बेचैन मन से विलाप करते हुए संपूर्ण पृथ्वी का भ्रमण करने लगते हैं। इस भ्रमण में सती के कुछ अंग कटकर धरती पर गिर पड़ते हैं। जहाँ-जहाँ सती के अंग गिरते हैं, वहाँ-वहाँ तीर्थ-स्थल के रूप में सिद्धपीठ की स्थपाना हो जाती है। बाद में शिव जी ने उस शव का दाह-संस्कार किया।

उक्त कथा को 'एक कंठ विषपायी' में थोड़े-से परिवर्तन और कुछ हेरफार के साथ प्रस्तुत किया गया है। युगानुकूल संक्रमण और आधुनिक उद्देश्य के अनुसार मिथकीय कथा में इतने परिवर्तन की छूट लेखकों को रहती ही है। सर्वहत नामक पात्र कल्पित है। शिवजी द्वारा देवलोक पर आक्रमण की तैयारी और इस आक्रमण की काट के लिए देवताओं के साथ ब्रह्मा, विष्णु आदि की सभा भी कल्पित है। युद्ध-विमर्श के लिए ही इसकी कल्पना की गयी है। फिर भी इसकी कल्पना का आधार शिवजी के गणों द्वारा यज्ञ-स्थल पर आक्रमण और इसके पूर्वाभास से दक्ष द्वारा विष्णु, ब्रह्मा तथा इंद्र से अपनी सहायता का अनुरोध किया जाना है। उस समय ब्रह्मा, विष्णु इंद्र आदि में राय-मशविरा चलता रहता है। विष्णु द्वारा शिवजी पर अनेक फलकों वाला बाण छोड़ने और उससे सती के शव का खंड-खंड होकर संपूर्ण दिशाओं में छितरा जाने की कथा कल्पित है। इसकी कथा का आधार भी सती के अंगों का कटकर धरती पर गिरने की घटना है। संवादों की कल्पना मिथकीय घटनाओं के अनुकूल ही है। शुरू-शुरू में आए दक्ष और वीरिणी के संवाद इस दृष्टिकोण से बहुत अच्छे बन पड़े हैं।

**5.5.2 आधुनिकता-बोध :** इस कृति के माध्यम से पुरानी और जर्जर मान्यताओं तथा रूढ़ियों को तोड़कर आधुनिक मान्यताओं और जीवन-मूल्यों के विकास की कथा कही गयी है। स्वयं कवि का मंतव्य भी यही है—*"एक कंठ विषपायी मेरा पहला काव्य-नाटक है। इसकी कथा के सूत्र एक दिन यों ही बातचीत के दौरान श्री अनंत मराल शास्त्री ने मेरे हाथों में थमा दिये थे। उसी दिन मुझे लगा कि जर्जर रूढ़ियों और परंपरा के शव से चिपटे हुए लोगों के संदर्भ में प्रतीकात्मक रूप से आधुनिक पृष्ठभूमि और नये मूल्यों को संकेतित करने के लिए इस कथा में पर्याप्त सामर्थ्य है तथा इस पर एक खंडकाव्य लिखा*

*जा सकता है।"*[46] नयी मान्यताएँ और जीवन-मूल्य जब पुरानी मान्यताओं और जीवन-मूल्यों का स्थान लेने के लिए उनको धक्का देते हैं तो पुराने मूल्य टूटने-बिखरने लगते हैं। पर ये टूटने-बिखरने के बावजूद अपने स्थान से हटना नहीं चाहते हैं। अतः नयी मान्यताओं और मूल्यों को अपना स्थान ग्रहण करने में थोड़ा कठिनाई होती है। यह पीढ़ी का अंतराल होता है। नये विचार, नयी मान्यताएँ और नये जीवन-मूल्य नयी पीढ़ी का सहारा लेकर आगे बढ़ते हैं, पुरानी पीढ़ी के अधिकांश लोग शुरू-शुरू में उनका विरोध ही करते हैं, यद्यपि धीरे-धीरे वे भी उनके प्रभाव में आते जाते हैं, या उन्हें आना ही पड़ता है। काव्य-नाटक में नयी और पुरानी पीढ़ी के इसी संघर्ष का चित्रण नयी पीढ़ी के पक्ष किया गया है।

शिवजी का व्यक्तित्व सदा से ही परंपरा-भंजक, रूढ़ि-विरोधी, फक्कड़ और प्रगतिशील स्वभाव का रहा है। अतः नयी मान्यताओं और मूल्यों के वाहक के रूप में उनसे अच्छा पात्र शायद ही मिले। प्रजापति दक्ष पुरानी और जर्जर परंपराओं के पोषक के रूप में चित्रित किए गये हैं। दक्ष के संदर्भ में शिवजी को परंपरा भंजक और प्रगतिशील दिखाया गया है। शिवजी ने प्रजापति दक्ष की बेटी सती से परंपरागत रीति-रिवाजों से विवाह न कर प्रेम-विवाह किया था। अतः परंपरा-पोषक दक्ष उनसे नाराज हो गये थे—*"शंकर !/ शंकर !!/ वह, जिसने घर की परंपरा तोड़ी है,/ वह जिसने मेरे यश पर कालिख पोती है,/ जिसके कारण/ मेरा माथा नीचा है सारे समाज में,/ मेरे ही घर अतिथि रूप में आये ?/ यह तुम क्या कहती हो ?"*[47] दक्ष अपने अहंकार में आकर जर्जर परंपराओं से चिपटे रहना चाहते थे। अतः उन्होंने परंपरा-भंजक शिवजी को अपमानित करने के लिए ही यज्ञ का आयोजन किया था।

उल्लेखनीय है कि 'अहंकार' ही दक्ष के संदर्भ में जर्जर-परंपरा है जिसके पोषण के लिए ही वे शिव जी से नाराज होते हैं और यज्ञ के द्वारा उन्हें अप्रत्यक्ष रूप से युद्ध के लिए आमंत्रित करते हैं। यज्ञ के ध्वंस के बाद की क्षत-विक्षत स्थिति और सर्वहत की विक्षिप्त अवस्था देखकर जब वरुण विष्णु से पूछते हैं कि यह किसकी रचना है, तब विष्णु जो उत्तर देते हैं उससे सिद्ध होता है कि 'अहंकार' ही दक्ष के संदर्भ में जर्जर परंपरा है। विष्णु कहते हैं—*"यह कृति नहीं है/ एक विकृति का फल है।/ एक ऐसी मरणासन्न लौकिक परंपरा का,/ जिसे/ जीवित रखने के लिए/ प्रजापति या दक्ष ने/ यज्ञ नहीं/ युद्ध का आयोजन किया था..."*[48]। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस प्रसंग में परंपरा का नाम नहीं दिया गया है तथा उसे यज्ञ एवं युद्ध से पृथक रखा गया है। हाँ, यह ज़रूर ध्वनित है कि उस परंपरा के पोषण के लिए ही यज्ञ के रूप में युद्ध का आयोजन किया गया था। दक्ष अहंकारी थे। अहंकारी व्यक्ति सदैव अपने अहंकार की तुष्टि चाहता है। सती से प्रेम विवाह करके शिवजी ने दक्ष के अहंकार को ठेस पहुँचाई थी। अतः उसकी तुष्टि के लिए ही वे शिव को अपमानित करना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने यज्ञ का

---

[46] एक कंठ विषपायी : दुष्यंत कुमार, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2013, पृष्ठ 7 (भूमिका से)

[47] वही, पृष्ठ 11

[48] वही, पृष्ठ 53

आयोजन किया था। विवाह की पारंपरिक-पद्धति को नकार कर शिवजी ने जैसे वहाँ उनके अहंकार को ठेस पहुँचाई थी वैसे ही पारंपरिक वैदिक यज्ञ का ध्वंस करके यहाँ। यज्ञ वैदिक परंपरा का प्रतीक है, और शिवजी वेदों में कोई आस्था नहीं रखते थे। अतः शिवजी द्वारा दक्ष के यज्ञ का विध्वंस जर्जर और पुरानी परंपराओं का विध्वंस है। इस तरह शिवजी ने दक्ष की जर्जर मान्यताओं का लगातार भंजन किया। यह भी उल्लेखनीय है कि काव्य-नाटक के उत्तरार्द्ध में दक्ष की ही तरह शिव जी के लिए भी पुरानी परंपराओं के मोह में पड़कर उनसे चिपटे रहने का संकेत है। शिव जी का परंपराओं के प्रति मोह काव्य की संपूर्ण अन्विति से मेल नहीं खाता है। इसमें अन्विति बैठाने के लिए परंपराओं को मनोविज्ञान से जोड़ना पड़ता है। मनोविकारों के संदर्भ में कहा जा जा सकता है कि प्रजापति दक्ष जैसे अत्यंत अहंकारी हैं, वैसे ही शिव अत्यंत क्रोधी। अतः दोनों अपनी-अपनी इन जर्जर परंपराओं के पोषण में युद्ध की स्थितियों को जन्म देते हैं।

युद्ध पर मानवीय दृष्टिकोण से विचार इस कृति की केंद्रीय समस्या है। युद्ध-पीड़ित सर्वहत के विचार इस दृष्टिकोण से आधुनिक-युग की विभीषिका को व्यक्त करने में पर्याप्त सक्षम हैं। सर्वहत नामक पात्र का सृजन ही आधुनिक-युग के शासकों की महत्वाकांक्षा, शोषक-प्रवृत्ति, धूर्तता और चालाकी को व्यक्त करने के लिए हुआ है। शासक अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए जनता को युद्ध में झोंकता है। युद्ध और युद्ध के बाद की त्रासदी से सबसे ज्यादा प्रभावित जनता ही होती है, जबकि युद्ध का निर्णय शासक अपनी मर्जी से लेता है। वह उस पर जनता का मत या विचार नहीं जानना चाहता। यज्ञ-ध्वंस के बाद की वीभत्स स्थिति को देखकर सर्वहत जो कुछ कहता है उससे एक प्रजा की पीड़ा को महसूस किया जा सकता है—*"इस दुखांत नाटक का पटाक्षेप/ मेरे/ मंच पर आने से पूर्व हो चुका था।/ सारे दर्शक/ सारे अभिनेता/ चले जा चुके थे।/ मैं तो केवल/ निर्देशक की इच्छाओं का अनुचर था:/ मात्र भृत्य !/ मैं यह नाटक क्यों देखता भला ?/ मुझसे/ या हमसे/ यह आशा कब की जाती है/ कि हम नाटक देखें/ उसमें भाग लें।"*[49] युद्ध के संदर्भ में सर्वहत द्वारा किए गये व्यंग्य और ब्रह्मा द्वारा रखे गये विचार मानवता का निमित्त लिए हुए हैं, अतः वे आधुनिक-दृष्टिकोण से लैस हैं। 'संशय की एक रात' के राम की तरह ब्रह्मा का भी यह मत है कि युद्ध से किसी भी समस्या का समाधान नहीं हो सकता। शिवजी से युद्ध के लिए उद्यत देवराज इंद्र को समझाते हुए वे कहते हैं—*"देवराज !/ युद्ध.../ अधिक-से-अधिक विशिष्ट परिस्थितयों में/ समाधान का संभव कारण बन सकता है,/ यही नियम है।/ —लेकिन कोई शासक मन में/ स्वयं युद्ध को,/ किसी समस्या का किंचित भी/ समाधान समझे तो भ्रम है।"*[50]

**5.5.3 मूल्यान्वेषण की चिंता :** यह काव्य-नाटक पुराने जीवन-मूल्यों के ध्वंस और नये जीवन-मूल्यों के विकास की प्रक्रिया से सीधा जुड़ा हुआ है। सर्वहत, शिवजी, ब्रह्मा तथा विष्णु में नये

---

[49] एक कंठ विषपायी : दुष्यंत कुमार, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2013, पृष्ठ 48

[50] वही, पृष्ठ 103

जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा के प्रति बेचैनी या चेतना है। सर्वहत ने एक प्रजा के रूप में उन जर्जर मूल्यों के वहन की पीड़ा को सबसे ज्यादा अनुभव किया था, जो युद्ध जैसी स्थिति को जन्म देने के लिए जिम्मेदार हैं—*"क्योंकि यह/ विधाता के नियमों की विडंबना है।/ चाहे न चाहे/ किंतु/ शासक की भूलों का उत्तरदायित्व/ प्रजा को वहन करना पड़ता है,/ उसे गलित मूल्यों का दण्ड भरना पड़ता है।/ और मैं मनुष्य ही नहीं हूँ।/ मैं प्रजा भी हूँ"*[51]। सर्वहत द्वारा व्यंग्य रूप में प्रकट किये गये इस तरह के विचार प्रगतिशील नये जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा के प्रति उसकी बेचैनी को व्यक्त करते हैं। 'जनतंत्र' एक आधुनिक राजनीतिक-मूल्य है जिसकी आवश्यकता का अनुभव सर्वहत के उस कथन में किया जा सकता है जिसमें उसने नाटक के रूपक के माध्यम से यह कहा है कि प्रजा को शासक द्वारा लिए जा रहे निर्णयों पर अपना मत रखने का अधिकार नहीं होता। यह कथन ऊपर पूरा का पूरा उद्धृत है। इसके अलावा भी 'समानता', जोकि एक आधुनिक सामाजिक-मूल्य है, के प्रति आग्रह का भाव सर्वहत में देखा सकता है। यहाँ भी उसका कथन व्यंग्य में ही चलता है—*"क्यों?/ क्या अपने महादेव शंकर के साथ/ इन्हीं लोगों ने/ किया नहीं पक्षपात?/ सीमा पर उनके लिए/ —रक्त की नदियाँ खुलवा दीं.../ और मुझसे कहते हैं—/ 'यहाँ रक्त नहीं मिल सकता/ यहाँ रक्त है अमूल्य।'"* सर्वहत के अनुसार शिव क्योंकि महादेव हैं, इसीलिए उनसे विशिष्ट व्यवहार किया जा रहा है; और सर्वहत क्योंकि साधारण जन है, इसीलिए उसके साथ सामान्य व्यवहार भी नहीं किया जाता। इसी कड़ी में सर्वहत न्याय की बात करता है। न्याय सामाजिक और राजनीतिक, दोनों प्रकार का मूल्य है। सर्वहत व्यंग्य करता है कि साधारण लोगों को कहीं भी न्याय नहीं मिलता—*"...चाहे वह दक्षलोक हो/ अथवा देवलोक/ साधारण लोगों को/ कहीं न्याय मिलता नहीं"*[52]।

शिवजी का व्यक्तित्व परंपरा-भंजक क्रांतिकारी नायक की छवि लिए हुए है। क्रांतिकारी नये मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है। शिव जी के संदर्भ में यदि मूल्यों पर दृष्टि डाली जाए तो यह बात सहज ही सामने आती है कि 'प्रेम' उनके व्यतित्व के प्रेरक रूप में उपस्थित है। प्रेम के लिए ही उन्होंने प्रजापति दक्ष द्वारा पोषित जर्जर मूल्यों को ध्वस्त किया और प्रेम ही के कारण सामंतवादी और पूँजीवादी देव-संस्कृति को चुनौती दी। पूँजीपति कुबेर के प्रति उनके द्वारा यह कथन इस बात का प्रमाण है कि वे प्रेम को जीवन में कितना सर्वोपरि मानते थे—*"मैं तो समझा था/ धन के दृष्टि नहीं होती/ भावना-शून्य हो जाते हैं/ धनवान लोग।/ आत्मस्थ बना देती है सत्ता मित्रों को/ आचरण बदल जाते हैं उनके क्षण-क्षण/ अपनत्व खत्म हो जाता है,/ बच रहता है थोड़ा-सा शिष्टाचार/ और औपचारिकता,/ प्रभुता का ऐसा ही होता आकर्षण।"*[53] इसके अलावा सामंतवादी और पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति तीव्र विद्रोह की भावना लिए हुए शिव एक समाजवादी नायक के रूप में उभरते हैं।

---

[51] एक कंठ विषपायी : दुष्यंत कुमार, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2013, पृष्ठ 49

[52] वही, पृष्ठ 117

[53] वही, पृष्ठ 81

सामंतवाद और पूँजीवाद की तुलना में समाजवाद मानववादी और जनवादी व्यवस्था है, अतः मूल्यवान है।

युद्ध मानवीय मूल्यों को नष्ट कर विकृत समाज की सृष्टि करता है। युद्ध के विरोध में होना आधुनिक मूल्यों के पक्ष में होना है। ब्रह्मा ने सर्वत्र युद्ध-विमुखता तथा युद्ध-विरोधी भाव प्रदर्शित किए हैं। अतः मानवतावादी मूल्यों के प्रति उनकी निष्ठा संदेह से परे है। ब्रह्मा का स्पष्ट मत है कि—*''दृष्टि के बिना अकारण युद्ध न ठानें,/ युद्ध अधिक-से-अधिक एक कारण है/ उसको सत्य न मानें,/ प्राणों की आहुति/ युद्ध के लिए नहीं/ सत्य के लिए होती है !''*[54] विष्णु भी इस दृष्टि से संपन्न हैं। युद्ध के निवारण के लिए वे उस योद्धा जिसमें अपार क्षमताएँ और संभावनाएँ हैं, और जो अपने अनिष्ट की वजह से युद्ध के लिए उद्यत है, के सामने झुकने के लिए तैयार हो जाते हैं। वे इंद्र, जो बिना किसी दृष्टि के शिव जी से युद्ध के लिए उद्यत थे, को समझाते हुए कहते हैं—*''मुझे पता है/ इस त्रिलोक में/ महादेव का एक कंठ केवल विषपायी, जिनकी क्षमताएँ अपार हैं।/ तुम अपने अंतस से यह विष धो डालो।''*[55] अपार क्षमताओं वाला व्यक्ति या योद्धा मात्र विनय के आगे झुकता है, इस बात को विष्णु जानते थे। अतः उन्होंने शिवजी पर अपने प्रणाम-बाण को छोड़कर उनके सामने विनय का प्रदर्शन किया और अपनी इस सूझ से आसन्न युद्ध को टालने में सफल हुए।

**5.5.4 दार्शनिकता :** इस कृति में साम्यवादी दर्शन की छाप है। यद्यपि यह कृति घटना-प्रधान है फिर भी इसमें निहित समाजवाद को थोड़ा प्रयास करने पर पहचाना जा सकता है। 'सर्वहत' एक काल्पनिक पात्र है, जिसे इस काव्य-नाटक में आधुनिक युगबोध की उपस्थिति के लिए ही लाया गया है। 'सर्वहत' नाम के सर्जन के समय हो सकता है कि कवि के दिमाग में मार्क्सवादी शब्द 'सर्वहारा' उपस्थित रहा हो ! 'सर्वहत' शब्द 'सर्वहारा' शब्द की ही अर्थ-छाया लिए हुए है। सर्वहत सर्वहारा वर्ग का प्रतीक है, जो सामंतवादी और पूँजीवादी समाज की उपज होता है। शिवजी का चरित्र एक समाजवादी क्रांतिकारी नेता की छवि से लैस है। वे सामंती और पूँजीवादी सत्ताओं के खिलाफ सशस्त्र विद्रोह के लिए तैयार रहते हैं। अपनी कृति 'नयी कविता की मानक कृतियाँ' में जीवनप्रकाश जोशी ने इस काव्य-नाटक में उपस्थित मार्क्सवादी भौतिक विकास की अवस्थाओं का रेखांकन किया है। उनके अनुसार दक्ष-यज्ञ के समय हुआ युद्ध अपनी बर्बरता के कारण आदिम-अवस्था का प्रतीक है। उसके बाद सर्वहत जैसे दासों का उदय होता है। प्रजापति दक्ष अपने अहंकार के कारण सामंती-युग के तथा स्वर्ग के देवता अपनी चालाकी और सुविधाभोगी प्रवृत्ति के कारण पूँजीवादी-युग के प्रतिनिधि हैं।[56] इस स्थापना के अलोक में कहा जा सकता है कि यद्यपि ये अवस्थाएँ अपने तारतमिक रूप में इस कृति

---

[54] एक कंठ विषपायी : दुष्यंत कुमार, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2013, पृष्ठ 108

[55] वही, पृष्ठ 127

[56] नयी कविता की मानक कृतियाँ : जीवनप्रकाश जोशी, सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, 1981, पृष्ठ 112-113

के अंदर नहीं पायी जातीं, फिर भी काव्य में ये व्यंग्य रूप में उपस्थित हैं। सर्वहत की दास, दक्ष की सामंत और देवताओं की पूँजीपतियों और शिवजी की क्रांति के नायक के रूप में उपस्थिति बिलकुल साफ है। अतः कहा जा सकता है कि इस कृति में समाजवादी दर्शन का सर्जनात्मक उपयोग है।

**5.5.5 विमर्श :** यद्यपि यह कृति घटना-प्रधान है फिर भी इसे आधुनिक युग के अनुकूल बनाने के लिए इसमें विचारों को भी पर्याप्त जगह दी गई है। 'सर्वहत' नामक पात्र का सर्जन ही युद्धोपरांत होने वाले सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों के विघटन को व्यंजित करने के लिए हुआ है। सर्वहत तो फिर भी अपने विचारों को व्यंग्य रूप में उपस्थित करता है पर आसन्न-युद्ध के पूर्व युद्ध के हानि-लाभ पर तमाम पात्रों के विचार सीधे-सीधे अभिव्यक्त हुए हैं। वैचारिकता नयी कविता की एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति है, तमाम अन्य प्रबंध-काव्यों की तरह वह इस काव्य में भी विमर्श की तरह उपलब्ध है।

## 5.6 शंबूक

**5.6.1 मिथकीय चेतना :** शंबूक नामक यह प्रबंध-काव्य नयी कविता आंदोलन के सूत्रधारों में से एक महत्वपूर्ण कवि जगदीश गुप्त द्वारा लिखा गया है। यह रामकथा पर आधारित काव्य है। इसकी कथा राम के उत्तर-जीवन की एक घटना शंबूक-वध पर आधारित है। इस कथा का आदिस्रोत रामकथा का आदिग्रंथ 'बाल्मीकि रामायण' है जिसके उत्तरकाण्ड में यह कथा वर्णित है। उसके बाद यह कथा रामचरित से संबंधित अन्य अनेक ग्रंथों में पायी जाती है। इसकी कथा के स्रोतों का उल्लेख स्वयं कवि ने अपने इस काव्य की भूमिका में कर दिया है। बाल्मीकि रामायण से *"आगे यह कथा 'पद्मपुराण' के सृष्टि-खंड तथा उत्तर-खंड, 'महाभारत' के 'शांतिपर्व' (अध्याय 149), रघुवंश के 15वें सर्ग, 'उत्तररामचरित' के द्वितीय अंक तथा 'आनंद रामायण' के भी अनेक अध्यायों में मिलती है जिससे इसकी परंपरागत मान्यता तथा प्राचीनता दोनों ही बातें स्वतः सिद्ध हो जाती हैं।"*[57] वनवास की अवधि व्यतीत हो जाने पर राम अयोध्या के राजा बनते हैं। उनके राज्य-काल का वर्णन कवियों ने इतने निष्कलंक रूप में किया है कि रामराज्य अब स्वयं में एक 'मिथ' या 'यूटोपिया' बन गया है। पर इसी अवधि में उनके द्वारा किए गये दो ऐसे कार्य भी हैं जो उनके चरित्र की महानता पर प्रश्नचिह्न लगाने की पर्याप्त संभावना लिये हुए हैं। ये दो कार्य हैं : सीता-पत्याग और शंबूक-वध।

शंबूक एक शूद्र-तपस्वी थे। शूद्रों को तप करने का अधिकार वेदों और शास्त्रों में नहीं है। धर्मशास्त्र ही पहले राज्य के नियम-क़ानून निर्धारित करते थे। हिंदू धर्मशास्त्रों में शूद्रों को जप-तप करने का अधिकार नहीं है। अतः राम के राज्य में शूद्र तपस्या करे, यह हिंदू धर्मशास्त्रों के अनुसार अपराध की श्रेणी में आयेगा। मिथकीय घटना है कि राम के राज में एक विप्र-बालक का देहांत हो गया। रामराज्य में अल्पकाल में किसी की मृत्यु नहीं होती थी, अतः इस घटना से प्रजा में कोहराम और

---

[57] शंबूक : जगदीश गुप्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2015, पृष्ठ 10 (भूमिका से)

असंतोष फैल गया। फिर आकाशवाणी होती है कि क्योंकि दंडक-वन में एक शूद्र तप कर रहा है अतः इसी पाप के कारण विप्र-बालक का देहांत हुआ है। प्रजा ने राम से न्याय की गुहार लगायी और राम ने जाकर उस शूद्र मुनि शंबूक का वध कर दिया। इसके बाद वह बालक जीवित हो गया। इसी कथा को कवि ने लेकर इसमें आधुनिक दृष्टि के अनुकूल विचारों को समाहित करते हुए अपने काव्य की रचना की है।

**5.6.2 आधुनिकता-बोध :** कवि ने इस पारंपरिक कथा का उपयोग आधुनिक चेतना के अनुरूप 'शंबूक' के पक्ष को रखने के लिए किया है। शंबूक के पक्ष को रखने के लिए लेखक ने इसमें शंबूक को एक पात्र के रूप में उपस्थित किया है जो मरने से पहले, और उसके बाद भी, राम से अपने वध और उससे जुड़े तमाम नियमों-कानूनों पर तर्क-वितर्क करता है। यह तर्क-वितर्क यद्यपि कि पारंपरिक-कथा और मिथकीय मान्यताओं के दायरे में ही किया गया है, और यद्यपि राम शंबूक के तर्कों को अपने तर्कों से काटने का प्रयास करते हैं, फिर भी शंबूक का पक्ष इसमें मजबूती से उभरता गया है। शंबूक तर्क देता है कि मनुष्य शूद्र रूप में जन्म लेता है और अपने कर्मों के अनुसार वह उच्च या निम्न वर्ण में गिना जाता है। अतः लोग जन्म से नहीं, अपने कर्म से उच्च या निम्न वर्ण में गिने जाते हैं— *''सभी पृथ्वी-पुत्र हैं तब जन्म से/ क्यों भेद माना जाय/ जन्मजात समानता के तथ्य पर/ क्यों खेद माना जाय/ 'जन्मना जायते शूद्रः'/ क्या नहीं सबके लिए यह सत्य/ और 'संस्कारात' ही 'द्विज उच्यते'/ की घोषणा का क्यों न हो सातत्य''*[58]। यहाँ पृथ्वी-पुत्र से आशय शूद्रों से ही है जिसे कवि के इस वक्तव्य से भी समझा जा सकता है—*''मैंने शंबूक को 'हरिजन' की अपेक्षा 'भूमि-पुत्र' के रूप में प्रस्तुत करना इसलिए अधिक श्रेयस्कर समझा है कि उसकी संगति आधुनिक विचारधारा से पूरी तरह लग जाती है जबकि भक्ति-आंदोलन की देन के रूप में 'हरिजन' शब्द अच्छे अर्थ का द्योतक होते हुए भी मूलतः मध्यकालीन मनोवृत्ति का ही परिचायक है।''*[59] कविता के उपर्युक्त उद्धरण में 'सभी मनुष्य समान पैदा होते हैं' जैसी आधुनिक मान्यता को पौराणिक ढाँचे में प्रस्तुत करते समय सबको जन्मना शूद्र मानने वाली उक्ति का आश्रय लिया गया है। शंबूक का तर्क है कि व्यक्ति जब अपने अच्छे कर्मों के माध्यम से श्रेष्ठ बनता है तो वह तप करके श्रेष्ठ क्यों नहीं बन सकता!

इस काव्य का उत्तरार्द्ध आधुनिक-चेतना से लैस है क्योंकि इसी भाग में शंबूक के कथन चलते हैं। शंबूक ने राम के सम्मुख उनकी नीति और कर्मों तथा शास्त्र-विहित परंपराओं पर जो सवाल उठाये हैं वे सब एक आधुनिक चेतना-संपन्न व्यक्ति के सवाल हैं। इन सवालों के माध्यम से हिंदू-धर्म की जड़ और जर्जर परंपराओं पर सीधे प्रहार किया गया है। शंबूक तर्क करता है, आस्था और विश्वास पर टिककर किसी चीज़ को स्वीकारना नहीं चाहता। तर्क आधुनिकता का तत्व है और आस्था तथा

---

[58] शंबूक : जगदीश गुप्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2015, पृष्ठ, 58-59

[59] वही, पृष्ठ 13 (भूमिका से)

विश्वास मध्यकालीन मनोवृत्ति के परिचायक हैं। राम आस्था और विश्वास पर टिकी हुई मान्यताओं का हवाला देते हैं, उन्हीं मान्यताओं को शंबूक अपने तर्कों से कमज़ोर कर देता है। राम ने कहा— *"तप नहीं है शूद्र का कर्तव्य"*[60]। शंबूक ने पूछा— *"तप कि जिस पर सृष्टि का आधार हो/ तप कि जिससे चल रहा संसार हो/... वही तप अपराध कैसे हो गया ?"*[61]

पक्ष में आये हुए अपराधी-नेताओं के सभी अपराधों पर पर्दा डालते हुए उन्हें अपना लेना और विपक्ष के शक्तिशाली नेताओं पर अपराध मढ़ते हुए उन्हें दंड का भागी बना देना आधुनिक राजनीति की महत्वपूर्ण और घटिया प्रवृत्ति है, शंबूक ने इस प्रवृत्ति को राम में लक्षित करते हुए उनकी भर्त्सना की है। राम ने अपने पक्ष के, या पक्ष में आये हुए, अपराधियों को नज़रंदाज़ किया है और उसी अपराध के लिए विपक्षियों को प्राण-दंड दिया है। शंबूक ने राम की इस प्रवृत्ति पर जो तीखी चोट की है वह राम के चरित्र की महानता को कम करने वाली है— *"जो तुम्हारे पक्ष में हो कुछ करे अन्याय/ तुम रहोगे मौन भूलोगे समस्त उपाय/ शासकों को सदा यह सुविधा रही है राम !/ प्रजा को इससे सदा दुविधा रही है राम/ मारते हो और कहते हो इसे उद्धार/ चलेगा कब तक तुम्हारा यह घृणित व्यापार ?"*[62] 'मारते हो और कहते हो इसे उद्धार' आधुनिक चेतना से लैस व्यक्ति, और खासकर शूद्र, द्वारा राम की रणनीति के बेहद दुर्बल और समाज-विरोधी पक्ष को बड़ी तल्खी के साथ उभारा गया है। इस तल्खी के आलोक में यह उल्लेखनीय है कि शंबूक के माध्यम से इस काव्य में राम के कई दुर्बल पक्षों और समाज-विरोधी नीतियों को जिस निर्ममता के साथ उजागर किया गया है वह आधुनिक चेतना का प्रतीक तो है ही, पर राम में श्रद्धा रखने वाले पाठकों के लिए खटकने वाली बात भी हो सकती है।

शंबूक-वध की पारंपरिक कथा में आधुनिकता का समावेश करने के लिए लेखक ने मूल-कथा में बदलाव किये हैं। कथा का पूर्वार्द्ध प्रायः पारंपरिक है और उत्तरार्द्ध कल्पित। आधुनिकता के आग्रह के कारण ही शंबूक को अपना तर्क और सवाल रखने का, अपनी बात कहने का पूरा अवसर दिया गया है। शूद्र की तपस्या करने से विप्र-बालक मर गया और शूद्र को मार देने के बाद वह बालक पुनः जी उठा, यह तथ्य आधुनिक तर्क के बिलकुल विपरीत है। अतः इसे भी कवि ने आधुनिकता के आग्रह से ही खारिज किया है— *"शूद्र-तप से/ विप्र-बालक मर गया/ यह कल्पना की बात/ शूद्र-वध से/ विप्र-बालक जी उठा/ यह कल्पना की बात"*[63]। इस कथासूत्र को खारिज करते हुए कवि ने आधुनिक मंतव्य के अनुकूल यह कल्पना कर ली है कि उस बालक को साँप ने डस लिया था और वह मरा नहीं था, बल्कि चेतना-शून्य हो गया था, जिसे सबने मरा समझ लिया था। इधर राम द्वारा शंबूक का वध और

---

[60] शंबूक : जगदीश गुप्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2015, पृष्ठ 59
[61] वही, पृष्ठ 59-60
[62] वही, पृष्ठ 62
[63] वही, पृष्ठ 77

उधर उपयुक्त उपचार मिलने से बालक की चेतना के वापस लौटने का समय संयोगवश लगभग समान ही था। अतः लोगों ने दोनों घटनाओं को आपस में समद्ध कर लिया।

**5.6.3 मूल्यान्वेषण की चिंता :** यह काव्य सामाजिक-असमानता को प्रदर्शित करने वाली घटना को आधार बनाकर लिखा गया है। इसका उद्देश्य इस असमानता का विरोध करना है। अतः 'समानता' नामक सामाजिक मूल्य की प्रतिष्ठा इसकी मूल चिंता है। क्योंकि इस कृति के केंद्र में एक राजा के चरित्र की आलोचना है, अतः कुछ राजनीतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की चिंता भी इसमें उपस्थित है। समता, न्याय और प्रजावत्सलता ऐसे ही मूल्य हैं। सामाजिक-मूल्य के अंतर्गत 'समानता' का उल्लेख करने के बाद भी राजनीतिक-मूल्य के अंतर्गत 'समता' का उल्लेख इसलिए किया जा रहा है कि राजा न सिर्फ वर्ण और जाति के आधार पर ही भेदभाव करता है बल्कि वह वर्ग, पद-प्रतिष्ठा, पक्ष-प्रतिपक्ष आदि के आधार पर भी प्रजाओं से भेदभाव बरतता है। शंबूक ने राम से सामाजिक-असमानता को प्रश्रय देने की शिकायत तो की ही है, उन्हें राजनीतिक-असमता को भी प्रश्रय देने का दोषी ठहराया है। पक्ष-प्रतिपक्ष के आधार पर राम द्वारा किये गये पक्षपात का जिक्र काव्य में अनेक स्थानों पर किया गया है। एक उदाहरण उसका ऊपर दिया भी जा चुका है, अब एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत है—*"बस रहा प्रतिपक्ष का/ वध ही तुम्हारा इष्ट/ पक्ष में आया निशाचर/ हुआ स्वीकृत शिष्ट"*[64]। इसी तरह न्याय के प्रति राजा राम के तानाशाही रवैये की आलोचना शंबूक ने की है। न्याय का आधार यह है कि उसमें अभियुक्त को भी अपना पक्ष रखने का अवसर दिया जाता है, पर राम अपने उद्देश्य के अनुसार बिना प्रतिपक्ष को सुने ही उसे दंड सुना देते हैं। सीता-निर्वासन के अवसर पर अपनाये गये उनके इस तानाशाही रवैये का जिक्र शंबूक करता है—*"कब मिला अवसर उन्हें/ जो कर सकें प्रतिवाद/ दिया निर्वासन उन्हें/ छल से गया सविषाद"*[65]। सीता के साथ ही साथ शंबूक ने रावण, बाली और शंबूक का नाम भी इसी संदर्भ से जोड़ दिया—*"यह रहा रावण/ उधर है बालि/ यह शंबूक/ अब न कहना न्याय में तुमने नहीं की चूक"*[66]। रावण के संदर्भ में तो राम ने दूत भेजकर उससे वार्तालाप करने का प्रयास भी किया था, बाकी के गिनाये गये व्यक्तियों का पक्ष राम ने सुनने का प्रयास नहीं किया, यह तथ्य है। रावण को भी इस संदर्भ में जोड़ने का आशय अगर इस कृति में खोजा जाए तो यही है कि रावण त्रिलोक-विजयी था, अतः उसका पक्ष उसके सम्मान के अनुरूप सुनना चाहिए था—*"कब सुना प्रतिपक्ष को/ तुमने सहित सम्मान/ दिया निर्वासन, किया वध/ पक्षधर हो क्या न ?"*[67] इसके अलावा कृति में आये हुए संदर्भों की व्याख्या कृति के उपजीव्य ग्रंथों के आधार पर करने की छूट और अपेक्षा मिथकीय खंड-काव्यों की एक विशेषता ही होती है। 'प्रजावत्सलता' की बात भी शंबूक एक राजा के गुणों के रूप में करता है।

[64] शंबूक : जगदीश गुप्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2015, पृष्ठ 63

[65] वही, पृष्ठ 66

[66] वही, पृष्ठ 68

[67] वही, पृष्ठ 68

‘अहिंसा’ नामक मूल्य की महत्ता को भी इस काव्य में व्यापक स्थान मिला है। राम की वध-नीति की जगह-जगह शंबूक ने आलोचना की है। राम ने अपने विपक्षियों का प्रायः ही वध किया है, जबकि शंबूक के अनुसार उन्हें इसके अलावा भी दंड दिया जा सकता था— *“मात्र हिंसा नहीं मानव-न्याय/ हैं अहिंसक और-और उपाय/ दंड के हैं और बहुत विधान/ शीघ्र जिनसे हो किये का भान”*[68]। शंबूक ने तो यहाँ तक कह दिया है—*“यदि रही वध ही तुम्हारी नीति/ नहीं बदली गयी रघुकुल-रीति/ राम आगे से तुम्हारा राज्य/ कविजनों के हेतु होगा त्याज्य”*[69]। इस प्रकार स्पष्ट है कि इस काव्य में अन्याय और असमानता जैसे जर्जर मूल्यों को पोषित करने वाली व्यवस्था के प्रति आक्रोश और न्याय तथा समता जैसे मानवीय मूल्यों को प्रश्रय देने वाली व्यवस्था के प्रति आग्रह का भाव प्रदर्शित किया गया है।

**5.6.4 दार्शनिकता :** वैसे इस काव्य में ‘दर्शन’ का बहुत प्रभाव नहीं है, पर ‘मानवतावाद’ की छाप इस कृति में देखी जा सकती है। मानवतावाद भौतिकवादी दर्शन है, जो यथार्थवाद की एक शाखा के रूप में पल्लवित हुआ है। इसके अनुसार यह संसार ही सत्य है। मनुष्य को यदि कहीं सुख और आराम मिल सकता है तो इसी संसार में; किसी परलोक में नहीं। अतः इसी लोक को इस लायक बनाया जाना चाहिए कि मनुष्य अपने अंदर की सभी क्षमताओं का विकास व उनका सही उपयोग करते हुए अपने वांछित फल को प्राप्त कर ले। इस दृष्टि से वे सभी मानवीय अवरोध जो मनुष्य के सर्वांगीण विकास में बाधा बनकर खड़े रहते हैं, वे इस दर्शन के विरोध के केंद्र में होते हैं। रामराज्य की व्यवस्था वर्णवादी और जातिवादी होने के कारण निम्न जातियों के विकास में बाधा बनकर खड़ी थी, अतः शंबूक द्वारा इसके प्रति व्यक्त किया गया आक्रोश मानवतावादी भावनाओं से भरा हुआ है—*“जो व्यवस्था/ व्यक्ति के सत्कर्म को भी/ मान ले अपराध/ जो व्यवस्था/ फूल को खिलने न दे/ निर्बाध/ जो व्यवस्था/ वर्ग-सीमित स्वार्थ से हो ग्रस्त/ वह विषम/ घातक व्यवस्था/ शीघ्र ही हो अस्त”*[70]। शंबूक के इस तीखे विद्रोह में मार्क्सवाद की अनुगूँज भी सुनी जा सकती है, पर क्योंकि काव्य में मुख्य समस्या जाति और वर्ण की है न कि वर्ग की; इसीलिए इसे मार्क्सवाद की नहीं, मानवतावाद की दृष्टि से देखा जाना चाहिए। वैसे मार्क्सवाद और मानवतावाद दोनों दर्शन मनुष्य की भौतिक उन्नति से ही जुड़े हुए हैं। आध्यात्मिकता की बात यथार्थवादी दर्शन नहीं करते। उनके अनुसार सब कुछ इसी लोक में घटित होता है। काव्य में यह व्यंजित है कि असमानता का समाधान धरती से जुड़कर ही संभव है, इसे कहीं आकाश में नहीं खोजा जा सकता। इस दृष्टिकोण से इस काव्य में वर्णित विचार स्वयं एक दर्शन की निर्मिति-सी करते हैं। शंबूक अपने आपको पृथ्वी-पुत्र कहता है। सीता जी पृथ्वी-पुत्री हैं ही, काव्य में भी यह वर्णित है। राम अपने राजा बनने की प्रक्रिया में भूमि से कटते जाते हैं, यों पहले वे उससे जुड़ते

[68] शंबूक : जगदीश गुप्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2015, पृष्ठ 78

[69] वही, पृष्ठ 79

[70] वही, पृष्ठ 55

हैं। उनका विवाह भूमि-पुत्री सीता से हुआ। राजा बनकर वे धरती से कटते हैं। सीता को निर्वासित करते हैं। यज्ञ के स्थान पर उनके स्थान पर सोने की मूर्ति रखते हैं। राम यदि धरती से जुड़े रहते तब एक तो वे सीता को निर्वासित नहीं करते और यदि किसी कारण कर भी देते तो उनके स्थान पर सोने की नहीं, मिट्टी की मूर्ति बनाते। शंबूक का कथन है—*"भूमिजा की कमी/ कैसे कर सकेगी पूर्ति/ मृत्तिका की नहीं/ सोने की बनेगी मूर्ति/ राजसी मन पर तुम्हारे/ स्वर्ण का ही राज्य/ भूमि-पुत्रों का तुम्हें/ अधिकार अब भी त्याज्य"*[71]। राम जब शंबूक को मारने के लिए उद्यत होते हैं, तब उन्हें थोड़ा सा असमर्थ दिखाया गया है। वे अपने भीतर के साहस को खोजते-से नज़र आते हैं। वहाँ शंबूक उन्हें पुनः धरती की तरफ मुड़ने की सलाह देता है, यह बताते हुए कि तुम अब समर्थ नहीं रह गये हो। तुम्हारी सारी शक्तियाँ तुम्हारी नयी पीढ़ी लव-कुश में संचरित हो गयी हैं—*"नयी पीढ़ी को प्रणत हो राम/ फिर सिधारो निज अयोध्या धाम/ छोड़ दो यह व्योमचारी यान/ पुनः पृथ्वी का करो संधान"*[72]। एक विचारधारा के रूप में चलती हुई यह भूमि-श्रृंखला इस लोक को ही यथार्थ समझने का संकेत देती है; और यह भी कि समस्या का समाधान धरती से जुड़े रहने में है, धरती से जुड़ा हुआ व्यक्ति जमीनी होता है। राजा भी जमीन से जुड़ा हुआ होगा, तभी प्रजा के प्रति समता का भाव रख सकेगा और उनकी समस्याओं का समाधान कर सकेगा—*"सहज समता हो सभी में व्याप्त/ व्यवस्था के हेतु यह पर्याप्त/ भूमि पर फिर भूमि की संतान/ करे शासन, श्रम बने श्रीमान"*[73]। यहाँ पर व्यवस्था में श्रम को ही महत्व प्रदान करने और श्रमिक को ही सत्ता पर काबिज होने की बात में मार्क्सवादी दर्शन की छाप स्पष्ट है। इस प्रकार स्पष्ट है कि इस काव्य में इस लोक को ही प्रमुखता देने वाले मानवतावादी दर्शन का प्रभाव है, यथार्थवादी मानवतावाद का स्वर मार्क्सवादी दर्शन में बड़ा प्रबल है, अतः उसकी भी छाप जगह-जगह देखी जा सकती है।

**5.6.5 विमर्श :** इस काव्य की मूल-चेतना समाज में वर्णवाद और जातिवाद को प्रश्रय प्रदान करने वाली मानसिकता का विरोध करना है। यह उल्लेखनीय है कि काव्य में जातिवादी सामाजिक-असमानता को प्रश्रय प्रदान करने वाली राजनीतिक व्यवस्था के खिलाफ आवाज उठायी गयी है, पर भारतीय संदर्भ में यह आवाज राजनीतिक-व्यवस्था से संक्रमित होकर सामाजिक-व्यवस्था पर तीखी चोट करती है। ऐसा इसलिए कि इस काव्य के लिखे जाने के समय तक भारत आजाद हो चुका था और सामाजिक-समता को भारतीय संविधान में जगह दी जा चुकी थी। यह भी उल्लेखनीय है कि भारतीय संविधान में सामाजिक-असमानता के खिलाफ क़ानून बनाये जाने के बावजूद समाज के उच्च वर्ण और जाति के लोग उस पुरानी और समाज-विरोधी जातिवादी मानसिकता को त्याग नहीं पा रहे हैं। अतः आजाद भारत में इस तरह का काव्य उस मानसिकता पर चोट करने के लिए ही लिखा जाता

[71] शंबूक : जगदीश गुप्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2015, पृष्ठ 67-68
[72] वही, पृष्ठ 75
[73] वही, पृष्ठ 75

है, यों उसका संदर्भ प्रायः पौराणिक या मिथकीय ही रहता है, क्योंकि ऐसी मानसिकता के लोग उन मिथकीय नायकों को आदर्श मानते हैं जिन्होंने असमानता को प्रश्रय दिया हुआ था। पौराणिक मिथकीय ग्रंथ हिंदू धर्म के आधार हैं, पर इनमें ही सामाजिक-असमानता का प्रवर्तन हुआ है। तथाकथित उच्च जाति और वर्ण के लोग उनके आधार पर ही तथाकथित निम्न जाति के लोगों का सामाजिक-शोषण करते आये हैं, अतः सामाजिक-चेतना के काव्य प्रायः इन्हीं को केंद्र में रखकर लिखे जाते हैं। इस तरह उनका संदर्भ राजनीतिक हो जाता है, पर उनका लक्ष्य ऐसी मानसिकता के लोग ही होते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस काव्य का उद्देश्य असमानता को प्रश्रय प्रदान करने वाली सामाजिक-व्यवस्था पर चोट करना है।

शंबूक क्योंकि पौराणिक शूद्र है, अतः उस समय इसकी स्थिति आजकल के दलित-वर्ग से अच्छी नहीं रही होगी। आजकल की दलित जातियों को इन पर काम करने वाले लोग शूद्रों से अलग करते हैं। उनके अनुसार वेदों की चातुर्वर्ण्य व्यवस्था में दलितों को नहीं रखा गया था। वे उसके बाहर थे। शूद्र आजकल की पिछड़ी जातियाँ हैं। पर यह भी उल्लेखनीय है कि कवि या लेखक दलित-उद्धार पर लिखते समय वेदों के शूद्रों का ही हवाला देते आये हैं, क्योंकि वेदों में उनका वर्णन जिस रूप में है, उसकी संगति आजकल की दलित जातियों से ज्याता बैठती है। हो सकता है कि शूद्र आजकल के पिछड़े रहे हों और समयानुसार वे अपनी स्थिति मजबूत करते गये हों। यह भी हो सकता है कि शूद्रों में आजकल की पिछड़ी और दलित दोनों जातियाँ आती रही हों। जिन जातियों ने अपनी स्थिति समयानुसार सुधार ली हो वे पिछड़ी में, और जिनकी स्थिति वैसे बनी रही वे दलितों में गिनी गई हों। कहने का आशय इतना है कि वर्णन के अनुसार पौराणिक शूद्रों की स्थिति आजकल के दलित जातियों की सी थी। शंबूक को भी कवि ने यहाँ दलित मानकर ही उसकी आवाज मुखर की है, यह उनके द्वारा भूमिका में शंबूक के लिए 'हरिजन' शब्द का प्रयोग न कर 'भूमि-पुत्र' नामक शब्द के प्रयोग का औचित्य सिद्ध किये जाने से स्पष्ट है। मतलब उन्होंने शंबूक के लिए 'हरिजन' नामक शब्द के स्थान पर 'भूमि-पुत्र' शब्द का प्रयोग किया है। 'हरिजन' शब्द का प्रयोग महात्मा गांधी ने दलितों के लिए किया है। इस काव्य में भी शंबूक को दलित मानने के स्पष्ट संकेत हैं। शंबूक ने राम को अपनी कथा बताते हुए स्पष्ट किया है कि बचपन में वह ऊपर उठने की भावना से ऋषियों का सानिध्य पाना चाहता था, अतः वह उनका आश्रम आदि साफ़ किया करता था, पर ऋषि उसे अस्पृश्य ही समझते थे– *"कभी-कभी/ जब उनके/ पावन उपदेशों से/ हो कृतार्थ/ धुले हाथ/ छूने को बढ़ाता मैं/ मिट्टी से सने पाँव/ कहकर अस्पृश्य मुझे/ देते बाहर निकाल"*[74]। अतः यह पूरी तरह स्पष्ट है कि इस काव्य में दलित-चेतना को ही वाणी दी गयी है।

[74] शंबूक : जगदीश गुप्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2015, पृष्ठ 91

काव्य के उत्तरार्द्ध में जब से शंबूक एक पात्र के रूप में प्रवेश करता है, इसमें दलित-विमर्श की अनुगूँज सुनाई देने लगती है। शंबूक राम के सम्मुख अपनी तार्किक चेतना से जितने भी सवाल करता है या अपना पक्ष रखता है उन सबमें दलित-विमर्श की छाप देखी जा सकती है। शंबूक के इस कथन में दलित-चेतना का प्रभाव देखिए— *"जो द्विजाति बने/ त्वचा के गौर/ रक्त का उनके/ नहीं रँग और/ शूद्र हूँ मैं/ लिये काली देह/ इसी से मुझ पर तुम्हें संदेह"*[75]। इसमें शंबूक की तल्खी कबीरदास से मिलती-जुलती है। जातिवादी मनोवृत्ति के खिलाफ शंबूक अन्यत्र कहता है—"क्यों किसी सत्कर्म का/ फल नष्ट हो/ जाति कोई क्यों/ किसी से श्रेष्ठ हो"[76]। शंबूक मुखतः जातिगत असमानता के कोण से ही राम की राजनीति और नीति का विश्लेषण करता है, पर इस क्रम में उसे राम द्वारा शोषित या प्रताड़ित अन्य पात्रों के अनुसार अन्य दृष्टिकोण भी अपनाने पड़े हैं। अतः उसकी अपनी दलित-चेतना सदैव केंद्र में नहीं रहने पायी है, पर यह चेतना है उसमें बड़ी प्रखर। इसी चेतना का परिणाम काव्य के अंत में दिखाई देता है जब शंबूक अपने आप को एकलव्य से जोड़ता हुआ उससे वार्तालाप करता है। दलित होने के कारण एकलव्य का अँगूठा कटवाया गया और दलित होने के कारण ही शंबूक का सिर काटा गया। यों एक युग से दूसरे युग तक दलित-शोषण का चक्र घूम गया है। शंबूक का कटा हुआ सिर एकलव्य के कटे हुए अँगूठे से कहता है— *"शाखा में लटके/ शंबूक के/ कटे हुए शीश ने/ शब्दों से/ गाढ़ा-काला रक्त वमन कर/ एकलव्य के/ शरच्छिन्न बूंगे अँगूठे से कहा— 'उठो/ मेरे माथे पर/ अपने ताजे खून का/ तिलक करो।/ पैरों से कुचली प्रतिष्ठा के/ राज्याभिषेक के लिए/ मुझे एक युग से/ तुम्हारी तलाश थी"*[77]। यह काव्यांश व्यंग्यपरक है। आशय यह है कि एकलव्य और शंबूक जैसे प्रतिभासंपन्न शूद्रों की कुर्बानी आने वाली दलित पीढ़ी में आत्मचेतना भरेगी और जातिवाद के खिलाफ विद्रोह की आग बनकर प्रकट होगी। इस चेतना और विरोध के जरिए दलित जन समाज में समता स्थापित करने का श्रेष्ठ कार्य कर सकेंगे।

### 5.7 एक पुरुष और

**5.7.1 मिथकीय चेतना :** 'एक पुरुष और' नयी कविता के महत्वपूर्ण कवि 'डॉ. विनय' की रचना है। इसका कथानक विश्वामित्र और मेनका के संबंधों पर आधारित है। सीधी-सादी पौराणिक कहानियों में 'विमर्श' डालकर कवि उसे आधुनिकता से लैस करना चाहता है। विश्वामित्र और मेनका की मूल कहानी बाल्मीकि रामायण और महाभारत में पायी जाती है। मिथकीय कथाओं के अनुसार विश्वामित्र पहले प्रतापी राजा, यानी क्षत्रिय हुआ करते थे। अपने तमाम प्रयासों और शक्तियों के प्रयोग के बावजूद वे वशिष्ठ मुनि, यानी ब्राह्मण से युद्ध में हार जाते हैं। उन्हें क्षत्रियत्व की अपेक्षा ब्राह्मणत्व

---

[75] शंबूक : जगदीश गुप्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2015, पृष्ठ 70

[76] वही, पृष्ठ 80

[77] वही, पृष्ठ 102

ज्यादा शक्तिशाली प्रतीत होता है और वे उसे प्राप्त करने के लिए घनघोर तपस्या करना शुरू कर देते हैं। उनकी कठोर तपस्या देखकर देवराज इंद्र चिंतित हो जाते हैं और उसे भंग करने के लिए मेनका को तपोवन में भेज देते हैं। तपोवन में पहुँचकर मेनका एक सरोवर में स्नान करने उतरती है। विश्वामित्र मेनका की सुंदरता को देखकर काम के वशीभूत हो जाते हैं और उससे प्रणय-निवेदन करते हैं जिसे मेनका द्वारा स्वीकार लिया जाता है। इस तरह उनका तप भंग हो जाता है। विश्वामित्र और मेनका कई वर्षों तक साथ रहते हैं। विश्वामित्र से मेनका को एक पुत्री की प्राप्ति होती है। पुत्री को जन्म देने के बाद वह पुनः स्वर्ग में लौट जाती है।

**5.7.2 आधुनिकता-बोध :** नया कवि संभावना खोजता है। खोजा उसे जाता है जो सूक्ष्म होता है, स्थूल तो सहज ही दिखाई पड़ जाता है। मिथक प्रायः स्थूल घटनाओं पर आधारित होते हैं। यह उनकी आदिम और मध्यकालीन स्थिति के अनुकूल ही है। सूक्ष्मता आधुनिक काल की निशानी है। अतः आधुनिक कवि स्थूल मिथकीय घटनाचक्रों के जिम्मेदार संभावित सूक्ष्म कारकों को सामने लाता है। ये सूक्ष्म कारक घटना के लिए जिम्मेदार पात्रों की विविध प्रकार की मनः-स्थितियों या उस समय की परिस्थितियों पर आधारित होते हैं। मनः-स्थितियों और परिस्थितियों की पहचान या उनका विवेचन-विश्लेषण आधुनिक काल की आवश्यकताएँ और इसीलिए ज्ञान-शाखाएँ हैं। अतः आधुनिक काल के मिथकीय काव्यों में स्थूल घटनाओं को नहीं, उनके सूक्ष्म कारकों को प्रमुखता दी जाती है।

विश्वामित्र ने सुख का राज्य त्याग कर कठोर तप का मार्ग चुना तो उनके मन में अपने आपको पहचानने की उथल-पुथल की प्रबल संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता। विश्वामित्र राजा थे। राज्य की सुरक्षा और उसका विस्तार, दो नीतियाँ किसी भी राजा की नियति होती हैं। इन दोनों में उसे युद्ध की प्रक्रिया से गुज़रना पड़ता है। युद्ध में अपार जन-धन की हानि होती है। संवेदनशील राजा के लिए इससे गुज़रना, हर बार एक यातना से गुज़रना होता है। इस यातना से उबरने के लिए उसे राज्य का त्याग करना पड़ता है, बिना उसे त्यागे युद्ध की यातना से मुक्ति नहीं है। युद्ध आदिम बर्बर समाज की विरासत है। बिना उसे त्यागे आधुनिक नहीं हुआ जा सकता। विश्वामित्र के मन में राजाओं की इस विरासत के खिलाफ़ आवाजें उठती रहतीं थीं—*"उसने इसके पहले भी कई बार/ अपने आपसे पूछा था/ कि क्या होगा वैभव के बीच/ कपड़े पहनकर खड़ा होने से/ क्या होगा देर तक धारण करने से/ एक कटीला मुकुट"*[78]। अतः एक दिन उन्होंने अपने मन की इस उथल-पुथल से मुक्ति पाने के लिए राज्य छोड़ दिया।

विश्वामित्र ने राज-भोग छोड़कर योग का मार्ग ग्रहण किया था। अबाध भोग का मार्ग छोड़कर कठोर तप के मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति यदि पुनः भोग की तरफ मुड़ रहा है तो इस भोग और उस भोग

---

[78] एक पुरुष और : विनय, भारती भाषा प्रकाशन, दिल्ली, 1975, पृष्ठ 13-14

में अंतर की संभावना और इसी अंतर के सहारे अपने अस्तित्व की तलाश का मार्ग बदल लेने की संभावना से भी इनकार नहीं किया जा सकता। विश्वामित्र पहले राजा थे, फिर योगी बन गये। दोनों सामान्य पुरुष से आगे के मार्ग थे। राजा के लिए नारियों का भोग एक सामान्य बात है, योगी को नारियों पर दृष्टिपात ही नहीं करना है। दोनों प्रेम से रहित होते हैं। बिना प्रेम के कोई पुरुष पूर्ण नहीं होता। उसे पूर्ण होने के लिए अर्धनारीश्वर बनना ही होता है। यही बात स्त्रियों के संदर्भ में कही जा सकती है। स्त्री और पुरुष दोनों मूलतः अपूर्ण होते हैं। एक-दूसरे को अपने में मिलाकर ये पूर्ण होते हैं। यह मिलना प्रेम पर आधारित होता है। क्योंकि प्रेम महज़ शारीरिक नहीं, मानसिक व्यापार भी होता है। ऋषि ने जब मेनका को देखा तो उनके हृदय में प्रेम की उत्पत्ति हुई। ऋषि के मन में फिर से मानसिक उथल-पुथल शुरू हुई। अंत में ऋषि इस निष्कर्ष पर आये कि साधना का नहीं, प्रेम का मार्ग ही सहज है। प्रेम से ही सर्जन होता है। प्रेम पाकर ही पुरुष पूर्ण-पुरुष बन पाता है। अतः ऋषि ने अपने अस्तित्व की खोज का मार्ग बदल लिया। अब वे कहते हैं—*"हल्की-सी लगती तपस्या/ सिद्धि का क्षेत्र सीमित है/ स्वर्ग राज्य की अतुल राशि/ मुझे बौनी दिखती है.../ मेरे संचय !/ तुम्हारे निर्माण में केवल अहमन्यता थी/ त्याग नहीं/ तुम्हारे अनुष्ठान में भ्रम था/ हठात अपना धर्म छोड़/ भटकता रहा सत्य की पकड़ में/ लेकिन आकाश से अलग/ इंद्र धनुष हाथ में कैसे आ सकता है ?"*[79] स्वर्ग में प्राप्त काल्पनिक सुख के लिए साधना द्वारा शरीर को नाना प्रकार के कष्ट देना प्राचीन सोच है। इसी जीवन में सप्रयास सुख को बटोरना और उसका भोग आधुनिक दृष्टि का परिणाम है। विश्वामित्र के लिए अनुपम और दुर्निवार आकर्षक सौंदर्य की राशि सामने खड़ी थी, उसकी उपेक्षा करके साधना में लगे रहना उनकी परलोकवादी मनोवृत्ति को प्रदर्शित करता। उसे स्वीकार कर इहलोक के सुख को महत्ता देना उनकी आधुनिक दृष्टि का परिचायक है।

मेनका को इंद्र ने भोग-विलास की कठपुतली बना रखा था। उसे वह प्रायः पुरुषों के तप को भंग करने के लिए उनकी अंकशायिनी बनाकर भेजता रहता था। उसे अपनी इच्छा से नहीं, इंद्र के आदेश से पुरुषों के साथ सहवास करना पड़ता था। इस तरह के यांत्रिक जीवन से किसी को भी ऊब हो सकती है। अतः इसके खिलाफ मेनका के मन में उथल-पुथल मचती ही होगी। मेनका ने भी सदैव प्रेमरहित सहवास किया है—*"उसे पहली बार महसूस हुआ/ कि वह नारी नहीं है/ मात्र रक्त मांस का एक संयोग/ एक टुकड़ा/ जो किसी के मुँह में डाल दिया जा सकता है"*[80]।

अपने अस्तित्व के प्रति सजगता एक आधुनिक परिघटना है, जिसे लेकर अस्तित्ववाद का दर्शन चला। अस्तित्व के बोध से वह चेतना उभरती है जिसने मशहूर स्वच्छंदतावादी पाश्चात्य कवि और चिंतक विलियम वर्ड्सवर्थ से 'the world is too much with us' कहलवा लिया था।

[79] एक पुरुष और : विनय, भारती भाषा प्रकाशन, दिल्ली, 1975, पृष्ठ 87-88
[80] वही, पृष्ठ 59-60

अस्तित्व के बोध से व्यक्ति समाज की उन रूढ़ियों और परंपराओं तक से विद्रोह कर देता है जो उसे अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती हैं; प्रत्यक्ष रूप से उसके अस्तित्व का आच्छादन कर रही चीजों के बारे में तो कोई संदेह ही नहीं कि वे उसके विद्रोह के घेरे में आ जाएँ। मेनका अपनी इच्छाओं की खुद मालिक नहीं है। उसे इंद्र के इशारे पर काम करना पड़ता है। अपने अस्तित्व से टकराते समय मेनका के मन में इस दासत्व के प्रति विद्रोह की आवाज उठती है—*"क्या वह इस बुलावे को/ अस्वीकार कर सकती है?/ शायद नहीं ....../ यह उसके हाथ में नहीं है/ क्या वह विद्रोह नहीं कर सकती/ उस पूरी व्यवस्था के खिलाफ/ जिसमें उसका जीना ....../...। एक यंत्रणा से अधिक/ और कुछ नहीं है.../ क्या वह इंद्र के पास जाने से/ मना कर सकती है......?"*[81] अपने दासत्व के प्रति विद्रोह की यह आवाज स्वतंत्रता की मांग है, और स्वतंत्रता खुद एक आधुनिक मूल्य है।

**5.7.3 मूल्यान्वेषण की चिंता :** मध्यकालीन जीवन-मूल्य आधुनिक युग की वैज्ञानिक चेतना के अनुकूल नहीं पड़ते। अतः इन्हें नयी पीढ़ी द्वारा बराबर तोड़ा जाता रहता है। पुराने मूल्यों के विघटन से लेकर नये मूल्यों की स्थापना तक का काल मूल्यों के संक्रमण का काल होता है। फिर धीरे-धीरे आधुनिक जीवन-मूल्य विकसित होते हैं। युद्ध, स्वामित्व और तपस्या (वैराग्य) आदिम और मध्यकालीन जीवन-दर्शन हैं, इनसे मध्यकालीन जीवन मूल्यों की सृष्टि होती है। काव्य में इन मध्यकालीन जड़ मूल्यों को तोड़कर युद्ध के बदले बंधुत्व; स्वामित्व और दासत्व के बदले समानता और साधना के बदले प्रेम जैसे मूल्यों को स्थापित करने की चिंता देखी जा सकती है। विश्वामित्र ने राजा के रूप में तमाम युद्धों में भाग लेकर अपने राज्य-विस्तार के लिए हिंसा और रक्तपात किया। युद्ध में तमाम मानवीय मूल्य ध्वस्त होते हैं। युद्ध से विमुख होना तमाम तरह के मूल्यों को प्रश्रय देना है। विश्वामित्र को मानवीय मूल्यों की चिंता थी, अतः उन्होंने युद्ध और राज्य दोनों का त्याग कर दिया। राज्य त्यागकर विश्वामित्र अपनी पहचान और सत्य की खोज में लग जाते हैं। सत्य स्वयं में एक मूल्य है। सत्य की खोज की प्रक्रिया में वे साधनारत होते हैं। साधना के बीच ही मेनका के दर्शन से उन्हें सत्य का मार्ग साधना से अलग दिखाई देने लगता है। साधना के द्वारा वे देवलोक पर विजय प्राप्त करना चाहते थे। पर इस विजय के लिए ध्वंसात्मक कार्यवाही से गुजरने की पूरी संभावना थी, जिससे वे विमुख हो चुके थे। अतः साधना के स्थान पर उन्होंने प्रेम जैसे सर्जनात्मक व्यापार का मार्ग चुना। देवों के पास प्रेम और सर्जन की शक्ति नहीं है, यह सिर्फ मनुष्य के पास है। इस शक्ति का एहसास होते ही उनके सत्य का मार्ग बदल जाता है। उन्हें एहसास होता है कि मनुष्य के जीवन का सत्य प्रेम और सर्जन है। इसी के द्वारा वह काल पर भी विजय प्राप्त कर सकता है और देवों पर भी।

इंद्र और मेनका का संबंध स्वामी और दास का संबंध है। इस दासत्व के प्रति मेनका के मन में विद्रोह की भावना उठती है। दास-प्रथा आदिम और मध्यकालीन व्यवस्था थी; सदियों से स्वामित्व की

[81] एक पुरुष और : विनय, भारती भाषा प्रकाशन, दिल्ली, 1975, पृष्ठ 64-65

भूमिका का सुख भोगते-भोगते शक्तिशाली वर्ग उसका आदी हो चला। वह इसे येन-केन प्रकारेण बनाए रखना चाहता था। अतः समय-समय पर जन-चेतना के परिणामस्वरूप इसके खिलाफ स्वर उठते रहने के बावजूद वह इसे बनाए रखने की सफल कोशिशें करता रहा। आधुनिक-चेतना के परिणामस्वरूप इसके खिलाफ तमाम देशों में बड़े पैमाने पर चले आंदोलनों के बाद गुलामों को वैधानिक रूप से स्वतंत्रता प्राप्त हुई, और समानता का अधिकार भी। अतः स्वामित्व और दासत्व जैसे मध्यकालीन जीवन-मूल्यों की तुलना में स्वतंत्रता और समानता आधुनिक जीवन-मूल्य हैं, जिन्हें प्राप्त करने की कसक मेनका की विद्रोही भावना में देखी जा सकती है।

**5.7.4 दार्शनिकता :** मनुष्य के जीवन का लक्ष्य क्या है, उसकी सार्थकता क्या है, ये सब दर्शन के प्रश्न रहे हैं। दार्शनिकों ने इन पर अपनी-अपनी राय अपने-अपने ढंग से रखी है। इस काव्य में भी इन प्रश्नों से इसके केंद्रीय पात्र विश्वामित्र और मेनका टकराते हैं। विश्वामित्र के भोगी से योगी याकि राजा से ब्रह्मर्षि बनने और फिर पुनः योग से भोग की तरफ मुड़ने की प्रक्रिया उनके सांसारिकता से वैराग्य और फिर वैराग्य से सांसारिकता की ओर बढ़ने वाली दार्शनिक यात्राएँ हैं। काव्य का प्रारंभ ही विश्वामित्र में दार्शनिक-चेतना के उदय के साथ होता है— *"उसने इसके पहले भी कई बार/ अपने आपसे पूछा था/ कि क्या होगा वैभव के बीच/ कपड़े पहन कर खड़ा होने से/ क्या होगा देर तक धारण करने से/ एक कटीला मुकुट[82]"* विश्वामित्र के सामने प्रश्न एक ही है—जीवन का सत्य क्या है? इसके उत्तर की प्रक्रिया में उनका जीवन अपनी परिधि में एक बार चक्राकार घूम गया है। सांसारिकता का मार्ग सत्य है या वैराग्य का? अपने राज्य-काल में विश्वामित्र के लिए सांसारिकता का मतलब अबाध राजसी भोग-विलास और उससे जुड़ी हुई महत्वाकांक्षाएँ थीं, जिनमें दूसरे को दबाकर, कुचलकर इन्हें हासिल किया जाता है। अतः यह जीवन का सहज मार्ग न होकर अतिवादी है। वैराग्य वैसे भी जीवन का सहज मार्ग नहीं है। अतः विश्वामित्र इन दोनों अतिवादी मार्गों को छोड़कर जीवन के सहज मार्ग का अनुगमन करते हैं।

विश्वामित्र का सांसारिकता से आध्यात्मिकता की तरफ मुड़ना आदर्शवाद की ओर रुख करना है। आदर्शवाद में व्यक्ति आकाश की तरफ देखता है। वह सारे संसार के मूल में एक ईश्वर की कल्पना करता है—और ईश्वर का निवास स्थान आकाश में माना जाता है। मेनका के मिलने के बाद ऋषि को अपनी यह आकाशीय-वृत्ति व्यर्थ लगने लगती है। उन्हें अब नये सिरे से धरती की सार्थकता का बोध होता है। मेनका के मिलने के पहले उन्हें साधना ही सत्य, जो उनके लिए आकाश में स्थित था, के मार्ग रूप में दिखायी दे रही थी— *"विश्वामित्र का विश्वास था/ कि प्रकृति बड़ी कठोर होती है।/ चट्टानें सख्त/ पर्वत तने हुए—और/ रास्ते बीहड़/ उसने इन सबको अपनी तपस्या से/ और भी कठोर बना दिया था/ उसने जोड़ दिया था जीवन से/ साधना के तंतुओं का साथ/ साधना जो बहुत पहले/ उसके जीवन का अंग बन गयी थी[83]"*। मेनका से मिलने के बाद ऋषि को धरती के दुर्निवार सौंदर्य का आभास हुआ।

---

[82] एक पुरुष और : विनय, भारती भाषा प्रकाशन, दिल्ली, 1975, पृष्ठ 13-14

[83] वही, पृष्ठ 110

यहाँ से उनकी यात्रा आदर्शवाद से यथार्थवाद की ओर शुरू हो जाती है—*"लेकिन एक दिन/ उसकी आँखें खुलीं.../ और उसकी पलकों पर एक गौरय्या आकर बैठ गई ।/ उसने अनुभव किया—जैसे/ उसकी श्मश्रुओं में एक कोयल/ ...फँस गई है ।/ वह अपने दोनों हाथों से उसे निकालना/ चाहता है/ लेकिन उसके कान—/ उसकी ध्वनि को बार-बार सुनना चाहते हैं ।*[84]*"* और फिर मेनका ने भी, जो स्वयं आकाश से उतरी हुई है, उन्हें धरती की सार्थकता का एहसास कराया। काव्य में यह कई जगह ध्वनित है कि मेनका आकाश, यानी कल्पना याकि स्वप्न का प्रतिनिधित्व करती है; ऋषि विश्वामित्र धरती यानी यथार्थ का। व्यक्ति का जीवन सुचारु रूप से तब चलता है जब उसमें कल्पना और यथार्थ का समन्वय हो। बिना कल्पना के यथार्थ का सौंदर्य नहीं महसूस किया जा सकता और बिना यथार्थ के कल्पना अपना आधार छोड़कर सिर्फ वायवीय बनकर रह जाएगी। विश्वामित्र के पास जब कल्पना नहीं थी, उन्हें यथार्थ के महत्व का ज्ञान नहीं था। और मेनका यानी कल्पना के पास जब तक यथार्थ नहीं था, उसका अस्तित्व आधारहीन था। धरती और आकाश के समन्वय पर ही मनुष्य का जीवन सहज बन सकेगा। पर इस प्रक्रिया में भी, आकाश को धरती के पास ही आना है; जीवन का यथार्थ धरती से जुड़े रहने में है। इसीलिए मेनका इस समन्वय की प्रक्रिया में भी महत्व धरती का ही स्पष्ट करती है—*"धरती की यह रंगभूमि/ कम मोहक नहीं है—/ —वह और भी हो जाये सुखद/ तुम मेरे मनस आँगन में उतरो/ व्योम का स्वच्छंद विहार/ ...और एक जनमानस का बवंडर/ नीहारिका में चमकता तप्त दर्प/ एक स्निग्ध छाया को स्वीकार होगा ।"*[85] विश्वामित्र को भी अंततः इसका बोध हुआ कि आकाशीय वृत्ति ठीक नहीं, धरती का यथार्थ ही ही सत्य है। पर यह बोध आकाश की पड़ताल कर लेने के बाद ही हुआ—*"लेकिन यह भी सच है कि/ तुम्हारी सौंदर्य संधियों से टकरा कर/ मेरा व्यक्तित्व/ आकाश और धरती की सच्चाई में/ धरती के यथार्थ को समझ सका है ।*[86]*"* धरती का यथार्थ यह है कि सर्जन धरती पर ही संभव है, आकाश पर नहीं। आकाशवासी होकर इसीलिए मेनका को अपना जीवन मूल्यहीन दिखता था। विश्वामित्र और मेनका का मिलन पुरुष से स्त्री, धरती से आकाश तथा यथार्थ से कल्पना का मिलन है। अलग-अलग रहने पर ये अपने आपमें अधूरे हैं। एक-दूसरे से मिलकर ही ये पूर्ण होते हैं। इनके आपस में मिलने से सर्जन का मार्ग खुलता है। सर्जन ही जीवन का सत्य है। और यह धरती से जुड़े रहने पर ही संभव है। विश्वामित्र ने इस सत्य को पा लिया था, अतः उनके सामने जीवन का सहज मार्ग स्पष्ट हो गया—*"मैं हूँ प्रसन्न...भारहीन.../ निर्माता एक...उस स्वर्ग का नहीं/ जिसे किसी अवास्तविक भावना ने/ आकार दिया था/ बल्कि निर्माता हूँ उस यथार्थ का/ जिसे धरती की धूल पर/ तुम्हारी प्रसव पीड़ा ने जन्म दिया है ।"*[87]

---

[84] एक पुरुष और : विनय, भारती भाषा प्रकाशन, दिल्ली, 1975, पृष्ठ 111

[85] वही, पृष्ठ 115

[86] वही, पृष्ठ 155

[87] वही, पृष्ठ 155

विश्वामित्र जहाँ धरती से जुड़े रहने पर भी उसके महत्व को नहीं समझ सके थे, वहीं मेनका आकाशवासी होकर भी धरती के यथार्थ को ज्यादा शिद्दत से महसूस करती थी। जहाँ विश्वामित्र की यात्रा आदर्शवाद से होकर यथार्थवाद की ओर जाती है, वहीं मेनका सीधे यथार्थ की भूमि पर पैर रखती है। मेनका ऋषि से कहीं अधिक यथार्थवादी है। उसे ऋषि का वैराग्य लेकर तप करना, महज़ एक ढोंग लगता है—*"मेरे सामने तुम्हारा तपोवन/ एक मिथ्या ढोंग है/ इसमें जन्म नहीं लेंगी संतानें/ सिर्फ लकीरें खुदेंगी/ और अंकित हो जायेंगी/ इतिहास के पृष्ठों पर...*[88]*"* । मेनका सहज जीवन को जीवन की सार्थकता मानती थी। जहाँ विश्वामित्र जीवन के मार्गों को लेकर ऊहापोह की स्थिति में रहते हैं, वहीं मेनका की स्थिति इस दिशा में बिलकुल स्पष्ट है। वह अपने आपको एक स्त्री मानती है, और स्त्री का जीवन सर्जन में ही सार्थकता प्राप्त करता है, इस बात में भी उसे कोई संशय नहीं है। अतः वह पहले से यथार्थ के महत्व को स्वीकार करने वाली स्त्री है। पर वह स्वतंत्र नारी नहीं है। अपनी इच्छा से संचालित होना उसकी नियति में नहीं  है। अतः अपने अस्तित्व को लेकर वह तमाम तरह की विद्रोही भावना से लैस है। उसमें अस्तित्ववादी चेतना की झलक देखी जा सकती है, जिसे यथार्थवादी दर्शन की ही एक शाखा कहा जा सकता है। विश्वामित्र के संपर्क में आने के बाद क्रमशः उसे अपने अस्तित्व की सार्थकता का बोध होता है और उसकी यह विद्रोही भावना धीरे-धीरे शमित होती है। वह भी सर्जन को ही जीवन का सत्य मानती है। देव संस्कृति में अबाध भोग-विलास है, पर सर्जन का अधिकार वहाँ नहीं है। मेनका को इसीलिए वहाँ अपने जीवन की पूर्णता का अनुभव नहीं होता था। धरती पर आकर वह इस पूर्णता की अधिकारी होती है—*"मैं अकेली केवल प्रतिष्ठापित आज्ञाओं/ की कठपुतली बनकर.../ ...नहीं जीना चाहती.../ मुझे भी मिलनी चाहिए अर्थवत्ता/ मेरे शरीर की—/ —मेरे अस्तित्व की—/ मेरा पाप-पुण्य, विवशता/ जो कुछ भी है.../ तुम्हें समर्पित है महामुनि/ सिर्फ उसे एक अर्थ दो...*"[89]।

**5.7.5 विमर्श :** विश्वामित्र के सहारे इस काव्य में युद्ध-विमर्श और मेनका के सहारे स्त्री-विमर्श को अनुस्यूत किया गया है। युद्ध-विमर्श मुख्यतः नयी कविता के प्रबंध काव्यों के सहारे विकसित हुआ। काव्य से अलग यह स्वतंत्र विमर्श वैसे नहीं बना, जैसे अन्य विमर्श बने; पर काव्य में यह अपनी पूरी सत्ता के साथ उपस्थित है। युद्ध राजाओं या राजनेताओं की महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति हेतु लड़े जाते हैं, पर उनसे किसी की महत्वाकांक्षा की पूर्ति नहीं होती। युद्ध वास्तव में किसी को पूर्णता प्रदान नहीं कर सकते, क्योंकि युद्ध अपूर्ण करने की प्रकृति वाले हुआ करते हैं। ये दोनों तरफ के राज्यों के जन-धन, सुख-संतोष और शांति को अपूर्ण बनाते हैं। युद्ध के बाद युद्ध से हुए भयानक विनाश की यातना से युद्धरत व्यक्ति को गुज़रना ही पड़ता है चाहे वह हारे हुए पक्ष का हो या जीते हुए पक्ष का। विश्वामित्र ने तमाम युद्ध अपने राज्य-काल में लड़े। अपनी वीरता से उन्होंने भीषण नर-संहार करते हुए तमाम

---

[88] एक पुरुष और : विनय, भारती भाषा प्रकाशन, दिल्ली, 1975, पृष्ठ 123

[89] वही, पृष्ठ 115-116

राज्यों पर विजय प्रात की। पर एक समय के बाद उन्हें इससे उत्पन्न यातना का शिकार होना पड़ता है— *''क्या माना जा सकता है कि/ युद्धरत आदमी भी/ छिपाए होता है एक सत्य/ अपने भीतर/ जब रुक जाते हैं हाथ/ हत्याओं के अभिसार से/ सिर्फ तब.../ एक अंतहीन व्याकुलता/ ढक लेती है शस्त्रों को अपने क्रोड़ में''*[90]। काव्य में शुरू के चार सर्गों में युद्ध और राज्य से संबंधित विमर्श चलता है, जिसमें यह ध्वनित होता है कि राज्य है तो युद्ध उसकी आवश्यकता है। अतः विश्वामित्र ने युद्ध से विमुख होने के लिए राज्य का परित्याग कर दिया—*''उसने बता दिया कि/ इस नदी के पार/ वह अपना एक नया व्यक्तित्व बनाएगा/ जिसके निर्माण में—/ न होगा राज्य/ न होगा वैभव/ और न रक्तपात।''*[91]

विमर्श आधुनिक युग की उपज है। स्त्री-विमर्श के तमाम समसामयिक मुद्दों को मेनका के सहारे इस काव्य में उठाया गया है। स्त्री-विमर्श का प्रतिष्ठापक बिंदु यह है कि स्त्रियों को सदियों से पुरुषों ने अपना गुलाम बना रखा है। उन्हें अपनी स्वतंत्रता का पूरा अधिकार है। इस बिंदु को मेनका ने बड़े सशक्त तरीके से उठाया है—*''तुमने सदियों से सुनाये हैं मुझे/ ऋतुओं के गीत/ बंद कर दिया है अशक्त करके/नक्काशी भरी दीवारों में''*[92]। स्त्रियों को घर की चहारदीवारी में कैद करके पुरुषों ने उनके कार्यक्षेत्र का दायरा सीमित कर दिया। पुरुष के कार्यक्षेत्र की कोई सीमा न होने के कारण उसके कार्यों ने समाज को सीधे प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया। अतः इतिहास प्रायः पुरुषों के लिखे गये, स्त्रियों के नहीं। यानी पुरुष प्रसिद्ध हुए, स्त्रियों की प्रसिद्धि नगण्य रही। ऐसे में स्त्रियों के सामने अपने अस्तित्व की खोज का प्रश्न आ खड़ा हो, यह स्वाभाविक है। मेनका के सामने भी अपने अस्तित्व का प्रश्न खड़ा होता है—*''मैं कौन हूँ?/ इस संसार की सौंदर्य-सृष्टि/ मैं कौन थी ?/ एक चेतन मुद्रा की अचेतन शिला/ और मेरा अस्तित्व?/ (अस्तित्व शायद किसी का नहीं होता)''* [93]। स्त्रियों द्वारा अपने अस्तित्व की खोज एक आधुनिक घटना है जिसे स्त्री-विमर्श की संज्ञा दी जाती है। अस्तित्व-खोज के आगे का मार्ग है अस्तित्व-बोध जिसे इस क्षेत्र में स्त्रीवाद की संज्ञा दी जाती है। स्त्रीवाद में स्त्रियों को पुरुषों की तुलना में ज़रा भी कमतर नहीं माना जाता। ऐसे सारे सिद्धांतों और मान्यताओं का विरोध किया जता है जो स्त्रियों को दोयम दर्जे का नागरिक सिद्ध करती हैं। अस्तित्व-खोज की प्रक्रिया के बाद मेनका को अस्तित्व-बोध होता है—*''एक दिन मुझसे पूछा था/ ...मैं कौन हूँ.../ और मैंने जवाब में गिरा दिये थे कुछ आँसू.../ बना ली थी अपराधी मुद्रा.../ लेकिन...आज मैं हर्ष के साथ—/ उद्घोषित करती हूँ कि मैं नारी हूँ/ सिर्फ नारी...''*[94]।

पुरुषवादी समाज में नारियों का परिचय भी प्रायः पुरुषों के के सहारे ही दिया जाता रहा है, जैसे किसी की माँ, किसी की बहन याकि किसी की पत्नी आदि। इसमें भी स्त्रियों के स्वतंत्र अस्तित्व को

[90] एक पुरुष और : विनय, भारती भाषा प्रकाशन, दिल्ली, 1975, पृष्ठ 27
[91] वही, पृष्ठ 16
[92] वही, पृष्ठ 71
[93] वही, पृष्ठ 92
[94] वही, पृष्ठ 123

नकारने की सायास या अनायास कोशिश होती ही है। इसके खिलाफ भी नारीवादी आंदोलनों में आवाज मुखर होती रही है। स्त्रियों का स्वतंत्र अस्तित्व है, उन्हें इसे प्रमाणित करने के लिए पुरुषों के सहारे की ज़रूरत नहीं है। मेनका भी अपने परिचय के लिए पुरुषों के संबंधों के सहारे का विरोध करती है—*"कितना छल लेती हैं मान्यताएँ/ कितना धोखा देते हैं संस्कार/ वे बना देते हैं आदमी को पति/ स्त्री को पत्नी—/ और संतानों के मस्तक पर/ दोनों का नाम जोड़ कर/ चिपका देते हैं एक पट्टा.../ ...सिर्फ दूध पीने के लिए/ मेनका को नहीं चाहिए आश्रय/ पत्नीत्व और सौभाग्य.../ वह इन सब स्थितियों से मुक्त/ एक गहरे एकांत में/ बनी रहना चाहती है स्त्री"*[95]। अस्तित्व-बोध होते ही उन मान्यताओं और परंपराओं तथा उन्हें मानने वालों के प्रति विरोध और विद्रोह का भाव मुखर होने लगता है जो उसके स्वतंत्र अस्तित्व को नकारने की मुद्रा लिए हुए होते हैं। मेनका के मन में इन सबके प्रति तीखे विद्रोह की भावना है—*"स्मृतियों के उपदेश तुम्हारे लिए नहीं/ मेरे लिए हैं.../ लेकिन मैं जला देना चाहती हूँ उन तमाम/ ग्रंथों को जो षड़यंत्र की उपज हैं/ जिन्हें पुरुषों ने मिलकर आकार दिए/ पूत मंत्रों और श्लोकों में"*[96]।

इस तरह देखा जा सकता है कि मेनका एक आधुनिक-चेतना से संपन्न स्त्री का प्रतिनिधित्व करती है और उसके माध्यम से स्त्री-विमर्श के विभिन्न उपादानों को इस काव्य में सशक्त वाणी दी गयी है।

### 5.8 महाप्रस्थान

**5.8.1 मिथकीय चेतना :** 'महाप्रस्थान' नरेश मेहता का खंडकाव्य है। इसकी कथावस्तु का आधार महाभारत का सत्रहवाँ अध्याय 'महाप्रस्थानिक पर्व' है। इसकी कथा के अनुसार कृष्ण की मृत्यु तथा यदुवंशियों के विनाश के बाद युधिष्ठिर का मन राजकाज से उचट जाता है। वे अपने सभी भाइयों से राय मशविरा लेकर तथा परीक्षित को राज्य सौंपकर महाप्रस्थान के लिए निकल पड़ते हैं। इस यात्रा में उनके साथ उनके सभी भाई, द्रौपदी और एक कुत्ता था। यात्रा में चलते-चलते क्रमशः द्रौपदी, सहदेव, नकुल और अर्जुन हताहत होकर गिर पड़ते हैं। प्रत्येक के गिरने पर भीम इसका कारण युधिष्ठिर से पूछते हैं। द्रौपदी के गिरने पर युधिष्ठिर ने बताया कि इनका अर्जुन के साथ विशेष पक्षपात था, इसीलिए इनकी यह दशा हुई। सहदेव के विषय में उन्होंने कहा कि वे किसी को अपने जैसा विद्वान नहीं समझते थे, इस अहंकार के कारण उनकी यह दशा हुई। नकुल अपने जैसा रूपवान किसी को नहीं समझते थे, अतः वे भी अधोगति को प्राप्त हुए। अर्जुन को अपनी शूरता का अभिमान था, अतः उनकी भी बुरी दशा हुई। अंत में गिरते-गिरते भीम ने भी अपने गिरने का कारण पूछा। युधिष्ठिर ने भीम को बताया कि तुम बहुत खाते थे, और अपने बल की डींगें हाँका करते थे, अतः तुम्हारी भी बुरी दशा हुई है। इस तरह सबके

---

[95] एक पुरुष और : विनय, भारती भाषा प्रकाशन, दिल्ली, 1975, पृष्ठ 124-125

[96] वही, पृष्ठ 123-124

एक-एक कर गिर जाने से युधिष्ठिर के साथ चलने वालों में मात्र कुत्ता ही शेष रहा। उसके बाद इंद्र स्वर्गलोक से अपना रथ लेकर युधिष्ठिर के पास आते हैं। वे उनसे रथ में बैठकर स्वर्ग चलने का आग्रह करते हैं। युधिष्ठिर अपने भाइयों तथा द्रौपदी के बिना स्वर्ग जाने से इनकार करते हुए इंद्र से उन सबको भी स्वर्ग ले चलने की व्यवस्था करने को कहते हैं। इंद्र ने बताया कि वे सभी अपनी-अपनी देह छोड़कर स्वर्ग जा चुके हैं। परम धर्मात्मा होने के कारण युधिष्ठिर को सशरीर स्वर्ग जाने का अवसर मिला हुआ है। इसके बाद युधिष्ठिर अपने साथ के कुत्ते को अपना भक्त बताते हुए उसे भी स्वर्ग ले चलने की अनुमति इंद्र से माँगते हैं। इंद्र के तमाम बार मना करते रहने के बावजूद वे कुत्ते को अपना भक्त और शरणार्थी बताते हुए उसे साथ ले चलने का आग्रह करते ही रहते हैं। एक प्राणी के प्रति युधिष्ठिर की यह दया-भावना देखकर कुत्ते का वेश धारण किए हुए धर्मराज खुश हुए। कुत्ते का रूप धारण करके वे युधिष्ठिर की परीक्षा लेने के लिए आये हुए थे। अतः कुत्ते के प्रति युधिष्ठिर के दयाभाव को देखकर वे उनकी प्रशंसा करते हुए उन्हें स्वर्गलोक ले गये।

कवि ने इस मिथकीय कथा को आधुनिक आधार देते हुए यात्रा के दौरान सभी पांडवों के बल और तेज से हीन होते जाने के कारण-रूप में युद्ध की त्रासदी और सांसारिक आसक्ति को रेखांकित किया है। युधिष्ठिर के अन्य पांडवों के साथ होने वाले संवादों के माध्यम से उन्होंने व्यक्तित्व के विकास में राज्य और युद्ध को हानिकारिक बताते हुए उनकी आलोचना की है।

**5.8.2 आधुनिकता-बोध :** कवि ने उपर्युक्त मिथकीय कथावस्तु के सहारे आधुनिक जीवन की कुछ गंभीर समस्याओं को उठाया है। मूल कथा में यात्रा के दौरान युधिष्ठिर को छोड़कर अन्य पांडवों के क्रमशः अचेत होकर गिरने और उनके कारणों की व्याख्या ने कवि के लिए उनके पतन के कारणों के रूप में आधुनिक समस्याओं को रेखांकित करने का अवसर उपलब्ध कराया। आधुनिक जीवन की सबसे बड़ी त्रासदी है युद्ध। युद्ध सत्ता पाने के लिए होते हैं, अतः सत्ता, यानी राज्य दूसरी बड़ी समस्या है। अतः सत्ता की महत्वाकांक्षा और युद्ध आधुनिक जीवन की विकट समस्याएँ प्रमाणित होती हैं। पांडवों ने सत्ता प्राप्ति के लिए युद्ध में भाग लेकर एक तरह से मानवता के विकास में बाधा डालने का कार्य किया था। अतः मानवता विरोधी कार्य करने की वजह से उन्हें इसका खामियाजा भुगतना पड़ता है। पांडवों के पतन के इस मानवता-विरोधी कारणों की पड़ताल के क्रम में कवि को युद्ध की विभीषिका तथा राज्य की जन-विरोधी नीतियों के चित्रण का पर्याप्त अवसर मिल गया है। युद्ध के समय कौरव सत्ता-पक्ष में थे, अतः अपनी सत्ता को बनाए रखने के लिए उन्होंने भी मानवता-विरोधी मूल्यों का सहारा लिया है। इन सबके माध्यम से राज्य को मानवता-विरोधी घोषित करते हुए लगभग अराजकतावादी दर्शन का प्रतिपादन इस काव्य में किया गया है।

आधुनिक युग मशीनों और यंत्रों का है। अतिशय यांत्रिकता और मशीनीकरण व्यक्ति को यंत्र में बदल देते हैं। उनके स्वतंत्र अस्तित्व को नकार दिया जाता है। यह अति-भौतिकतावाद की स्थिति

होती है। सर्वत्र भौतिक यंत्र ही दिखायी देते हैं, महत्व उन्हीं का होता है। ऐसे युग में व्यक्ति का ध्यान व्यक्ति पर नहीं, मशीनों पर जाता है। इस मशीनीकरण के खिलाफ जब आधुनिक मनुष्य विरोध करता है, तब व्यक्तिवाद या अस्तित्ववाद जैसी शब्दावली उभर कर आती है। इन सिद्धांतों के माध्यम से यह पता चलता है कि यह अतिशय भौतिकता, यांत्रिकता या रूढ़िवादिता के खिलाफ वैयक्तिक प्रज्ञा या मनीषा का विद्रोह है। वैयक्तिक प्रज्ञा व्यक्ति के महत्व को फिर से स्थापित करने का काम करती है। बच्चन सिंह ने अपने 'आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास' नामक पुस्तक में नयी कविता की प्रवृत्तियों का विवेचन करते समय इस तथ्य को रेखांकित किया है—*''पूँजीवादी अर्थव्यवस्था और यांत्रिकता के दबाव के कारण ज्यों-ज्यों आदमी की अपनी पहचान खोती गई त्यों-त्यों वह उसकी रक्षा के लिए, स्वतंत्रता के लिए जागरूक हो उठा।''*[97]

राज्य मनुष्य को यंत्र में परिवर्तित कर देता है। इस यंत्र की चाभी राजा या शासक के पास होती है—*''संभव है अर्जुन !/ यह सत्ताधारी/ यह राज-व्यवस्था/ एक दिन/ प्रत्येक व्यक्ति के भीतर/ विचार शून्यता का/ अंधा कारागार निर्मित कर दे।/ प्रत्येक व्यक्ति/ बंद ताले की भाँति कर दिया जाए/ जिसकी ताली/ राजकोष में जमा कर दी गयी हो।''*[98] व्यक्ति विचारशून्य होकर यंत्र में परिवर्तित न हो जाए, इसके लिए उसकी विचारधारा, प्रज्ञा और मनीषा का स्वतंत्र होना बहुत ज़रूरी है। राज-व्यवस्था व्यक्ति की इस वैयक्तिकता पर नियंत्रण रखती है, उसे विकसित होने का अवसर प्रदान नहीं करना चाहती, अतः राज्य की इस प्रवृत्ति का विरोध होना चाहिए—*''राज्य के/ अकूत शक्ति संपन्न होने का अर्थ ही है/ व्यक्ति का स्वत्वहीन होना।/ राज्य की गरिमा को/ व्यक्ति की गरिमा का पर्याय होने दो।/ किसी भी व्यवस्था का/ व्यक्ति से बड़े हो जाने का अर्थ होगा/ अमानवीय तंत्र !!''*[99] वैयक्तिकता की स्थापना एक आधुनिक प्रवृत्ति है, जो राज्य-व्यवस्था से व्यक्ति की मुक्ति की आकांक्षा करती कवि की काव्य-चेतना में देखी जा सकती है।

एक और आधुनिक प्रवृत्ति जो इस काव्य में दिखाई पड़ती है वह है जनवादी-प्रवृत्ति। जनवाद एक सिद्धांत है, जिसके अंतर्गत मुख्यतः राजनीति की गलत नीतियों का विरोध करते हुए जनता का पक्ष लिया जाता है। यह सिद्धांत आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियों के रेखांकन में ही उभर कर आता है। इस काव्य में भी कवि ने शासकों की जन-विरोधियों नीतियों का विरोध करते हुए जनता के प्रति अपनी सहानुभूति व्यक्त की है—*''कभी उन/ विचारहारा साधारण जनों के बारे में सोचो—/ जो सदा अपमानित होते रहे हैं।/ जिनके स्वत्व का अपहरण ही/ हमारे ये दीपित साम्राज्य हैं।''*[100] इस प्रकार स्पष्ट है कि

---

[97] आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास : बच्चन सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पेपरबैक संस्करण 2006, पृष्ठ 262

[98] महाप्रस्थान : नरेश मेहता, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2012, पृष्ठ 87

[99] वही, पृष्ठ 84

[100] वही, पृष्ठ 80

युद्ध-विरोधी चेतना, मनुष्य की मुक्ति की आकांक्षा और साम्राज्यवाद-विरोधी चेतना के कारण इस काव्य में पर्याप्त आधुनिक तत्व हैं।

**5.8.3 मूल्यान्वेषण की चिंता :** आधुनिक युग में विज्ञान और उद्योग के विकास के फलस्वरूप मनुष्य ने अपनी भौतिक उन्नति तो खूब की, पर मानसिक उन्नति के क्षेत्र में वह पीछे ही रह गया। मानसिक उन्नति में क्रमशः पीछे पड़ने के कारण व्यक्ति विचारशून्य होता गया। व्यक्ति की इसी विचारशून्यता का परिणाम है कि आधुनिक-युग में भी युद्ध जैसी विनाशक घटनाएँ होती रहती हैं। इतना विकास होने के बाद भी यदि युद्ध जैसी घटनाएँ घटित होती हैं तो एक विचारशील मनुष्य यह सोचने के लिए बाध्य हो सकता है कि संसार ने जिन आधुनिक मूल्यों को अर्जित किया है वे युद्ध जैसी घटनाओं पर नियंत्रण रखने में सहायक नहीं हो पा रहे हैं ! उन्हीं मूल्यों की समीक्षा तथा नये कारगर मूल्यों की स्थापना की चिंता इस काव्य में देखी जा सकती है। मनुष्य अपनी भोगवादी प्रवृत्ति के कारण अतिशय भौतिकता की ओर झुकता है। भौतिकता व्यक्ति को महत्वाकांक्षी बनाती है। अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए वह युद्ध जैसी स्थितियों को जन्म देता है, शासक होकर जनता का शोषण करता है। कवि ने हिमालय-यात्रा के दौरान एक-एक पांडव का परिचय कराने के क्रम में उनके उन मूल्यों की आलोचना की है, जिनके कारण वे युद्ध में प्रवृत्त हुए।

नये मूल्यों की स्थापना की चिंता में कवि ने अराजकतावादी दर्शन का आधार ग्रहण किया है। उन्होंने राज्य तथा राजा की स्थिति को नकार दिया है। दूसरों पर शासन करने की महत्वाकांक्षा के कारण ही व्यक्ति शासक बनना चाहता है। शासक बनने के लिए वह युद्ध का सहारा लेता है। एक बार शासक बन जाने के बाद वह अपनी सत्ता कायम रखने के लिए निरंतर युद्ध या आतंक का ही सहारा लिया करता है। इस प्रकार वह अपनी व्यवस्था को अधिकाधिक कठोर बनाता चला जाता है—*"आज, नहीं तो कल/ राजा से अधिक कठोर हो जाएँगे/ ये राज्य—/ और सुदूर भविष्य में/ राज्य से भी अधिक अमानवीय हो जाएँगी/ ये राज्य-व्यवस्थाएँ।/ इनके दो आधार स्तंभों—/ युद्ध और आतंक/ जिनका शिलान्यास/ मनुष्य की आदिम प्रवृत्तियाँ/ बारंबार करती आयी हैं/ एक दिन/ युद्ध और आतंक ही/ सामाजिकता के पर्याय बन जाएँगे।"*[101] अतः इस मानवता-विरोधी प्रवृत्ति वाले राज्य का अस्तित्व ही समाप्त कर देना चाहिए। ऐसा कर देने से युद्ध और आतंक दोनों की समस्या हल हो जाएगी। इससे एक तो जन-साधारण का शोषण रुक जाएगा, दूसरे मनुष्य की प्रज्ञा और विचार पर से शासन या सत्ता का नियंत्रण भी हट जाएगा। एक विचारवान प्राणी होकर फिर वह मानवतावादी मूल्यों की स्थापना समाज में कर सकेगा। इसीलिए अर्जुन के इस प्रश्न का कि जब राजा नहीं होगा तब क्या होगा, युधिष्ठिर यह उत्तर देते हैं —*"व्यक्ति होगा/ मानवीय वानस्पतिकता होगी और/ उदात्त करुणा, प्रज्ञा होगी पार्थ !"*[102]

---

[101] महाप्रस्थान : नरेश मेहता, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2012, पृष्ठ 81

[102] वही, पृष्ठ 84

पांडवों की स्वर्ग, यानी ऊपर की ओर उठने की यात्रा को यहाँ एक प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। समानांतर यात्रा में भी व्यक्ति कम बोझ लेकर चलता है ताकि उसका सफ़र आसान रहे, यहाँ तो फिर भी ऊर्ध्वगमन की बात हो रही है। ऊर्ध्वगमन की इस प्रक्रिया में व्यक्ति को अपने ऊपर के सारे बोझ उतारकर हल्का होना पड़ेगा, अन्यथा यात्रा मुश्किल हो जाएगी। इस प्रतीकात्मक यात्रा में व्यक्ति को अपने मन को क्रमशः ऊपर उठाते हुए महामानव की अवस्था को प्राप्त करना है। इस प्रक्रिया में सांसारिक आसक्तियाँ बोझ का काम करती हैं। वे व्यक्ति की मानसिक उन्नति के मार्ग में बाधक बनकर खड़ी हो जाती हैं। अतः ऊपर उठने की प्रक्रिया में उन्हें छोड़ते जाना चाहिए—*"वस्तुओं से हीन होते जाने का/ अर्थ है/ व्यक्तित्व से संपन्न होते जाना।/ युद्ध, राज्य, साम्राज्य, संपदा, संबंध/ इन सबकी सीमाएँ हैं पार्थ !/ ये ही/ वे कुचक्र हैं/ जिन्हें व्यक्ति/ अपने चारों ओर बुन लेता है/ और फिर कभी/ इस सफलता की सुगंध के परिवृत्त से/ बाहर आना नहीं चाहता।/ ये वस्तुएँ/ ये सफलताएँ/ एक दिन उसका पर्याय बन जाती हैं।"*[103] युधिष्ठिर के अलावा अन्य पांडव इन सांसारिक बोझों के साथ यात्रा करना चाहते थे, अतः उनकी यात्रा सफल नहीं हुई। अर्जुन इन सांसारिक आसक्तियों के साथ थे, इसका प्रमाण युधिष्ठिर ने उपर्युक्त उद्धरण से आगे की पंक्तियों में दिया है—*"वस्तुओं और सफलताओं के माध्यम से/ अमरता प्राप्त करने को ही तो/ तुम पुरुषार्थ और संकल्प कहते हो ??/ ये दुर्ग, प्रासाद, स्मृति-भवन/ चारण-प्रशस्तियाँ/ ये झूठे इतिहास वाले शिलालेख/ व्यक्ति को अमरता देंगे ?/ पार्थ !/ जड़, जड़ का ही प्रतिनिधित्व कर सकता है/ चेतन का नहीं।"*[104]

अपनी प्रतीकात्मकता में ऊर्ध्वगमन की यह प्रक्रिया सिर्फ युधिष्ठिर द्वारा संपन्न होती है। उनके साथ के अन्य पांडवगण और द्रौपदी सांसारिक आसक्तियों और वस्तुओं के प्रतीक हैं, जिन्हें युधिष्ठिर क्रमशः छोड़ते जाते हैं। अंत में युधिष्ठिर के साथ कुत्ते के रूप में मात्र करुणा रह जाती है। कुत्ते को यहाँ जीव मात्र का प्रतीक माना गया है, जिसके साथ दयाभाव रखने के कारण ही करुणा युधिष्ठिर के साथ रहती है। करुणा ऊर्ध्वगमन की प्रक्रिया में बाधक नहीं, बल्कि सहायक है। अतः करुणा का प्रतीक कुत्ता उनके साथ बना रहता है, बाकी सब छूट जाते हैं। इस प्रक्रिया में द्रौपदी को संसारिकता का, नकुल और सहदेव को क्रमशः रूप और ज्ञान का, अर्जुन को पुरुषार्थ का और भीम को देह का प्रतीक माना गया है। अन्यों के प्रतीकार्थ को स्पष्ट रूप में इस काव्य में संकेतित किया गया है, पर नकुल और सहदेव के प्रतीकतत्व के लिए 'महाभारत' की कथा का सहारा लेना पड़ता है; क्योंकि इन दोनों के परिचय में काव्य मात्र इतना कहता है—*"आदर्श अनुज से/ नकुल और सहदेव विनत हो/ चले आ रहे उदासीन/ ज्यों मौन-मिथुन छायाएँ हों पांडवता की।"*[105] 'मिथुन' शब्द का अर्थ युग्म होता है। अतः मौन-मिथुन छायाएँ का अर्थ हुआ दो मौन छायाएँ। अतः यहाँ उनका प्रतीकत्व स्पष्ट नहीं हुआ है। युधिष्ठिर ऐसे

[103]महाप्रस्थान : नरेश मेहता, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2012, पृष्ठ 79

[104] वही, पृष्ठ 79

[105] वही, पृष्ठ 44

पुरुष के प्रतीक हैं जो 'प्रज्ञापुरुष' बनने की महायात्रा पर है। इस यात्रा में वे अपने सभी सांसारिक बंधनों का क्रमशः त्याग करते जाते हैं— *"इस दुर्गम स्वर्गारोहण में/ मेरे अभिन्न अंगों की भाँति/ एक-एक करके सारे संबंध/ आत्मीय बांधवता/ रागात्मक संसार/ सुगंधित स्मृतियाँ/ और इन सबको वहन करता/ यह व्यक्तित्व/ प्रतिक्षण/ इस हिम में विसर्जित हो रहा है।/ मुझे मृत्यु के इस विराट नाटक की/ पूर्ण प्रतीति है अर्जुन !/ पूर्ण प्रतीति !!/ विभिन्न नामों वाला/ यह मेरा ही क्षय है पार्थ !"*[106] इस प्रकार स्पष्ट है कि इस काव्य में इस स्वर्गारोहण का प्रतीकात्मक अर्थ है जिसके अनुसार व्यक्ति विभिन्न सांसारिक आसक्तियों और दुर्गुणों को त्यागकर ही प्रज्ञावान और विचारवान हो सकता है। प्रज्ञा और करुणा वे मानवीय मूल्य हैं, जिनके सहारे ही मनुष्य संपूर्ण प्राणिजगत का भला कर सकता है।

**5.8.4 दार्शनिकता :** इस कृति में भारतीय वैराग्य-प्रधान 'वेदांत-दर्शन' तथा पश्चिम के राजनीतिक दर्शन 'अराजकतावाद' का आधार ग्रहण किया गया है। वेदांत दर्शन का उपयोग व्यक्ति के प्रज्ञावान या मनीषी बनने की प्रक्रिया के चित्रण में तथा अराजकतावाद का उपयोग इस मनीषा के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण उपलब्ध कराने के लिए किया गया है। भोग-विलास, पद-प्रतिष्ठा रूपी सांसारिक आसक्तियों में पड़कर मनुष्य सिर्फ मनुष्य जाति का ही नहीं, वरन प्राणिमात्र का नुकसान करता है। अपनी अंतिम अवस्था में मनुष्य को अनुभव होता है कि वह जिन आसक्तियों के सहारे संसार को कष्ट पहुँचाता आया है, वे सांसारिक अशांति की वाहक बनती हुई अंततः उसकी व्यक्तिगत अशांतियों की वाहक भी बन जाती हैं। उनसे किसी मानवीय मूल्य का सृजन नहीं हुआ करता। आध्यात्मिक आधार ग्रहण करते हुए यदि कहा जाए तो वह यह होगा कि व्यक्ति को अपनी अंतिम अवस्था में अपने द्वारा किये गये सांसारिक विध्वंसों और अत्याचारों की याद आती है, इससे उन्हें मानसिक कष्ट भोगने पड़ते हैं। आधुनिकता के बावजूद आध्यात्मिक दृष्टि का आधार लेना यहाँ किसी भी प्रकार गलत नहीं कहा जा सकता। संसार ने चाहे जितनी भौतिक उन्नति की हो, पर सृष्टि के सभी रहस्यों की खोज में वह नाकामयाब ही रहा है। अतः जब तक मनुष्य सृष्टि पर विजय नहीं हासिल कर लेता, आध्यात्मिक दृष्टि बरकरार रहेगी।

अर्जुन, भीम आदि पांडव वीर थे, पर अपनी वीरता का उपयोग उन्होंने सिर्फ अपने स्वार्थ के लिए करना चाहा। सांसारिक आसक्तियों को वे छोड़ नहीं पाये थे। अतः अंत में उन्हें मानसिक और शारीरिक कष्टों का सामना करना पड़ता है। अपने साथ-साथ संपूर्ण मानवता को कष्टमुक्त कराने के लिए मनुष्य को प्रज्ञावान बनने की जरूरत है। प्रज्ञा प्राप्ति के लिए सभी सांसारिक आसक्तियों और बुराइयों का त्याग आवश्यक है। वेदांत-दर्शन में संसार को झूठा और ब्रह्म को सत्य इसीलिए बताया गया है कि मनुष्य इस सांसारिकता का त्याग करके ब्रह्मज्ञान की ओर तत्पर हो। भारतीय मनीषा सांसारिक आसक्तियों को सदैव मुक्ति के मार्ग में बाधक मानती रही है। पर इस मध्यकालीन अध्यात्म के क्षेत्र में

[106] महाप्रस्थान : नरेश मेहता, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2012, पृष्ठ 94

मनुष्य की यह मुक्ति व्यक्तिगत होती है, जबकि आधुनिक अध्यात्म के माध्यम से काव्य में मनुष्य की जिस मुक्ति की बात की गयी है, वह संसार के भले के लिए है। प्रज्ञावान मनुष्य संसार को करुणा और विवेक का पाठ पढ़ाता हुआ इसी संसार में रत रहेगा, वह इससे विरत नहीं होगा। यह दर्शन कुँवर नारायण की कृति 'आत्मजयी' में भी नचिकेता के माध्यम से प्रतिपादित किया गया है। ज्ञान प्राप्ति के बाद यम के यहाँ से नचिकेता वापस संसार में आता है, अपने ज्ञान के माध्यम से मानवता का कल्याण करने के लिए।

संसार में व्यक्ति की प्रज्ञा और विचार का स्वतंत्र विकास हो सके, इसके लिए उसके ऊपर किसी शक्ति का नियंत्रण नहीं होना चाहिए। राज्य-व्यवस्था वह शक्ति है जो शोषण और दमन की नीति पर आधारित होती है, अतः वह व्यक्ति की इस वैयक्तिक स्वतंत्रता को बाधित करती है। वह व्यक्ति की प्रज्ञा और उसके विचार पर नियंत्रण बनाए रखना चाहती है, अतः उसका स्वतंत्र विकास नहीं हो पाता है। इस प्रकार राज्य-व्यवस्था अपने अधिकार-क्षेत्र में आने वाले मनुष्यों को विचारशून्य बनाते हुए एक व्यापक आबादी का शोषण और दमन करती रहती है। संसार में सभी जगह राज्य-व्यवस्थाएँ हैं, अतः राज्य-व्यवस्था के अधीन आने वाली समस्त मानव-जाति का शोषण और दमन चलता ही रहता है। राज्य-व्यवस्थाएँ समाप्त हो जाएँगी तो समाज में शांति-व्यवस्था स्वतः स्थापित हो जाएगी, क्योंकि स्वंतंत्रता पाकर मनुष्य अपनी विवेकशील प्रवृत्ति के चलते प्रज्ञावान मनुष्य का दर्जा प्राप्त कर लेगा। अतः समाज में शांति-व्यवस्था बनाए रखने के लिए राज्य-व्यवस्था को समाप्त कर देना चाहिए, इस प्रकार का दर्शन इस काव्य में व्यक्त हुआ है।

**5.8.5 विमर्श :** नयी कविता के युद्धाधारित प्रबंध-काव्यों की श्रृंखला में नरेश मेहता का यह प्रबंध-काव्य भी शामिल है। जिस तरह से इस श्रृंखला के अन्य प्रबंध-काव्यों में युद्ध-विमर्श के माध्यम से युद्ध के कारणों और परिणामों की आलोचना की गयी है, उसी तरह से इस काव्य में भी। इस संदर्भ में यह प्रबंध-काव्य धर्मवीर भारती के प्रबंध-काव्य 'अंधायुग' से तुलनीय है। 'अंधायुग' की जहाँ समाप्ति होती है, वहीं से इस काव्य की शुरुआत। कृष्ण की मृत्यु से अंधायुग की समाप्ति तथा कृष्ण की मृत्यु से व्यथित युधिष्ठिर की विरक्ति तथा अन्य पांडवों सहित उनके स्वर्गारोहण से इस काव्य की शुरुआत होती है। स्वर्गारोहण की यात्रा के क्रम में पांडवों को थका-हारा, कमज़ोर तथा निस्तेज दिखाने के क्रम में कवि को युद्ध के कारण और परणामों पर दृष्टिपात करने का पर्याप्त अवसर मिल जाता है। अतः इस काव्य में भी लंबा युद्ध-विमर्श चलता है।

युद्ध की परिस्थिति के उत्पन्न होने के कारणों को रेखांकित करते हुए इसमें कहा गया है—*"मूल्य और मानवी उदात्तताएँ/ जब सार्वजनिक जीवन में/ हो जाती हैं शेष/ तभी होता है युद्ध/ युद्ध का*

*घोष।"*[107] युद्ध अपनी शुरुआत के पहले और बाद में मानवीय मूल्यों का विघटन ही करता है। युद्ध के बाद इसमें भाग लेने वाले की वृत्तियाँ असंतुष्ट हो जाती हैं। सांसारिक आसक्ति रखने वाला प्राणी अपने मान-अपमान के कारण कुंठा और घुटन में बदले की भावना से ग्रसित होकर मानसिक अशांति का शिकार हो जाता है। विवेकशील प्राणी मूल्यों के विघटन से अशांत रहता है। इस काव्य में युधिष्ठिर एक विवेकशील मनुष्य के रूप में आये हैं। अतः युद्ध से उत्पन्न परिणामों में किसी सत्य का साक्षात्कार न कर सकने के कारण वे अशांत रहते हैं। अन्य पांडव क्योंकि सांसारिक आसक्तियों वाले मनुष्य हैं, अतः वे बदले की भावना से ग्रस्त हुए अशांति के शिकार हैं। युधिष्ठिर युद्ध के बाद के परिणामी आभासी सत्य को न पाकर सत्य की खोज में राज्य त्याग देते हैं—*"युद्ध प्रताड़ित/ अंतर का वह सत्य—/ अश्वमेध और राजसूय यज्ञों से भी/ जब शोध न पाये/ तब पुनः दाँव पर लगा स्वत्व—/ वल्कल पहने निकल पड़े/ वैश्वानर पथ पर।"*[108] जहाँ एक ओर युधिष्ठिर सत्य की खोज में अशांत हैं वहीं दूसरी ओर अन्य पांडव अपने अपमान, दुःख और यातना बोध के कारण बदले और और विद्रोह की भावना से कुंठित और घुटते हुए पाये जाते हैं—*"तेरह वर्षों का वनवास काल—/ अपमान, दुःख औ घोर यातना।/ दुर्योधन, दु:शासन के वे सारे छलबल/ स्वयं भीम की गदाशक्ति/ औ शत गजबल !/ सब व्यर्थ गये,/ दु:स्वप्न सरीखे बीत गये/ सब बीत गये।/ शांत न हो पायी—/ विरोध की अग्नि/ पाकर बंधु-बांधवों वाली—/ समिधा।/युद्ध, युद्ध/ प्रतिपाग पर केवल युद्ध/ और षड्यंत्र, द्वंद्व/ बैर का वह दावानल/ शिरा-उपशिराओं में/ अब भी है सुलगा पड़ता।"*[109] इस तरह बाहरी स्तर पर समाप्त हो जाने के बाद भी युद्ध मानसिक स्तर पर व्यक्ति के जीवन काल तक चलता रहता है। यह युद्ध पांडवों का पीछा तब तक नहीं छोड़ता जब तक उनका जीवन रहता है। स्वर्गारोहण की यात्रा के दौरान इसीलिए प्रत्येक पांडव अपनी यातना के ज़रिये युद्ध की उन घटनाओं को तब तक याद करता रहता है जब तक वह गिर नहीं जाता।

पांडवों की इस यातना के माध्यम से युद्ध के कारणों और परिणामों का विश्लेषण तो काव्य में हुआ ही है, युधिष्ठिर और अर्जुन के संवादों के माध्यम से भी इनका चित्रण किया गया है। इन संवादों के माध्यम से राज्य-व्यवस्था को युद्ध के लिए जिम्मेदार मानते हुए कहीं उस पर धर्म और प्रज्ञा के नियंत्रण की बात की गयी है तथा कहीं उसे अनावश्यक व्यवस्था मानते हुए उसकी समाप्ति पर बल दिया गया है। इस तरह के विश्लेषण में यह दिखाया गया है कि व्यक्ति अपनी सांसारिक महत्वाकांक्षाओं के कारण शासक बनने की प्रवृत्ति रखता है—*"मैं जनता हूँ/ प्राप्य या अप्राप्य—/ परंतु हम सबके भीतर/ सत्ता का माणिक-भवन/ अर्द्धदीप्ति रहता है।/उसी के गवाक्ष से/ सत्ता की विषकन्या/ गोपनीय/ कुटिल-संकेतों से अपना वशीकरण डालती है,/ और हम/ आकंठ/ उस वैभव-गंध से मदांध/ धर्म, दर्शन, न्याय,*

[107] महाप्रस्थान : नरेश मेहता, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2012, पृष्ठ 32

[108] वही, पृष्ठ 32

[109] वही, पृष्ठ 34

*शास्त्र/ सबकी वही व्याख्या करते हैं/ जिससे हम ही/ सत्ता के केंद्र में पहुँच सकें ।"*[110] इस काव्य में अन्यत्र संकेत किया गया है कि सत्ता प्राप्ति के लिए महत्वाकांक्षी व्यक्ति युद्ध का सहारा लेता है और फिर प्राप्त हुई सत्ता को बनाए रखने के लिए भी वह युद्ध का ही सहारा लेता है। इस प्रकार युद्ध संबंधी समस्त समस्याओं की जड़ राज्य ही है। अतः या तो इसे समाप्त कर देना चाहिए या इस पर नियंत्रण स्थापित करना चाहिए। इस प्रकार स्पष्ट है कि इस काव्य में भी युद्ध-विमर्श को स्थान दिया गया है।

## 9. सूर्यपुत्र

**5.9.1 मिथकीय चेतना :** 'सूर्यपुत्र' नामक खंडकाव्य 'जगदीश चतुर्वेदी' का लिखा हुआ है। इसका कथानक 'महाभारत' के कर्ण के जीवन से जुड़ा हुआ है। 'महाभारत' में कर्ण संबंधी कथा का वर्णन 'आदि पर्व' से शुरू होकर 'कर्ण पर्व' में कर्ण की वीरगति के प्राप्त होने तक मिलता है। सूर्यपुत्र का कथानक 'महाभारत' की दी हुई कथाओं के अनुसार ही है। सूर्यपुत्र में 14 छोटे-छोटे अध्याय हैं जिनके नाम क्रमशः आह्वान, सिद्धि, निर्वासन, पुनर्जन्म, प्रवंचना, विरति, प्रतिहिंसा, प्रतिश्रुत, निष्क्रमण, अपराजेय, देहदान, शक्ति संधान, निर्वहण और युगांत हैं। आरंभ के चार अध्यायों में कर्ण के जन्म से लेकर उसके अधिरथ के यहाँ तक पहुँचने की कथा है। महाभारत में यह कथा 'आदि पर्व' और 'वन पर्व' में है। 'आदि पर्व' की अपेक्षा 'वन पर्व' में यह कथा अधिक विस्तृत रूप में दी गयी है। महाभारत के इन दोनों पर्वों की कथा के अनुसार 'कर्ण' अविवाहित कुंती और सूर्य देव की संतान थे। एक समय कुंती की सेवा से प्रसन्न होकर महर्षि दुर्वासा ने उसे एक वशीकरण मंत्र दिया। उस मंत्र में यह शक्ति थी कि उसके द्वारा कुंती जिस भी देवता का आह्वान करेगी, उस देवता के अनुग्रह से उसे पुत्र की प्राप्ति होगी। बालसुलभ चेष्टाओं के वश में होकर कुंती ने जिज्ञासावश उस मंत्र के माध्यम से सूर्यदेव का आह्वान किया। सूर्यदेव ने आकर कुंती को अपने साथ समागम के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार कुंती के गर्भ से कर्ण की उत्पत्ति हुई। जन्म के समय ही कर्ण दिव्य कवच और कुंडल से सुशोभित था। अविवाहित अवस्था में होने के कारण कुंती ने लोकलाज के भय से अपने इस पुत्र को टोकरी में रखकर नदी में प्रवाहित कर दिया। नदी में बहते हुए इस बालक को सूतपुत्र अधिरथ ने देखा और उसे निकालकर अपनी पत्नी राधा के पास ले गया। इस तरह अधिरथ और राधा ने कर्ण का पालन-पोषण किया।

काव्य के पाँचवें अध्याय 'प्रवंचना' में कर्ण की शिक्षा-दीक्षा, द्रोणाचार्य द्वारा आयोजित अपने शिष्यों की अस्त्र-शस्त्र संचालन परीक्षा में उसकी उपस्थिति, अर्जुन से युद्ध करने के लिए उसके प्रस्ताव, जाति और कुल के नाम पर उसके अपमान तथा दुर्योधन द्वारा उसे राजा बनाये जाने तक की कथा है। 'वन पर्व' में कर्ण के जन्म और विकास की कथा के साथ ही उसकी शिक्षा-दीक्षा के प्रसंग में उसके हस्तिनापुर में जाकर द्रोणाचार्य से शिक्षा ग्रहण करने का उल्लेख है। इसी प्रसंग में द्रोणाचार्य के साथ ही कृपाचार्य और परशुराम से भी अस्त्र-शस्त्र विद्या प्राप्त करने का उल्लेख आया है। परशुराम से शिक्षा-

[110] महाप्रस्थान : नरेश मेहता, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2012, पृष्ठ 89

दीक्षा प्राप्त करने की कथा 'शांति पर्व' में आयी है। द्रोणाचार्य द्वारा अपने शिष्यों की शस्त्र-परीक्षा का आयोजन और उसमें कर्ण के पहुँचने की पूरी कथा 'सभापर्व' में है। इस कथा के अनुसार पांडव तथा कौरव कुमारों को शस्त्र-विद्या में पारंगत करने के उपरांत एक दिन गुरु द्रोणाचार्य ने उन्हें अपना-अपना कौशल दिखाने के लिए एक रंगशाला का आयोजन किया। उस रंगशाला में कर्ण भी पहुँच गया। उसने अर्जुन को अपने अस्त्र-शस्त्र संचालन के कौशल पर गर्व न करने की सलाह देते हुए तथा उसके द्वारा प्रस्तुत सभी कौशलों को रंगशाला में खुद प्रस्तुत करते हुए उसे अपने साथ युद्ध करने की चुनौती दे डाली। कर्ण की इस बात से दुर्योधन बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने कर्ण की प्रशंसा करते हुए उसका उत्साहवर्धन किया। अर्जुन ने कर्ण को बिना बुलाये आने वाला और बिना अनुमति के बोलने वाला कहकर उसकी निंदा करते हुए उसकी युद्ध की चुनौती को स्वीकार कर लिया। उसके बाद कृपाचार्य ने कर्ण से अपने माता-पिता, कुल और वंश का परिचय देने के लिए कहा। उन्होंने कहा कि तुम्हारा परिचय प्राप्त होने पर ही इसका निश्चय होगा कि अर्जुन तुम्हारे साथ युद्ध करे या नहीं; क्योंकि राजकुमार नीच कुल और हीन आचार-विचार वाले लोगों के साथ युद्ध नहीं करते। यह सुनकर कर्ण लज्जित हो गया। तभी दुर्योधन ने सभा के मध्य उसे अपने अंगदेश का राजा घोषित करते हुए उसका राज्याभिषेक करवा दिया। उसी समय कर्ण का पिता अधिरथ उसे पुकारता हुआ वहाँ आ पहुँचा। अधिरथ के वहाँ पहुँचने पर सबको यह जानकारी हो गयी कि कर्ण सूतपुत्र है। अतः भीम ने कर्ण का अपमान करना शुरू कर दिया। कर्ण के अपमान से दुर्योधन ने क्षुब्ध होकर भीम को फटकारते हुए उसके अपमानों से कर्ण की रक्षा की। इस बहस में शाम हो गयी, अतः सभी अपने-अपने निवास स्थान को लौट गये। यह कथा महाभारत के 'सभा पर्व' में है।

दुर्योधन द्वारा राजा के पद पर अभिषिक्त कर मित्र बना लेने के बाद कर्ण कौरवों के दल में सम्मिलित हो गया। उसने कर्ण की ओर से कई युद्ध किये। महाभारत का युद्ध इस दृष्टिकोण से विशिष्ट है। काव्य के छठे अध्याय 'विरति' में कर्ण द्वारा अपने मित्र दुर्योधन से द्रोह रखने वाले अनेक राज्यों को जीतकर दुर्योधन को देने और स्वयं इन युद्धों से विरत होकर दुर्योधन द्वारा दिये गये अंगदेश में एक प्रजावत्सल दानी राजा के रूप में जाकर रहने का उल्लेख है। सातवें अध्याय 'प्रतिहिंसा' में दुर्योधन के पास पांडवों की तरफ से राज्य के उत्तराधिकार का प्रस्ताव लेकर एक दूत के आने तथा असफल होकर उसके वापस जाने, पुनः पांडवों के दूत के रूप में कृष्ण के दुर्योधन के पास आकर उसे समझाने तथा असफल होकर वापस जाने की कथा है। आठवें अध्याय 'प्रतिश्रुत' में कुंती द्वारा कर्ण से मिलने जाने और कर्ण को समझाने की कथा है। नवें अध्याय 'निष्क्रमण' में दुर्योधन एक एक करके भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य तथा कर्ण से पूछता है कि आगामी महाभारत युद्ध के कितने दिनों में समाप्त हो जाने की संभावना है ? भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य ने पांडवों के युद्ध-कौशल और वीरता को देखते हुए युद्ध की समाप्ति में एक माह से अधिक का समय बताया। कर्ण ने कहा कि वह समस्त ब्रह्माण्ड को

केवल पाँच दिनों में जीत सकता है। पांडवों को जीतने में उसे मात्र एक दिन ही लगेंगे। स्वर्ग और पृथ्वी को जीतने में उसे तीन दिन लगेंगे। इस पर भीष्म पितामह ने उसे फटकार लगाते हुए कहा कि तीन दिन क्या, तीन युगों में भी वह पांडवों को नहीं हरा सकता। अपने अपमान से कर्ण ने क्रोध में भरकर यह प्रतिज्ञा की कि जब तक भीष्म युद्ध लड़ेंगे वह युद्ध में भाग नहीं लेगा। दसवें अध्याय 'अपराजेय' में कर्ण के पास यह सूचना आती है कि भीष्म युद्ध में धराशायी हो गये हैं। दुर्योधन ने कर्ण के सम्मुख सेनापति बनने का प्रस्ताव रखा। कर्ण ने द्रोणाचार्य के रहते हुए स्वयं के सेनापति बनाये जाने की विसंगति का रेखांकन करते हुए द्रोणाचार्य को सेनापति बनाये जाने की सलाह दी। द्रोणाचार्य के नेतृत्व में युद्धभूमि में उतरने से पहले कर्ण भीष्म के पास आशीर्वाद लेने के लिए गया। भीष्म ने उसे स्नेहपूर्वक ढेर सारा आशीर्वाद दिया। इसके बाद युद्धभूमि में जाकर कर्ण ने क्रमशः अर्जुन और भीम से वीरतापूर्वक युद्ध किया। भीम को उसने परास्त करके छोड़ दिया।

ग्यारहवें अध्याय 'देहदान' में कर्ण द्वारा इंद्र को अपना कवच और कुंडल दान किये जाने की कथा उल्लेख है। इंद्र का मंतव्य जानकर सूर्यदेव कर्ण के पास आकर उसे सावधान करते हैं, पर कर्ण अपने स्वभाव के अनुसार इंद्र को कवच और कुंडल न देने की बात को स्वीकार नहीं कर पाता है। इस पर सूर्यदेव कर्ण से कहते हैं कि इसके बदले वह इंद्र से अपनी रक्षा के लिए कोई दिव्य अस्त्र अवश्य प्राप्त कर लेगा। कर्ण ने ऐसा ही किया। अपने कवच और कुंडल के बदले इंद्र से उसे एक बार प्रयोग में आने वाली एक अमोघ शक्ति प्राप्त हो गयी। महाभारत में यह कथा 'आदि पर्व' और 'वन पर्व' में आयी है। बारहवें अध्याय 'शक्ति-संधान' में इंद्र द्वारा प्राप्त अमोघ शक्ति का कर्ण भीम के पुत्र 'घटोत्कच' पर संधान का देता है। इस प्रकार उसकी एक बार प्रयोग में आने वाली शक्ति घटोत्कच को मारकर नष्ट हो गयी। यह शक्ति उसने अर्जुन को मारने के लिए प्राप्त की थी, पर कृष्ण की चालाकी से उसे इसे घटोत्कच के ऊपर चलाना पड़ा। दरअसल युद्ध में कर्ण ने अपने पराक्रम से इतना भारी उत्पात मचाया कि पांडवों की सेना में भगदड़ मच गयी। कोई उसके सामने टिक नहीं पाता था। चिंतित होकर युधिष्ठिर ने कृष्ण से सलाह माँगी। कृष्ण ने भीम-पुत्र घटोत्कच को महाबलशाली और मायावी बताते हुए उसे कर्ण के सामने युद्धभूमि में उतारने की सलाह दी। घटोत्कच ने आकर कर्ण से भीषण युद्ध किया। उसके वार से कर्ण भी विचलित होने लगा। कौरवों की सेना में भगदड़ मच गयी। यह देखकर शकुनि ने कर्ण से घटोत्कच पर ही शक्ति-संधान करने के लिए कहा। विवश होकर कर्ण ने वह शक्ति घटोत्कच पर चला दी।

तेरहवें अध्याय 'निर्वहण' में द्रोणाचार्य के पराजित होकर मारे जाने के बाद कर्ण को सेनापति बनाया जाता है। कर्ण ने दुर्योधन से शल्य को अपना सारथी बनाने के लिए कहा। शल्य तमाम विरोधों के बाद मान जाता है, परन्तु युद्धभूमि में वह लगातार कर्ण का अपमान करता रहता है; क्योंकि एक सूतपुत्र का सारथी बनने से उसे हीनताबोध उत्पन्न हो रहा था। फिर भी कर्ण शल्य द्वारा किये जा रहे अपमान को अनदेखा करते हुए युद्धभूमि में डटा रहा। कर्ण और अर्जुन के बीच घोर युद्ध हुआ। अर्जुन

ने कर्ण के रथ के पहिये के नीचे की जमीन अपने तीक्ष्ण बाणों से काट दी जिससे उसके रथ का पहिया धँस गया। रथ के पहिये को निकालने के लिए कर्ण ने अर्जुन को थोड़ी देर के लिए युद्ध को रोक देने के लिए कहा। अर्जुन ने कर्ण की बात मानकर युद्ध को रोक दिया था, पर कृष्ण ने उन्हें फटकारते हुए तथा कौरवों द्वारा अधर्म से अभिमन्यु को मारने का हवाला देते हुए अर्जुन से कर्ण पर बाण चलाने के लिए कहा। इस बीच कर्ण अपने धँसे हुए पहिये को निकालने का प्रयास करने लगा था। अर्जुन ने पहिया निकालने के लिए झुके हुए कर्ण पर बाण चला दिया। इस प्रकार कर्ण को वीरगति प्राप्त हुई। चौदहवें और अंतिम अध्याय 'युगांत' में यह संकेत है कि युद्ध को पांडवों द्वारा लगभग जीता जा चुका है। कौरवों की सेना में मात्र कृपाचार्य, कृतवर्मा और अश्वत्थामा ही बचे हैं। अश्वत्थामा ने युद्ध की अंतिम रात्रि को प्रतिहिंसा के मनोभाव से पांडवों के शिविर में आक्रमण कर सोते हुए द्रौपदी पुत्रों, धृष्टद्युम्न और शिखंडी का वध कर दिया। युद्ध के बाद युधिष्ठिर के द्वारा कौरवों और पांडवों के वीरगति प्राप्त वीरों का तर्पण किया गया। इस क्रम में कुंती ने 'कर्ण' के अपने बेटे होने के रहस्य का उद्घाटन करते हुए युधिष्ठिर को उसका तर्पण करने को कहा। कर्ण को अपना ही भाई जानकर युधिष्ठिर को घोर पीड़ा तथा पश्चाताप हुआ। उनकी माँ ने यह रहस्य उनसे छिपाया था, अतः उन्होंने समस्त स्त्री-जाति को कुछ भी रहस्य न रख पाने का शाप दिया। अंत में कृष्ण ने कर्ण को दुखी मन से याद करते हुए उसकी वीरता और पराक्रम की सराहना की।

**5.9.2 आधुनिकता-बोध :** यह काव्य घटना-प्रधान है और यह महाभारत की घटनाओं की प्रायः पुनर्प्रस्तुति करता है, अतः आधुनिकता का दबाव इसमें अधिक नहीं है। फिर भी, कवि ने इसे एक आधुनिक कृति के रूप में उल्लिखित किया है—"महाभारत के एक प्रमुख पात्र कर्ण को मैंने इस काव्य का मूल स्रोत बनाया है और उसके जीवन की यातना और संघर्ष को आज के मनुष्य के द्वंद्व और विसंगति से अनुप्राणित कर एक नये भावबोध से संपृक्त करने का प्रयास किया है।"[111] लेखक के इस कथन के संदर्भ में यह उल्लेख्य है कि यदि किसी भी पात्र की यातनाओं और संघर्षों का चित्रण करना होता है तो प्रायः लेखक उस पात्र के चारों ओर की विसंगतिपूर्ण परिस्थितियों और वातावरण का चित्रण करते हुए उसके प्रति उस पात्र की प्रतिक्रिया, प्रायः उसके संवादों में, दिखाते हैं। पर इस काव्य में परिस्थितियों और वातावरण की विसंगतियों का कोई चित्रण नहीं है; कर्ण के संवाद भी नगण्य हैं। इसमें प्रायः सिलसिलेवार ढंग से कर्ण से संबंधित घटनाओं को प्रस्तुत कर दिया गया है। उदारणस्वरूप, शस्त्र-परीक्षा के अवसर पर अर्जुन आदि पांडवों द्वारा कर्ण को जातिसूचक शब्दों से संबोधित करते हुए अपमानित किया जाना कर्ण के जीवन के बड़ा ही यातनापूर्ण और अपमानजनक अवसर है। ऐसी घटनाओं को भी इस काव्य में सिलसिलेवार ढंग से वर्णित करते हुए उस पर कर्ण की परंपरानुसार प्रतिक्रिया दिखायी गयी है। अर्जुन द्वारा 'सूतपुत्र' और 'शूद्र' कहकर अपमानित किये जाने के बाद कर्ण

[111] सूर्यपुत्र : जगदीश चतुर्वेदी, दि मैकमिलन कंपनी ऑफ़ इंडिया लिमिटेड, 1975, पृष्ठ vii, भूमिका से

की प्रतिक्रिया द्रष्टव्य है—*"कर्ण का रक्त हो गया पुनः श्वेत/ एक आंतरिक घृणा फैल गयी रग-रग में/ अंगि राज्य का स्वामित्व लगने लगा व्यर्थ/ और व्यंग्यपूर्ण/ लगने लगा कि सभी करते हैं आक्षेप/ कौन है मेरा पिता यह न बता सकता मैं/ केवल यह सच है कि मैं हूँ एक सारथि-पुत्र/ मेरी नसों में मात्र शूद्रों का खून है !"*[112] उल्लेखनीय है कि कर्ण अपने अपमान से महाभारत में भी क्षुब्ध हुआ है। कर्ण के उस क्षुब्धीकरण और इस क्षुब्धीकरण में कोई ख़ास अंतर नहीं है; और इसका कारण है घटनाओं का सिलसिलेवार वर्णन। 'वर्णन' स्थूलता की निशानी है, जो किसी कदर मध्यकालीन मनोवृत्ति को द्योतित करती है। आधुनिक मनोवृत्ति सूक्ष्मता को पकड़ने या रचने की कोशिश करती है। इसके लिए घटनाओं में निहित पात्रों की मानसिकताओं और घटनाओं के प्रभाव के कारण विशिष्ट रूप से उत्पन्न हुई पात्रों की मनः-स्थितियों को प्रतिबिंबित करने की आवश्यकता होती है। यह काम 'वर्णन' की अपेक्षा 'सर्जन' से अधिक संभव होता है। सर्जन के लिए भाषा को प्रतीकात्मक और सांकेतिक बनाया जाता है। पर इस वर्णन में ऐसा कुछ नहीं है। काव्य में उपर्युक्त उद्धरण के आगे कर्ण की गतिविधियाँ इस प्रकार चित्रित हैं—*"अनायास गुस्से से तनकर खड़े हुए कर्ण/ सूर्य की ओर ताकते से करने लगे एकालाप/ देखो ! तुम मेरा यह अपमान नित्य-प्रति/ भूनो तुम मेरे प्राण/ इस प्रवंचना में !"*[113] इसके बाद इस वर्णन से संबंधित अध्याय 'प्रवंचना' समाप्त हो गया है।

कर्ण के मनोभावों की उथल-पुथल का एक अन्य अवसर तब आता है, जब कुंती ने उसके पास जाकर उसे अपना पुत्र बताया। उसका वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—*"कर्ण के लिए था यह एक सुखद आश्चर्य/ एक विराट संवेदन/ जीवन के इस क्षण तक सुलझा न पाया था/ सुलझ गयी थी/ वो पहेली अनबूझ"*[114]। इस वर्णन के बाद कर्ण की दशा का वर्णन है—*"निकला एक निश्वास कर्ण के मुख से/ सिहरन एक देखी कुंती ने उसमें/ बोले बहुत धीरे, पर अत्यंत दृढ़ स्वर में :/ हूँ मैं क्षत्रिय और सभी मुझे सूतपुत्र कहते हैं/ उतना ही शौर्यवान क्षत्रिय पुत्र हूँ न माँ !/ जितने हैं धर्मराज, अर्जुन या सहदेव।"*[115] यहाँ कर्ण के मनोभाव व्यक्त हुए हैं, पहली बार यह जानकार कि कुंती उसकी माँ हैं। इस वर्णन में भी यह सहज ही लक्षित किया जा सकता है कि यह कर्ण के मनोभावों का वर्णन ही है, उनका सर्जनात्मक अंकन नहीं। यद्यपि कर्ण के अपने को शूद्र की अपेक्षा क्षत्रिय जानकर खुश होने में आधुनिकता की प्रवृत्ति को लक्षित किया जा सकता है, क्योंकि कर्ण की यह खुशी सामंती-युग में शूद्रों के ऊपर हो रहे अत्याचारों की प्रवृत्ति का संकेत करती है। उन अत्याचारों से छुटकारा पाने का आभास पाकर कर्ण में खुशी और संतोष का संचार होना स्वाभाविक है। फिर भी, कर्ण की खुशी का वर्णन हो या उसके संताप का; है यह वर्णन ही। आधुनिकता के हिसाब से इसे वर्णन नहीं, सर्जन होना चाहिए।

---

[112] सूर्यपुत्र : जगदीश चतुर्वेदी, दि मैकमिलन कंपनी ऑफ़ इंडिया लिमिटेड, 1975, पृष्ठ 51

[113] वही, पृष्ठ 52

[114] वही, पृष्ठ 76

[115] वही, पृष्ठ 76-77

अपनी प्रकृति में वर्णन-प्रधान और मूल-कथा की लगभग पुनर्प्रस्तुति होने के बावजूद कवि के मंतव्यों के अनुकूल यदि इस कृति को आधुनिक कहा जा सकता है तो महाभारत के सामाजिक रूप से उपेक्षित एक पात्र को काव्य का नायक बनाकर पेश करने के कारण। इसके अलावा कतिपय स्थलों पर आधुनिकता के तत्वों के मिश्रण से भी काव्य में आधुनिकता के आभास का एहसास कराने का प्रयास किया गया है। उदाहरणस्वरूप कर्ण को जन्म देने के बाद कुंती अपनी असहाय-अवस्था के लिए सूर्य को जिम्मेदार मानती हुई अपने प्रति उसके व्यवहार को स्त्रीवादी-चेतना से स्त्री-पुरुष संबंधों की परंपरा में रेखांकित करती है—*"और तुम चले गये असीम ब्रह्माण्ड में अपनी दीप्ति बिखेरने/ मुझे मात्र एक आश्वासन देकर चुपचाप/ जाते समय व्यस्तता की ओर संकेत भी किया था तुमने/ तब व्यस्तता का पुरुषों का नाटक मुझे/ अजूबा लगा था/ पर, वह सच था।"*[116] इस तरह के आधुनिकतापूर्ण वक्तव्य काव्य में आधुनिकता का हल्का-सा आभास ही दे पाते हैं, क्योंकि उन कथनों का कथा की मूल धारा को आगे बढ़ाने में बहुत योगदान नहीं होता। यहाँ कथा कर्ण की है, सूर्य की नहीं; भले ही शीर्षक में सूर्य और कर्ण दोनों को व्यंजित किया गया हो। पर, जैसा कि कहा गया, इस वर्णन-प्रधान काव्य की आधुनिकता एक उपेक्षित पात्र को काव्य का नायक बनाकर पेश करने में ज्यादा है बजाय कर्ण के संघर्षों और यातनाओं में आधुनिक मानव के संघर्षों और यातनाओं के प्रतिबिंब के परिप्रेक्ष्य के हिसाब से।

**5.9.3 मूल्यान्वेषण की चिंता :** मूल्यों के प्रति कवि की चिंता विशेष रूप से 'विरति' नामक अध्याय के अंतर्गत दिखायी देती है। कर्ण अंगदेश का राजा बन जाता है। दुर्योधन जैसा प्रसिद्ध योद्धा और हस्तिनापुर का राजकुमार उसका मित्र है। पद, ऐश्वर्य और संपत्ति सब कुछ कर्ण के पास है। लेकिन फिर भी उसका मन संतुष्ट नहीं होता है—*"किंतु कर्ण रहता था उन्मन और खोया सा/ मानो सुलझाता हो कोई अंतस रहस्य/ या कोई ऐसी पहेली अनबूझ/ रखती थी उद्विग्न सदा/ उसके तन, मन को !"*[117] सब कुछ उपलब्ध होने के बाद भी मन को खाली-खाली सा महसूस होना मूल्यान्वेषण की चिंता का संकेत है। भौतिक उपलब्धियों से जब मन को संतुष्टि नहीं मिलती, तब वह आध्यात्मिक या मानसिक उपलब्धियों के बारे में सोचना शुरू कर देता है। इस तरह से कहा जा सकता है कि मूल्य एक मानसिक या आध्यात्मिक उपलब्धि है।

जन और प्रकृति के प्रति अनुराग उल्लेखनीय मूल्य हैं। मानव-प्रेम और प्रकृति-प्रेम प्रायः अन्योन्याश्रित होते हैं। प्रकृति के साहचर्य में रहने वाले व्यक्ति के मन में मनुष्य के प्रति भी प्रेम का विकास होता है, प्रकृति के प्रति तो होता ही है। दरअसल प्राकृतिक परिवेश में रहने वाले मनुष्य अपने खाने-पीने की वस्तुओं को इकट्ठा करने या उपजाने के लिए एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं। इस तरह उनमें आपसी सहयोग की भावना का विकास होता है। आपसी सहयोग की भावना विकसित होकर प्रेम में

[116] सूर्यपुत्र : जगदीश चतुर्वेदी, दि मैकमिलन कंपनी ऑफ़ इंडिया लिमिटेड, 1975, पृष्ठ 17
[117] वही, पृष्ठ 53

बदल जाती है। प्रकृति, जो कि उनके खाने-पीने की वस्तुओं का स्रोत होती है, उनके प्रेम की पात्र स्वतः बन जाती है। इस तरह से प्रकृति और प्रेम भी एक दूसरे के आश्रित या सहयोगी होते हैं। कर्ण को नगर का वातावरण अच्छा नहीं लगता। इसीलिए उसने जीते हुए सभी नगर अपने मित्र दुर्योधन को सौंपे तथा खुद अपने अंगि देश में, जोकि प्राकृतिक वातावरण की दृष्टि से संपन्न था, चला आया—*''कर्ण को लगता था सुंदर अंगि देश/ हरित भूमि, कल कल कर बहती चपल/ सरिताएँ/ दुर्गम वन भूमि शांत,/ राजमार्ग पर खड़े योगी की मुद्रा में/ चीड़ और सनोवर के/ सुंदर सुरम्य वृक्ष !''*[118] इस प्रकृति-प्रेम के साथ ही कर्ण में मनुष्य या जन-प्रेम भी पनपता है—*''सौम्य लगती थी उसे प्रजा अंगि देश की/ पुरजन सभी थे साधुवृत्ति में रमे हुए/ समर्पित थे देव पूजा और कामना के लिए।''*[119] कर्ण मनुष्य से प्रेम करता था। अतः एक राजा होने के नाते अपनी प्रजा के लिए वह कोई भी त्याग करने के लिए सदैव तैयार रहता था। तन, मन और धन से वह प्रजा की सेवा में जुटा रहता था। अपनी संपत्ति वह जरूरतमंदों में दान कर देता था। जो भी उसके पास जाता था, वह खाली हाथ नहीं लौटता था। अपनी इस प्रवृत्ति के कारण वह 'दानी कर्ण' के रूप में प्रैसिद्ध हुआ—*''कर्ण का उदार मन व्यथित हो जाता था/ दूसरों के दुःख से/ सोचता था स्वर्ग अगर कल्पना है,/ दूँगा उसे मैं रूप,/ फैला दूँगा सद्भाव सारे ही राज्य में/ त्याग दूँगा वैभव, समृद्धि और राजपाट/ मिथ्या हैं ये आकर्षण/ अगर न दे सका शिशुओं को दुलार/ दे न सका दुखियों को सुख/ और निर्धनों को ऐश्वर्य !''*[120] इस तरह देखा जा सकता है कि कर्ण के माध्यम से एक व्यक्ति के लिए कवि ने प्रेम, करुणा और त्याग जैसे मूल्यों का महत्व दिखाया है जो एक राजा में जाकर प्रजावत्सलता में पर्यवसित हो जाते हैं।

**5.9.4 दार्शनिकता :** घटना-प्रधान होने के कारण यह काव्य अपने वर्णन में दार्शनिक नहीं है, परंतु इसकी घटनाओं पर दर्शन का प्रभाव अवश्य देखा जा सकता है। कर्ण के व्यवहारों का अध्ययन मनोविश्लेषणवाद की अपेक्षा रखता है, अतः इस कृति में मनोविश्लेषणवाद का पर्याप्त प्रभाव देखा जा सकता है। कर्ण के व्यवहारों को मुख्यतः दो प्रकार की मनोग्रंथियाँ संचालित करती हैं। ये मनोग्रंथियाँ हैं—अपमानबोध की ग्रंथि और हीनताबोध की ग्रंथि। एक तो कर्ण बचपन से ही त्याग दिया जाता है, और दूसरे उसका पालन-पोषण एक शूद्र के घर होता है। अवैध संतान होने और शूद्र होने के कारण उसे बार-बार अपमानित किया जाता था, अतः उसके मन में अपमानबोध और हीनताबोध उत्पन्न हो गया। उसके अपमान का कारण पांडव थे, अतः इस अपमान की प्रतिक्रिया भी उन्हीं को लक्षित करके हुई। मुख्यतः काव्य के 'प्रतिहिंसा' नामक अध्याय में पांडवों के प्रति कर्ण की प्रतिहिंसा को वाणी दी गयी है—*''नहीं भूल पाता था कर्ण/ वह आग जो प्रज्वलित की थी अर्जुन ने/ वर्षों पूर्व बार-बार सूतपुत्र कहकर/ नहीं भूल पाता था कर्ण/ आत्मताप/ जो दिया था उसे द्रुपद सुता कृष्णा ने/ 'सारथी पुत्र' कहकर/*

[118] सूर्यपुत्र : जगदीश चतुर्वेदी, दि मैकमिलन कंपनी ऑफ़ इंडिया लिमिटेड, 1975, पृष्ठ 57
[119] वही, पृष्ठ 58
[120] वही, पृष्ठ 58-59

*तमाम निर्वीर्य, निस्तेज, और क्षुद्र राजाओं के समक्ष/ वरा था अर्जुन को/ और किया था अस्वीकार उसका पुरुषत्व,/ राजत्व/ और निष्कलंक शौर्य !''*[121] इसी तरह हस्तिनापुर में द्रोणाचार्य द्वारा आयोजित शिष्यों की अस्त्र-शस्त्र संचालन की परीक्षा के समय कर्ण के वहाँ पहुँचने पर जब अर्जुन उसका जातिगत अपमान करता है तब उसकी प्रतिक्रया में कर्ण का हीनताबोध उभर आता है— *''लगने लगा कि सभी करते हैं आक्षेप/ कौन है मेरा पिता यह न बता सकता मैं/ केवल यह सच है कि मैं हूँ एक सारथि-पुत्र/ मेरी नसों में मात्र शूद्रों का खून है !''*[122] पांडवों के प्रति कर्ण का व्यवहार प्रायः सर्वत्र ही अपमानबोध और हीनताबोध की प्रतिक्रिया से परिचालित है।

**5.9.5 विमर्श :** इस काव्य में सीधे-सीधे तो नहीं, पर अप्रत्यक्ष रूप में दलित-विमर्श की सामग्री अनुस्यूत है। कर्ण का जन्म भले ही एक राजा के यहाँ होता है, पर उसका पालन-पोषण एक शूद्र के घर होता है। समाज में कर्ण 'सूत-पुत्र' के रूप में जाना जाता है। एक शूद्र होने के कारण ही वह पांडवों से जगह-जगह अपमानित होता है। जातिगत अपमान झेलने वाले को काव्य का नायक बनाकर कवि ने निश्चित रूप से जहाँ प्रत्यक्षतः सामाजिक असमानता का विरोध किया है वहीं अप्रत्यक्षतः दलितों के ऊपर हो रहे अत्याचारों का भी। यद्यपि शूद्र होने के कारण कर्ण में हीनताबोध की स्थिति है और उसमें दलित-चेतना का अभाव देखा जा सकता है, पर उसके इस हीनताबोध के कारणों में शूद्रों के ऊपर हो रहे अत्याचारों और उनको लगातार अपमानित किये जाने की सचाई का आभास होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि इसमें दलित-विमर्श की सामग्री अनुस्यूत है।

दलित-विमर्श के अलावा युद्ध-विमर्श को भी इस काव्य में थोड़ी-सी जगह दे दी गयी है, यद्यपि यह काव्य युद्ध में कर्ण की वीरता के प्रदर्शन को भी लिये हुए है। काव्य के अंतिम अध्याय 'युगांत' में जब युद्ध लगभग समाप्त हो चुका है, युद्ध के विनाशकारी परिणामों का वर्णन कर इसकी निरर्थकता का संकेत कर दिया गया है— *''मृत्यु लीलती रही नीति और अनीति से/ कौरव और पांडवों के सभी रणरथी वीर/ शेष रहे युद्ध की विभीषिका को/ जीवन पर्यंत मन और/ आँखों पर झेलने/ पाँचों पांडव, श्रीकृष्ण/ और रनिवास की रानियाँ !''*[123]

## 10. अग्निलीक

**5.10.1 मिथकीय चेतना :** 'अग्निलीक' नामक काव्य-नाटक नयी कविता के महत्वपूर्ण कवि भारतभूषण अग्रवाल द्वारा लिखा गया है। यह रामकथा पर आधारित काव्य-नाटक है। इसमें राम के जीवन के उत्तरपक्ष को आधार बनाया गया है। इस काव्य-नाटक का उपजीव्य महर्षि बाल्मीकि का 'रामायण' ग्रंथ है, जिसके उत्तरकाण्ड में राम के जीवन का परवर्ती भाग चित्रित हुआ है। राम द्वारा

---

[121] सूर्यपुत्र : जगदीश चतुर्वेदी, दि मैकमिलन कंपनी ऑफ़ इंडिया लिमिटेड, 1975, पृष्ठ 68-69

[122] वही, पृष्ठ 51

[123] वही, पृष्ठ 144

सीता-परित्याग की घटना को पृष्ठभूमि बनाता हुआ यह काव्य-नाटक राम के अश्वमेध यज्ञ करने और सीता के भूमि में समाहित होने की घटनाओं को प्रत्यक्ष आधार के रूप में लेता है। इस काव्य-नाटक के माध्यम से कवि ने जनता के सामने सीता का पक्ष उन्हीं के माध्यम से रखा है। इसके लिए कवि ने उन मिथकीय घटनाओं को लिया जिनमें यह संभावना निहित है कि वे सीता के पक्ष में आवाज उठाने का अवसर प्रदान करें। राम सीता के प्रति बहुत न्याय नहीं कर पाये, उनके द्वारा सीता के प्रति लिये गये निर्णयों के कारण सीता को अनेक कष्ट उठाने पड़े; अतः आधुनिक दृष्टिकोण से सीता का पक्ष रखने के लिए, सीता के माध्यम से आधुनिक नारी का पक्ष पुरुष-समाज के सामने रखने के लिए उन मिथकीय घटनाओं का सहारा लिया गया है।

**5.10.2 आधुनिकता-बोध :** जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया, इस काव्य-नाटक में मिथकीय घटनाओं का सहारा आधुनिक दृष्टिकोण से सीता का पक्ष रखने के लिए लिया गया है। नाटक के प्रारंभ में ही सीता के प्रति 'रथवान' की सहानुभूति दिखाई गयी है। सीता के संदर्भ से देखने पर राम क्योंकि सामंतवादी और पुरुषवादी मानसिकता के साबित होते हैं, अतः राम के इन पक्षों का विरोध भी रथवान के द्वारा नाटक के प्रारंभ में ही किया गया है, सीता के द्वारा तो यह विरोध की आवाज पूरी तल्खी के साथ उठायी ही गयी है। कृति के प्रारंभ में 'राजपुरुष' और 'रथवान' नामक पात्रों के आपसी संवाद हैं, जिनमें रथवान द्वारा सीता के परित्याग के घटना को याद करते हुए राम का विरोध किया गया है। जब 'राजपुरुष' द्वारा सीता के परित्याग की घटना को राम की एक छोटी सी भूल बताया जाता है तब 'रथवान' उसका विरोध करते हुए राम की सामंती मानसिकता को उजागर करता है—*"भूल ? नहीं, वह भूल नहीं थी/ सब कुछ उजागर था।/ जब उन्होंने दुर्मुखा की बात मानकर/ अपनी अर्धांगिनी को त्यागा था/ तब क्या वे नहीं जानते थे/ कि वे क्या कर रहे हैं ?/ पर नहीं,/ उन्हें तो अपना खोया राज्य पाना था !/ जिसके लिए वे चौदह बरसों तक जंगलों में भटके थे/ वह अब आँखों के आगे था !/ भूल का नहीं, दयानिधान,/ उन्होंने राज्य का मोल चुकाया है।"*[124]

इस काव्य-नाटक में सीता अपने पौराणिक संकोची-नारी के रूप में नहीं, आधुनिक मुखर नारी के रूप में चित्रित हैं। राम ने सीता का परित्याग अपनी सामंतवादी और पुरुषवादी मानसिकताओं के कारण किया था, अतः सीता ने उनकी इन मानसिकताओं का विरोध बड़ी तल्खी के साथ किया है। सीता में व्यक्ति-स्वातंत्र्य की भावना है। अतः उन्होंने पत्नी से ज्यादा महत्व प्रेमिका को दिया है। प्रेम वही व्यक्ति कर सकता है, जो स्वतंत्र है। अपनी वैयक्तिक स्वतंत्रता का महत्व बताते हुए सीता जी कहती हैं—*"संसार सोचता है : मैं राम की पत्नी हूँ/ शास्त्रों में बंधी हूँ,/ पुरुष की आश्रिता हूँ,/ पर गुरुदेव, सच्चाई कुछ और है।/ मैं पत्नी नहीं, प्रेयसी हूँ,/ नहीं प्रेयसी नहीं, प्रेमिका—/ राम की प्रेमिका।/ ... मेरे पिता ने मेरी आँखें बंद करके/ इनके हाथों में मेरा हाथ नहीं सौंपा था/ मैंने स्वयंवर रचाया था"*[125]। और

---

[124] अग्निलीक : भारतभूषण अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 1986, पृष्ठ 16
[125] वही, पृष्ठ 43

इसी व्यक्ति-स्वातंत्र्य की भावना ने ही सीता जी के अंदर निर्णय लेने की क्षमता विकसित की है। अतः सीता ने उस पुरुष से अपनी मुक्ति की घोषणा कर दी जिसकी नज़रों में स्त्री की भावनाओं का कोई मोल नहीं था—*"आज मेरी आँखों पर से झूठ का परदा उठ गया है;/ मुझे निर्मम सत्य दिखायी देने लग गया है।/ राम ने तो मुझे बहुत पहले ही छोड़ दिया था/ आज मैं भी राम को छोड़ती हूँ।"*[126] उल्लेखनीय है कि व्यक्ति-स्वातंत्र्य का बोध आधुनिक भावबोध है, और निर्णय लेने की क्षमता इसी से जुड़ी हुई है; और ये दोनों व्यक्तित्व के विकास से जुड़े हुए हैं।

मनुष्य मात्र के व्यक्तित्व का विकास वैसे तो कोई आधुनिक वस्तु नहीं है, पर स्त्री के व्यक्तित्व का विकास एक आधुनिक परिघटना है, जिसे इस काव्य के माध्यम से प्रकट किया गया है। 'व्यक्तित्व' मनुष्य में निहित उसकी बाहरी और आतंरिक क्षमताओं का नाम है। अनुकूल परिस्थितियों में इन दोनों क्षमताओं का विकास होता है। संघर्ष और परिश्रम उन परिस्थितियों को सामने लाते हैं, जो व्यक्तित्व के विकास में सहायक होती हैं। संघर्ष प्रायः मानसिक शक्तियों के और परिश्रम शारीरिक शक्तियों के विकास में सहायक होते हैं; यों तो संघर्ष में परिश्रम करना ही पड़ता है। सामंतवादी माहौल में स्त्रियों के व्यक्तित्व का विकास प्रायः इसीलिए नहीं होता था कि उन्हें संघर्ष और परिश्रम करने के लिए घर के बाहर नहीं निकलने दिया जाता था। राम ने यदि सीता जी का परित्याग करके जंगल में अकेला छोड़ा, तो अप्रत्यक्षतः और अनजाने उन्होंने सीता जी के व्यक्तित्व के विकास में सहयोग प्रदान किया। जंगल में सीता जी को अपने अस्तित्व और जीवन की ज़रूरतों के लिए निरंतर संघर्ष करना पड़ा। अतः उनके व्यक्तित्व का विकास होता गया। सीता जी में जो विद्रोही चेतना दिखाई देती है, वह उनके व्यक्तित्व के विकास का ही परिणाम है। परिश्रमी और संघर्षी व्यक्तित्व में विद्रोह के गुण आ ही जाते हैं। सीता जी ने अपने संघर्षों के परिप्रेक्ष्य में ही राम के खिलाफ विद्रोह की आवाज उठायी है—*"मैं जंगलों में मारी-मारी फिरी/ अपनी प्रसव वेदना के समय/ आप ही अपनी परिचारिका बनी/ और फिर दो नन्हें-नन्हें बच्चों को अपनी छाती से चिपकाये/ पेड़ों के फल खाकर/ नदियों और नालों का जल पीकर/ जिस-तिस के आगे हाथ पसारकर/ लंबे दिन और सूनी रातों में कलपती-बिलखती फिरी/ और अंत में उन्हें पालने में असमर्थ होकर/ उनकी माँ कहलाने का गर्व और मोह छोड़कर/ उन्हीं की देखभाल के लिए/ मैं, उनकी माँ,/ इस आश्रम में टहलनी बनकर रही हूँ/ तो क्या इसलिए/ कि उनके बड़े हो जाने पर एक दिन/ महाराज आकर उन्हें ले जायें/ और मुझे उनकी सेवा का प्रतिदान दें/ और कहें : चलो, तुम्हारा विचार होगा ?"*[127] सीता जी में यह चेतना उनके संघर्षों और परिश्रमों के कारण ही आयी। संघर्ष करते समय जीवन की ज़रूरतों के लिए तरह-तरह के उपाय और तरीके सोचने पड़ते हैं, जीवन की तमाम समस्याओं के हल खोजने पड़ते हैं, इस प्रक्रिया में दिमाग निरंतर सक्रिय रहता है। इसीलिए इस प्रक्रिया में मनुष्य की चेतना का, मानसिक क्षमताओं का विकास होता चलता है। और इस तरह व्यक्ति चेतना-

---

[126] अग्निलीक : भारतभूषण अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 1986, पृष्ठ 52

[127] वही, पृष्ठ 40-41

संपन्न प्राणी बन जाता है। सीता इस काव्य में एक चेतना संपन्न नारी के रूप में दिखायी देती हैं। उन्होंने राम के परिप्रेक्ष्य में अपनी स्वतंत्रता और समानता को रेखांकित कर आधुनिक दृष्टिकोण का परिचय दिया है।

**5.10.3 मूल्यान्वेषण की चिंता :** इस काव्य में 'प्रेम' नामक मूल्य की प्रतिष्ठा की चिंता प्रमुख रूप से दिखायी देती है, जिसे कवि ने सीता जी के माध्यम से प्रकट किया है। ऊपर कहा गया है कि प्रेम वही व्यक्ति कर सकता है जो स्वतंत्र है। अब इसमें यह और जोड़ा जाना चाहिए कि प्रेम स्वतंत्र व्यक्ति के प्रति ही होता है। मतलब यह है कि प्रेम में प्रेमी और प्रेमास्पद दोनों का व्यक्तित्व एक दूसरे से स्वतंत्र होता है। इनमें से एक यदि दूसरे की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार नहीं करता, तो वह उससे प्रेम नहीं कर सकता; अपने अधीन भले बनाये रखे। सीता को राम से यही शिकायत थी कि सीता ने राम से प्रेम करते हुए उन पर अपना सब कुछ निछावर कर दिया, पर राम ने सीता से कभी प्रेम नहीं किया— *"मैंने इनके ऊपर अपना तन-मन न्यौछावर किया था।/ पर ये—/ ये न जाने किस मिट्टी के बने हैं ?/ इन्होंने देखकर भी नहीं देखा,/ सुनकर भी नहीं समझा।/ दिन-रात आठों पहर बस इन्हें एक ही धुन थी :/ राज्य, राजनीति, संग्राम, विजय !"*[128] एक सामंतवादी व्यक्ति स्त्री से प्रेम नहीं कर सकता क्योंकि वह स्त्री के व्यक्तित्व की स्वतंत्रता को स्वीकार ही नहीं कर पाता। अग्निपरीक्षा और निर्वासन के संदर्भ में भी सीता ने प्रेम की बात उठायी है। अग्निपरीक्षा की बात करके राम ने यह विश्वास दिला दिया कि राम का सीता के प्रति प्रेम नहीं है। सीता ने इस संदर्भ में महर्षि बाल्मीकि से कहा है— *"उस क्षण मेरे प्यार का महल जैसे टूटा था/ मेरा मन जैसे चकनाचूर हुआ था/ यह मैं ही जानती हूँ।"*[129] निर्वासन के संदर्भ में प्यार की बात करते हुए सीता कहती हैं— *"ऐसा ही प्रजा का मन रखना था/ तो मैं तो तब मानती/ जब ये राजा की तरह मुझे दण्ड देते,/ और फिर/ प्रेमी की तरह मेरे साथ चले आते।"*[130] इस तरह स्पष्ट है कि स्त्री और पुरुष के संबंधों में प्रेम को यहाँ पर व्यापक महत्व दिया गया है। प्रेम में क्योंकि व्यक्तित्व की स्वतंत्रता का बोध और स्वीकार दोनों रहता है, अतः 'प्रेम' के माध्यम से स्त्री 'स्वतंत्रता' की बात भी की गयी है। सीता ने खुद को राम की प्रेमिका बताने के क्रम में अपनी स्वतंत्र-प्रवृत्ति को घोषणा की है, जिसे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। स्त्री-स्वतंत्रता की बातें कई जगह हैं। समानता की बातें वैसे सीधे-सीधे नहीं उठायी गई हैं। इसका कारण यह है कि इस काव्य की पृष्ठभूमि मिथकीय है। अतः मिथकों के दायरे में ही आधुनिकता का चित्रण इस तरह के काव्यों में किया जाना होता है। फिर भी कवि ने पुरुष-समाज के प्रति सीता जी के विद्रोह की तल्खी के माध्यम से यह संकेत कर दिया है कि वे नारी-अधिकारों के प्रति बेहद सचेत हैं। अतः उनके विद्रोह की आवाज से यह ध्वनित होता है कि वे बराबरी के दर्जे के प्रति भी

---

[128] अग्निलीक : भारतभूषण अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 1986, पृष्ठ 44

[129] वही, पृष्ठ 48

[130] वही, पृष्ठ 49

काफी सचेत हैं। स्पष्ट है कि स्वतंत्रता, समानता और प्रेम जैसे मूल्यों की प्रतिष्ठा की चिंता इस काव्य में प्रमुख है।

**5.10.4 दार्शनिकता :** इस काव्य में दर्शन का सहारा नहीं लिया गया है और न इसका वर्णन ही कहीं दार्शनिक है। हाँ, काव्य की संपूर्णता में जो जीवन-दृष्टि विकसित होती है, वह यथार्थवादी है। काव्य-नाटक का शीर्षक 'अग्निलीक' जीवन-दृष्टि का ही परिचायक है, जो सीता के माध्यम से राम को मिलती है। राम को यहाँ पर बुद्धिवादी और सीता को अनुभववादी की तरह पेश किया गया है। राम के ज्ञान के आधार धर्म-ग्रंथ और इन ग्रंथों के प्रणेता रहे हैं। सीता के ज्ञान के आधार उनके अपने अनुभव रहे हैं जो उन्होंने वन के विस्तृत प्रांगण में बटोरे हैं। यों राम आकाश से, और सीता धरती से जुड़ी हुई हैं। राम अपने राज्य के सुसंचालन में असफल इसलिए होते हैं क्योंकि वे जमीन से नहीं जुड़ते—*"प्रजा की व्यवस्था तो इन्होंने/ व्योम-लीन ऋषियों पर/ योग-लीन साधुओं पर/ ग्रंथ-लीन पंडितों पर,/ और भोग-मुग्ध वानरों पर छोड़ रक्खी है/ जो हर समस्या का एक ही समाधान जानते हैं : यज्ञ, अनुष्ठान, दान और ज्योतिष।"*[131] इनमें से कोई भी जमीन से जुड़कर जीने के लिए आवश्यक उपकरणों का उत्पादन या खोज नहीं करता। अतः सब जीवन के अनुभवों से वंचित हैं। प्रजा, जोकि सीधे उत्पादन के माध्यम से जमीन से जुड़ी रहती है, की समस्या का समाधान करने में ऐसे लोग असफल होते हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। निर्वासन के बाद सीता ने जंगल में प्रकृति के विस्तृत प्रांगण में पैर रखा। वे अपने जीवन के लिए तो जमीन से जुड़ी हीं, आदिवासियों के साथ रहकर व उनकी जीवन-समस्याओं के निराकरण की प्रक्रिया में भी जमीन से सीधे जुड़ीं। अतः जनसाधारण की जीवन-प्रक्रिया से गुज़रकर सीता ने जो अनुभवजन्य ज्ञान प्राप्त किया, वह मानवता के पथ को प्रशस्त करने वाला सिद्ध हुआ। राम ने सीता के इस मार्ग की प्रशस्ति करते हुए इसे अपने जीवन का अंग बनाने का संकल्प लिया—*"देवी तुम धन्य हो !/ जब यह अधम राम राजाधिराज बनकर/ अपनी पत्नी से, प्रजा से, संतति से/ और अपनी भूमि के जीवन से मुँह मोड़कर/ चाटुकारों से भरे एक संकीर्ण वृत्त में/ यशोगान सुनने में व्यस्त था/ तब तुम जीवन का अलख जगाती हुई/ धरती की सच्ची संतान की भाँति/ धरती के जीवन से जुड़ी रहीं।"*[132] इस तरह देखा जा सकता है कि इस काव्य में यथार्थवादी जीवन-दर्शन की प्रतिष्ठा हुई है। स्त्रियों का शोषण आदर्शवादी दर्शन पर आधारित धर्म-ग्रंथों और मान्यताओं के सहारे किया गया है। इसके खिलाफ आवाज उठाना भी यथार्थवादी दृष्टि का ही परिचायक है, जोकि इस काव्य में सर्वत्र व्याप्त है। इस कृति के रचनाकार भारतभूषण अग्रवाल अपने शुरुआती लेखन में मार्क्सवादी थे, अतः उसका प्रभाव इस कृति में आ गया हो, यह बहुत संभव बात है। मार्क्सवाद यथार्थवादी दर्शन है। तमाम मानवतावादी स्थापनाओं के अवाला इसमें स्त्रियों के प्रति भी स्वतंत्रता और समानता की आवाज उठायी गयी है।

---

[131] अग्निलीक : भारतभूषण अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 1986, पृष्ठ 51-52

[132] वही, पृष्ठ 63

अतः इस काव्य में यथार्थवादी दर्शन की अनुगूँज कवि के उक्त प्रभाव का परिणाम कही जा सकती है। जो हो, पर इस काव्य में यथार्थवादी दृष्टिकोण व्यक्त किया गया है।

**5.10.5 विमर्श** : विमर्श इस काव्य का बीज है। सीता जी को पुरुष-सत्ता के खिलाफ जिस मुखरता के साथ यहाँ पेश किया गया है, उससे यह बात सहज ही समझी जा सकती है कि यह काव्य स्त्री-विमर्श से प्रेरित और प्रभावित है। दरअसल यह काव्य मिथक की उन घटनाओं को आधार बनाता है जिनके माध्यम से स्त्रियों की आधुनिक समस्याओं और पुरुषों की सत्ता के खिलाफ आवाज उठायी जा सके। यह भी इस प्रबंध में संकेतित किया जा चुका है कि ऐसे पुरुषवादी और सामंतवादी मिथकीय पात्रों और उनके इन्हीं दृष्टिकोणों पर आधारित कार्यों के प्रति आधुनिक युग तक के लोग श्रद्धा रखते आते हैं, इसीलिए उनके विरोध में उन्हीं मिथकीय पात्रों और घटनाओं पर इस तरह का विमर्शपरक साहित्य लिखा जाता है। कवि का उद्देश्य यहाँ पर मिथकीय पृष्ठभूमि के सहारे आधुनिक समस्याओं का ही निराकरण है। इस काव्य में विमर्श के ज़रिये स्त्री-समस्याओं को प्रखरता से उठाया गया है।

स्त्री के अंदर अस्मिता-बोध पैदा होना स्त्री-विमर्श की पहली सीढ़ी है। इस बोध के परिणामस्वरूप वह पुरुष-समाज में अपनी जगह को पहचानने की कोशिश करती है। यों, अपने को पहचानने की कोशिश में स्त्री-चेतना वर्तमान से अतीत की ओर यात्रा करती है, क्योंकि सही पहचान इतिहास-बोध के बिना अधूरी होती है। इतिहास-बोध ही फिर क्रांति की प्रेरणा बनता है। दरअसल अवांछित स्थितियों का सिलसिला बहुत लंबे समय से शुरू होकर अब तक विद्यमान है, इसकी जानकारी क्रांतिकारी को उन स्थितियों में बदलाव के लिए प्रेरित करती है। यों, इसकी जानकारी ही इतिहास-बोध है। अतः इतिहास-बोध क्रांति की प्रेरणा है। सीता के अंदर स्त्री-अस्मिता का बोध था, इसीलिए उन्हें पुरुष-समाज में स्त्रियों की पारंपरिक स्थितियों की जानकारी थी। राम के साथ वापस अयोध्या चलने के प्रस्ताव पर सीता कहती हैं—*"मैं इतनी अंधी क्यों हो गयी ?/ मैंने क्यों मान लिया/ कि जो पहले तिरस्कार कर चुका है/ बहिष्कृत कर चुका है/ धोखा दे चुका है/ वह अब एकाएक सच्चा हो जाएगा ?/ मैं कितने बड़े भ्रम में थी !/ एक मीठे वाक्य के भरोसे/ मैंने समझ लिया/ कि बरसों का इतिहास बदल गया !"*[133] पुरुष-प्रधान समाज में नारियों की स्थिति का यह इतिहास-बोध सीता में फिर विद्रोह की चेतना बन जाता है—*"शोभा, शोभा ?/ हाँ, नारी तो शोभा ही है/ उससे तो शोभा ही माँगी जाती है/ गुरुदेव,/ क्या इस रामराज्य में सत्य का कोई स्थान नहीं/ सब कुछ शोभा के ही लिए है ?/ और उस शोभा का सारा भार/ एक नारी के ही ऊपर है ?"*[134] विद्रोह की यह चेतना क्रांतिकारी होती है, जो स्त्रियों की अवांछित स्थिति को बदल कर रख देना चाहती है। इस काव्य में सीता जी के प्रायः सभी कथन स्त्री-चेतना से लैस हैं। अतः इस काव्य में स्त्री-विमर्श का व्यापक प्रभाव है।

---

[133] अग्निलीक : भारतभूषण अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 1986, पृष्ठ 38

[134] वही, पृष्ठ 39

# अध्याय 6

## नयी कविता के प्रबंध काव्यों के शिल्पगत रूप-विधान

**6.1 विषयवस्तु**

**6.2 पात्र**

**6.3 देशकाल तथा वातावरण**

**6.4 भाषा**

**6.5 उद्देश्य**

## 6.1 विषयवस्तु

नयी कविता के प्रायः समस्त प्रबंध काव्य मिथकीय-कथाओं से जुड़े हुए हैं। जिनका आधार मिथक नहीं हैं, वे ऐतिहासिक हैं। हिंदी काव्य की अपनी यह प्रवृत्ति रही है कि इसमें कल्पना-प्रसूत कथानक वाले काव्यों का प्रायः अभाव है। इसके प्रबंध काव्य या तो ऐतिहासिक कथाओं पर आधारित हैं, या मिथकीय कथाओं पर। इस प्रवृत्ति की तरफ आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने रामनरेश त्रिपाठी के कल्पना-प्रसूत कथानक वाले खंडकाव्यों—मिलन, पथिक और स्वप्न—का विवेचन करते समय ध्यान आकर्षित किया था। अतः यह बात स्पष्ट है कि हिंदी के प्रबंध काव्य प्रायः ऐतिहासिक या मिथकीय कथाओं के आधार पर रचे गये हैं। इस संबंध में दूसरी प्रवृत्ति यह रही है कि कवियों ने ऐतिहासिक चरित्रों वाले कथानकों से भी ज्यादा मिथकीय कथानकों का आश्रय लेना पसंद किया है। नयी कविता में भी देवराज कृत 'इला और अमिताभ' तथा जगदीश गुप्त कृत 'गोपा-गौतम' सदृश कुछ एक ऐतिहासिक प्रबंध-काव्यों को छोड़ दिया जाए तो अधिकांश काव्य मिथकों पर ही आधारित हैं। इस प्रवृत्ति से मिथक की यह परिभाषा कि 'मिथक जातीय चेतना की अभिव्यक्ति हैं' पुष्ट होती है। मिथक जन-मानस की चेतना को प्रतिबिंबित करने वाले होते हैं। इस प्रतिबिंबन के सहारे ये फिर मनुष्य की चेतना के निर्माण में योगदान देते हैं। इस तरह से मिथक जातीय चेतना को चक्रीय गति से पीढ़ी-दर-पीढ़ी संवर्धित और परिष्कृत करते रहते हैं। अतः कवियों का ध्यान मिथकों की तरफ आकर्षित होना स्वाभाविक है।

मिथकों के प्रति आकर्षण का दूसरा कारण इनके कथानकों की प्रकृति और व्याप्ति से संबंधित है। अपनी प्रकृति और व्याप्ति में ये कथानक प्रत्येक युग के समस्त घटित और संभावित मानवीय व्यापारों और व्यवहारों को समेटे हुए हैं। इन कथाओं के साथ लोक-कथाएँ, दंतकथाएँ और किंवदंतियाँ मिलकर इनका अनंत विस्तार संभव बनाती हैं। कथाओं में से कथाएँ निकलती हैं और वे क्रमशः लोक-जीवन का अंग बन जाती हैं। इन सबके अलावा नयी कविता के कवियों का मिथकों के प्रति आकर्षण उनकी खंडकाव्यों के सृजन की प्रवृत्ति के कारण भी रहा है। खंडकाव्य अपनी प्रकृति में ऐसे होते हैं कि इनमें जीवन के किसी एक खंड की कथा को ही प्रस्तुत किया जा सकता है। प्राचीन महाकाव्यों और पुराणों के माध्यम से जनता मिथकीय चरित्रों के जीवन से प्रायः परिचित रहती है। अतः उन चरित्रों के जीवन के किसी एक पक्ष को खंडकाव्य के ज़रिये उठाने में कवि को सहूलियत होती है। कवि को कथा की पृष्ठभूमि बनाने की ज़रूरत नहीं पड़ती, और वह अपने उद्देश्य के अनुसार कथा-खंड का चुनाव कर सकता है। नयी कविता के कवियों की प्रवृत्ति कथा कहने की भी नहीं है, वह उस कथा या चरित्र का आधार लेकर अपने युग की, या खुद अपनी, समस्याओं को व्यंजित करना चाहता है। ऐसे में मिथकीय कथाएँ पृष्ठभूमि का काम करती हैं। कवि उन मिथकीय कथाओं के आधार पर अपनी बात कहता है। अतः नयी कविता के प्रबंध-काव्य मिथकीय कथाओं पर आधारित होते हैं। मिथकीय कथाओं पर

आधारित होने के बावजूद इन प्रबंध-काव्यों की विषयवस्तु आधुनिक-युग की समस्याओं को व्यंजित करती है। इस दृष्टिकोण से इन प्रबंध-काव्यों की विषयवस्तु को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—युद्ध-विरोधी चेतना से संबंधित, अति-भौतिकता और यांत्रिकता विरोधी चेतना से संबंधित तथा समानता और स्वतंत्रता विरोधी चेतना से संबंधित।

नयी कविता का दौर द्वितीय सप्तक के प्रकाशन (1951 ई०) के बाद से चलता है। इसके पहले विश्व दो-दो महायुद्धों से गुज़र चुका था, तीसरे महायुद्ध की संभावना की स्थितियाँ बनी हुई थीं। इन महायुद्धों में संसार को अपार जन-धन की हानि उठानी पड़ी थी। युद्ध की इस प्रक्रिया ने आधुनिक-मानव द्वारा अर्जित समस्त आधुनिक मूल्यों पर सवाल खड़े कर दिये। अतः कवियों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से युद्ध के ध्वंसात्मक रूप को जनता के सामने रखते हुए यह दिखाने का प्रयास किया कि युद्ध वस्तुतः किसी समस्या का हल नहीं, बल्कि यह समस्या के बदले और बड़ी समस्या खड़ी कर देने वाली प्रकृति का है। अतः युद्धों से यथासंभव बचने का उपक्रम किया जाना चाहिए। काव्यों में जिन परिस्थितियों और प्रवृत्तियों से युद्ध की संभावना बनती है, उन परिस्थितियों और प्रवृत्तियों की आलोचना की गयी। युद्ध के बाद व्यक्ति और समाज जिस विभीषिका से गुजरते हैं उसका चित्रण करते हुए युद्ध के हानिकारक प्रभावों को व्यंजित करने का प्रयास किया गया।

भारतीय मिथकों में 'महाभारत' युद्ध पर आधारित समस्याओं के चित्रण की अपार संभावनाओं को लिये हुए है। 'महाभारत' शब्द अब खुद युद्ध का प्रतीक बन चुका है। अतः नयी कविता के कवियों ने युद्ध पर आधारित सामाजिक और व्यक्तिगत समस्याओं के चित्रण के लिए प्रायः इस महाकाव्य के चरित्रों और कथानकों का आधार ग्रहण किया। इस दृष्टि से धर्मवीर भारती की रचना 'अंधा युग' नयी कविता की एक श्रेष्ठ उपलब्धि कही जा सकती है। इसके अलावा इस श्रृंखला में एक मज़बूत कड़ी के रूप में नरेश मेहता की रचना 'महाप्रस्थान' भी जुड़ती है। इन दोनों रचनाओं में युद्ध के बाद की सामाजिक विसंगतियों और विडंबनाओं के साथ-साथ वैयक्तिक कुंठाओं, निराशाओं, अनास्थाओं और संत्रासों का चित्रण किया गया है। इसके अलावा डॉ. विनय की रचना 'एक पुरुष और' के माध्यम से भी युद्ध पर आधारित सामाजिक और व्यक्तिगत, मुख्यतः व्यक्तिगत, विसंगतियों को चित्रित किया गया है, यद्यपि यह काव्य का मूल स्वर नहीं है।

'महाभारत' के अलावा दूसरा भारतीय आर्ष-ग्रंथ 'रामायण' भी युद्ध पर ही आधारित महाकाव्य है। अतः उसमें भी युद्ध-जनित समस्याओं को रेखांकित करने की तमाम संभावनाएँ हैं। इन्हीं संभावनाओं को तलाशते हुए नरेश मेहता ने अपना खंडकाव्य 'संशय की एक रात' लिखा है, जिसमें युद्ध को मानवीय मूल्यों के विघटन और मानवीय विभीषिकाओं का कारण मानते हुए इससे बचने के उपायों को तलाशने का प्रयास किया गया है। इसमें समुद्र पर सेतु का निर्माण हो जाने के उपरांत राम को इस द्वंद्व और संशय से घिरा हुआ दिखाया गया है कि सीता को मुक्त कराने के लिए युद्ध करें या

नहीं। युद्ध से पूर्व युद्ध के तमाम पक्षों पर मानवीय दृष्टिकोणों से विचार किया गया है।'रामायण' और 'महाभारत' के अतिरिक्त पुराण-ग्रंथों पर आधारित कुछ प्रबंध-काव्यों में भी युद्ध और युद्ध-जनित सामाजिक और वैयक्तिक समस्याओं को विषय बनाया गया है। ऐसे काव्यों में 'दुष्यंत कुमार' का काव्य-नाटक 'एक कंठ विषपायी' महत्वपूर्ण है। यह मूलतः 'शिव-पुराण' पर आधारित ग्रंथ है। इसमें भी 'संशय की एक रात' की तरह युद्ध के पहले युद्ध के हानि-लाभ के साथ-साथ इसकी निवार्यता और अनिवार्यता पर सभा के माध्यम से व्यापक विचार-विमर्श हुआ है।

आधुनिक-सभ्यता में पहुँच कर भी मनुष्य को यदि युद्ध जैसी आदिम और बर्बर समस्याओं से गुजरना पड़ रहा है तो यह इस बात का प्रतीक है कि मानव-समाज मूल्यहीनता की स्थिति से गुज़र रहा है। प्राचीन और मध्यकालीन मूल्य प्रायः परलोकवाद पर आधारित होते थे। आधुनिक काल में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास के फलस्वरूप मनुष्य की वे परलोकवादी मान्यताएँ नष्ट हो गयीं, जिन पर प्राचीन और मध्यकालीन मूल्य आधारित थे। वे मान्यताएँ मनुष्यों की बुराइयों पर एक अंकुश का कार्य करती थीं, और उसे सन्मार्ग पर चलने को प्रेरित करतीं थीं। आधुनिकता ने मनुष्य के ऊपर से इन अंकुशों को हटा दिया, इससे पुराने मानवीय मूल्य टूट गये। पर आधुनिकता मानव-समाज के लिए मूल्य के स्तर पर किसी अंकुश का विकास नहीं कर पायी, अतः समाज एक तरह से मूल्यहीनता की स्थिति में चला गया। दरअसल आधुनिक युग में भौतिक विकास खूब हुआ। जीवन को सरल, आरामदायक, तेज और चमकदार बनाने वाली वस्तुओं का अधिकाधिक विकास हुआ। इन्हें अपने लिए उपलब्ध कराने के हेतु मनुष्य ने पैसों के पीछे भागने का काम शुरू किया। मनुष्य को पैसे इकठ्ठा करने का मार्ग पूँजीवाद ने उपलब्ध कराया। भौतिकतावाद और पूँजीवाद के पीछे भागते मनुष्य का ध्यान लगातार अपनी भौतिक उन्नति की ओर चलता गया, मानसिक उन्नति उसके लिए गौण होती चली गयी। इस तरह धीरे-धीरे अति-भौतिकतावाद ने मनुष्य को एक यंत्र में बदल दिया। वह अनुभूतिशून्य और संवेदनाहीन प्राणी के रूप में उभर कर सामने आया। उसकी इस अति-भौतिकता और यांत्रिकता के खिलाफ भी नयी कविता में प्रबंध-काव्य लिखे गये, जिनमें मनुष्य की भौतिक उन्नति के बदले उसकी मानसिक उन्नति को ज्यादा महत्व दिया गया। ऐसे प्रबंध काव्यों का प्रतिनिधित्व कुँवर नारायण का खंडकाव्य 'आत्मजयी' करता है, जो 'कठोपनिषद' नामक पौराणिक-ग्रंथ पर आधारित है। इस काव्य में नचिकेता के माध्यम से ऐसे जीवन की कांक्षा की गयी है जो संसार के समक्ष सार्वजनीन और सार्वकालिक मूल्यों का आधार उपस्थित करे। ऐसा जीवन भौतिक समृद्धि के नहीं, मानसिक समृद्धि के सहारे आयेगा, ऐसा नचिकेता का विश्वास है। इसीलिए वह यमराज द्वारा दी जाने वाली समस्त भौतिक-समृद्धियों को ठुकराकर मानसिक-समृद्धि का वरदान माँगता है। 'आत्मजयी' के अलावा नरेश मेहता के 'महाप्रस्थान' और डॉ. विनय के 'एक पुरुष और' में भी मानसिक उन्नति के मार्ग को भौतिक उन्नति के मार्ग पर

तरजीह दी गयी है। इस दृष्टिकोण के साथ अति-भौतिकता की समस्या से अपने-अपने स्तर पर नचिकेता, युधिष्ठिर और विश्वामित्र एक साथ टकराते हैं।

युधिष्ठिर का स्वर्गारोहण आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार मानसिक उन्नति की ओर बढ़ने का प्रतीक है। इस काव्य में युधिष्ठिर के माध्यम से यह संकेत किया गया है कि ऊर्ध्वगमन की प्रक्रिया में मनुष्य को अपनी सभी सांसारिक आसक्तियों को छोड़ते जाना चाहिए। अपनी ऊर्ध्वगमन की प्रक्रिया में युधिष्ठिर सांसारिक आसक्तियों और बंधनों के प्रतीक पांडवगण को क्रमशः छोड़ते जाते हैं। विश्वामित्र भी भौतिक-समृद्धि के पीछे की निस्सारता को देखकर योग के माध्यम से आत्मान्वेषण का रास्ता चुनते हैं। आत्मान्वेषण से ही उन्हें जीवन का वह सहज मार्ग दिखाई देता है, जो मनुष्य मात्र का काम्य होना चाहिए। 'आत्मजयी' और 'एक पुरुष और' अपनी मूल प्रकृति में भौतिकता और आध्यात्मिकता की टकराहट लिये हुए हैं, यद्यपि इनमें युद्ध और राज्य से उत्पन्न समस्याओं को भी पृष्ठभूमि में रखा गया है। 'महाप्रस्थान' अपनी मूल प्रकृति में ही युद्ध और राज्य-जनित समस्याओं से जुड़ा हुआ है, भौतिकतावाद और अध्यात्मवाद की टकराहट इन समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में ही संपन्न होती है।

स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व का नारा यद्यपि फ्रांस की राज्यक्रांति के समय ही अस्तित्व में आया था पर आगे चलकर यह सभी देशों में आधुनिकता के मूल्य के रूप में स्थापित हुआ। स्वतंत्रता के पश्चात भारत ने भी अपने संविधान में मौलिक अधिकारों और मौलिक कर्तव्यों के तहत इन मूल्यों को प्रश्रय प्रदान किया। सिद्धांत के स्तर पर मान्यता प्रदान करने के बावजूद इन्हें व्यावहारिक जीवन में पूरी तरह से लागू नहीं करवाया जा सका है। भारत में सामंत-काल से ही मुख्यतः जातिवादी और पुरुषवादी मानसिकता के चलते सामाजिक और लैंगिक असमानता की परंपरा चली आ रही है। आधुनिक-चेतना के प्रसार और कानून के दबाव के बावजूद आधुनिक काल में भी जातिवादी और पुरुषवादी मानसिकता से छुटकारा नहीं पाया जा सका है। अतः नयी कविता में सामंवाद की प्रतीक इस जातिवादी और पुरुषवादी मानसिकता के विरुद्ध भी प्रबंध-काव्य लिखे गये। इस तरह के प्रबंध-काव्यों में भारतभूषण अग्रवाल के काव्य-नाटक 'अग्निलीक' और जगदीश गुप्त के खंड-काव्य 'शंबूक' का महत्वपूर्ण स्थान है। 'अग्निलीक' रामकथा की सीता-निर्वासन की घटना से संबंधित है। सीता को 'नायक' की भूमिका में रखने वाले इस काव्य में सीता ने राम की सामंतवादी और पुरुषवादी मानसिकता को उजागर करते हुए अपने निर्वासन की घटना की स्त्रीवादी-दृष्टि से आलोचना की है। यह काव्य ही सीता-निर्वासन की घटना को सीता की दृष्टि से देखे और परखे जाने के लिए लिखा गया है। अतः इसमें स्त्रीवादी चेतना के माध्यम से सामंतवादी और पुरुषवादी मानसिकता के खिलाफ स्वर उठाया गया है। 'शंबूक' भी रामकथा के शंबूक-वध की घटना पर आधारित है। शंबूक के साथ वर्णवादी या जातिवादी मानसिकता के आधार पर अन्याय हुआ था, अतः इस वर्णवादी-व्यवस्था के खिलाफ उसमें पर्याप्त चेतना देखने को मिलती है। जिस तरह 'अग्निलीक' सीता के पक्ष को रखने के लिए लिखा गया था

उसी तरह 'शंबूक' शंबूक के पक्ष को। 'अग्निलीक' में स्त्रीवादी चेतना के स्वर मुखर हुए हैं तो 'शंबूक' में दलितवादी चेतना के।

'अग्निलीक' और 'शंबूक' के अलावा डॉ. विनय के 'एक पुरुष और' तथा जगदीश चतुर्वेदी के 'सूर्यपुत्र' में भी क्रमशः पुरुषवादी और वर्णवादी मानसिकता के खिलाफ आवाज उठायी गयी है। 'एक पुरुष और' में आनुषंगिक रूप में मेनका के माध्यम से सामंतवादी और पुरुषवादी मानसिकता में जकड़ी हुई स्त्री की स्त्रीवादी चेतना मुखर हुई है। 'सूर्यपुत्र' में कर्ण के माध्यम से वर्णवादी और सामंतवादी मानसिकता को वाणी दी गयी है। कर्ण के राजवंश से जुड़े होने के तथ्य के कारण भले उसकी चेतना को दलित-चेतना का प्रतीक न माना जाए, पर वर्णवादी और सामंतवादी मानसिकता के विरुद्ध कर्ण की चेतना समतावादी ज़रूर है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नयी कविता के प्रबंध-काव्य आधुनिक विषयों से संबद्ध रहे हैं, भले ही उनकी पृष्ठभूमि मिथकीय रही हो। मिथकीय कथाओं को पृष्ठभूमि के रूप में लेने के पीछे कवियों का एक विशिष्ट उद्देश्य रहता है। उस उद्देश्य पर इस प्रबंध में इस प्रकरण की शुरुआत में ही प्रकाश डाला जा चुका है। यहाँ उसमें कुछ और चीजों को जोड़ा जा रहा है। दरअसल भारतीय मिथक 'धर्म' के अंग हैं। इसीलिए मिथकीय कथाएँ यहाँ की जनता के लिए प्रायः आस्था का केंद्रबिंदु रही हैं। इस प्रक्रिया में वे मिथकीय पात्र और घटनाएँ भी लोगों की आस्था के केंद्र बने रहते हैं, जो आधुनिक दृष्टिकोण से अमानवीयता के पोषक होते हैं। इसीलिए असमानता और अमानवीयता के पोषक वर्णवादी या सामंतवादी लोग उनके माध्यम से अपनी मानसिकता के प्रति जनता में श्रद्धा उत्पन्न करने का कार्य किया करते हैं। आधुनिक कवियों ने उन घटनाओं और चरित्रों की आलोचना करते हुए ऐसे ही वर्णवादी और सामंतवादी लोगों पर प्रहार किये हैं।

## 6.2 चरित्र

आधुनिकता अपनी प्रकृति में ही विषमता-विरोधी है। अपनी इस समतामूलक प्रवृत्ति के कारण वह किसी को अकारण महान या लघु नहीं मानती है। आधुनिक काल के पहले तक महानता और लघुता का पैमाना मानवतावादी मूल्यों पर आधारित न होकर प्रायः वंश-परंपरा पर आधारित होता था। वर्ण, जाति और लिंग मुख्यतः मनुष्यों के बीच भेदभाव के आधार थे। आधुनिक युग में इसीलिए विमर्शों के माध्यम से उपेक्षित और दलित वर्गों की प्रतिष्ठा का प्रयास किया गया। दलित, स्त्री, आदिवासी आदि की अस्मिता के प्रश्न जिस प्रक्रिया के परिणाम हैं, वह प्रक्रिया मध्यकाल द्वारा स्थापित इस महानता की प्रतिक्रिया-स्वरूप नवजागरण काल से ही शुरू हो चुकी थी। प्रारंभ में आधुनिक कवियों ने मध्यकालीन कवियों द्वारा उपेक्षित पात्रों को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया, जिसके उदाहरण मुख्यतः द्विवेदीयुगीन कवि मैथिलीशरण गुप्त की कृतियों में मिलते हैं। उपेक्षितों को प्रतिष्ठित करने की प्रेरणा

नवजागरण से उपजी थी। नवजागरण की शुरुआत बंगाल से हुई थी। वहाँ के प्रतिष्ठित कवि माइकेल मधुसूदन दत्त द्वारा 'मेघनाद वध' लिखकर मेघनाद की महानता को रेखांकित किया गया। मैथिलीशरण गुप्त ने इस कृति का अनुवाद करके नवजागरण की प्रवृत्ति को ग्रहण करने का संकेत दिया। इसके बाद उन्होंने रामायण में उपेक्षित उर्मिला की 'साकेत' में तथा गौतमबुद्ध की महानता में उपेक्षित यशोधरा की 'यशोधरा' में प्रतिष्ठा की। यह उल्लेखनीय है कि आरंभ में यह प्रवृत्ति महानता के समानांतर प्रति महानता के प्रदर्शन या महानता के स्थापन्न के रूप में आयी। मेघनाद, उर्मिला या यशोधरा साधारण मनुष्य नहीं थे। ये भी राजवंशी थे। मध्यकालीन कवियों ने या तो उनका मूल्यांकन नहीं किया था, या गलत मूल्यांकन किया था। पर इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि ऐसे पात्रों की प्रतिष्ठा ने ही आगे के 'लघुमानव' की प्रतिष्ठा का रास्ता साफ़ किया। ऐसे पात्र इस प्रवृत्ति की परंपरा से जुड़कर 'प्रतीक' होते गये। अपने प्रतीकत्व में ये पात्र फिर उपेक्षित, दलित और 'लघुमानव' के अर्थों को भरते चले गये। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि आधुनिक कवियों द्वारा प्रतिष्ठित मध्यकालीन उपेक्षितों को दो वर्गों में बांटा जा सकता है—साहित्यिक रूप से उपेक्षित और सामाजिक रूप से उपेक्षित। इन दोनों प्रवृत्तियों की पैठ फिर अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुसार नयी कविता की छोटी और प्रबंधात्मक कविताओं में हुई।

नयी कविता में जिस 'लघुमानव' की बात की जाती है, वह प्रायः छोटी कविताओं का विषय बना। यह बात उल्लेखनीय है कि यह 'लघुमानव' जन-साधारण का नहीं, विशिष्ट साधारण-मानव का प्रतीक है। विशिष्ट साधारण मानव से आशय यहाँ विविध प्रकार की चेतनाओं से संपन्न मनुष्य से है जिसकी उपस्थिति आधुनिक काल के पहले की कविता में नगण्य है; जन-साधारण तो फिर भी किसी कदर पुरानी कविताओं, विशेषतः रीतिकाल की कविताओं, में उपस्थित रहा है। आधुनिक काल में यह 'लघुमानव' आधुनिक-चेतना से लैस हो गया। अतः अपने संपूर्ण आधुनिकताबोध के साथ उसका पदार्पण नयी-कविता में होता है। काव्य के क्षेत्र में आधुनिक कविता की यह एक बड़ी उपलब्धि है। यह भी उल्लेखनीय है कि यह 'लघुमानव' सामाजिक रूप से नहीं, साहित्यिक रूप से ही उपेक्षित है। अतः उत्तर-आधुनिक विमर्शों के फलस्वरूप सामाजिक रूप से जिस दलित और उपेक्षित जन की अस्मिता का सवाल उभर कर आया, यह उससे भी भिन्न था। नयी कविता के कवियों ने छोटी कविताओं के माध्यम से दलितों या उपेक्षितों की अस्मिता का सवाल उठाया भी नहीं। उनकी छोटी कविताओं में प्रायः आधुनिक-चेतना संपन्न उस 'लघुमानव' की जटिल, सघन और संश्लिष्ट अनुभूतियों का ही चित्रण किया गया, जो आर्थिक स्तर पर जन-साधारण से और सामाजिक-स्तर पर दलितों और उपेक्षितों से भिन्न अस्तित्व रखता था। इस दृष्टिकोण से नयी कविता की छोटी कविताओं और प्रबंध काव्यों में कुछ प्रवृत्तिगत अंतर दिखता है। जहाँ छोटी कविताओं के माध्यम से 'लघुमानव' की अनुभूतियों को ही उभारने की प्रवृत्ति थी, वहीं प्रबंध-काव्यों में इसके साथ-साथ सामाजिक रूप से

उपेक्षित और कुछ हद तक दलित-वर्ग की अस्मिता पर भी ध्यान दिया गया। पर यह ध्यान सीमित मात्रा में ही दिया गया, पर्याप्त मात्रा में नहीं। इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि नयी कविता 'अस्तित्व' के तलाश की कविता है, अस्मिता के तलाश की नहीं। पर यह भी सही है कि अस्मिता की तलाश का मार्ग अस्तित्व की तलाश से ही संभव बनता है। नयी कविता की यह अस्तित्ववादी तलाश भी उत्तर-आधुनिक विमर्शों के सानिध्य में बाद की कविताओं में अस्मिता की तलाश में पर्यवसित हो जाती है, पर नयी कविताओं में मूलतः यह अस्तित्ववादी ही रहती है। अस्तित्व का प्रश्न 'मैं हूँ' से जुड़ा है और अस्मिता का 'मेरी एक पहचान है' से। इस प्रक्रिया में 'अस्मिता' का प्रश्न 'अस्तित्व' के प्रश्न के बाद ही आता है। अतः काव्य के क्षेत्र में भी वह इसी क्रम से आया है। दरअसल नयी कविता के कवियों की मूल प्रवृत्ति 'लघुमानव' को अपनी समस्त समस्याओं और संभावनाओं के साथ चित्रित करने की थी। उसने अपनी छोटी कविताओं के साथ-साथ प्रबंधात्मक कविताओं के माध्यम से भी इसी का चित्रण किया, कुछ एक प्रबंध काव्यों में दलितों या उपेक्षितों को जगह ज़रूर मिली है। प्रबंध काव्यों की प्रकृति अलग रही है। मिथकीय-घटनाओं पर आधारित होने के कारण कवियों के लिए यह बाध्यता है कि वे उन्हीं पात्रों का विस्तार या संकोच करें, जिनका वर्णन मिथकों में है। अतः कवियों ने आधुनिक चेतना के अनुसार मिथक कथाओं के उपेक्षित और दलित पात्रों की प्रतिष्ठा करने का प्रयास प्रबंध काव्यों में किया है। इसके अतिरिक्त प्रबंध काव्यों के माध्यम से भी उन्होंने 'लघुमानव' को अपनी समस्त समस्याओं, जटिलताओं और संभावनाओं के साथ चित्रित किया है। ऐसे में पौराणिक पात्र ही इन साधारण जनों के प्रतीकों का वहन करते हुए दिखाई देते हैं।

**'अंधा युग'** के पात्र अपनी पौराणिक भूमिका के बावजूद 'आधुनिक मनुष्य' की उन यातनाओं, कुंठाओं, अनास्थाओं और निराशाओं का ही चित्रण करते हैं, जो उसके आधुनिकता-बोध से उत्पन्न होती हैं। युद्धाक्रांत परिवेश के माध्यम से कवि ने सामाजिक विडंबनाओं और विसंगतियों का चित्र तो खींचा ही है; व्यक्तिगत कुंठाओं, अनास्थाओं और निराशाओं की अभिव्यक्ति भी की है। आधुनिक युग के भौतिकता और यांत्रिकता-परक यथार्थ के दबाव ने न सिर्फ सामाजिक विसंगतियों और विडंबनाओं को ही जन्म दिया है, बल्कि विभिन्न प्रकार की व्यक्तिगत कुंठाओं को भी उत्पन्न किया है। आधुनिक-युग की इस स्थिति का उल्लेख करते हुए नयी कविता के समर्थ आलोचक मलयज 'नयी कविता' पत्रिका में प्रकाशित 'नयी कविता और पौराणिक प्रतीक' नामक अपने लेख में कहते हैं— *"वर्तमान परिस्थितियों में वस्तुपरक सामाजिक यथार्थ तथा क्रूर भौतिक सत्यों और व्यक्तिगत जीवन की आत्मानुभूतियों के बीच जो आंतरिक संघर्ष छिड़ा हुआ है, उसकी चरम परिणति सामाजिक स्तर पर सामाजिक विसंगति (social tragedy) तथा व्यक्तिगत स्तर पर वैयक्तिक कुंठा के रूप में हुई है।"*[1]

[1] नयी कविता : सैद्धांतिक पक्ष (खंड एक) : (सं.) जगदीश गुप्त, रामस्वरूप चतुर्वेदी, विजय देवनारायण साही, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण 2016, पृष्ठ 174

इस संदर्भ में देखा जाए तो 'अंधायुग' के समस्त पात्र अपना प्रतीकवत अर्थ भी रखते हैं, और अपनी प्रतीकात्मकता में वे आधुनिक मनुष्य की विभिन्न समस्याओं, जटिल और संश्लिष्ट अनुभूतियों के साथ उसकी समस्त संभावनाओं को ही प्रकट करते हैं।

'अंधा युग' का सबसे सशक्त पात्र अश्वत्थामा है। युद्ध-पूर्व, युद्ध और युद्धोत्तर काल तमाम मानवीय मूल्यों के विघटन के यथार्थ से जुड़ा हुआ होता है। इस यथार्थ से टकराकर एक कोमल भावनाओं वाले विचारवान व्यक्ति के व्यक्तित्व का विघटन होने लगता है। उसमें तमाम तरह की कुंठाएँ और निराशाएँ जन्म ले लेती हैं। अश्वत्थामा युद्ध-काल के छल-प्रपंचों और षड्यंत्रों से टकराकर इसी तरह की कुंठा, निराशा, अनास्था और घुटन का शिकार होता है। उसमें जिस प्रकार की पशुता का उदय होता है, वह परिस्थितिजन्य है; स्वभावजन्य नहीं। अतः कवि उसकी इस विक्षिप्तावस्था के प्रति घृणा का भावबोध नहीं, बल्कि सहानुभूति का भाव लेकर ही काव्य में उतरता है। 'अंधा युग' की इस विशेषता को रेखांकित करते हुए रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है—*"रचनाकार की विशेषता इसमें है कि उसकी सहानुभूति समग्र और अखंडनीय है; वह जितनी कृष्ण के लिए है उतनी ही गांधारी, युयुत्सु और अश्वत्थामा के लिए।"*[2] इस तरह अश्वत्थामा उस आधुनिक मनुष्य का प्रतीक है, जो अपने तमाम मानवीय मूल्यों और कोमल भावनाओं के सहारे इस छल-प्रपंच और कठोरताओं से भरे संसार से टकराता है। अपनी इस टकराहट की प्रक्रिया में कुछ भी अर्जित नहीं कर पाने के कारण कुंठित होकर वह उन्हीं सांसारिक छल-प्रपंचों का सहारा लेने के लिए विवश हो जाता है। अश्वत्थामा के अलावा गांधारी, धृतराष्ट्र और युयुत्सु भी इस कृति के सशक्त पात्र हैं। गांधारी अपनी प्रतीकात्मकता में अश्वत्थामा की समानधर्मी हैं। दोनों पात्र समाज के क्रूर यथार्थ से टकराते हैं। पर जहाँ यह टकराहट अश्वत्थामा में प्रतिहिंसा की भावना भरकर उसे भी क्रूर बना देता देती है, वहीं गांधारी उस यथार्थ को नज़रअंदाज कर अपने स्वप्न-संसार में विचरण करने लगती हैं। दुर्लंघ्य यथार्थ से टकराकर आधुनिक मनुष्य इन दोनों तरह की स्थितियों का शिकार हो सकता है। या तो वह उस कटु-यथार्थ की प्रतिक्रिया में उसी की टक्कर की कटुता अपने भीतर उत्पन्न करता है या तो वह उसे अनदेखा करता हुआ, उसे दूर करने का उपाय न कर, अपने द्वारा निर्मित संसार में ही जीना पसंद करता है। गांधारी दूसरे तरह के मानवों की प्रतीक हैं। इसीलिए वे बाहरी यथार्थ से मुँह-मोड़ने के लिए अपनी आँखों पर पट्टी चढ़ा लेती हैं। यद्यपि यह दोनों ही स्थितियाँ सामाजिक रूप से हानिकारक हैं, फिर भी, क्योंकि ये सब परिस्थितियों की उपज हैं, स्वभाव की नहीं, अतः अपनी प्रकृति में ये सहानुभूति की हकदार हो सकती हैं।

धृतराष्ट्र 'अंधेपन' के प्रतीक हैं। वह शासक या मनुष्य जिसके पास यह शक्ति है कि वह युद्ध या किसी अप्रिय घटना को घटित होने से रोक सके पर व्यक्तिगत स्वार्थ में अंधा होकर जो उस घटना को घटित होने दे, उस शासक या मनुष्य के प्रतीक हैं धृतराष्ट्र। युयुत्सु उस आधुनिक मनुष्य का प्रतीक

[2] नयी कविताएँ : एक साक्ष्य : रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण, 2015, पृष्ठ 96

है, जो बदली हुई युगीन परिस्थितियों में इस अनिर्णय की स्थिति में रहता है कि सत्य और असत्य, न्याय और अन्याय की सार्वभौमिक कसौटी क्या है— *''युयुत्सु में समकालीन द्विधाग्रत मानव-मन की पहिचान है।''*[3] इस तरह स्पष्ट है कि 'अंधायुग' के पात्र पौराणिक-संदर्भ में आधुनिक जीवन की विडंबनाओं और विसंगतियों को वहन करने वाले प्रतीक भी हैं।

**'कनुप्रिया'** के कृष्ण व्यक्ति की बौद्धिक-वृत्ति और राधा रागात्मिका-वृत्ति की प्रतीक हैं। इस भौतिकतावादी समय में बुद्धि पर भावनाओं का नियंत्रण होना चाहिए अन्यथा मानवीय मूल्य, प्रेम और संवेदनाएँ नष्ट हो जाएँगी। *''राधा भी गहरी तन्मयता के क्षणों की आतंरिक निष्ठा और वस्तुपरक ऐतिहासिक युग-सत्य के संघर्ष को प्रश्नात्मक रूप में रखती हैं। मुझे ऐसा लगता है, मानों राधा भारतीय संस्कृति की मूल रागात्मक प्रवृत्ति के प्रतीक-रूप में आधुनिक जटिल परिवेश के बीच भावी-युग-निर्माण में अपनी सार्थकता का महत्व बलपूर्वक स्थापित कर देना चाहती है।''*[4] धर्मवीर भारती की विशेषता इसमें है कि उन्होंने पौराणिक राधा के मूल रागात्मक व्यक्तित्व का अतिक्रमण किये बिना उनमें आधुनिकता की विशेषताओं का समावेश किया है। **'संशय की एक रात'** में राम को दो ऐसी परस्पर-विरोधी स्थितियों के बीच घिरे हुए चित्रित किया गया है जो अपनी प्रकृति में सार्वभौमिक और सार्वकालिक सही एवं गलत होने की विशेषताओं से रहित होती हैं। इन परिस्थितियों में घिरा हुआ मनुष्य जिस द्वंद्व, संशय और तनाव का अनुभव करता है, उन सबकी अनुभूति से राम भी गुज़रते हैं। राम का परंपरागत रूप एक विराट-मानव या ईश्वर का है, पर अपने जिस रूप में वे जीवन की विपरीत स्थितियों से लड़ते हुए संशय, द्वंद्व और तनाव का शिकार होते हैं, उससे उनका मानवत्व उभरता है। अपने इस साधारण रूप में राम उस आधुनिक 'लघुमानव' के प्रतीक हैं जो अपनी समस्त आधुनिक चेतना के कारण ही जीवन की विभिन्न विपरीत परिस्थितयों और जटिलताओं की अनुभूति करता हुआ द्वंद्व और तनाव का अनुभव करता है। यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि 'लघु-मानव' जन-साधारण का नहीं, उस विशिष्ट मानव का प्रतीक है जो अपनी प्रकृति में युगीन-चेतना से संपन्न होता है। **'एक कंठ विषपायी'** में शिव का जो रूप चित्रित किया गया है, वह उनके पौराणिक चरित्र के ही अनुकूल है। अपने पारंपरिक रूप में ही शिव परंपरा-भंजक और क्रोधी रहे हैं। पौराणिक चरित्र से अनुकूलन स्थापित करता हुआ शिव का जो आधुनिक चरित्र इस काव्य में विकसित होता है उसमें शिव एक आधुनिक क्रांतिकारी के रूप में सामने आते हैं, जो एक साथ ही सामंतवाद और पूँजीवाद के खिलाफ क्रांति का स्वर मुखर करता है।

---

[3] नयी कविताएँ : एक साक्ष्य : रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण, 2015, पृष्ठ 96

[4] नयी कविता : सैद्धांतिक पक्ष (खंड एक) : (सं.) जगदीश गुप्त, रामस्वरूप चतुर्वेदी, विजय देवनारायण साही, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण 2016, पृष्ठ 177

नयी कविता के प्रबंध-काव्यों को देखकर ऐसा लगता है कि इस युग के रचनाकार प्रायः एक तरह की समस्या को विविध रूपों में चित्रित कर रहे हैं। **'आत्मजयी'** के नचिकेता, **'महाप्रस्थान'** के युधिष्ठिर तथा **'एक पुरुष और'** के विश्वामित्र का व्यक्तित्व प्रायः समान है। ये सभी आत्मान्वेषी पात्र हैं। भौतिकतावादी और यांत्रिक जीवन की व्यर्थता-बोध से ग्रस्त होकर ये सभी सार्थक और मूल्यवान जीवन की खोज में अपने अंतर की ओर यात्रा करते हैं। सार्थक जीवन जी सकने की शक्ति कहीं बाहर नहीं, व्यक्ति के अंदर ही निहित है। जरूरत है निराला के 'राम' की तरह उसे पहचानने या जगाने की। अपनी उस जीवन-दृष्टि की पहचान के क्रम में इन पात्रों का व्यक्तित्व उभर कर सामने आता जाता है। ये तीनों पात्र उस आधुनिक मनुष्य के प्रतीक हैं जो आधुनिक-युग के अति-भौतिकतावादी और यांत्रिक जीवन की व्यर्थता को महसूस करते हुए इसका अतिक्रमण कर जाने के दायित्वबोध की यातना से गुज़रते हैं।

**'एक पुरुष और'** की मेनका तथा **'अग्निलीक'** की सीता अपनी अस्मिता के प्रति सजग आधुनिक नारियों की प्रतीक हैं। पितृसत्ता और सामंतवाद के खिलाफ इनमें उस चेतना का प्रस्थान-बिंदु देखा जा सकता है, जो आगे चलकर स्त्री-विमर्श का आधार बनती है। अपनी प्रकृति में ये काव्य उस परंपरा से जुड़ जाते हैं, जिसकी शुरुआत नवजागरण के माध्यम से हुई। सामाजिक रूप से उपेक्षित स्त्रियों को कभी प्राचीन और मध्यकालीन काव्य में 'नायक' की भूमिका में नहीं उतारा गया। यह बात रेखांकित की जा चुकी है कि यह कार्य आधुनिक कल में मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी कृतियों के माध्यम से किया। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के 'प्रिय-प्रवास में 'राधा' को आधुनिक रूप में चित्रित ज़रूर किया था, पर उपेक्षितों को स्थान देने का अधिक साहसिक कार्य मैथिलीशरण गुप्त द्वारा ही संपन्न हुआ। राधा अपने परंपरागत रूप में साहित्य में लगातार स्थान पाती रही थीं। मैथिलीशरण गुप्त द्वारा स्थापित 'उर्मिला' और 'यशोधरा' सामाजिक रूप में वैसी उपेक्षित तो नहीं, पर साहित्यिक रूप से नितांत उपेक्षित थीं। इन्हें साहित्यिक-उपेक्षिता मानकर ही स्थापित करने का प्रयास किया गया था, सामाजिक-उपेक्षिता मानकर नहीं। इसीलिए इनमें सामंतवादी और पुरुषवादी वर्चस्व के खिलाफ चेतना नहीं है, बल्कि किसी कदर ये सब उनका समर्थन ही करती हैं। सामाजिक-उपेक्षिता स्त्रियों को, और वह भी पौराणिक स्त्रियों को, अपनी स्त्रीवादी चेतना के साथ काव्य में प्रतिष्ठित करना थोड़ा कठिनतर कार्य था, जो आगे चलकर नयी कविता के कवियों द्वरा उपर्युक्त चरित्रों के माध्यम से संपन्न हुआ।

इसी क्रम में **'शंबूक'** के शंबूक और **'सूर्यपुत्र'** के कर्ण आते हैं। कर्ण को प्रतिष्ठित करने में तो फिर भी बड़े साहस की ज़ररूरत नहीं है, क्योंकि किसी कदर उसका संबंध राज-घराने से जुड़ा हुआ है; पर शंबूक को अपनी दलित-चेतना के साथ उपस्थित कर देना बड़े साहस का कार्य है। शंबूक सदियों से उपेक्षित 'शूद्र' समाज से आता है। उसमें उस सामंतवादी और वर्णवादी व्यवस्था के प्रति तीखे विद्रोह की चेतना है जिसने सदियों से दलितों का शोषण किया है। व्यवस्था से उसके सवाल अपनी चेतना में

इतने तीखे और प्रबल हैं कि वह दलित समाज की उस चेतना का प्रतिनिधित्व करता हुआ नज़र आता है जो आगे चलकर दलित-विमर्श का आधार बनती है।

### 6.3 देश-काल और वातावरण

नयी कविता के प्रबंध-काव्यों की प्रकृति दोहरी है, जिसके आधार पर एक ओर ये अपने पौराणिक और मिथकीय देश-काल और वातावरण से जुड़ते हैं तो दूसरी ओर अपने समकालीन वातावरण से। इसके लिए कवि अमूर्तन की प्रक्रिया का सहारा लेते हैं, जो आधुनिक कलाओं की एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति है। अमूर्तन की यह प्रक्रिया वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति या आत्माभिव्यंजन से, घटनाओं की जगह भावनाओं और विचारों को महत्व प्रदान करने से और घटनाओं और पात्रों का प्रतीकीकरण करने से आती है। वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति या आत्माभिव्यंजन से कवि पात्रों में अपने व्यक्तित्व का प्रक्षेपण करते हुए मिथकीय काव्यों को प्रायः अपने समय में प्रक्षेपित कर देते हैं। 'कामायनी' में 'मनु' पर जयशंकर प्रसाद ने अपने व्यक्तित्व का प्रक्षेपण किया है, इसे मुक्तिबोध ने अपनी पुस्तक 'कामायनी : एक पुनर्विचार' में दिखाया है। नयी कविता के प्रबंध-काव्यों में आत्माभिव्यंजन का तरीका मिथकीय-कथाओं की दशाओं और दिशाओं में परिवर्तन कर अपने विचारों और निष्कर्षों को उन पर आरोपित करने के क्रम में देखा जा सकता है। यों, इस प्रक्रिया में मिथक और आधुनिकता का आपसी सामंजस्य बनाये रखना कवियों के लिए एक चुनौती होती है। इस सामंजस्य को सही से निभा ले जाने वाला कवि ही सही मायने में सफल प्रबंधकार कहलाने के योग्य होता है। इस दृष्टि से 'अंधा युग' नयी कविता की सबसे सफल रचना है। इस दृष्टि से 'संशय की एक रात' में कवि नरेश मेहता मिथकीय तत्वों और आधुनिक तत्वों में सामंजस्य बैठाने में बहुत सफल नहीं हो सके हैं। वहाँ पर 'राम' जिस तरह सीता को अपनी वैयक्तिक समस्या मानते हुए युद्ध न करने का बहाना खोजते हैं, वह मिथकीय-कथा के अनुकूल नहीं पड़ता। इसीलिए तमाम ऊहापोहों के बावजूद अंततः राम को युद्ध करना ही पड़ता है।

घटनाओं और पात्रों की जगह भावनाओं और विचारों को महत्व देना आधुनिक युग में अमूर्तन की प्रवृत्ति का एक और अंग है। नये प्रबंध-काव्यों में अमूर्तन की यह प्रक्रिया छायावादी काल से ही चली आ रही है। 'कामायनी' और 'आँसू' में घटनाओं की जगह भावनाओं को महत्व प्रदान करते हुए उनके चित्रण से भावनापरक प्रबंध काव्यों की सृष्टि की गयी थी। नयी कविता के अधिकांश प्रबंध काव्यों में घटनाओं की जगह भावनाओं और विचारों को महत्व प्रदान करते हुए उनका चित्रण किया गया है। प्रायः प्रबंध-काव्यों में युद्ध को निरर्थक माना गया है। इसीलिए युद्ध की घटनाओं को आधार बनाकर या उन्हें पृष्ठभूमि में रखते हुए उन पर आधारित भावनाओं और विचारों के सहारे युद्ध से उत्पन्न विभीषिकाओं का भावनात्मक या विचारात्मक चित्रण करते हुए उन पर विचार-विमर्श किया गया है। नयी कविताओं में मिथकों की स्थूल घटनाओं को कथाक्रम से प्रस्तुत करने के लिए नहीं उठाया जाता,

बल्कि उन घटनाओं में निहित आधुनिकता के सूक्ष्म तत्वों की अभिव्यक्ति के लिए ही उन्हें काव्य का विषय बनाया जाता है। मिथक प्राचीन और मध्यकालीन युग की रचनाएँ हैं। उस काल में स्थूलता को ही महत्व प्रदान किया जाता था। स्थूल घटनापरक कथाओं के माध्यम से लोगों को शिक्षाएँ प्रदान की जातीं थीं। आधुनिक युग में वैज्ञानिक विकास के कारण सूक्ष्मता का महत्व बढ़ा है। अतः नयी कविता में, जैसा कि कहा गया, स्थूल मिथकीय घटनाओं में निहित आधुनिकता के सूक्ष्म तत्वों के सहारे भावनापरक और विचारपरक काव्य लिखे गये।

नयी कविता में मिथकों के सहारे आधुनिकता की अभिव्यक्ति करने के लिए दो तरह की मिथकीय घटनाओं और पात्रों को उठाया गया। एक तो उन घटनाओं और पात्रों को जिनका अस्तित्व और कार्य-कलाप आधुनिकता के तत्वों से मेल नहीं खाता था, और फिर भी आस्थाओं के सहारे वे आधुनिक जीवन का अंग बने हुए थे। और दूसरे प्रकार में वे घटनाएँ और पात्र आते हैं जो अपनी समावेशी प्रकृति के कारण आधुनिकता के तमाम तत्वों को अभिव्यक्त करने की क्षमता रखते हैं। यों, पहले प्रकार की घटनाओं और पात्रों की क्रियाओं को आधार बनाकर उन पर विचार-विमर्श करते हुए एक प्रकार से उनके औचित्य-अनौचित्य का विश्लेषण किया जाता था। इस प्रकार के काव्यों में 'शंबूक' और 'अग्निलीक' का नाम लिया जा सकता है। 'शंबूक' नामक कृति में शंबूक के माध्यम से जहाँ आज के दलित-विमर्श की चेतना को प्रतिबिंबित किया गया है, वहीं 'अग्निलीक' में 'सीता' के माध्यम से स्त्री-विमर्श की चेतना को। यों, ये दोनों काव्य भावनाओं और विचारों को महत्व देने के कारण अपने युग की समस्याओं से जुड़ जाते हैं, मिथक-काल से तो जुड़े ही रहते हैं। पर यह ध्यान देने वाली बात होती है कि ऐसे काव्यों में मिथकीय और आधुनिक तत्वों का मेल सामंजस्यपूर्ण होना चाहिए। मिथक की प्रकृति आधुनिकता की प्रकृति की लगभग अंतर्विरोधी होती है। अतः ऐसे प्रबंध-काव्य जो मिथकी घटनाओं या पात्रों के क्रिया-कलापों को तार्किकता और वैज्ञानिकता की कसौटी पर कसने की प्रक्रिया से निर्मित होते हैं, वे मिथकीय तत्वों और आधुनिकता के तत्वों में सामंजस्य नहीं बैठा पाते। उनकी प्रकृति मिथक की प्रकृति के प्रतिकूल हो जाती है। अतः वे काव्य न होकर लगभग आलोचना हो जाते हैं। 'आलोचनात्मक-काव्य' की चर्चा भी आधुनिक कविताओं की प्रकृति को लेकर होती रही है। पर कविता और आलोचना में अंतर होता है, यह बात उल्लेखनीय है। फिर भी, ये दोनों काव्य अपनी आलोचनात्मक-प्रकृति में भी मिथकीय वातावरण बनाये रखने का प्रयास करते हैं।

अमूर्तन की प्रक्रिया का तीसरा अंग घटनाओं और पात्रों का प्रतीकीकरण है। प्रतीकीकरण की यह प्रक्रिया साम्यीकरण के माध्यम से संपन्न की जाती है। यों, प्रतीक साम्यीकरण द्वारा ही अस्तित्व में आता है। प्रतीक में प्रायः अमूर्त वस्तुओं का मूर्त वस्तुओं से साम्यीकरण किया जाता है। 'ज्ञान' अमूर्त वस्तु है, इसका एक मूर्त प्रतीक 'सूर्य' को बनाया गया। यों, सूर्य और ज्ञान में कोई आकारगत समानता नहीं है। पर यहाँ पर इनमें प्रभाव-साम्य अवश्य देखा जा सकता है। सूर्य के प्रभाव से जिस प्रकार

अंधकार दूर चला जाता है, उसी प्रकार ज्ञान के प्रभाव से मूर्खता। यों, मूर्खता या अज्ञान का प्रतीक इसीलिए अँधेरा है। स्पष्ट है कि प्रतीकीकरण का आधार समानता है। प्राचीन काल की ऐसी घटनाएँ जो पुराणों आदि में मिथकों के माध्यम से प्रकट की गयी हैं, उनसे मिलती-जुलती आधुनिक घटनाओं में उनका प्रक्षेपण कर नये प्रबंध-काव्यों में उनका प्रतीकीकरण कर दिया जाता है। 'कामायनी' में वर्णित 'प्रलय' की घटना का प्रतीकीकरण करते हुए उसे मानसिक उथल-पुथल के रूप में संक्रमित कर दिया गया था। नयी कविताओं के प्रबंध-काव्यों पर द्वितीय विश्व-युद्ध का बहुत ज्यादा प्रभाव है। अतः 'महाभारत' में वर्णित युद्ध की घटनाओं को काव्यों में उठाते हुए उनका द्वितीय विश्व-युद्ध की घटनाओं में प्रक्षेपण कर दिया गया है। 'रामायण' से भी युद्ध की घटनाएँ इसीलिए उठायी गयीं हैं, ताकि उनके सहारे द्वितीय विश्व-युद्ध की घटनाओं का विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए युद्ध को विनाशकारी घोषित किया जा सके। अंधा युग, कनुप्रिया, महाप्रस्थान, संशय की एक रात, एक कंठ विषपायी आदि काव्यों में युद्ध-जनित त्रासदियों के सहारे युद्ध की घटनाओं का प्रतीकीकरण कर दिया गया है। इन महाकाव्यों में वर्णित मिथकीय काल का युद्ध आधुनिक काल के विश्व-युद्धों में पर्यवसित हो जाता है। अतः एक ओर वह जहाँ मिथकीय युग का वातावरण निर्मित करता है, वहीं दूसरी ओर आधुनिक युग का भी।

घटनाओं के अलावा पात्रों का भी प्रतीकीकरण देश-काल और वातावरण में अमूर्तता लाने के लिए किया जाता है। 'अंधायुग' के प्रायः सभी पात्र प्रतीक हैं। अपनी प्रतीकात्मकता में एक ओर जहाँ वे अपना पौराणिक अर्थ रखते हैं, वहीं दूसरी ओर अपना आधुनिक अर्थ भी। द्वितीय विश्वयुद्ध, औद्योगीकरण, मशीनीकरण आदि आधुनिक परिस्थितियों के कारण मनुष्य जिस निराशा, कुंठा, घुटन, संत्रास आदि का अनुभव कर रहा है, उसे इस काव्य-नाटक में अस्तित्ववादी दर्शन के सहारे चित्रित किया गया है। अस्तित्ववाद एक आधुनिक दर्शन है जो द्वतीय विश्वयुद्ध की विभीषिका के बाद उत्पन्न हुई अनास्था, निराशा, मूल्यहीनता, कुंठा, घुटन, संत्रास आदि की स्थितियों को अभिव्यक्त करता है। छोटी कविताओं की तरह नयी कविता के प्रबंध-काव्यों पर भी इसका पर्याप्त प्रभाव है। 'महाप्रस्थान' में महाप्रस्थान की घटना का प्रतीकीकरण किया गया है, अतः महाप्रस्थान की प्रक्रिया में भाग लेने वाले पात्र भी वहाँ प्रतीक बनकर उपस्थित होते हैं। 'युधिष्ठिर' उस मनुष्य के प्रतीक हैं, जो प्रज्ञा-पुरुष बनने की ऊर्ध्व-यात्रा करता है। इस यात्रा में अन्य पांडव युधिष्ठिर की सांसारिक आसक्तियों के प्रतीक बनकर आये हैं। ऊपर उठने के लिए मनुष्य को अपनी सांसारिक-आसक्तियों का त्याग करना पड़ता है। अतः युधिष्ठिर अपनी इस यात्रा में क्रमशः अन्य पांडवों को पीछे छोड़ते जाते हैं। यों, अपने प्रतीक रूप में यह काव्य आधुनिक युग की अतिभौतिकता के विरोध में मानसिक उन्नति की प्रक्रिया को रेखांकित करता है। कुछ इसी तरह का प्रतीकीकरण 'आत्मजयी' में नचिकेता की यात्रा का किया गया है। आधुनिकतावादी अतिभौतिकता के विकल्प के रूप में मानसिक उन्नति का महत्व इस काव्य में भी

प्रतिपादित है। इसी तरह 'संशय की एक रात' में 'राम' का प्रतीकीकरण करते हुए उनके व्यक्तित्व को आधुनिक जटिल परिस्थितियों में घिरे हुए, अपराध-बोध से ग्रस्त आधुनिक मनुष्य में संक्रमित किया गया है। 'एक पुरुष और' में विश्वामित्र और मेनका आधुनिक युग के उन चेतना-संपन्न पुरुषों और नारियों के प्रतीक के रूप में उभरते हैं, जिनके जीवन को अतिभौतिकता और यांत्रिकता ने यंत्रवत और भावनाशून्य बना दिया है। दोनों अपनी इस यांत्रिक शून्यता से उबर कर सार्थक जीवन की तलाश में संघर्षरत दिखाये गये हैं।

**6.4 भाषा**

भाषा के स्तर पर नयी कविता के प्रबंधकारों का उत्तरदायित्व दोहरा हो जाता है। नयी कविता के प्रबंध-काव्य रचे गये हैं मिथकीय पृष्ठभूमि पर और उन्हें व्यंजित करना है आधुनिक भाव-बोध। उनकी यह व्यंजना भी इकहरी न होकर दुहरी ही है, क्योंकि व्यंजित आधुनिक भाव-बोध मिथकीय भाव-बोध से अलग नहीं, बल्कि उसी से निःसृत होना चाहिए। इस उत्तरदायित्व के निर्वहन के लिए कवि को ऐसी भाषा का संधान करना चाहिए जो अपने निर्दिष्ट अर्थ का अतिक्रमण कर अर्थ की अनेक संभावनाओं को संभव करती हो। संधान से तात्पर्य यहाँ नये की खोज का नहीं, बल्कि पुराने या प्रचलित को ही नया बनाकर प्रस्तुत कर देने से है। और इस प्रक्रिया में 'संधान' शब्द से नहीं, बल्कि अर्थ से जुड़ता है। शब्द का संधान प्रायः अत्यंत सीमित और मुश्किल प्रक्रिया होती है। कवि पुराने या प्रचलित शब्दों के रूढ़ अर्थ का अतिक्रमण कर अपने शब्द-संयोजन के माध्यम से उनमें नया अर्थ भरता है। इसे शब्दों का अमूर्तन कहा जाता है। काव्य-भाषा को साहित्यिक आलोचना का मुख्य आधार मानने वाले आधुनिक आलोचक रामस्वरूप चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक 'काव्य-भाषा पर तीन निबंध' में कवियों द्वारा शब्दों की इस अमूर्तन प्रक्रिया पर विचार करते हुए लिखा है—*"सामान्य भाषा और काव्यभाषा का अंतर इस बात में है कि सामान्य भाषा शब्दों के साथ उनके सुनिश्चित अर्थ होना उचित और वांछनीय मानती है, जबकि काव्यभाषा के लिए यह सुनिश्चितता सह्य नहीं। वह शब्दों के रूप को बार-बार अमूर्त करती है। जैसे ही यह अनुभव होता है कि किसी शब्द के साथ कोई विशिष्ट अर्थ बहुत अधिक संबद्ध हो गया है, कवि बलपूर्वक उसे अलग कर लेना चाहता है। अर्थ की स्थूलता को तोड़कर वह उसकी अमूर्त और उन्मुक्त प्रकृति को पुनः स्थापित करता है।"*[5] अपने अमूर्त रूप में शब्द पूरी तरह निरर्थक या अनर्थक नहीं हो जाते बल्कि वे कवि द्वारा इच्छित अर्थ-छायाओं का संकेत करते हैं। अमूर्तन की यह प्रक्रिया आधुनिकता की एक प्रवृत्ति है। आधुनिकता की यात्रा स्थूलता से सूक्ष्मता की तरफ होती है। यह मनुष्य के क्रमशः बौद्धिक विकास का भी परिसूचक है। अतः शब्दों के अमूर्तन की यह प्रक्रिया आधुनिक कविता की प्रवृत्ति है। *"अमूर्तन (ऐब्सट्रैक्शन) का सिद्धांत आधुनिक कलाओं और कला-विवेचन में काफी सीमा तक स्वीकृत हुआ है। यह स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने की वृत्ति है। इसीलिए*

[5] काव्यभाषा पर तीन निबंध : रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण, 2008, पृष्ठ 78

*आधुनिक कविता में शब्द के चरम और संपूर्ण अर्थ को न लेकर उसके उन्मुक्त, वैकल्पिक अंश को ग्रहण किया जाता है। काव्यभाषा का यह नया रूप अपने संप्रेषण से पाठक को बाँधता नहीं वरन उसे अनुभूतियों की एक श्रेणी, एक दिशा देना ही अपना इष्ट समझता है।"*[6]

शब्दों के अमूर्तन की प्रक्रिया पर बात करते हुए इस तथ्य का ध्यान रखा जाना चाहिए कि कथ्य की संप्रेषणीयता बनी रहे। कथ्य को जटिल और दुरूह बनाना भाषायी कौशल का नहीं, भाषायी अनगढ़ता का परिचायक है। नयी कविता में बहुत कुछ ऐसा भी लिखा गया है जिसका कथ्य प्रायः अस्पष्ट, जटिल और दुरूह हो गया है। जिस प्रकार निराला के मुक्त-छंद के प्रति आग्रह को आधार बनाकर बहुत कुछ अनगढ़ कविताएँ लिखी गयीं, उसी तरह भाषा के प्रति अमूर्तन के इस आग्रह ने भी नयी कविता की कविताओं के कथ्यों को दुरूह बनाया है। इस संदर्भ में यह ध्यान रखने योग्य बात है कि कथ्य को छिपाना सर्जनात्मक भाषा की निशानी नहीं है, सर्जनात्मकता है कथ्य की व्यंजना के विविध अर्थ स्तर तैयार करने में।

नयी कविता के अधिकांश काव्य काव्य-नाटक या नाट्यधर्मी काव्य हैं। अतः नाटक की प्रकृति के अनुसार वहाँ भाषा के अमूर्तन पर उतना ध्यान नहीं है जितना कथ्य के त्वरित संप्रेषण पर है। पर जो काव्य पाठ्यधर्मी हैं, उनमें भाषायी अमूर्तन पर भी पर्याप्त ध्यान दिया गया है। ऐसे काव्यों में **'आत्मजयी'** तथा **'एक पुरुष और'** महत्वपूर्ण हैं। इसमें भी 'आत्मजयी' की भाषा कुछ ज्यादा ही अमूर्त है, इतनी कि कहीं-कहीं इसके चक्कर में पड़कर कथ्य भी अमूर्त हो उठा है। 'आत्मजयी' में कथ्य की तरलता इसकी शुरुआत से ही शुरू हो जाती है। 'पूर्वाभास' नामक प्रथम अध्याय के मंगलाचरण में उपास्य और उपासक दोनों का स्वरूप और पहचान अमूर्त है। कविता की शुरुआत में तथा अंत में 'विराट मस्तक' के प्रति संबोधन होने से यह समझा जा सकता है कि यह संबोधन 'बुद्धि और विवेक' के प्रति है और संबोधनकर्ता 'नचिकेता' या कोई भी चेतना-संपन्न व्यक्ति अथवा पूरा देश है जो अपनी बुद्धि और विवेक से अपने को सही मार्ग पर बनाए रखने की प्रार्थना कर रहा है। यों, कविता में यह व्यंजित किया गया है कि सही राह दिखाने वाला व्यक्ति के अंदर है, उसे बाहर नहीं खोजा जा सकता। व्यक्ति की सारी शक्तियाँ और संभावनाएँ स्वयं उसके भीतर हैं, इस तथ्य का प्रतिपादन निराला अपनी 'राम की शक्तिपूजा' के माध्यम से कर चुके थे। यहाँ पर उसी शक्ति को उपासना के माध्यम से जागृत किये रहने का उपक्रम है। उपासक को बहुमुखी कैसे बनाया गया है इसके लिए कविता देखिए—*"ओ मस्तक विराट,/ अभी नहीं मुकुट और अलंकार।/ अभी नहीं तिलक और राज्यभार।"*[7] यह कविता का पहला बंद है जिसमें मस्तक के साथ 'विराट' शब्द लगाकर उसकी महत्ता को देवत्व के समकक्ष किया गया है ताकि वह उपास्य बन सकने की क्षमता को अर्जित कर सके। 'विराट' की संगति

---

[6] काव्यभाषा पर तीन निबंध : रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण, 2008, पृष्ठ 74

[7] आत्मजयी : कुँवर नारायण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, नौवां संस्करण, 2012, पृष्ठ 17

से 'मस्तक' के निर्दिष्ट या सुनिश्चित अर्थ का अतिक्रमण किया गया है। अब वह एक चेतनाधर्मी मनुष्य की बुद्धि और विवेक, इस जटिल सृष्टि को संचालित करने वाले विराट मस्तिष्क से संपन्न स्रष्टा—सृष्टि की सूत्रबद्धता और नियमबद्धता को देखकर ही न्यूटन ने कहा था कि ईश्वर ज़रूर कोई गणितज्ञ रहा होगा—तथा मनुष्य के सामूहिक मस्तिष्क का प्रतीक एक साथ हो गया है। आगे दूसरी तथा तीसरी पंक्तियों में 'अभी नहीं' जैसे अव्यय शब्दों की आवृत्ति के माध्यम से यह व्यंजित किया गया है कि अभी उपासक की वृत्ति राज्येतर वस्तुओं की ओर दृढ़ है। 'अभी नहीं' शब्दों के द्वारा यह भी व्यंजित है कि अपने प्राथमिक उद्देश्यों  में सफल होने के बाद राजसी वस्तुओं को भी ग्रहण किया जाएगा। 'मुकुट' 'अलंकार' और 'तिलक' जैसे शब्द 'राज्यभार' की संगति के कारण अपने सकारात्मक अर्थ को व्यंजित कर रहे हैं, अन्यथा राजतंत्र आतंक का भी पर्याय माना जाता है। 'अभी नहीं' और 'राज्यभार' जैसे शब्दों की आपसी टकराहट में से बाक़ी के तीन शब्दों का अर्थ सकारात्मक दिशा की तरफ मुड़ता है। 'राज्यभार' यहाँ राजा के उत्तरदायित्वों का अर्थ प्रेषित करता है, जिन्हें वहन कर सकने में अभी उपासक अपने आपको सक्षम नहीं पाता है। मुकुट, अलंकार और तिलक राजा पर तब सुशोभित होते हैं, जब वह जनता के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का निर्वहन ठीक से करे। इसके बाद कविता का दूसरा बंद है—*"तेजस्वी चिंतित ललाट ! दो मुझको/ सदियों तपस्याओं में जी सकने की क्षमता।/ पाऊँ कदाचित वह इष्ट कभी/ कोई अमरत्व जिसे/ सम्मानित करते मानवता सम्मानित हो।"*[8] यह दूसरा बंद पहले बंद से कार्य-कारण रूप से जुड़ा हुआ है। यहाँ 'सदियों' के माध्यम से उपासक 'मनुष्य जाति' के प्रतिनिधि के रूप में सामने आता है। मनुष्य जाति यदि निरंतर मनुष्यता के लिए तप करे, तब जाकर कदाचित उसे वे मूल्य मिलें जिनसे मानवता का विकास हो। तीसरे बंद में उपासक के रूप में भारत-देश का बिंब उभर कर सामने आता है—*"सागर-प्रक्षालित पग,/ स्फुर घन उत्तरीय,/ वन प्रांतर जटाजूट,/ माथे सूरज उदीय,/... इतना पर्याप्त अभी।/ स्मरण में/ अमित स्पर्श निष्कलंक मर्यादाओं के।/ बात एक बनने का साहस-सा करती।"*[9] भारत के उत्तर में सागर मानो उसके चरणों को धो रहा है, बादल उसके अंगवस्त्र हैं, वनों के रूप में उसकी विशाल जटाएँ बिखरी हुई हैं और मस्तक पर सूर्य उदित है। भारत के लिए ऐसी कल्पनाएँ हिंदी कवियों द्वारा की गयी हैं। अतः 'इतना पर्याप्त अभी' जैसे शब्द-गुच्छों या वाक्य के माध्यम से भारत का यह रूप उपासक में पर्यवसित हो जाता है, क्योंकि माँगने या मना करने का कार्य उपासक ही कर रहा है। भारत वह मूल्य अर्जित कर ही लेगा इसके प्रति आश्वस्ति 'स्मरण' नामक शब्द के माध्यम से व्यक्त की गयी है। स्मरण अतीत की घटनाओं या दृश्यों का किया जाता है। भारत अपने अतीत में अपनी बहुमुखी समृद्धि के कारण सोने की चिड़िया या विश्वगुरु कहा जाता था। अतः उसके स्मरण में अतीत की 'निष्कलंक मर्यादाओं' का 'अमिट स्पर्श' है। यहाँ भी शब्दों के अमूर्तन के द्वारा कथ्य को अनुभूतिगम्य बनाने का प्रयास किया है। 'मर्यादा' स्वयं में एक अमूर्त वस्तु

[8] आत्मजयी : कुँवर नारायण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, नौवां संस्करण, 2012, पृष्ठ 17

[9] वही, पृष्ठ 17

है, वह किसी का 'स्पर्श' नहीं कर सकती। पर काव्य में यह कर सकती है। यहाँ 'स्पर्श' शब्द अपने रूढ़ अर्थ का त्याग कर 'अनुभूति' का वाचक हो गया है। 'मर्यादा' में 'निष्कलंक' जैसा विशेषण भी साभिप्राय लगाया गया है। अतीत में मूल्यों के स्तर पर भारत की अतिशय समृद्धि को व्यंजित करने के लिए कवि ने 'मर्यादा', जोकि खुद एक सकारात्मक शब्द है, में 'निष्कलंक' विशेषण भी जोड़ दिया है। जब अतीत में भारत इतना समृद्ध रहा है तो भविष्य में भी 'बात बनने' की परम संभावना है। 'साहस-सा करती' के माध्यम से कवि ने वर्तमान समय में मूल्यों, संस्कृतियों आदि के संदर्भ में भारत की निपट विपन्नता की ओर भी संकेत किया है। वर्तमान में भारत मूल्यों के स्तर पर इतना विपन्न है कि बात बन जाएगी यह दावा नहीं किया जा सकता। साहस भी सीधे-सीधे नहीं किया गया है। मन में बस साहस-सा उभरता है। इस तरह से इन तीन बंदों के माध्यम से ही कवि ने अपनी सर्जनात्मकता के सहारे पूरे काव्य के कथ्य का आभास दे दिया है। अतीत में मूल्यों की अतिशय समृद्धि और वर्तमान में इसकी निपट विपन्नता जैसी परस्पर-विरोधी स्थितियों के तनाव में से यह साहस-सा उभर का आता है कि 'बात बन जाएगी', इसका दावा नहीं किया जा सकता।

अपने अगले बंदों में यह कविता अधिकाधिक अमूर्त होती जाती है। काव्यभाषा को अमूर्त कैसे बनाया जाता है, यह कविता इसका अच्छा उदाहरण है। कविता का अगला बंद है—*''तुम्हारे शब्दों में यदि न कह सकूँ अपनी बात,/ विधि-विहीन प्रार्थना/ यदि तुम तक न पहुँचे तो/ क्षमा कर देना,/ मेरे उपहार— मेरे नैवेद्य—/ समृद्धियों को छूते हुए/ अर्पित होते रहे जिस ईश्वर को/ वह यदि अस्पष्ट भी हो/ तो ये प्रार्थनाएँ सच्ची हैं... इन्हें/ अपनी पवित्रताओं से ठुकराना मत,/ चुपचाप विसर्जित हो जाने देना/ समय पर... सूर्य पर.../ भूख के अनुपयुक्त इस किंचित प्रसाद को/ फिर जूठा मत करना अपनी श्रद्धाओं से,/ इनके विधर्म को बचाना अपने शाप से,/ इनकी भिक्षुक विनय को छोटा मत करना/ अपनी भिक्षा की नाप से : उपेक्षित छोड़ देना/ हवाओं पर, सागर पर...''*[10]। उपासक रूढ़ि-विरोधी है, अतः उसकी प्रार्थना विधि-विधानों याकि कर्मकांडों से रहित है। यद्यपि कि उपास्य कर्मकांड नहीं, उपासक का मन देखता है; फिर भी, क्योंकि समाज कर्मकांडों के माध्यम से ही उसे अपनी तरफ करता आया है, अतः समाज की इस कर्मकांडी-प्रवृत्ति के खिलाफ उपासक के मन में उठते हुए विद्रोह के घेरे में उपास्य भी आ गया है। अर्थात यह कर्मकांडी-समाज का विरोध है जो प्रकारांतर से उपास्य के प्रति व्यक्त हो गया है। 'विधि-विहीन' शब्द के माध्यम से कवि ने यहाँ उपासक की रूढ़ि-विरोधी प्रवृत्ति को उजागर किया है। प्रार्थना विधि-विहीन है, अतः उपास्य तक उसके न पहुँचने की संभावना अधिक है। कर्मकांडी अपने उस ईश्वर को, जोकि उसके सामने स्पष्ट होता है, कर्मकांड के माध्यम से खुश करके सांसारिक समृद्धि हासिल करता रहा है। ईश्वर उसे यह समृद्धि देता है या नहीं, यह अलग बात है; वह ईश्वर के नाम पर समृद्ध हो रहा है, उल्लेखनीय बात यह है। कवि का विद्रोह इस संपूर्ण प्रक्रिया से है। यहाँ एक तो

[10] आत्मजयी : कुँवर नारायण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, नौवां संस्करण, 2012, पृष्ठ 17-18

उपासक का उपास्य स्पष्ट नहीं है, दूसरे उसकी उपासना भी विधि-विहीन है। यानी उपासक को सब कुछ सूक्ष्मता की ओर ले जा रहे हैं। छायावाद की परिभाषागत शब्दावली में कहा जाय तो एक प्रकार से उपासक का यह विद्रोह भी स्थूल के प्रति सूक्ष्म का ही विद्रोह है। इस बात से यह संकेत मिलता है कि उपासक को स्थूल स्तर पर नहीं, बल्कि सूक्ष्म स्तर पर फल की प्राप्ति चाहिए। यह भी यदि उसे अभी नहीं मिलता है, तब भी वह निराश नहीं होना चाहता। वह अपनी प्रार्थनाओं को समय और सूर्य पर समर्पित हो जाने देना चाहता है। समय कभी-न-कभी उसकी इन प्रार्थनाओं को प्रकाशित करेगा ही, यह उसे पूर्ण विश्वास है।

उपर्युक्त पंक्तियों में उपासक पहले अपने उपास्य को संबोधित करता है फिर अचानक ऐसा लगता है कि वह किसी दूसरे ईश्वर की बात करने लगा। बात दरअसल यह है कि वह उसी को संबोधित करता हुआ सारी बातें कह रहा है। कथन की शैली वहाँ बदल गयी है, बस। 'समृद्धियों' का प्रयोग यहाँ काव्य को अमूर्त बनाने के लिए किया गया है। 'समृद्धि' शब्द उपहारों और नैवेद्यों के लिए आया है। उपासक जिन उपहारों और नैवेद्यों की बात कर रहा है, वह उसके सद्कर्म याकि मानवता के लिए किये गये संघर्ष और तप हैं जो अपनी प्रचुरता और उपासक की लगन में, याकि अपनी मूल्यवत्ता में काफी समृद्ध हैं। इन उपहारों और नैवेद्यों को उपासक ने स्वयं किसी ईश्वर को समर्पित नहीं किये, बल्कि वे खुद किसी ईश्वर को 'समर्पित होते रहे'। यहाँ पर गीता के निष्काम कर्म की अनुगूँज सुनी जा सकती है। उपासक अपनी पूरी लगन के साथ मानवता के लिए संघर्षरत याकि कर्मरत रहा, और उसके इन संघर्षों और कर्मों को उस ईश्वर ने महसूस किया जो संसार के कल्याण की सामर्थ्य रखता है, यद्यपि कि उपासक के मन में उसका कोई स्वरूप स्पष्ट नहीं है। आगे 'पवित्रताओं' शब्द का प्रयोग विरोधाभासी-स्थिति में किया गया है। व्यक्ति किसी को अपनी कठोरताओं से ठुकराता है, उन कठोरताओं में एक कठोरता अपनी पवित्रता के दंभ से भी निकली रहती है। उपासक की प्रार्थना क्योंकि विधि-विहीन है, अतः उसके ठुकराये जाने की संभावना है। यहाँ भी उपासक का सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह प्रकारांतर से उपास्य के प्रति व्यक्त हो उठा है। इसके आगे लगभग हर पंक्ति में कुछ शब्दों का प्रयोग विरोधाभासी-स्थितियों में किया गया है। उपासक का चढ़ावा क्योंकि अमूर्त है, अतः वह खाया नहीं जा सकता। इसीलिए उसे भूख के अनुपयुक्त कहा गया है। इस प्रसाद को उपासक उपास्य के माध्यम से जूठा भी नहीं होने देना चाहता ! और फिर 'श्रद्धाओं' से जूठा होने का क्या अर्थ है, वह भी उपास्य की ही श्रद्धा ! यद्यपि अमूर्त कविताओं का कोई निश्चित अर्थ देना न तो समीचीन है और न ही संभव। फिर भी इन पंक्तियों के संदर्भ में कहा जा सकता है कि क्योंकि उपास्य के सारे चढ़ावे उसके सद्कर्म, सद्भावनाएँ और मानवीय मूल्य हैं, अतः वह उन्हें ईश्वर के पास नहीं रखना चाहता। वे सारे चढ़ावे वापस मानव-समाज में आने चाहिए, अतः ईश्वर इन्हें परखकर मानवता के हित वापस कर दे। उपासक को अपने चढ़ाओं की उपयुक्तता पर पूरा विश्वास है, अतः ईश्वर यदि इन्हें 'विधर्मी' प्रकृति का मानता है,

तब भी इन्हें शाप न दे। 'भिक्षुक-विनय' शब्द भी अपनी स्थिति के कारण ध्यान केंद्रित करता है। ईश्वर विराट है। उसके पास ग्रहण करने की असीम क्षमता है, इस तुलना में उपासक का किंचित प्रसाद कुछ भी नहीं है। पर अपने प्रसाद की प्रकृति पर उपासक का पूर्ण विश्वास है, अतः ईश्वर उसे छोटा माने यह उपासक को सह्य नहीं। 'भिक्षा की नाप' यहाँ संदर्भ-शब्द के रूप में आया है, जो विष्णु के वामनावतार और राजा बलि से तीन पग भूमि माँगकर तीनों लोकों को नाप लेने से संदर्भित है। पर यह संदर्भ भी, यहाँ सांकेतिक ही है, स्पष्ट नहीं। उपासक ने अपने चढ़ावों और प्रार्थनाओं को समय, सूर्य, हवाओं और सागर पर छोड़ देने के लिए कहा है। उसे इस बात की संभावना दिख रही है कि ईश्वर उन्हें स्वीकार नहीं करेगा। फिर भी वह ईश्वर से यह अपेक्षा करता ही है कि वह उन्हें समय और प्रकृति के उपकरणों को समर्पित कर दे। क्योंकि ऐसा करने पर वे प्रार्थनाएँ और चढ़ावे सारे संसार को उपलब्ध हो जाएँगी। समय,  सूर्य, हवा और सागर का विस्तार असीम है, अतः ये उन्हें संसार को कभी-न-कभी सुलभ करा ही देंगे। कुल मिलाकर इस पूरी प्रार्थना में उपासक की विद्रोही प्रवृत्ति उभरकर आयी है। उसे ईश्वर पर कम, अपने कर्मों पर ज्यादा भरोसा है, यह बात भी निकलकर सामने आयी है।

भाषा के अमूर्तन में यह बात उल्लेखनीय है कि यह प्रक्रिया कथ्य को दुरूह, अस्पष्ट और जटिल नहीं बनाती बल्कि उसकी अनुभूति के लिए बहुआयामी अर्थ-स्थरों को उपलब्ध कराती है। कथ्य में अस्पष्टता या दुरूहता भाषा में अमूर्तन के कारण नहीं, बल्कि कथ्य के तत्वों की असंबद्धता या न्यूनता से आती है। भाषा की अमूर्तता जहाँ एक गुण के रूप में सामने आती है, वहीं कथ्य की दुरूहता अवगुण के रूप में। कथ्य को दुरूह बनाना भाषा को अमूर्त बनाना नहीं  है, यह बात बिलकुल स्पष्ट है। नयी कविता के तमाम कवियों ने भाषा को अमूर्त बनाने के स्थान पर प्रायः कथ्य को ही दुरूह बनाया है। बड़े-बड़े समीक्षक भी इसीलिए इनकी कविताओं पर अस्पष्टता के आरोप लगते रहे हैं। गणपतिचंद्र गुप्त, रामविलास शर्मा तथा नंददुलारे वाजपेयी ने इनकी कविताओं पर अस्पष्टता और दुरूहता का आरोप लगाया है। गणपतिचंद्र गुप्त ने अपने 'हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' में, रामविलास शर्मा ने अपने 'नयी कविता और अस्तित्ववाद' में तथा नंददुलारे वाजपेयी ने अपने 'आधुनिक साहित्य' में इस दृष्टि से नयी कविता या प्रयोगवाद की तीखी आलोचना की है। उपर्युक्त कविता में भी कथ्य की जितनी जटिलता दिखती है, भाषा की अमूर्तता उतनी नहीं है। अतः यह कहा जा सकता है कि भाषा को सर्जनात्मक बनाने के प्रयास में कथ्य दुरूह हो गया है। पाठक ऐसी दुरूह कविताओं के अर्थ को लेकर माथा-पच्ची करने से बचते हैं। यद्यपि आत्मजयी की भाषा सर्वत्र ऐसी अमूर्त नहीं है, पर उसमें इसकी सर्जनात्मकता का ध्यान बराबर रखा गया है।

भाषा को अमूर्तता की तरफ मोड़ने के लिए शब्दों के रूढ़ या अभिधात्मक अर्थ के अतिक्रमण की आवश्यकता होती है। भारतीय काव्यशास्त्र में इसके लिए लक्षणा और व्यंजना शब्द-शक्तियों की प्रतिष्ठा की गयी थी। आधुनिक कविता ने अर्थ-विस्तार की संभावनाओं को बढाने के लिए 'प्रतीक'

और 'बिंब' का प्रयोग किया, जो पाश्चात्य काव्यशास्त्र के अंग हैं। यों, आधुनिक काल में, और खासकर नयी कविता में, भारतीय कवियों ने पाश्चात्य साहित्यशास्त्र से बहुत कुछ लिया है। सामान्य भाषा के अमूर्तन का प्राथमिक चरण 'प्रतीक' अथवा 'लक्षणा' के प्रयोग से संबंधित है। 'प्रतीक' अथवा 'लक्षणा' शब्दों के निश्चित या अभिधात्मक अर्थ का अतिक्रमण करते हुए उसके लिए दूसरे अर्थ का संकेत करते हैं। 'आत्मजयी' का ही एक प्रसंग है जिसमें नचिकेता अपने पिता को पद-प्रतिष्ठा की निस्सारता के प्रति सचेत करता है—*"एक साँप उस मुकुट में छिपा है—/ दोनों को अपने से दूर फेंक दो।/ तुम्हारे सिंहासन के पीछे अभी-अभी/ एक तीर की नोक चमकी थी।"*[11] इस प्रसंग में 'साँप', 'मुकुट', 'सिंहासन', और 'तीर' प्रतीकात्मक शब्द हैं। इनका अभिधात्मक अर्थ नहीं लिया जा सकता। यों, ये सारे शब्द भी निर्दिष्ट-प्रतीक नहीं, सांकेतिक प्रतीक हैं। निर्दिष्ट-प्रतीक कहने का आशय यहाँ उन प्रतीकों से है जिनका अर्थ लगभग निश्चित होता है, भले ही वह अभिधा का अतिक्रमण करने के बाद निकला हो। उदाहरण के लिए 'सूर्य' या 'दीपक' शब्द को लिया जा सकता है। दोनों अपने अभिधात्मक अर्थ का अतिक्रमण करते हुए 'ज्ञान' का अर्थ देते हैं। सूर्य ज्ञान के अर्थ में निर्दिष्ट प्रतीक है। जहाँ भी आयेगा, प्रायः इसका अर्थ यही होता है। पर सांकेतिक प्रतीक अलग प्रकार के होते हैं। उनका प्रतीकत्व साथ में आये हुए अन्य शब्दों के सहयोग से विकसित होता है, जैसे कि उपर्युक्त उदाहरण में। निर्दिष्ट प्रतीकों की अपेक्षा सांकेतिक प्रतीक अधिक सर्जनात्मक होते हैं, क्योंकि वे अपनी विशेषताओं के अनुसार अर्थ की विभिन्न छायाओं को विकसित करते हैं, किसी निर्दिष्ट अर्थ की तरफ संकेत नहीं करते। उपर्युक्त उदाहरण में 'साँप' अनिष्टकारक और घातक स्थितियों या वस्तुओं, छलावा, धोखा आदि का प्रतीक है। इसी तरह 'मुकुट' और 'सिंहासन' राजकीय पद-प्रतिष्ठा, भौतिक-समृद्धि, शक्ति, सम्मान आदि की तथा 'तीर' शोषणकारी और दमनकारी शक्तियों का प्रतीक है। नचिकेता कहना चाहता है कि ये राज्य-प्रतिष्ठा शोषण और दमन की नीति पर छल और षड्यंत्र के सहारे खड़ी की जाती है, अतः यह विनाशक है। इस राज्य को कभी भी दूसरा शक्तिशाली राजा छल और षड्यंत्र से हड़प सकता है। इस प्रक्रिया में युद्ध और संघर्ष होगा, जिसके परिणामस्वरूप मानवता नष्ट होगी। भौतिक-समृद्धि अंततः नष्ट हो जाती है, अतः इसके प्रति आसक्ति का त्याग करना चाहिए। ये सारे अर्थ सांकेतिक प्रतीकों के माध्यम से ध्वनित होते हैं।

'बिंब' भाषा की सर्जनात्मक क्षमता का अधिकाधिक उपयोग करने का माध्यम या साधन है। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने बिंब के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए इसे मूलतः और अनिवार्यतः अप्रस्तुत-विधान कहा है। हिंदी साहित्य में चित्रात्मक वर्णन को ही बिंब मानने की प्रवृत्ति भी देखी जाती है, चाहे वह चित्र अप्रस्तुत का न होकर प्रस्तुत का ही हो। 'चित्रात्मकता' को रामस्वरूप चतुर्वेदी ने बिंब प्रक्रिया का प्राथमिक, पर गौण स्तर माना है। बिंब में अप्रस्तुत-विधान का होना अनिवार्य है। प्रस्तुत का हल्का

[11] आत्मजयी : कुँवर नारायण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, नौवां संस्करण, 2012, पृष्ठ 22

उल्लेख या संकेत कर सारा वर्णन अप्रस्तुत का किया जाता है और फिर अप्रस्तुत की उन विशेषताओं को प्रस्तुत पर आरोपित कर दिया जाता है। 'आत्मजयी' में क्योंकि भाषा को सर्जनात्मक बनाने की ओर पर्याप्त ध्यान दिया गया है, अतः यहाँ पर कवि ने बिंबों का सचेत प्रयोग किया है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है, जिसमें नचिकेता की अपने अस्तित्व के प्रति उत्पन्न होने वाली शून्यता और व्यर्थता की अनुभूति को व्यक्त करने के लिए बरस चुके मेघों का बिंब लिया गया है—*"टूटी बाँहें पसार/ शैल-मालाओं के क्षितिज पार/ बरस चुके मेघों का क्षत-विक्षत सूनापन/ रंगों में चिल्लाता ?—/ एकाकी, अपने से बहुत बड़ा बड़ा उत्पीड़न/ तड़प रहा जिससे संपूर्ण गगन,/ अपने को अपनी ही सुन पड़ती पुकार ?"*[12] जीवन के संघर्षों के क्रम में एक स्थिति ऐसी भी आती है जब नचिकेता को अपना सारा जीवन व्यर्थ लगने लगता है, उसकी कोई उपयोगिता और सार्थकता उसे नज़र नहीं आती। उस स्थिति को अनुभूति के स्तर पर अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए कवि ने बरस कर खाली हो चुके मेघों का बिंब लिया है। बरसने के बाद बादल तितर-बितर हो जाते हैं, अतः उनकी बाहों को टूटा हुआ और उनके स्वरूप को क्षत-विक्षत कहा गया है। बरसने के बाद बादलों में गरज, बिजली और पानी नहीं रह जाते, अतः वे एकाकी हो जाते हैं, उनमें सूनापन आ जाता है। बादलों का यह सूनापन इतना सघन और अनंत है कि यह आकाश के सूनेपन की तरह हो गया है। अपनी सघनता और अनंतता में बादल का यह सूनापन मानो पुकार कर उसकी व्यथा को व्यक्त कर रहा है। पर क्योंकि पुकार मौन की है, अतः उसे सिर्फ बादल ही सुन सकते हैं। नचिकेता का जीवन भी बरस चुके बादलों की तरह टूटा, खाली, क्षत-विक्षत सूना और निस्सार हो चुका है, इस बिंब के माध्यम से इसे प्रस्तुत किया गया है। उल्लेखनीय है कि यहाँ प्रस्तुत का उल्लेख नहीं है, उसका सिर्फ हल्का-सा संकेत भर है। सारा का सारा बिंब अप्रस्तुत का खड़ा किया गया है। अप्रस्तुत के सारे गुण और विशेषताएँ फिर प्रस्तुत पर आरोपित होकर उसका अर्थ सघन करती हैं।

**'एक पुरुष और'** में भाषा को प्रायः प्रतीकों के माध्यम से सर्जनात्मक बनाने का प्रयास किया गया है। प्रतीक अर्थ का संचरण एक निश्चित सीमा तक ही करते हैं, अतः इस काव्य की शैली प्रायः वर्णनात्मक है। विश्वामित्र सांसारिक आसक्तियों से विमुख होकर तपस्या में रत हो जाते हैं। इस प्रक्रिया में उन्हें मोह-माया से विरक्ति हो जाती है। इसका वर्णन कवि ने प्राकृतिक उपकरणों के प्रतीकात्मक प्रयोग द्वारा किया है—*"फूल बारबार उसके पास आकर लौट जाते/ गंध अपमान अनुभव कर बिखर जाती/ उसने कितनी बार चंद्रमा का मर्दन किया/ इच्छाएँ उसके नगर को छोड़कर/ भाग गयी थीं पथरीली गुफाओं में/ उसे अरुचि हो गयी थी/ ऋतुओं के आगमन से/ वह एक टीले पर बैठकर चिंतन में लीन हो गया था ...."*[13]। यहाँ यह सहज ही समझा जा सकता है कि यद्यपि फूल, गंध और चंद्रमा का अर्थ मात्र

[12] आत्मजयी : कुँवर नारायण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, नौवां संस्करण, 2012, पृष्ठ 57

[13] एक पुरुष और : विनय, भारती भाषा प्रकाशन, दिल्ली, 1974, पृष्ठ 110-111

फूल, गंध और चंद्रमा नामक पदार्थ ही नहीं हैं, फिर भी सांसारिक आसक्तियों के प्रतीक के रूप में इनके अर्थ का विस्तार सीमित है। यों, प्राकृतिक उपकरणों के सहारे किसी हद तक भाषा को सर्जनात्मक बनाने का प्रयास किया गया है। प्राकृतिक उपकरणों के सहारे प्रायः भाषा को सर्जनात्मक बनाया जाता है। मनुष्य अपनी भाषा की सीमित अभिव्यक्ति क्षमता के विस्तार के लिए ही प्रकृति के पास जाया करता है, क्योंकि वह भाषा की मूल उत्स है।

उपर्युक्त दोनों ग्रंथों के बाद **'महाप्रस्थान'** की भाषा में अमूर्तता के तत्व पाये जाते हैं। इस ग्रंथ में काव्य-नाटक और खंड-काव्य की विशेषताएँ मिली-जुली हैं। इसका पहला अध्याय 'यात्रा पर्व' संवाद-विहीन है, दूसरे और तीसरे अध्याय नाटकों की तरह पात्रों के संवादों में रचे गये हैं। इसी अनुसार इसकी भाषा में भी अमूर्तता और मूर्तता के दर्शन भी होते हैं। पहले अध्याय में भाषा में अमूर्तता को रचने का प्रयास है, बाकी के दोनों अध्यायों में भाषा प्रायः ठोस और स्पष्ट है। इस काव्य की शुरुआत हिमालय की प्राकृतिक सुंदरता और उसके महत्व के वर्णन से होती है। हिमालय का वर्णन करते हुए कवि ने जिन शब्दावलियों का प्रयोग किया है, अर्थ की अमूर्तता की दृष्टि से वे ध्यान देने योग्य हैं—*"पता नहीं/ किस इतिहास-प्रतीक्षा में/ यहाँ शताब्दियाँ भी लेटी हैं/ हिम थुल्मों में।"* [14] उल्लेखनीय है कि इतिहास गत का बोध कराता है, और प्रतीक्षा आगत की होती है; फिर भी कवि ने इन दोनों शब्दों को आपस में संदर्भित कर दिया है। शताब्दियाँ यहाँ इतिहास की प्रतीक्षा कर रही हैं। इन पंक्तियों की व्याख्या के समय इस तथ्य की ओर ध्यान ले जाना पड़ेगा, भले ही यह पुराणों या मिथकों में उल्लिखित हो, कि हिमालय में बड़े-बड़े ऋषि महात्मा तपस्यारत होकर इसका गौरव बढ़ा चुके हैं। अतः हिमालय की श्वेत बर्फ को देखकर ऐसा लगता है मानों शताब्दियों से हिमालय अपने उसी गौरवशाली इतिहास की प्रतीक्षा में रत हो। इतिहास यों भी मोह का कारण बनता है, और अगर इतिहास गौरवशाली रहा हो तो उसके प्रति मोह कई गुना बढ़ जाता है। हिमालय अपने उसी गौरवशाली इतिहास के मोह में पड़कर उसके दोहराव की प्रतीक्षा कर रहा है, ऐसा इसकी व्याख्या की जा सकती है; पर इसकी दूसरी व्याख्या की संभावना से भी इनकार नहीं किया जा सकता। और इसकी अन्य व्याख्याओं को संभव करने के लिए ही कवि ने उस इतिहास को स्पष्ट नहीं किया है। उसने उसके लिए 'पता नहीं' शब्द का ही प्रयोग किया है। शब्दों के दूसरे विशिष्ट प्रयोग में कवि ने 'शताब्दियों' का मानवीकरण कर दिया है। 'प्रतीक्षा' का समय इतना लंबा है कि उसे खड़े-खड़े या बैठे-बैठे नहीं काटा जा सकता। अतः 'शताब्दियाँ' यहाँ प्रतीक्षा करते-करते लेट गयी हैं। इस तरह 'शताब्दी' का श्लेष भी यहाँ कवि ने संभव कर दिया है। शताब्दियों से शताब्दियाँ प्रतीक्षा कर रही हैं।

इसी तरह उपर्युक्त काव्य पंक्तियों के तुरंत बाद की काव्य-पंक्तियाँ थोड़ा अलग-प्रकार से सर्जनात्मक हैं, यद्यपि इनकी सर्जनात्मकता लगभग निर्दिष्ट है—*"शिव की गौर-प्रलंब भुजाओं सी/*

---

[14] महाप्रस्थान : नरेश मेहता, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2015, पृष्ठ 21

*पर्वत-मालाएँ/ नभ के नील पटल पर/ पृथ्वी-सूक्त लिख रहीं।"* [15] यहाँ आकाश के पटल पर पृथ्वी-सूक्त लिखने का आशय आकाश की ऊँचाई और महानता की तुलना में पृथ्वी की ऊँचाई और महानता को रखने से लगाया जायेगा। वेदों में सूक्त देवताओं का गुणगान करने के लिए आये हैं, वहाँ पृथ्वी-सूक्त भी है। अतः यहाँ आकाश की महानता की तुलना में पृथ्वी की महानता को रखना ही कवि का उद्देश्य है। पृथ्वी की महानता को स्थापित करने वाला हिमालय है, अतः यहाँ हिमालय की महानता के व्याज से पृथ्वी की महानता का वर्णन किया गया है। पृथ्वी की महत्ता को स्थापित करने के लिए कवि ने 'पृथ्वी सूक्त' जैसे वैदिक शब्द का प्रयोग किया है। यों यह शब्द लगातार प्रचलन में रहने के कारण अटपटा नहीं लग रहा, पर कवि ने इस काव्य में कई जगहों पर ऐसे-ऐसे वैदिक-शब्दों का प्रयोग किया है, जो प्रायः अप्रचलित हो चुके हैं। उदाहरण के लिए इन पंक्तियों को देखा जा सकता है—*"यह कैसी अनाश्रयी चिन्मयता है/ जो विपरीत गुणात्मकता में/ क्षण-क्षण पर अभिव्यक्त हो रही/ लुप्त हो रही है।/ हिम-आतपवाली इस भावसृष्टि में/ विद्युत की कणादता लेकर/ घटित हो रही वैश्वानरता।"*[16] इस उद्धरण में 'चिन्मयता', 'कणादता' और 'वैश्वानरता' ऐसे शब्द हैं जो बोलचाल के अलावा लेखन में भी अप्रचलित हैं। 'चिन्मय' संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ ज्ञानमय या प्रकाशयुक्त होता है। 'कणादता' को कणाद ऋषि के नाम में 'ता' विशेषण लगाकर बना लिया गया है। 'कणादता' कोई शब्द नहीं है। कणाद वैशेषिक दर्शन के प्रणेता थे। तपस्यारत होने के कारण वे खेतों से अन्न के कण चुनकर जीवन का निर्वाह करते थे, अतः उन्हें कणाद कहा जाता है। 'वैश्वानर' वैदिक-संस्कृत का शब्द है जिसका कोई एक अर्थ नहीं। अग्नि, सूर्य, परमात्मा आदि इसके अर्थ हैं। उपर्युक्त पंक्तियों में सृष्टि के आरंभ में धधकती हुई पृथ्वी पर बर्फ जमने के बाद विभिन्न संस्कृतियों के उदय की कथा को पृष्ठभूमि में रखा गया है। बर्फ का योगदान मनुष्य, देव और दानवों की संस्कृतियों के विकास में रहा है। उसी संदर्भ में हिमालय की बर्फ की महत्ता को 'अनाश्रयी चिन्मयता', 'कणादता' और 'वैश्वानरता' जैसे शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया है। कुल मिलाकर इस काव्य की शब्दावली घोर तात्समिक है। अपनी तत्समता में यह वैदिक-संस्कृत का स्पर्श करती है। जैसा कि पहले स्पष्ट किया गया था, इस काव्य के दूसरे और तीसरे अध्याय नाटकीय शैली के हैं, अतः उसी अनुसार उनकी भाषा अपेक्षाकृत सरल और सहज है; पर है वह भी संस्कृतनिष्ठ ही।

नरेश मेहता का ग्रंथ **'संशय की एक रात'** काव्य-नाटक है, अतः इसकी भाषा अपेक्षाकृत सरल और सहज है; पर है प्रायः वह भी संस्कृतनिष्ठ ही। दरअसल नरेश मेहता वैष्णव थे। वेद-पुराणों में उनकी आस्था सघन थी, अतः उसी के अनुरूप उनकी भाषा भी संस्कृतनिष्ठ है—*"किंतु संशय स्वयं/ ऋत या सत्य तो नहीं।/ वह तो/ कर्म है/ आस्था है/ सृष्टि है जो/ ऋतंभरा प्रज्ञा है।"*[17] यहाँ भी 'ऋत'

---

[15] महाप्रस्थान : नरेश मेहता, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2015, पृष्ठ 21

[16] वही, पृष्ठ 30

[17] संशय की एक रात : नरेश मेहता, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2012, पृष्ठ 51

और 'ऋतंभरा प्रज्ञा' जैसे प्रायः अप्रचलित वैदिक शब्दों का प्रयोग किया गया है। 'ऋत' शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में सृष्टि के सर्वमान्य नियमों के लिए हुआ है। यह 'सत्य' से भिन्न अर्थ रखता है। काव्य की पंक्तियों में भी 'ऋत' और 'सत्य' दोनों शब्दों का प्रयोग हुआ है। 'ऋतंभरा प्रज्ञा' का प्रयोग पतंजलि के 'योग-सूत्र' में आया है। इस प्रकार की प्रज्ञा से युक्त योगी त्रिकालदर्शी हो जाता है। इस प्रकार की शब्दावली के प्रयोग को देखकर यही कहा जा सकता है कि कवि की वेदों-पुराणों और भारतीय धर्मग्रंथों के प्रति गहरी आस्था है है, जो इस प्रकार की शब्दावली के माध्यम से व्यक्त हो उठती है।

पहले जो यह कहा गया कि 'संशय की एक रात' की भाषा 'प्रायः' संस्कृतनिष्ठ है, उसका आशय है कि यत्र-तत्र इसमें तद्भव-शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। उदाहरण के लिए इन पंक्तियों को देखा जा सकता है—*"वनअँधेरा/ फेन भीगे पदों से/ ठुकराते रहे,/ शंखशिशु/ पैरों तले/ किरकिराते रहे।/ सिंधु सीने से सटी/ उड़ती हुई टिटहरी/ चीखा करी।/ कितने पाखियों के वंश/ विलोमे लहर से ऽ ऽ/ आकाश में।"*[18] इस उदाहरण में कुछ शब्दों को छोड़कर सभी शब्द तद्भव हैं। 'किरकिराते' जैसा देशज शब्द भी यहाँ मौजूद है।

भाषा में अमूर्तता बरतने के दृष्टिकोण से यह काव्य अपनी विधा 'काव्य-नाटक' के अनुरूप ही अर्थ-विस्तार का उपयोग करता है। इसमें शब्दों के अर्थ प्रायः निर्दिष्ट हैं। कवि ने अप्रस्तुत-विधानों का बहुत कम सहारा लिया है। कहीं-कहीं अप्रस्तुत-विधानों का उपयोग अवश्य है, और उनमें कुछ-एक प्रयोग अपनी विशिष्टता के कारण ध्यान आकर्षित करने वाले भी हैं। उदाहरण के लिए इन पंक्तियों को लिया जा सकता है–*"एक/ अनुत्तरित संशय का सर्पवृक्ष/ हरहरा रहा मुझमें/ पीपल सा/ आहोरात्र।"*[19] इन पंक्तियों में रूपक और उपमा, दोनों अलंकारों का प्रयोग किया गया है। रूपक के माध्यम से संशय को वृक्ष के समान माना गया है, फिर रूपक के माध्यम से उस वृक्ष को साँप के समान। वृक्ष पर साँप का आरोप कर देने से उसकी हरहराहट और ज्यादा खतरनाक हो जाती है। उसके बाद उस वृक्ष की हरहराहट की उपमा पीपल की हरहराहट से दी गयी है। पीपल की पत्तियाँ हवा के प्रति अत्यंत संवेदनशील होती हैं, अतः ज़रा-सी भी हवा चलने पर वे हरहराने लगती हैं। हवा सदैव चलती है, अतः उसकी पत्तियाँ लगातार हरहराती रहती हैं। राम को संशय प्रतिपल सता रहा है, अतः उसकी उपमा के लिए पीपल की हरहराहट का चुनाव उपयुक्त है। अतः इन पंक्तियों में आये रूपकों और उपमा के माध्यम से राम के संशय के ताप को अनुभूति के स्तर पर लाने का सफल प्रयास किया गया है। और यह सफलता अर्थों के विस्तार के कारण ही संभव होती है।

---

[18] संशय की एक रात : नरेश मेहता, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2012, पृष्ठ 12

[19] वही, पृष्ठ 34

**'कनुप्रिया'** का विधान नाटकीय भी है, और खंड-काव्य का भी; प्रबंधकीय भी है और मुक्तकीय भी। अतः उसी के अनुरूप उसकी भाषा का विधान है। कनुप्रिया में भी भाषायी-तरलता से काम लिया गया है। इसका पहला गीत अशोक वृक्ष को संबोधित करके लिखा गया है। इसमें भाषा का कैसा सर्जनात्मक-प्रयोग है, इसे अन्यत्र दिखाया जा चुका है। पहले ही अध्याय के दूसरे गीत में राधा ने अपने भीतर छिपे हुए 'संगीत' को संबोधित किया है। संगीत एक अमूर्त वस्तु है, अतः इसके प्रति किये गये निवेदन में अमूर्तता के तत्व रहें, यह स्वाभाविक है। पक्तियाँ शुरू होती हैं—*"यह जो अकस्मात/ आज मेरे जिस्म के सितार के/ एक-एक तार में तुम झंकार उठे हो—/ सच बतलाना मेरे स्वर्णिम संगीत/ तुम कब से मुझमें छिपे सो रहे थे !"*[20] यहाँ 'संगीत' प्रेम और यौवन का प्रतीक है। अपनी सघन अर्थवत्ता में यह प्रतीक से क्रमशः बिंब में परिवर्तित हो जाता है। माधुर्य, कोमलता, मादकता और उल्लास आदि संगीत के तत्व होते हैं। ये सारे तत्व यौवन और प्रेम में भी पाये जाते हैं। अतः अपनी बिंबमयता में 'संगीत' अपने सभी तत्वों के साथ राधा के मनोभावों पर आरोपित हो जाता है। एक दूसरे स्तर पर अर्थ संचरित होकर 'संगीत' को 'कृष्ण' में परिवर्तित कर देता है। यों भी, संज्ञा से सर्वनाम में संक्रमण प्रेमास्पद की स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर का भी संक्रमण होता है।

'कनुप्रिया' में प्रायः रूपकों और उपमाओं के माध्यम से भाषा को सर्जनात्मक बनाने का प्रयास किया गया है। इसकी शब्दावली प्रायः दैनिक बोलचाल की ही है, जिसमें अरबी-फारसी के शब्द भी सहज रूप में आये हैं, पर रूपकों के माध्यम से उसे तरल बनाने का कार्य किया गया है; विशेषतः दार्शनिक वर्णनों में। उदाहरण के लिए इन पंक्तियों को लिया जा सकता है—*"कौन है जिसके लिए तुमने/ महासागर की उत्ताल भुजाएँ फैला दी हैं/ कौन है जिसकी आत्मा को तुमने/ फूल की तरह खोल दिया है/ और कौन है जिसे/ नदियों-जैसे तरल घुमाव दे-देकर/ तुमने तरंग मालाओं की तरह/ अपने कंठ में, वक्ष पर, कलाइयों में/ लपेट लिया है—/ वह मैं हूँ मेरे प्रियतम !/ वह मैं हूँ/ वह मैं हूँ।"*[21] यहाँ रूपक के माध्यम से कृष्ण और राधा को संपूर्ण जगत में व्याप्त दिखाया गया है। महासागर का विस्तार कृष्ण की विशाल भुजाओं का विस्तार है। रूपक है—महासागर-रूपी भुजाएँ। फूल और नदियाँ राधा के प्रतिरूप हैं। भाषायी तरलता यहाँ उतनी ही है, जितना रूपक के माध्यम से संभव हो सकता है। इस कृति में अप्रस्तुत-विधान प्रायः परंपरागत ही हैं। अपनी कृति 'डॉ. धर्मवीर भारती और उनकी कनुप्रिया' के 'भाषा शैली : कलात्मक अभिव्यक्ति' नामक अध्याय में डॉ. कृष्णदेव झारी ने कनुप्रिया में आये हुए ऐसे परंपरागत अप्रस्तुत-विधानों का विस्तृत विश्लेषण परंपरागत ढंग से प्रस्तुत किया है। उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक आदि अलंकार कनुप्रिया में प्रायः मिल जाते हैं। इन परंपरागत अप्रस्तुत-विधानों के बीच एक विशेष प्रकार की श्रृंखलाबद्ध उपमा का प्रयोग भारती जी की भाषा की महत्वपूर्ण सर्जनात्मक

[20] कनुप्रिया : धर्मवीर भारती, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृष्ठ 13

[21] वही, पृष्ठ 42

विशेषता है—*"मंत्र पढ़े बाण-से छूट गये तुम तो कनु, शेष रही मैं केवल, काँपती प्रत्यंचा-सी"*[22] । इस तरह का प्रयोग इन्होंने 'अंधायुग' में भी किया है । डॉ. कृष्णदेव झारी ने इसे 'बिंबात्मक उपमा' कहा है । यों कार्य-कारण पर आधारित ये उपमाएँ एक बिंब का निर्माण करती हैं, अतः इनके इस तरह के प्रयोग को 'बिंबात्मक उपमा' की संज्ञा दी जा सकती है । यों उपमाओं की बहुतायत है इस कृति में—*"बुझी हुई राख, टूटे हुए गीत, डूबे हुए चाँद,/ रीते हुए पात्र, बीते हुए क्षण-सा—/ — मेरा यह जिस्म"*[23] । ये उपमाएँ अर्थ को एक निश्चित सीमा के विस्तार तक ही संचरित करती हैं । अतः इनका सर्जनात्मक अर्थ निर्दिष्ट होता है । हाँ, बिंबात्मक उपमाओं का सर्जनात्मक विस्तार थोड़ा ज्यादा होता है ।

काव्य-नाटकों की भाषा की प्रकृति में 'अमूर्तता' की अपेक्षा 'मूर्तता' या 'स्पष्टता' ज्यादा काम्य है, क्योंकि ये दृश्य-काव्य होते हैं और इनके द्वारा प्रेषित अर्थ को ग्रहण करने के लिए समय का बहुत विस्तार नहीं होता । अतः इनकी भाषा प्रायः निर्दिष्ट अर्थों की ओर संकेत करने वाली होती है । पर निर्दिष्ट अर्थ भी सर्जनात्मकता के साथ प्रेषित किये जा सकते हैं, यह उल्लेखनीय है । नयी कविता के पहले तक की कविताओं में अलंकारों, लक्षणा और व्यंजना शब्द-शक्तियों के सहारे एक निर्दिष्ट अर्थ में काव्य को सर्जनात्मक बनाया ही जाता था । काव्य-नाटक क्योंकि कविता में लिखे जाते हैं, अतः कविता की सर्जनात्मकता के तत्व उनमें भी होते हैं । काव्य-नाटक की यह सर्जनात्मकता अर्थ को त्वरित गति से प्रेषित करने वाली होती है, उसे क्लिष्ट या श्रमसाध्य बनाने वाली नहीं । काव्य-नाटकों में **'अंधा युग'** एक प्रमुख और सशक्त रचना है । इसकी भाषा अपनी प्रेषणीयता में प्रायः सर्वत्र सहज और सरल है, यद्यपि अपने शब्द-संयोजन में यह सीधे अर्थ के अलावा एक प्रतीकात्मक या सांकेतिक अर्थ को भी वहन करने की क्षमता से युक्त है । उदाहरण के लिए प्रहरी के इस कथन को लिया जा सकता है—*"रक्षक थे हम केवल/ लेकिन रक्षणीय कुछ भी नहीं था यहाँ"*[24] । यहाँ 'विडंबना' के माध्यम से यह संकेत किया गया है कि जिन्होंने अपने मान और मर्यादा के लिए रक्षक रखे थे, वे खुद उन्हें लुटाने में व्यस्त हैं; अतः किस वस्तु की रक्षा की जाय ! यहाँ सांकेतिकता के सहारे काव्य में निर्दिष्ट अर्थ को उसकी सर्जनात्मकता में व्यंजित किया गया है । निर्दिष्ट इसलिए कि यहाँ प्रहरी जो कहना चाहते हैं, पाठक या दर्शक उसे ठीक उसी रूप में ग्रहण कर पाने में समर्थ हैं । यह प्रतीकात्मकता या सांकेतिकता इस काव्य-नाटक में प्रायः सर्वत्र व्याप्त है । एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है जिसमें प्रतीकात्मकता के सहारे काव्य के अर्थ को सर्जनात्मक बनाया गया है—*"समझ नहीं सकते हो/ विदुर तुम/ मैं था जन्मांध ।/ कैसे कर सकता था/ ग्रहण मैं/ बाहरी यथार्थ या सामाजिक मर्यादा को ?"*[25] यह कथन धृतराष्ट्र का है जो उन्हें अंधेपन के

---

[22] कनुप्रिया : धर्मवीर भारती, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृष्ठ 58

[23] वही, पृष्ठ 57

[24] अंधायुग : धर्मवीर भारत, किताब महल प्रकाशन, इलाहाबाद, बयालीसवाँ संस्करण 2010, पृष्ठ 4

[25] वही, पृष्ठ 9

प्रतीक के रूप में व्यंजित करता है। कुछ-एक स्थानों पर भाषा को परंपरागत अप्रस्तुत-विधान के सहारे भी सर्जनात्मक बनाने का प्रयास किया गया है। ऐसा निर्दिष्ट अर्थ के साथ काव्यगत सर्जनात्मकता की उपलब्धि के आग्रह के कारण ही है—*"मर्यादा मत तोड़ो/ तोड़ी हुई मर्यादा/ कुचले हुए अजगर-सी/ गुंजलिका में कौरव-वंश को लपेट कर/ सूखी लकड़ी-सा तोड़ डालेगी।"*[26] यहाँ पर सांगरूपक की तरह सांगोपांग उपमा प्रस्तुत हुई है, जिसका जिक्र 'कनुप्रिया' के भाषायी-प्रसंग में किया गया है। वहाँ पर इसे डॉ. कृष्णदेव झारी के हवाले से बिंबात्मक उपमा कहा गया है। इनके सहारे यहाँ अर्थ को सर्जनात्मक बनाया गया है। बिंब का आभास यहाँ इसलिए है कि बिंब इन श्रृंखलाबद्ध उपमाओं के आगे की अवस्था है। तोड़ी हुई मर्यादा कुचले हुए अजगर-सी है। कौरव-वंश उसके लिए सूखी हुई लकड़ी की तरह है। अतः वह उसे अपनी गुंजलिका में लपेटकर तोड़ डालेगी। इस प्रकार के अप्रस्तुत-विधान से अर्थ सर्जनात्मक बनता है, पर उसका विस्तार निर्दिष्ट होता है। कुल मिलाकर 'अंधा युग' की भाषा नाटक की विशेषताओं के अनुरूप मूर्त और स्पष्ट ही है। इसकी भाषा के बारे में रामस्वरूप चतुर्वेदी की टिप्पणी द्रष्टव्य है—*"नयी कविता के मिजाज, और अपने नाटकीय रूप को ध्यान में रखते हुए 'अंधा युग' की भाषा बोलचाल में रची गयी है। शब्दावली, वाक्य-विन्यास से लेकर लय तक सामान्य बोलचाल की है।"*[27]

**'एक कंठ विषपायी'** बहुत कुछ 'अंधा युग' का समानधर्मी काव्य-नाटक है। अंधा युग' की तरह यह भी घटना-प्रधान है, अतः इसकी भाषा भी अपने संप्रेषण में सीधी और सरल है। पौराणिक घटनाओं पर आधारित होने के कारण कवि ने इसकी शब्दावली तात्समिक रखी है, फिर भी तत्सम शब्दों के बीच तद्भव शब्दों का प्रयोग भी बराबर किया गया है। इस दृष्टिकोण से इसकी शुरुआती पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—*"शंकर !/ शंकर !!/ वह, जिसने घर की परंपरा तोड़ी है,/ वह, जिसने मेरे यश पर कालिख पोती है,/ जिसके कारण/ मेरा माथा नीचा है सारे समाज में,/ मेरे ही घर अतिथि-रूप में आये ?"*[28] यहाँ 'परंपरा', 'यश' और 'अतिथि' के अलावा सारे शब्द तद्भव हैं। यह प्रजापति दक्ष का अपनी पत्नी वीरिणी से शिव के प्रति कथन है। एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है जिसमें तत्सम शब्दों की प्रधानता है—*"तो फिर उसे यहाँ क्यों लाये ?/ क्या तुमको विदित नहीं/ सारे अतिथियों को/ यज्ञ-मंडप में ले जाने से पूर्व,/ उनके विश्रांति-भवन-कक्षों में/ स्नान/ और यात्रा के श्रम के परिहार हेतु/ लाना आवश्यक है।"*[29] यह वीरिणी का अनुचर से अपनी बेटी सती के प्रति कथन है। ये दोनों उदाहरण इस काव्य की भाषा की तद्भवपरक और तत्समपरक प्रवृत्तियों की सीमाएँ हैं। संपूर्ण काव्य की भाषा में इन दोनों का प्रायः मिला-जुला रूप प्रस्तुत हुआ है, यद्यपि प्रधानता तत्सम शब्दावली की ही है।

---

[26] अंधायुग : धर्मवीर भारती, किताब महल प्रकाशन, इलाहाबाद, बयालीसवाँ संस्करण, 2010, पृष्ठ 9

[27] नयी कविताएँ : एक साक्ष्य, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण, 2015, पृष्ठ 103

[28] एक कंठ विषपायी : दुष्यंत कुमार, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2013, पृष्ठ 11

[29] वही, पृष्ठ 25

भाषा में अमूर्तता के तत्वों की दृष्टि से इस काव्य-नाटक में भी इसकी विधा के अनुरूप अर्थ-विस्तार के सीमित परिप्रेक्ष्य का उपयोग किया गया है। परंपरागत अप्रस्तुत-विधानों में प्रायः रूपकों का और आधुनिक अप्रस्तुतों में प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। 'सर्वहत' नामक पात्र के संवादों के माध्यम से क्योंकि इस काव्य में आधुनिकता का समावेश करने का प्रयास हुआ है, अतः उसके कथन प्रायः प्रतीकात्मक और रूपकात्मक हैं। वह यज्ञ-विध्वंस की घटना की विभीषिका और इसके लिए जिम्मेदार राजाओं को लक्षित करके कहता है—*"इस दुखांत नाटक का पटाक्षेप/ मेरे/ मंच पर आने के पूर्व हो चुका था।/ सारे दर्शक/ सारे अभिनेता/ चले जा चुके थे।/ मैं तो केवल/ निर्देशक की इच्छाओं का अनुचर था :/ मात्र भृत्य !/ मैं यह नाटक क्यों देखता भला ?/ मुझसे/ या हमसे/ यह आशा कब की जाती है/ कि हम नाटक देखें/ उसमें भाग लें।"*[30] सर्वहत के इस कथन में सर्वत्र रूपकों का प्रयोग हुआ है। जीवन एक रंगमंच है, यह प्रायः अंग्रेजी की कक्षाओं में 'मेटाफर' के रूप में पढ़ाया जाता रहा है। जीवन को एक रंगमंच मानने से इसकी व्याख्या में बड़ी सहूलियत होती है। जैसे रंगमंच पर मुख्य पात्र के रूप में उच्च कुल के नायक-नायिकाओं की ही चलती है, गौण पात्रों के रूप में उपस्थित अनुचरों, प्रजाओं की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं होती, उसी प्रकार जीवन में भी सामंतो, पूँजीपतियों, राजनेताओं की ही चलती है, सामान्य लोगों की कोई गिनती नहीं होती। सर्वहत यज्ञ-ध्वंस के अवसर पर हुई अपार जन-धन की हानि का जिम्मेदार शिव के गणों और प्रजापति दक्ष को बताने के लिए नाटक और रंगमंच के रूपक का सहारा लेता है।

इसी प्रकार सर्वहत के माध्यम से ही प्रतीकात्मक भाषा का व्यवहार कवि ने किया है। राजाओं और सामंतों के युद्धों के द्वारा सभ्यता और संस्कृति का विनाश होता रहता है, फिर भी उनकी युद्ध-प्रवृत्ति कम नहीं होती। उनकी इसी प्रवृत्ति को सर्वहत द्वारा प्रकट किया गया है—*"खाओ...खूब खाओ/ यहाँ सब कुछ है/ सब कुछ है ...।/ देखो ये महल हैं/ ये कँगूरे हैं/ कलश हैं; अतिथि-भवन हैं/ राजमार्ग हैं.../ इन सबको खा लो/ इन सबसे भूख मिट जाती है।"*[31] यहाँ महल, कँगूरे आदि सभ्यता के प्रतीक के रूप में आये हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि ये सांकेतिक प्रतीक हैं, अतः इन्हें सभ्यता के प्रतीक के रूप में रूढ़ नहीं किया जा सकता है। इनके अन्य अर्थ भी संभव हैं; पर जो भी अर्थ होंगे उनकी दिशा युद्ध के द्वारा होने वाले विध्वंसों को केंद्रित करते हुए राजाओं की युद्ध-लिप्सा के इर्द-गिर्द ही होंगे, क्योंकि प्रतीकों के अर्थ-विस्तार की एक सीमा होती है।

**'सूर्यपुत्र'** की भाषा 'कथ्य' को रचने की बजाय उसका वर्णन करती है, अतः इसकी प्रकृति प्रायः अभिधात्मक है। अभिधापरक प्रकृति के अलावा इसकी शैली गद्य की है। अतुकांत और मुक्तछंद की कविताएँ धीरे-धीरे अपनी लयात्मकता को छोड़ते हुए अपनी शैली में बिलकुल गद्य की तरह हो

---

[30] एक कंठ विषपायी : दुष्यंत कुमार, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2013, पृष्ठ 58

[31] वही, पृष्ठ 52

गयीं, जिन्हें रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'गद्य कविता' का नाम दिया। इनकी पंक्तियों में कविताओं के अनुरूप लयात्मकता न मिलने की शिकायत पर आलोचकों ने 'अर्थ लय' नाम की चीज ईजाद करते हुए गद्य कविता में लयात्मकता की मौजूदगी दिखायी। 'अर्थ लय' यों तो सामान्य पाठकों और अध्येताओं की समझ के बाहर की चीज दिखायी पड़ती है, पर 'सूर्यपुत्र' को पढ़ते हुए कहीं-कहीं ऐसी पंक्तियाँ मिल जाती हैं, जहाँ पर लगने लगता है कि यहाँ पर 'अर्थ लय' का अभाव है। उदाहरण के लिए इन पंक्तियों को देखा जा सकता है—*"द्वंद्व युद्ध त्यागकर गुरु की आज्ञा से/ रंग मंडप में आये एक-एक कर सभी शिष्य/ दु:शासन ने आश्चर्यचकित किये सभी/ रणरथी युद्ध कौशल से"*[32]। इस उद्धरण में अंतिम दो पंक्तियों में अर्थ-प्रवाह में बाधा की संभावना बनी रहती है। आश्चर्यचकित करने वालों में दुशासन है या रणरथी हैं, यह एकबारगी समझ में नहीं आता। अतः यहाँ अर्थ की लय का अभाव कहा जा सकता है। यों, एक के अभाव में उसकी अंतर्विरोधी वस्तु की मौजूदगी बनी रहती है, ये बात इस प्रबंध के पहले अध्याय में प्रबंधकाव्य की परिभाषा के संदर्भ में कह दी गयी है। कहा जा सकता है कि जहाँ अर्थ के सहज प्रवाह में बाधा उत्पन्न होती हो, वहाँ अर्थ लय का अभाव होता है।

यह बात ऊपर रेखांकित की गयी है कि इस काव्य की भाषा प्रायः अभिधापरक है। अपनी प्रकृति में अभिधापरक होने के कारण इसमें अप्रस्तुत-विधानों का प्रयोग बहुत कम हुआ है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है जिसमें अतिशयोक्ति के माध्यम से अर्थ को अभिधा से थोड़ा-सा विमुख किया गया है—*"गूँजी एक हुंकार/ऐसी कर्णकटु और भयावह कि कोई भूल न पाये/सदियों तक/प्रतिध्वनित करती रहे शिरायें एक युग तक !/ गूँजी एक ललकार/ काँपने लगीं दिशायें, भागने लगे मदमस्त गज/ जम गया आकाश/ और जड़ हो गये योद्धा चकित हो।"*[33] यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार का सहारा लिया गया है। यों भारतीय काव्यशास्त्र के औचित्य संप्रदाय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र के उदात्तता के सिद्धांत के अनुसार जो यह कहा गया है कि अलंकारों का वर्णन स्वाभाविक और आवश्यकता के अनुरूप होना चाहिए, वह इस उदाहरण में देखने को मिलता है। अतिशयोक्ति अलंकार उक्ति को अनुभूति के स्तर पर प्रेषित करने की प्रक्रिया में अपनी अतिशयता का परित्यागकर स्वाभाविकता में पर्यवसित हो जाता है। भयानक ललकार के समय ऐसा शोर होता है कि उसके लिए दिशाओं के काँपने की संभावना की जा सकती है। इसी प्रकार ऐसी ललकार के शोर के बाद एकाएक जो शांति छा जाती है उसके लिए आकाश के काँपने की कल्पना काव्योचित है। यह उस वातावरण को अनुभूति के स्तर पाठक तक संचरित करने में सहायक है। यहाँ अप्रस्तुत नहीं है, पर प्रस्तुत के आलंकारिक वर्णन का यह उदाहरण भाषायी तरलता की दृष्टि से इस काव्य के उत्कृष्ट उदाहरणों में से है। अप्रस्तुत-विधानों का प्रयोग, जैसा कि पहले ही रेखांकित किया गया, इस काव्य में बहुत कम पाया जाता है। कुछ-एक स्थानों पर अत्यंत साधारण-सी

---

[32] सूर्यपुत्र : जगदीश चतुर्वेदी, दि मैकमिलन कंपनी ऑफ़ इंडिया लिमिटेड, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1975, पृष्ठ 45

[33] वही, पृष्ठ 121

उपमाएँ अवश्य आयी हुई हैं, पर वे अर्थ में खुद इतनी रूढ़ हो चुकी हैं कि भाषा को उसकी अभिधा शक्ति से विमुख नहीं करती, उसका अंग बन जाती हैं। सूर्यपुत्र की तरह ही शंबूक और अग्निलीक अस्मितापरक विमर्श के काव्य हैं। ऐसे काव्यों की प्रकृति आलोचनात्मक और विचारात्मक होती है। अतः इनकी भाषा भी इस प्रकृति के अनुकूल ही अभिधात्मक होती है . सूर्यपुत्र, शंबूक और अग्निलीक की भाषा प्रायः अभिधापरक है।

**6.5 उद्देश्य**

मुक्तिबोध की शब्दावली का यदि सहारा लिया जाए तो कहा जा सकता है कि नयी कविता के प्रबंध-काव्यों का उद्देश्य 'कथा' कहना नहीं है। मिथकीय कथाएँ, पात्र और घटनाएँ नयी कविता के कवियों के लिए मात्र एक आधार या माध्यम हैं, जिनके सहारे वह आधुनिक जीवन की विसंगतियों और विडंबनाओं को वाणी देना चाहता है। यों, आधुनिक जीवन में क्या महज़ विसंगतियाँ और विडंबनाएँ ही हैं, जो आधुनिक कवियों की कविताओं का केंद्र बिंदु हुआ करती हैं ? इस प्रश्न का उत्तर लगभग 'हाँ' में दिया जा सकता है। यों, विसंगतियों और विडंबनाओं के अलावा संभावनाओं का चित्रण भी नयी कविता के प्रबंध-काव्यों में हुआ है, पर ये संभावनाएँ विसंगतियों और विडंबनाओं के समाधान के रूप में ही सामने आती हैं। विसंगतियाँ और विडंबनाएँ आधुनिक जीवन से इस कदर जुड़ी हुई हैं, और उनका आधुनिक साहित्य में इस कदर अभिव्यक्तीकरण हुआ है कि साहित्य के प्रतिमानों के रूप में अब 'विसंगति' और 'विडंबना' का प्रयोग होने लगा है। यों, अन्य आधुनिक साहित्यिक प्रतिमानों की तरह ही ये दोनों प्रतिमान भी पाश्चात्य-जगत की वैचारिकी से आये हुए हैं।

आधुनिक युग की सबसे बड़ी विडंबना है कि विज्ञान और तकनीक के सहारे मानव-जीवन को सरल, सहज और आरामदायक बनाने के लिए जिन मशीनों, यंत्रों और प्रविधियों का विकास किया गया, अंततः उन्हीं मशीनों, यंत्रों और प्रविधियों ने मनुष्य के जीवन को अधिकाधिक जटिल, कृत्रिम और अशांत बना दिया। आधुनिक यंत्रीकरण और मशीनीकरण ने लोगों को भावनाशून्य बनाते हुए समाज में एक प्रकार की मूल्यहीनता की स्थिति विकसित की है। आधुनिकताबोध से ग्रस्त व्यक्ति तनाव, कुंठा, घुटन, संत्रास आदि का शिकार हो गया। अतिभौतिकता आधुनिक युग की बहुत बड़ी विडंबना है, जो मनुष्य के जीवन को अधिकाधिक कृत्रिम बनाते हुए उसे भावनाशून्य बनाती जा रही है। विज्ञान के उपयोगी आविष्कारों का जहाँ अनुपयोगी साबित हो जाना आधुनिक विडंबना की स्थिति को द्योतित करने वाला है, वहीं विज्ञान का उपयोग विनाशकारी शक्तियों को बढ़ावा देने के लिए करने लगना आधुनिक जीवन की विसंगति को प्रकट करता है। यों, विसंगति और विडंबना में बहुत स्थूल अंतर नहीं है। जहाँ किसी वस्तु की आवश्यकता हो, उपलब्धता का वहाँ न होकर ऐसी जगह पर होना जहाँ पर उसकी कोई आवश्यकता नहीं है, विसंगति है। और उपलब्धता जहाँ खुद किसी प्रकार के अभाव का पर्याय बन जाए, उसे विडंबना कहा जाएगा।

आधुनिक युग की सबसे बड़ी विडंबना यह है कि सभ्यता के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ होने के बावजूद मनुष्य असभ्यता और बर्बरता की आदिम निशानी 'युद्ध' को छोड़ने में नाकामयाब रहा है। आधुनिक सभ्यता की इस विडंबना का चित्रण करने के लिए नयी कविता के प्रायः हर प्रबंध काव्य में 'युद्ध' को एक समस्या के रूप में चित्रित करते हुए इसे मानव-सभ्यता के लिए विनाशकारी सिद्ध करने का उपक्रम हुआ है। अधिकांश कृतियों में यह कथानक का मुख्य आधार है। अतः युद्ध की विभीषिका और इसके हानिकारक प्रभावों का चित्रण करते हुए इसके प्रति नकारात्मक भाव-बोध उत्पन करना नयी कविता के प्रबंध कवियों का मुख्य उद्देश्य है। इसके अलावा आधुनिकता की एक और विडंबना 'अतिभौतिकतावाद' है; उसके परिहार का उद्देश्य भी नयी कविता के प्रबंधकार लेकर चले हैं। ऐसे प्रबंध-काव्यों में 'आत्मजयी' और 'महाप्रस्थान' मुख्य हैं। 'एक पुरुष और' में भी अतिभौतिकतावाद से निजात पाने के संकेत हैं। तीनों प्रबंध काव्यों में इस स्थिति से क्रमशः नचिकेता, युधिष्ठिर और विश्वामित्र अपने-अपने स्तर से टकराते हैं। यों, अतिभौतिकतावाद का परिहार आधुनिक अध्यात्मवाद में करने का उपक्रम इन प्रबंध काव्यों में हुआ है। वैज्ञानिक प्रगति और आविष्कारों के माध्यम से यद्यपि सृष्टि के कुछ रहस्यों को जाना-समझा जा सका है, पर जितना जाना-समझा जा सका है, वह उससे बहुत कम है जितना विज्ञानं की सारी प्रगति के बावजूद नहीं जाना-समझा जा सका है। यों, जब वैज्ञानिक और तकनीकी विकास का उपयोग अतिवाद तक पहुँच जाए, तब मनुष्य को आध्यात्मिक विकास का प्रयास करना ही चाहिए। इसी उद्देश्य को लेकर ये प्रबंध-काव्य रचित हैं।

अतिभौतिकतावाद के अलावा 'यांत्रिकता' एक अलग प्रकार की समस्या है। अतिभौतिकतावाद में मनुष्य अपनी इच्छाओं से आधुनिक उपकरणों और भोग-विलास की सामग्रियों के पीछे भागता है, जबकि यांत्रिकता में उपकरणों के पीछे भागना उसकी मजबूरी हो जाती है। मशीनीकरण और प्रविधि के विकास ने लोगों को एक यंत्र में में परिवर्तित करते हुए उन्हें भावनाशून्य, कुंठित और संत्रस्त बनाया है। मनुष्य की इस स्थिति अंकन नये कवियों ने व्यक्तिवाद और अस्तित्ववाद जैसी विचार-धाराओं के माध्यम से किया है। इन विचार-धाराओं के माध्यम से कवियों ने यंत्रीकृत होते जा रहे मनुष्य-समाज के सामने मनुष्य तथा उसकी भावनाओं एवं विचारों के महत्व को स्थापित करने का कार्य किया है। भारतीय परिवेश में सामाजिक विसंगति वर्णवाद, जातिवाद, सामंतवाद और पुरुषवाद के रूप में सदियों से चली आयी है। यह विसंगति आधुनिक-काल में भी मौजूद है। अतः इन विसंगतियों का विमर्शों के माध्यम से सामना करते हुए उनका विरोध किया जा रहा है। नयी कविता में भी 'शंबूक' में जातिवादी परंपरा का और 'अग्निलीक' में पुरुषवादी परंपरा का विरोध करते हुए एक समतामूलक समाज का संदेश दिया गया है।

इस तरह देखा जा सकता है कि नये प्रबंध-काव्यों का उद्देश्य जहाँ एक ओर आधुनिकता के आत्यंतिक प्रभावों से ग्रस्त मानव-समाज की इससे रक्षा करना है, तो वहीं दूसरी ओर आधुनिकता के

न्यूनतम प्रभावों से रहित मानव-समाज की भी। आधुनिकता के दो रूपों की चर्चा इस प्रबंध में एकाधिक स्थानों पर की गयी है। अपने मूर्त रूप में आधुनिकता औद्योगीकरण और मशीनीकरण से जुड़ी होती है। इसी रूप का आत्यंतिक प्रभाव समाज पर पड़ता है। अपने अमूर्त रूप में आधुनिकता वैज्ञानिक सोच और तार्किक दृष्टिकोण से जुड़ी होती है। यों, इस रूप में यह एक मूल्य कही जा सकती है। इसका प्रभाव मानवता के लिए लाभदायक होता है। औद्योगीकरण और मशीनीकरण से जुड़े आधुनिकता के आत्यंतिक प्रभावों में युद्ध, अतिभौतिकता और यांत्रिकता की स्थितियों को लिया जा सकता है, जबकि निरंतर असमानता और अन्याय के प्रभावों में रहने वाला मानव-समाज आधुनिकता के न्यूनतम प्रभावों से रहित कहा जाएगा। यहाँ आधुनिकता के अमूर्त रूप के प्रभावों की बात की जा रही है। यों, इन प्रभावों से रहित मानव-समाज में प्रायः दलित और स्त्रियाँ आती हैं। नयी कविता के प्रबंध काव्यों में भी दलितों और स्त्रियों की आवाज को आधुनिक तरीके से उठाया गया है। यों, इन सबकी आवाज द्विवेदी युग से ही सामाजिक और धार्मिक सुधार आंदोलनों के कारण उठने लगी थी, पर वहाँ पर इन्हें पारंपरिक सामंती और वर्णवादी ढाँचे के अंदर ही रहकर अपने अधिकारों का उपभोग करना था। नयी कविताओं में विमर्श के स्तर पर इनकी समस्याओं का चित्रण किया गया। नयी कविता के बाद दलित-विमर्श और स्त्री-विमर्श साहित्य की अलग विचार-धाराओं के रूप में स्थापित हुए।

# अध्याय 7

## नयी कविता के प्रबंध काव्यों का शिल्पगत विश्लेषण

**7.1 अंधायुग**

**7.2 कनुप्रिया**

**7.3 संशय की एक रात**

**7.4 आत्मजयी**

**7.5 एक कंठ विषपायी**

**7.6 शंबूक**

**7.7 एक पुरुष और**

**7.8 महाप्रस्थान**

**7.9 सूर्यपुत्र**

**7.10 अग्निलीक**

## 7.1 अंधा युग

**'अंधा युग '** नामक काव्य-नाटक धर्मवीर भारती और नयी कविता की एक कालजयी रचना है। कालजयी इसलिए कि जिस समस्या को इस काव्य-नाटक के ज़रिये उठाया गया है, वह परंपरागत समस्या है और निकट भविष्य में उस समस्या का समाधान हो जाएगा, ऐसी भी कोई आशा दिखाई नहीं देती। शाश्वत समस्या को उठाने भर से कोई कृति कालजयी नहीं होती, कालजयी होती है उस समस्या के स्रोतों की पहचान और उनके प्रकाशन की विशिष्ट रीति से, समस्या की जटिलता के रेखांकन और उसके समाधान के सम्यक मार्ग के प्रकाशन से। अंधा युग में युद्ध की समस्या को केंद्र बनाया गया है। यह समस्या परंपरागत है, और आधुनिक भी। समय के इतने लंबे प्रवाह में, ज़ाहिर है कि यह समस्या जटिल से जटिलतर हुई है। इस समस्या का आदि-स्रोत मनुष्य की महत्वाकांक्षा रही है। मानवीय प्रवृत्तियाँ सदैव एक जैसी हुआ करती हैं, काल के प्रवाह में उनके स्वरूप में परिवर्तन ज़रूर हो जाता है। अतः काल प्रवाह में मनुष्य की महत्वाकांक्षा का स्वरूप अधिकाधिक जटिल हुआ है। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान ने उसकी महत्वाकांक्षाओं को पूरी करने के साधन जुटाये हैं। इस तरह उसकी महत्वाकांक्षाएँ बढ़ती गयीं। एक की महत्वाकांक्षाएँ बढ़कर दूसरे के अधिकार या महत्वाकांक्षाओं का अतिक्रमण करती हैं, लिहाजा युद्ध की समस्या खड़ी होती है। 'अंधा युग' में युद्ध की व्यापक समस्या को 'महाभारत' की कथा के माध्यम से आधुनिक ढंग से उठाया गया है।

'अंधा युग' का प्रकाशन 1954 ई० में हुआ, जब संसार ने दो-दो विश्वयुद्धों की विभीषिका का साक्षात्कार कर लिया था। युद्ध से साक्षात्कार बाहरी यथार्थ से साक्षात्कार है। यथार्थ प्रायः कठोर और कटु होता है। अतः कहा जा सकता है कि युद्ध बाहरी कठोरता या कटुता है जो लोगों की आंतरिक कोमलता या मधुरता का नाश करता है। ज़ाहिर है कि वस्तु-जगत (बाहरी यथार्थ) और आतंरिक-जगत में पहले द्वंद्व होता होगा। द्वंद्व की इस प्रक्रिया में मानसिक-जगत पर प्रायः वस्तु-जगत हावी हो जाता है। 'अंधा युग ' में भी युद्ध के बाद की विभीषिका का चित्रण है। अतः उसमें भी वस्तु-जगत से आंतरिक-जगत के द्वंद्व का चित्रण है। यह इस काव्य-नाटक के शिल्प का एक महत्वपूर्ण सूत्र है। यों द्वंद्व और तनाव काव्य-नाटक के शिल्प के वांछित तत्व हैं। आत्मजगत और बाह्यजगत के इस द्वंद्व और तनाव में अंधा युग की कथावस्तु का ताना-बाना बुना गया है।

इस काव्य-नाटक के चार महत्वपूर्ण पात्र—धृतराष्ट्र, गांधारी, अश्वत्थामा और युयुत्सु—बाहरी यथार्थ की कटुता से टकराते हैं, और उसी अनुसार अनके आंतरिक-संसार में बदलाव आते हैं। धृतराष्ट्र क्योंकि अंधे थे, वस्तु-जगत से उनका सीधा संपर्क नहीं था, अतः उन्होंने अपनी सुविधानुसार आत्म-जगत का निर्माण किया था। धृतराष्ट्र का बनाया वह आत्मजगत सत्य नहीं था, क्योंकि उसे उन्होंने अपनी सुविधा से विकसित किया था। अतः वस्तु-जगत से टकराकर वह छिन्न-भिन्न हो गया। सत्य निरपेक्ष रहता है, अपनी सापेक्षता में सत्य को परिभाषित करना गलत होता है। धृतराष्ट्र महत्वाकांक्षी

थे, अतः उन्होंने सत्य को अपने पक्ष में परिभाषित किया था। उनकी महत्वाकांक्षा के प्रमाण इस कृति में ही मौजूद हैं। जाहिर है कि धृतराष्ट्र के संदर्भ में आत्म-जगत और वस्तु-जगत की टकराहट हुई और उनका आंतरिक जगत छिन्न-भिन्न हुआ। धृतराष्ट्र ने सत्य की आत्म-सापेक्ष निर्मिति करनी चाही थी—*"मैं था जन्मांध।/ कैसे कर सकता था/ ग्रहण मैं/ बाहरी यथार्थ या सामाजिक मर्यादा को? ... मैंने अपने ही वैयक्तिक संवेदन से जो जाना था/ केवल उतना ही था मेरे लिए वस्तु-जगत।"*[1] बाहरी यथार्थ से टकराने के बाद धृतराष्ट्र को उसकी दुर्निवार्यता का एहसास हुआ—*"आज मुझे भान हुआ।/ मेरी वैयक्तिक सीमाओं के बाहर भी/ सत्य हुआ करता है।"*[2] यों, सत्य निरपेक्ष होता है, सापेक्ष नहीं।

गांधारी का आत्म-जगत वस्तु-जगत से एक दूसरे स्तर पर टकराता है। धृतराष्ट्र अंधे थे, वस्तु-जगत से उनका सीधा संपर्क नहीं था। अतः परिवर्तन के लिए उनकी यात्रा भीतर से बाहर की ओर थी—अपने आंतरिक संवेदन से उन्होंने बाहरी दुनिया को जाना, जिसकी चरम परिणति उस दिन हुई जिस दिन उन्हें युद्ध के हारने का एहसास होता है। गांधारी का वस्तु-जगत से सीधा संबंध था, अतः परिवर्तन के लिए उनकी यात्रा बाहर से भीतर की ओर होती है। बाहरी दुनिया कठोरताओं और कटुताओं से भरी पड़ी है। मर्यादा, नीति, धर्म आदि की परिभाषाएँ शक्तिशाली और समर्थ लोगों के हक में बदल दी जाती हैं। जो इन्हें स्थायी या अपरिवर्तनीय समझते हैं, उनका आत्म-जगत वस्तु-जगत के इन तौर-तरीकों से टकराता है। गांधारी बाहरी यथार्थ से सीधे टकराती हैं—*"लेकिन अंधी नहीं थी मैं।/ मैंने यह बाहर का वस्तु-जगत अच्छी तरह जाना था/ धर्म, नीति, मर्यादा, यह सब हैं आडंबर मात्र,/ मैंने यह बार-बार देखा था।/ निर्णय के क्षण में विवेक और मर्यादा/ व्यर्थ सिद्ध होते आये हैं सदा/ हम सब के मन में कहीं एक अंध गह्वर है।/ बर्बर पशु अंधा पशु वास वहीं करता है,/ स्वामी जो हमारे विवेक का,/ नैतिकता, मर्यादा, अनासक्ति, कृष्णार्पण/ यह सब हैं अंधी प्रवृत्तियों की पोशाकें/ जिनमें कटे कपड़ों की आँखें सिली रहती हैं/ मुझको इस झूठे आडंबर से नफरत थी/ इसलिए स्वेच्छा से मैंने इन आँखों पर पट्टी चढ़ा रक्खी थी।"*[3] धृतराष्ट्र का आत्म-जगत जाकर वस्तु-जगत से टकराता है और गांधारी के आत्म-जगत से वस्तु-जगत आकर टकराता है। धृतराष्ट्र की मजबूरी है कि वे वस्तु-जगत का साक्षात्कार नहीं कर पाते, गांधारी ने स्वेच्छा से वस्तु-जगत से आँखें मोड़ ली हैं। स्पष्ट है कि एक के लिए आत्मजगत पूरी तरह परिचित है और दूसरे के लिए वस्तु-जगत। दोनों परिचय से अपरिचय की ओर की यात्रा करते हैं, पर एक के लिए यह यात्रा भीतर से बाहर की ओर है और दूसरे के लिए बाहर से भीतर की ओर। यह भी उल्लेखनीय है कि जिस वस्तु-जगत से टकराकर दोनों को झटका लगता है, उसके निर्माण में अप्रत्यक्ष रूप से उन दोनों का योगदान भी शामिल रहता है। युद्ध की परिस्थितियों को उत्पन्न करने में, अपने पुत्रों का सहयोग वे दोनों भी दे रहे थे। वस्तु-जगत से टकराने पर धृतराष्ट्र ने महसूस किया कि वे

---

[1] अंधा युग : धर्मवीर भारती, किताब महल प्रकाशन, इलाहाबाद, बयालीसवाँ संस्करण, 2010, पृष्ठ 9

[2] वही, पृष्ठ 10

[3] वही, पृष्ठ 12

वस्तु-जगत की कठोरता को पूर्णतः ग्रहण नहीं कर पाये थे, उन्हें और ज्यादा छल-प्रपंच को ग्रहण करने की ज़रूरत है। गांधारी ने महसूस किया कि वस्तुजगत से गृहीत कटुता का अधिकाधिक उपयोग किया जाना है। अंततः दोनों के अंदर कटुता ही प्रसार पाती है। ऊपर कहा भी गया है कि युद्ध के संदर्भ में वस्तु-जगत और आत्म-जगत के द्वंद्व में प्रायः विजय वस्तु-जगत की ही होती है।

गांधारी की तरह ही अश्वत्थामा और युयुत्सु की यात्रा भी बाहर से भीतर की ओर है। युधिष्ठिर के अर्द्धसत्य से अश्वत्थामा के पिता युद्ध में मारे गये। युधिष्ठिर की सत्यवादिता प्रसिद्ध थी। अपनी इसी प्रवृत्ति के कारण वे धर्मराज कहलाते थे। उन्होंने सत्य को अपनी सुविधानुसार परिभाषित करने की कोशिश की और युद्ध में स्वार्थवश अर्द्धसत्य का सहारा लिया। धर्मराज द्वारा इस तरह छल का आचरण किया जाता देखकर अश्वत्थामा का मन आंदोलित हो उठा—*"भूल नहीं पाता हूँ मैं/ कैसे सुनकर/ युधिष्ठिर की घोषणा/ कि 'अश्वत्थामा मारा गया'/ शस्त्र रख दिये थे/ गुरु द्रोण ने रणभूमि में/ उनको थी अटल आस्था/ युधिष्ठिर की वाणी में/ पाकर निहत्था उन्हें/ पापी धृष्टदद्युम्न ने/ अस्त्रों से खंड-खंड कर डाला।"*[4] अश्वत्थामा के लिए यह बाहरी यथार्थ अत्यंत कटु था, अतः उसने उसके मन पर बुरा असर डाला। इस तरह से उसके मन में बाहरी यथार्थ और आंतरिक-जगत के बीच द्वंद्व छिड़ गया जिसने उसके अंदर की कोमलता का नाश कर दिया—*"भूल नहीं पाता हूँ/ मेरे पिता थे अपराजेय/ अर्द्धसत्य से ही/ युधिष्ठिर ने उनका/ वध कर डाला।/ उस दिन से/ मेरे अंदर भी/ जो शुभ था, कोमलतम था/ उसकी भ्रूण-हत्या/ युधिष्ठिर के/ अर्द्धसत्य ने कर दी"*[5]।

युयुत्सु धृतराष्ट्र का बेटा था, पर लड़ा वह पांडवों के पक्ष में था। युद्ध की समाप्ति पर जब वह हस्तिनापुर अपने घर वापस आता है, तब उसे अपनी माता गांधारी और हस्तिनापुर की प्रजा के द्वारा जो अपमान और प्रताड़ना मिलती है उससे उसके मन में द्वंद्व का उद्भव होता है। अपनी तरफ से युयुत्सु ने सत्य का साथ दिया था, पर उसे मिलती है घृणा और प्रताड़ना—*"अब यह माँ की कटुता/ घृणा प्रजाओं की/ क्या मुझको अंदर से बल देगी ?/ अंतिम परिणति में/ दोनों जर्जर करते हैं/ पक्ष चाहे सत्य का हो/ अथवा असत्य का !/ मुझको क्या मिला विदुर,/ मुझको क्या मिला ?"*[6] इस तरह बाहरी यथार्थ की इस कटुता ने युयुत्सु के मन में द्वंद्व का संचार किया। इस द्वंद्व की चरम परिणति तब होती है जब पांडव पक्ष के भी भीम आदि योद्धा खुद युयुत्सु का अपमान करने लगते हैं—*"प्रतिदिन की भाँति/ आज भी युयुत्सु का/ अपमान किया भीम ने।"*[7] इस तरह बाहरी यथार्थ की कटुता ने युयुत्सु में भी आंतरिक वेदना का संचार किया।

---

[4] अंधा युग : धर्मवीर भारती, किताब महल प्रकाशन, इलाहाबाद, बयालीसवाँ संस्करण, 2010, पृष्ठ 24-25

[5] वही, पृष्ठ 25

[6] वही, पृष्ठ 44

[7] वही, पृष्ठ 86

इस तरह देखा जा सकता है कि युद्ध की कटुता के साक्षात्कार या उसकी प्रक्रिया के साक्षात्कार से युद्ध से जुड़े हुए व्यक्तियों के अंदर की शांति भंग होती है, उनमें कटुता का संचार होता है जो अंततः मानवता के लिए घातक होता है। उल्लेखनीय है कि इन चारों पात्रों के आंतरिक-जगत से बाह्य-जगत का द्वंद्व संपूर्ण काव्य में व्याप्त है। इस काव्य-नाटक में द्वंद्व, तनाव और फिर उनका शमन—शिल्प की इस पद्धति के सहारे पात्रों के चरित्र का विकास हुआ है, और कथावस्तु का भी। धृतराष्ट्र को जब हार की आशंका व्यापती है, तब से उनके मन में द्वंद्व का संचार होता है। यद्यपि धृतराष्ट्र का चरित्र यहाँ केंद्रीय नहीं है, अतः उक्त पद्धति का पूर्ण योग उनके चरित्र में नहीं पाया जा सकता; फिर भी उनके द्वंद्व को थोड़ा बनाये रखने का उपक्रम हुआ है। आशंका के बाद वे यह स्वीकार कर लेते हैं कि बाहरी यथार्थ से उनका संपर्क नहीं था, अतः उसे समझने में उन्हें भूल हुई है। यहीं उनके द्वंद्व का बहुत कुछ शमन हो जाता है, पर पूरी तरह से नहीं। अपने शमित रूप में उनका द्वंद्व आगे भी बरकरार रहता है। युयुत्सु का पांडवों के पक्ष से लड़ना उन्हें स्वीकार्य नहीं होता। अर्थात पराजय के बाद भी उनका अपने आत्म-जगत से मोह भंग नहीं हुआ था—*"मेरे अंधेपन से तुम थे उत्पन्न पुत्र !/ वही थी तुम्हारी परिधि !/ उसका उल्लंघन कर तुमने/ जो ज्योतिवृत्त में रहना चाहा......"*[8]। इस अर्द्ध-शमित द्वंद्व का चरम उत्कर्ष राज्य-प्राप्ति की उनकी उस आखिरी उम्मीद की अभिव्यक्ति में देखा जा सकता है, जिसमें अपने पुत्र युयुत्सु को वे उस राज्य के उत्तराधिकारी के रूप में देखना चाहते हैं। इस संदर्भ में वे युयुत्सु से कहते हैं—*"वत्स ! तुम मेरी आयु लेकर भी/ जीवित रहो/ अश्वत्थामा का ब्रह्मास्त्र/ यदि गिरा है उत्तरा पर/ तो कौन जाने एक दिन युधिष्ठिर/ सब राजपाट तुमको ही सौंप दें !"*[9] ज़ाहिर है कि धृतराष्ट्र की राज्य-लिप्सा और पुत्र-प्रेम, जिन्होंने इतने बड़े युद्ध की घटना को अंजाम दिया था, पराजय के बाद भी बरकरार थे।

गांधारी के द्वंद्व का केंद्र कृष्ण होते हैं। कृष्ण को उनके सन्मार्ग पर चलने के कारण विदुर आदि उन्हें भगवान मानते हैं और उनके प्रति श्रद्धा रखते हैं। गांधारी को भी कृष्ण के महामानवत्व का बोध है, पर ईश्वर को जिस उच्च भावभूमि पर प्रतिष्ठित होना चाहिए, गांधारी की नज़रों में अक्सर कृष्ण उससे नीचे उतर आते हैं। अतः कृष्ण के आचरण के प्रति गांधारी के मन में द्वंद्व और विद्रोह की भावना उत्पन्न हो जाती है। गांधारी का यह कृष्ण-द्रोह लगभग पूरे कथानक में चला है। अश्वत्थामा ने जब पांडव-शिविर का ध्वंस किया, तब गांधारी को उसके प्रतिद्वंदी के रूप में कृष्ण ही याद आये— *"इसीलिए कहती हूँ/ अन्यायी कृष्ण इसके बाद अश्वत्थामा को/ जीवित नहीं छोड़ेंगे/ देखने दो मुझको उसे एक बार।"*[10] वे कृष्ण से अश्वत्थामा की रक्षा करने के लिए उसके शरीर को देखकर वज्र बना देना चाहती हैं—*"संजय/ संजय, मेरी पट्टी उतार दो/ देखूँगी मैं अश्वत्थामा को/ वज्र बना दूँगी उसके तन को/ संजय/*

---

[8] अंधा युग : धर्मवीर भारती, किताब महल प्रकाशन, इलाहाबाद, बयालीसवाँ संस्करण, 2010, पृष्ठ 72

[9] वही, पृष्ठ 77

[10] वही, पृष्ठ 65

*लो मैंने यह पट्टी उतार फेंकी/ कहाँ है अश्वत्थामा ।''*[11] कृष्ण से डरकर अश्वत्थामा जब भागता फिरता है, तब गांधारी उसके लिए कृष्ण से लड़ने को भी तैयार हो जाती हैं—*''संजय उसे रोको !/ लोहा मैं लूँगी आज कृष्ण से उसके लिए ।''*[12] गांधारी के कृष्ण के प्रति इस द्रोह की चरम परिणति गांधारी द्वारा कृष्ण को दिये जाने वाले शाप में होती है—*''कृष्ण सुनो ! तुम यदि चाहते तो रुक सकता था युद्ध यह/ मैंने प्रसव नहीं किया था कंकाल यह/ इंगित पर तुम्हारे ही भीम ने अधर्म किया/ क्यों नहीं तुमने वह शाप दिया भीम को/ जो तुमने दिया निरपराध अश्वत्थामा को/ तुमने किया है प्रभुता का दुरुपयोग/ यदि मेरी सेवा में बल है/ संचित तप में धर्म है/ तो सुनो कृष्ण !/ प्रभु हो या परात्पर हो/ कुछ भी हो/ सारा तुम्हारा वंश/ इसी तरह पागल कुत्तों की तरह/ एक दूसरे को परस्पर फाड़ खायेगा/ तुम खुद उनका विनाश करके कई वर्षों बाद/ किसी घने जंगल में/ साधारण व्याध के हाथों मारे जाओगे/ प्रभु हो/ पर मारे जाओगे पशुओं की तरह ।''*[13] इस शाप को जब कृष्ण विनम्रता पूर्वक स्वीकार कर लेते हैं, तब गांधारी के द्वंद्व का शमन हो जाता है ।

अश्वत्थामा के द्वंद्व के केंद्र में युधिष्ठिर रहते हैं । धर्मराज होकर भी उन्होंने असत्य का सहारा लिया था । इस द्वंद्व के परिणामस्वरूप अश्वत्थामा विक्षिप्त अवस्था को प्राप्त होता है । इस विक्षिप्तावस्था में वह जिस-तिस का वध करने के लिए लपकता है । संजय का वध करने के लिए वह उसे पकड़ता है । वृद्ध याचक का वध कर देता है । अपनी इस मनोदशा का वर्णन करता हुआ अश्वत्थामा कृपाचार्य से कहता है—*''मैं क्या करूँ/ मातुल !/ वध मेरे लिए नहीं नीति है,/ वह है अब मनोग्रंथि !''*[14] अश्वत्थामा अपने पिता के साथ हुए अधर्म से परेशान था । उसके मन में धर्म और अधर्म को लेकर लगातार द्वंद्व चल रहा था । विक्षिप्तों जैसा बर्ताव करने पर जब कृपाचार्य उसे डाँटते हुए मर्यादा बरतने को कहते हैं, तब वह अपने पिता को संबोधित करता हुआ कहता है—*''सुनते हो पिता/ मैं इस प्रतिहिंसा में/ बिलकुल अकेला हूँ/ तुमको मारा धृष्टद्युम्न ने अधर्म से/ भीम ने दुर्योधन को मारा अधर्म से/ दुनिया की सारी मर्यादाबुद्धि/ केवल इस निपट अनाथ अश्वत्थामा पर ही/ लादी जाती है ।''*[15] इस तरह धर्म और अधर्म के इस द्वंद्व में अश्वत्थामा धीरे-धीरे अधर्म के मार्ग को अपनाने के लिए अपने को तैयार कर लेता है । उसको इस अधर्म के मार्ग को ग्रहण करने की प्रेरणा पांडवों द्वारा किये गये अधर्म से, और इस अधर्म पर बलराम की प्रतिक्रया—*''वे भी निश्चय मारे जायेंगे अधर्म से !''*[16] से मिली । अर्द्धरात्रि के समय विश्राम करते हुए कौवे पर उलूक के अचानक आक्रमण करने व उसका वध करने की घटना को देखकर मानसिक उधेड़बुन में पड़े अश्वत्थामा को प्रतिहिंसा का मार्ग मिल गया । फिर उसकी इस विक्षिप्तावस्था

---

[11] अंधा युग : धर्मवीर भारती, किताब महल प्रकाशन, इलाहाबाद, बयालीसवाँ संस्करण, 2010, पृष्ठ 68

[12] वही, पृष्ठ 80

[13] वही, पृष्ठ 81

[14] वही, पृष्ठ 33

[15] वही, पृष्ठ 50

[16] वही, पृष्ठ 48

का चरम उत्कर्ष अर्द्धरात्रि में विश्राम कर रहे पांडवों के शिविरों पर आक्रमण और उनके ध्वंस में दिखाई देता है।

युयुत्सु के द्वंद्व के केंद्र में सत्य और असत्य के स्वरूप होते हैं। युयुत्सु ने युद्ध में सत्य का साथ दिया था। सत्य के पक्ष में होने के बावजूद युयुत्सु को संसार द्वारा व्यापक प्रताड़ना और अपमान मिलते हैं। बाहरी संसार के इस सत्य का सामना करने पर युयुत्सु यातना का शिकार होता है—*"मैं भी/ सह लेता यदि/ सब उच्छ्रिंखलता दुर्योधन की/ आज मुझे इतनी घृणा तो/ न मिलती अपने ही परिवार में।/ माता खड़ी होती/ बाँह फैलाये/ चाहे पराजित ही मेरा माथा होता।"*[17] अपने परिवार और अपनी प्रजा से तो युयुत्सु को प्रताड़ना मिली ही, जिन पांडवों की ओर से युद्ध में वह सम्मिलित हुआ था, उनकी तरफ से भी उसे यही सब मिला। अतः युयुत्सु अपने को ठगा हुआ महसूस करता है। स्पष्ट है कि बाहरी यथार्थ की कटुता ने युयुत्सु के मन में हलचल उत्पन्न कर दी। प्रताड़ना और अपमान से युयुत्सु को अपना जीवन निर्थक लगने लगता है और इस यातना की चरम परिणति में वह आत्महत्या कर लेता है।

ऊपर जिन चार पात्रों—धृतराष्ट्र, गांधारी, अश्वत्थामा और युयुत्सु—की स्थिति का विश्लेषण किया गया, वे सब बाहरी यथार्थ यानी युद्ध की कटुता से टकराते हैं। इस कटु यथार्थ ने सबके मन में हलचल उत्पन्न की। सबने उससे उत्पन्न मानसिक यातना भोगी। इसने सबके मन की कोमलता को नष्ट किया, उसे अधिकाधिक कठोर बनाया। अतः स्पष्ट है कि इस काव्य-नाटक में युद्ध की विभीषिका के माध्यम से यह ध्वनित किया गया है कि युद्ध वह कटु-यथार्थ है जिससे टकराकर व्यक्ति की आंतरिक कोमलता का नाश हो जाता है। युद्ध की विभीषिका के द्वारा उसके हानिकारक प्रभाव का संकेत करना मानवता को ज्ञान प्रदान करने जैसा है, जो यह काव्य-नाटक वस्तुतः करता है। इस कृति के उद्देश्य की तरफ कवि ने शुरू में ही संकेत कर दिया है—*"यह कथा ज्योति की है अंधों के माध्यम से"*[18]। उल्लेखनीय है कि ज्योति की वह किरण स्वयं कृष्ण थे। जिन चार पात्रों का जिक्र यहाँ किया गया उनमें गांधारी और अश्वत्थामा ज्यादा प्रबल और महत्वपूर्ण पात्र हैं। दोनों कृष्ण के प्रति प्रबल द्रोह रखते हैं और अंततः दोनों की आस्था कृष्ण के प्रति समर्पित होती है। अतः इस काव्य के नायक कृष्ण ही हैं, यद्यपि मंच पर उनकी उपस्थिति नगण्य है। गांधारी द्वारा शाप दिये जाने पर जब कृष्ण विनम्रता पूर्वक उसे स्वीकार करते हुए युद्ध के संदर्भ में अपनी यह बात रखते हैं कि युद्ध में पीड़ित हर सैनिक और योद्धा की पीड़ा को वह स्वयं भोगते हैं, तो गांधारी को अपने शाप पर पश्चाताप होता है। कृष्ण के प्रति उनके द्रोह का शमन हो जाता है। इसी प्रकार कृष्ण के पैर में जब बहेलिया बाण मारता है तो उनके पैर से उसी तरह पीप से भरा रक्त निकलता है जिस तरह अश्वत्थामा के शरीर से निकलता रहता है। उसके बाद

[17] अंधा युग : धर्मवीर भारती, किताब महल प्रकाशन, इलाहाबाद, बयालीसवाँ संस्करण, 2010, पृष्ठ 41

[18] वही, पृष्ठ 2

अश्वत्थामा की पीड़ा भी समाप्त हो जाती है। यह सब देखकर अश्वत्थामा को एहसास होता है कि कृष्ण ने उसकी पीड़ा को खुद धारण किया था—*''सुनो, मेरे शत्रु कृष्ण सुनो !/ मरते समय क्या तुमने इस नरपशु अश्वत्थामा को/ अपने ही चरणों पर धारण किया/ अपने ही शोणित से मुझको अभिव्यक्त किया ?/ जैसे सड़ा रक्त निकल जाने से/ फोड़े की तीस पटा जाती है/ वैसे ही मैं अनुभव करता हूँ विगत शोक/ यह जो अनुभूति मिली है/ क्या यह आस्था है ? यह जो अनुभूति मिली है/ क्या यह आस्था है ?''*[19]

### 7.2 कनुप्रिया

दो विश्वयुद्धों की विभीषिका से गुजरने के बाद कवियों ने युद्ध की निरर्थकता सिद्ध करने वाले काव्य लिखे। धर्मवीर भारती का काव्य 'कनुप्रिया' भी नयी कविता की ऐसी प्रबंधात्मक कृति है जिसमें युद्ध और युद्ध की भावना के ध्वंसात्मक स्वरूप का विश्लेषण प्रेम और प्रेम की भावना के रागात्मक स्वरूप के परिप्रेक्ष्य में करते हुए युद्ध की निरर्थकता का दर्शन प्रतुपादित किया गया है—युद्ध की ध्वंसात्मक प्रवृत्ति पर प्रेम की रागात्मक प्रवृत्ति को तरजीह देते हुए। इसमें प्रेम भावना को तरजीह दी गयी है, अतः इस प्रवृत्ति के विविध पहलुओं का पसारा काव्य में व्याप्त है, पर तरजीह उसे युद्ध-भावना के परिप्रेक्ष्य में ही दी गयी है। प्रेम और युद्ध की दो अंतर्विरोधी भावनाओं और क्रियाओं को आमने-सामने रखकर इस काव्य का शिल्प तैयार किया गया है। पूरे काव्य में से यह दर्शन उभर कर आता है कि युद्ध त्याज्य है और प्रेम वरणीय। प्रेम जीवन की ऐसी सर्जनात्मक भावना है जिसका कोई विकल्प नहीं।

नयी-कविता के युग में जो प्रबंध काव्य या काव्य-नाटक लिखे गये उनमें से अधिकांश में युद्ध से बचने की संभावनाओं की तलाश की गयी है। यह सचेत प्रयास कवियों द्वारा इसलिए हुआ क्योंकि संसार ने दो विश्व-युद्धों के दौरान अपना बहुत कुछ खो दिया था। युद्ध के परिणाम के रूप में सिर्फ तबाही और विनाश के सिवा कुछ हाथ नहीं आता। युद्ध की मनः-स्थिति को अपने अंदर की संवेदना को दबाकर पहुँचा जाता है। बाक़ी की बची-खुची कोमल वृत्तियाँ और संवेदनाएँ युद्ध की प्रक्रिया से गुज़रकर नष्ट हो जाती हैं। युद्ध मनुष्य की बर्बरता की निशानी है। युद्ध यह संकेत करता है कि मनुष्य अभी पूरी तरह सभ्य नहीं हुआ है। अतः मनुष्य को बार-बार इस तथ्य पर विचार करना चाहिए कि युद्ध के द्वारा वह कौन-सी मानवीय या प्राकृतिक उपलब्धि हासिल कर ले रहा है ? युद्ध-दर्शन से बार-बार गुज़र कर और इसकी हानिकारक एवं ध्वंसात्मक प्रकृति को समझकर मनुष्य को अपनी सभ्यता के विकास में एक और महत्वपूर्ण कदम जोड़ते हुए युद्ध से किनारा कर लेना चाहिए। इसी उद्देश्य को केंद्र में रखकर नयी कविता के कवियों ने कविता में प्रबंधात्मक ढाँचा खड़ा किया है—चाहे वह 'अंधा-युग' या 'संशय की एक रात' के रूप में हो, चाहे 'एक कंठ विषपायी' या 'महाप्रस्थान' के रूप में। धर्मवीर भारती की

---

[19] अंधायुग : धर्मवीर भारती, किताब महल प्रकाशन, इलाहाबाद, बयालीसवाँ संस्करण, 2010, पृष्ठ 101-102

कृति 'कनुप्रिया' में भी युद्ध की समस्या को सूक्ष्म-स्तर पर उठाया गया है। इसमें इसे प्रेम के परिप्रेक्ष्य में रखकर इसकी निरर्थकता सिद्ध करने की कोशिश की गयी है।

कनुप्रिया में युद्धभूमि के ऊपर लीलाभूमि (प्रेमजगत) को तरजीह दी गयी है। प्रेम हृदय का रागात्मक व्यापार है और युद्ध बुद्धि का ध्वंसात्मक व्यापार। अतः प्रेम ही वरणीय है, युद्ध नहीं—*''कृष्ण का युद्ध सत्य है या राधा के साथ उनके तन्मयता में बीते प्रेम-क्षण ? शायद प्रेम के क्षण ही सत्य हैं, क्योंकि वे दुविधाहीन मन की संकल्पनात्मक अनुभूति हैं और युद्ध दुविधा की उपज, अनजिये सत्य का आभास।''*[20] लीलाभूमि से युद्धभूमि तक जाने की प्रक्रिया में मनुष्य क्रमशः रागात्मकता से दूरी बनाता चला जाता है, उसका संपर्क क्रमशः हृदय से टूटता जाता है और वह हृदयहीन और स्वार्थी होता जाता है। यद्यपि वह अपने भौतिक विकास के लिए ही बुद्धि का सहारा लेता है पर बुद्धि के साथ हृदय को भी न रखने के कारण वह हृदयहीन हो जाता है। अतः वह चाहे जितनी बड़ी भौतिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर ले, महान नहीं हो सकता। ऊपर यह कहा जा चुका है कि युद्ध की स्थिति तक व्यक्ति अपनी कोमल भावनाओं को दबाकर ही पहुँचता है और रही-सही कसर युद्ध की घटनाएँ पूरी कर देती हैं। इसके विपरीत लीलाभूमि में मनुष्य की कोमल वृत्तियाँ विस्तार पाती हैं, वे अपने संपर्क में आने वाली प्रत्येक सहचरी वस्तुओं से रागात्मक संबंध स्थापित कर लेती हैं। लीला के साधन में तन्मयता है, युद्ध के साधन में गतिशीलता। लीला जीवन और जीवन-क्षेत्र में स्थिरता की विशेषता लिए हुए होती है और युद्ध अस्थिरता की। अतः लीलाभूमि के निरंतर संपर्क में रहने के कारण उसकी प्रत्येक वस्तु से मनुष्य का रागात्मक संबंध स्थापित हो, यह स्वाभाविक बात है; जबकि युद्ध के क्षेत्र और रास्ते सदैव अलग-अलग हुआ करते हैं, उनसे योद्धा और सैनिक कभी-कभी गुज़रते हैं, और वो भी गतिशील होकर; अतः उन रास्तों या क्षेत्रों में पड़ने वाली वस्तुओं से उनका कोई रागात्मक संबंध स्थापित नहीं हो सकता। इसके अलावा युद्ध और लीला क्षेत्र से संबंधित मनः-स्थितियाँ अलग-अलग हुआ करती हैं—युद्ध की ध्वंसात्मक और लीला की रागात्मक। रागात्मक प्रवृत्ति संबंध-विस्तार करती है और ध्वंसात्मक प्रवृत्ति संबंध-संकोच। कनुप्रिया में इन सभी स्थितियों की विमर्श-सामग्री अनुस्यूत है। यहाँ उदाहरण उस प्रसंग का प्रासंगिक है जब कृष्ण की नागर सेनाएँ ग्रामीण क्षेत्र के उन रास्तों और स्थानों से होकर गुज़रने वाली हैं जिन रास्तों और स्थानों पर कभी कृष्ण और राधा का प्रेम पलता था और इसी कारण राधा को उन रास्तों और स्थानों की प्रत्येक वस्तुओं से बेहद लगाव हो गया था। राधा जिन वस्तुओं के संसर्ग में प्रेम-सुख की अनुभूति करती है, आज उन्हीं वस्तुओं को कृष्ण के सिपाहियों द्वारा निर्ममता से उजाड़ दिया जाएगा *!—''यह आम्रवृक्ष की डाल/ उन की विशेष प्रिय थी/ तेरे न आने पर/ सारी शाम इस पर टिक/*

[20] हिंदी साहित्य का इतिहास : डॉ. नगेंद्र (संप.), मयूर पेपरबैक्स, नोएडा, तैंतीसवाँ संस्करण, 2007, पृष्ठ 642

*उन्होंने वंशी में बार-बार/ तेरा नाम भर कर तुझे टेरा था—/ आज यह आम की डाल/ सदा-सदा के लिए काट दी जायेगी / क्योंकि कृष्ण के सेनापतियों के/ वायुवेगगामी रथों की/ गगनचुंबी ध्वजाओं में/ यह नीची डाल अटकती है/ और यह पथ के किनारे खड़ा/ छायादार पावन अशोक वृक्ष/ आज खंड-खंड हो जाएगा तो क्या—/ यदि ग्रामवासी, सेनाओं के स्वागत में/ तोरण नहीं सजाते/ तो क्या सारा ग्राम नहीं उजाड़ दिया जाएगा ?"*[21] यह है युद्ध के मार्ग और प्रेम के स्थान पर पड़ने वाली वस्तुओं और प्रकृति से योद्धा और प्रेमी के संबंधों की प्रकृति का उदाहरण, प्रेमी उनसे रागात्मक प्रवृत्ति से जुड़ता है और योद्धा ध्वंसात्मक प्रवृत्ति से।

मनुष्य अपने भौतिक विकास के लिए तकनीकी और विज्ञान का सहारा लेता है। नगर-निर्माण इस विकास-प्रक्रिया का पहला महत्वपूर्ण अंग है। नगर में कोई महत्वपूर्ण पद प्राप्त कर लेना इसका दूसरा और नगर का ही स्वामी या अधिपति बन जाना इस प्रक्रिया का तीसरा और सबसे महत्वपूर्ण अंग है। इन तीनों प्रक्रियाओं में मनुष्य क्रमशः अपने रागात्मक-संबंधों वाली वस्तुओं या कहें कि प्रकृति से दूर हटता जाता है। प्रकृति के पेड़-पौधों, पहाड़-पर्वतों आदि को नष्ट कर नगर-निर्माण की प्रक्रिया चलती है, जबकि ग्रामीण सभ्यता प्रकृति के साहचर्य में विकसित होती है। नगर के नियमन और विकसन की प्रक्रिया प्रतिद्वंद्विता के सिद्धांत पर आधारित होती है और उसी का चरम-परिणाम युद्ध या आपसी टकराहट होती है, जो नगर-विस्तार या पद-विस्तार की आकांक्षा लिए हुए होती है; जबकि ग्रामीण सभ्यता का नियमन और विकसन साहचर्यता के सिद्धांत पर चलता है जिसका चरम बिंदु प्रेम या आपसी रागात्मकता होती है। कनुप्रिया में नगरीय जीवन की जटिलता और कठोरता के ऊपर लोकजीवन की सरलता और रागात्मकता को तरजीह दी गयी है। उदाहरण के लिए, जहाँ एक ओर नगर-विस्तार या नगर-अधिकार के लिए महाभारत के युद्ध में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का जानी-दुश्मन बना हुआ है, प्रकृति को नष्ट-भ्रष्ट करने की बात तो आम है; वहीं दूसरी ओर ग्रामीण जन-जीवन में अपने साहचर्य में रहने वाली प्रकृति की वस्तुओं के प्रति भी राधा का प्रेम अपूर्व कोटि का है, व्यक्ति से व्यक्ति के प्रेम संबंध की बात तो बहुत आम है। एक ओर युद्धभूमि की कठोरता का दृश्य—*"हारी हुई सेनाएँ, जीती हुई सेनाएँ/ नभ को कंपाते हुए, युद्ध घोष, क्रंदन स्वर।/ भागे हुए सैनिकों से सुनी हुई/ अकल्पनीय अमानुषिक घटनाएँ युद्ध की/ क्या ये सब सार्थक हैं ?"*[22] और दूसरी ओर लीलाभूमि में अपने और प्रिय के साहचर्य में आम के बौर में भी अपनी छाया का भान—*"तो क्या तुम्हारे पास की डार पर खिली/*

---

[21] कनुप्रिया : धर्मवीर भारती, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, उन्नीसवाँ संस्करण, 2013, पृष्ठ 65

[22] वही, पृष्ठ 68

*तुम्हारे कंधों पर झुकी/ वह आम की ताजी, क्वाँरी, तुर्श मंजरी मैं ही थी/ और तुमने मुझसे ही मेरी माँग भरी थी !"*[23]

कनुप्रिया में कवि का अपना पक्ष युद्ध की तरफ नहीं, प्रेम की तरफ है; इसीलिए कनुप्रिया में प्रेम-भावना का बड़ी सघनता से चित्रण किया गया है। प्रणय प्रसंग है राधा (कनुप्रिया) और कृष्ण (कनु) का, जो अपने माधुर्य और सौकुमार्य के कारण बहुत से, विशेषतः मध्यकालीन, कवियों का प्रिय विषय रहता आया है और अपने संसर्ग से उन्हें उत्कृष्ट भी बनाता आया है। धर्मवीर भारती ने इस प्रणय के माधुर्य और उसकी सघनता को बिना नष्ट होने दिये अपने युग की समस्याओं से संदर्भित किया है, यह उनकी अद्भुत कवित्व-शक्ति का प्रमाण है।

कनुप्रिया का पूरा प्रबंध-विधान चक्रीय-पद्धति पर आधारित है, और यह चक्रीय-पद्धति की शैली स्थिति-विपर्यय पर। इसमें जीवन का एक चक्र पूरा का पूरा घूम गया है—जिसके एक सिरे पर प्रेम है, और दूसरे पर युद्ध; एक सिरे पर संयोग की तन्मयता है, तो दूसरे पर वियोग की व्याकुलता। स्थितियों के बदल जाने पर चीजों के मायने बदल जाते हैं, रिश्तों की प्रकृति बदल जाती है। यों, इसे उलट कर भी कहा जा सकता है। लीलाभूमि से कृष्ण के चले जाने के बाद स्थितियाँ बदल जाती हैं। और कनुप्रिया में बदली हुई स्थितियों को प्रतिबिंबित किया गया है उन्हीं उपादानों के सहारे, जो शुरू में इसके विपरीत की स्थिति के निर्माण के लिए प्रयोग में लाए गये थे। कृष्ण और राधा के प्रेम-संबंधों में सहयोगी की भूमिका निभाने वाली और इसीलिए दोनों की प्रिय सहचरी बन चुकी प्रकृति, कृष्ण के राजा बन जाने पर उनके द्वारा उपेक्षा की शिकार होती है। यहाँ तक कि उनके सैनिकों द्वारा ही युद्ध के समय इसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया जाता है। जिस कदंब के नीचे कृष्ण को वंशी बजाते राधा रोज देखती थी; जिस अशोक वृक्ष को कृष्ण के संसर्ग के कारण राधा पावन समझती थी; जिस आम की डाल के सहारे खड़े होकर कृष्ण वंशी बजाकर राधा को बुलाते थे; और जो इसी कारण उन्हें विशेष प्रिय थी, वे सब के सब युद्ध के लिए रास्ता बनाने की कवायद की भेंट चढ़ जाते हैं। इस दृष्टि से इस प्रबंध के एक सर्ग का नाम ही 'उसी आम के नीचे' रख दिया गया है। यहाँ कुछ उदाहरणों के माध्यम से बात को स्पष्ट करने का प्रयास किया जाएगा। काव्य का पहला सर्ग है 'पूर्वराग', और पहले सर्ग का 'पहला गीत' पूरा का पूरा अशोक वृक्ष को समर्पित है और उसे कृष्ण के संसर्ग के कारण या प्रेम का प्रतीक होने के कारण पावन मान लिया गया है। अशोक वृक्ष क्योंकि कृष्ण का बराबर संसर्ग पाता आया है, अतः उसके प्रति राधा का स्नेह बहुत प्रगाढ़ है। इसी अशोक वृक्ष को बदली परिस्थिति में फिर उपस्थित किया जाता है 'इतिहास' नामक सर्ग के 'अमंगल छाया' नामक शीर्षक के अंतर्गत। अब अशोक वृक्ष पर अमंगल की छाया पड़

[23]कनुप्रिया : धर्मवीर भारती, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, उन्नीसवाँ संस्करण, 2013, पृष्ठ 30

चुकी है और यह युद्ध के परिणाम की भेंट चढ़ने वाला है—*"और यह पथ के किनारे खड़ा/ छायादार पावन अशोक वृक्ष/ आज खंड-खंड हो जाएगा तो क्या—/ यदि ग्रामवासी, सेनाओं के स्वागत में/ तोरण नहीं सजाते/ तो क्या सारा ग्राम नहीं उजाड़ दिया जाएगा ?"*[24] पहले सर्ग के 'तीसरे गीत' में कदंब वृक्ष का जिक्र है, जिसके नीचे कृष्ण चुपचाप ध्यानमग्न खड़े रहते थे और राधा उन्हें कोई देवता समझकर प्रणाम करती थी—*"घाट से लौटते हुए/ तीसरे पहर की अलसायी वेला में/ मैं ने अक्सर तुम्हें कदंब के नीचे/ चुपचाप ध्यानमग्न खड़े पाया/ मैं ने कोई अज्ञात वनदेवता समझ/ कितनी बार तुम्हें प्रणाम कर सिर झुकाया/ पर तुम खड़े रहे अडिग, निर्लिप्त, वीतराग, निश्छल !/ तुमने कभी उसे स्वीकारा ही नहीं !"*[25] यहाँ पर कदंब का इतना ही जिक्र है। इसके बाद स्थितियों के बदलने पर इसका जिक्र फिर आता है। परिस्थितियों के बदल जाने पर 'अमंगल छाया' नामक शीर्षक के अंतर्गत कविता की शुरुआत इसी के जिक्र से होती है—*"घाट से आते हुए/ कदंब के नीचे खड़े कनु को/ ध्यानमग्न देवता समझ, प्रणाम करने/ जिस राह से तू लौटती थी बावरी/ आज उस राह से न लौट"*[26] क्योंकि आज उस रास्ते युद्ध के लिए कृष्ण की अठारह अक्षौहिणी सेनाएँ जाने वाली हैं। पहले सर्ग का 'चौथा गीत' यमुना के वर्णन से शुरू होता है जिसमें राधा का यमुना के जल के प्रति भी असीम स्नेह दिखाया गया है, क्योंकि राधा यमुना के श्याम रंग के जल को कृष्ण का प्रतिरूप समझती थी और इसीलिए वह अपलक यमुना के जल में अपनी परछाई निहारा करती थी। फिर यमुना का वर्णन बदली हुई परिस्थिति में इसी प्रसंग में काव्य के लगभग अंतिम खण्ड 'इतिहास' नामक सर्ग के 'एक प्रश्न' नामक शीर्षक के अंतर्गत होता है। अब यमुना का रूप खंडित हो चुका है—*"अपनी जमुना में/ जहाँ घंटों अपने को निहारा करती थी मैं/ वहाँ अब शस्त्रों से लदी हुई/अगणित नौकाओं की पंक्ति रोज-रोज कहाँ जाती है ? धारा में बह-बह कर आते हुए, टूटे हुए रथ/ जर्जर पताकाएँ किसकी हैं ?"*[27] काव्य का दूसरा सर्ग है 'मंजरी परिणय'। इसके पहले और दूसरे गीतों का शीर्षक क्रमशः 'आम्र-बौर का गीत' और 'आम्र-बौर का अर्थ' है। इन सबमें एक आम वृक्ष के संसर्ग में राधा-कृष्ण का प्रेम-विकास दिखाया गया है। और स्थिति बदल जाने पर 'इतिहास' नामक सर्ग के 'अमंगल छाया' नामक गीत के अंतर्गत सैनिकों द्वारा आम की उसी डाल के काटे जाने की संभावना व्यक्त की गयी है, जिस पर टेक लगाकर कृष्ण वंशी बजाते थे—राधा को बुलाने के लिए; और जो इसी कारण कृष्ण को विशेष प्रिय थी। यह सब उद्धरण द्वारा ऊपर दिखाया जा चुका है। इस तरह देखा जा सकता है कि जीवन की दो विपरीत स्थितियों को बिंब-प्रतिबिंब भाव से आमने-सामने रखकर प्रबंध का विधान खड़ा किया गया है तथा इस बिंब और प्रतिबिंब के बीच से

---

[24] कनुप्रिया : धर्मवीर भारती, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, उन्नीसवाँ संस्करण, 2013, पृष्ठ 65

[25] वही, पृष्ठ 15

[26] वही, पृष्ठ 64

[27] वही, पृष्ठ 68

जीवन का दर्शन विकसित करने की कोशिश की गयी है। स्पष्ट है कि इस काव्य-संसार में जीवन-रथ का पहिया एक बार पूरा घूम जाता है और पहिये की दो सीधी और एक-दूसरे की विपरीत तीलियाँ आपस में स्थान परिवर्तन कर लेती हैं। और यही स्थिति-विपर्यय और उससे उपजी हुई विडंबना काव्य का उपजीव्य बनती है।

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया कि काव्य में जीवन की दो अंतर्विरोधी परिस्थितियों को बिंब-प्रतिबिंब भाव से आमने-सामने रखकर जीवन का एक दर्शन निर्मित करने का प्रयास किया गया है। प्रेम और युद्ध दोनों अपने में अंतर्विरोधी हैं। दोनों परिस्थितियों को एक साथ रखकर उनकी प्रक्रिया और परिणाम के द्वारा यह दर्शन विकसित किया गया है कि जीवन में प्रेम तथा प्रेम की भावना ही वरणीय है और युद्ध तथा युद्ध की भावना त्याज्य है, क्योंकि युद्ध मनुष्य की कोमल भावनाओं और संवेदनाओं को नष्ट कर देता है। प्रेम की गहन सुखद अनुभूतियों से गुजरने के बाद राधा को युद्ध की दुखद अनुभूतियों का भी सामना करना पड़ता है। तब राधा के मन में दोनों स्थितयाँ क्रमशः बिंब-प्रतिबिंब की तरह घूमने लगती हैं। इस दृष्टि से कनुप्रिया वर्तमान के संदर्भ से अतीत के विश्लेषण का प्रयास है। और यह प्रयास प्रेम-संबंध को केंद्र में रख कर किया गया है जो बेहद मनोवैज्ञानिक और लाजिमी घटना है। समय की गति में जब कभी प्रेम-संबंधों में असहज बदलाव आने लगते हैं, जो किसी एक पक्ष (प्रेमी या पेमास्पद) के लिए अवांछनीय होते हैं तो वह अपने प्रेम के उन दिनों की याद करता है जब उनके बीच बहुत घना प्रेम रहा होता है। यह बात महज़ प्रेम-संबंधों पर ही नहीं लागू होती है, प्रत्येक बिगड़ी स्थिति में मनुष्य अपने अतीत के उस पक्ष को याद करता है जब वह सुखी और संपन्न रहा होता है। दुख में सुख के दिनों को याद करना मनोवैज्ञानिक सच है, और प्रेम के मामले में तो यह बेहद संवेदनशील बात हो जाती है। राधा कृष्ण के व्यवहार और स्थिति से दुखी है, अतः वह अपने अतीत के उन दिनों की याद करती है जब कृष्ण का व्यवहार और उनकी स्थिति उसे असीम सुख से भर देते थे।

कृष्ण के अतीत सुखद व्यवहार और स्थिति के परिप्रेक्ष्य में उनकी वर्तमान स्थिति और व्यवहार से राधा के दुखी होने की प्रक्रिया में ही काव्य में युद्ध जैसे अमानवीय कृत्य की सार्थकता की संभावना के विषय में संशयात्मक प्रश्न उठाए गये हैं। प्रेम के संदर्भ में यमुना का जल राधा को आकर्षित करता था, क्योंकि वह अपने रंग में श्यामता लिए हुए था। कृष्ण के रंग का होने के कारण यमुना के जल को राधा कृष्ण का ही प्रतिरूप समझती थी। पर युद्ध का संदर्भ पाकर राधा को यही श्याम-रूप यमुना-जल विकृत दिखायी देने लगता है—*"अपनी जमुना में/ जहाँ घण्टों अपने को निहारा करती थी मैं/ वहाँ अब शस्त्रों से लदी हुई/ अगणित नौकाओं की पंक्ति रोज-रोज कहाँ जाती है ?/ धारा में बह-बह कर आते हुए, टूटे रथ/ जर्जर पताकाएँ किसकी हैं ?/ ...चारों दिशाओं से/ उत्तर को उड़-उड़ कर जाते हुए/*

*गृद्धों को क्या तुम बुलाते हो/ (जैसे बुलाते थे भटकी हुई गायों को)''*[28] । जिस जल को राधा कृष्ण का प्रतिरूप मानकर उससे स्नेह करती थी अब उसी जल में शस्त्रों से लदी हुई नौकाएँ जाती हैं, और उसी जल की धारा में युद्ध की विभीषिका के कारण बह–बह कर टूटे हुए रथ, जर्जर पताकाएँ आती हैं। इन चीजों के आने और जाने की प्रक्रिया में कृष्ण का स्वरूप ( जमुना का जल) इतना विखंडित हो चुका है कि युद्ध-क्षेत्र में पड़े हुए सैनिकों के शवों को खाने के लिए उसी ओर जा रहे गृद्ध कृष्ण के ही बुलाए हुए प्रतीत होते हैं ! और फिर गृद्धों के बुलाने के परिप्रेक्ष्य में जब गायों को बुलाए जाने की घटना को रखा जाता है तो कृष्ण का यह विखंडित रूप और स्पष्ट हो जाता है। निश्चय ही राधा को कृष्ण को विखंडित कर देने वाला यह युद्ध निरर्थक प्रतीत होता है और अपने प्रेम की तन्मयता के क्षण ही सार्थक प्रतीत होते हैं, यह राधा द्वारा कृष्ण के प्रति किए गये इस प्रकार के वक्रोक्तिपरक सवाल से भी स्पष्ट है— *''अच्छा मेरे महान कनु,/ मान लो कि क्षण भर को/मैं यह स्वीकार कर लूँ/ कि मेरे ये सारे तन्मयता के गहरे क्षण/ सिर्फ भावावेश थे,/ सुकोमल कल्पनाएँ थीं/ रँगे हुए, अर्थहीन, आकर्षक शब्द थे/ मान लो कि/ क्षण भर को/ मैं यह स्वीकार लूँ / कि/ पाप-पुण्य, धर्माधर्म, न्याय-दण्ड/ क्षमा-शील वाला यह तुम्हारा युद्ध सत्य है....../ मान लो कि मेरी तन्मयता के गहरे क्षण/ रँगे हुए, अर्थहीन, आकर्षक शब्द थे—/तो सार्थकता फिर क्या है कनु ?''*[29]

राधा यह बिल्कुल नहीं मानना चाहती कि उसके प्रेम की तन्मयता निरर्थक थी, तो भी कृष्ण सार्थकता किसे बताते हैं, यह जानने के लिए ही उसने 'एक क्षण के लिए मान लेने' वाली बात कही है, क्योंकि उसे पता है कि 'युद्ध जीवन की सार्थकता है', इसे कृष्ण किसी भी तर्क से प्रमाणित नहीं कर सकते। यह बहुत सामान्य बात है कि जब लोगों को अपने द्वारा कही हुई बातों की सत्यता पर पूर्ण विश्वास रहता है और उनकी बातों को लोग यदि बार-बार कहने पर भी सत्य नहीं मानना चाहते तब वे इस तरह का कथन करते हैं कि 'चलो एक क्षण के लिए हमने मान लिया कि यह बात गलत है तो यह बताइए कि यह कैसे हुआ, वह कैसे हुआ, (इस 'यह' और 'वह' के उत्तर उसी बात को सत्य प्रमाणित करने से जुड़े रहते हैं, जिसे गलत माना जा रहा है) फिर सत्य क्या है' आदि। अतः राधा के इन कथनों अथवा प्रश्नों से यह सिद्ध नहीं होता कि राधा किसी द्वंद्व में है, बल्कि राधा इस बात पर दृढ़ है कि उसके प्रेम की तन्मयता के क्षण ही सार्थक हैं और कृष्ण द्वारा संचालित युद्ध निरर्थक है। स्पष्ट है कि कनुप्रिया में लीलाभूमि और युद्धभूमि को आमने-सामने रखकर जीवन के दो पक्षों की सार्थकता-निरर्थकता के मूल्यांकन का प्रयास किया गया है। कवि का अपना पक्ष क्योंकि लीलाभूमि की तरफ है, अतः काव्य के कलेवर में उसके विविध पक्षों पर ज्यादा हिस्सा खर्च किया गया है।

---

[28] कनुप्रिया : धर्मवीर भारती, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, उन्नीसवाँ संस्करण, 2013, पृष्ठ 68

[29] वही, पृष्ठ 67 और 69

कनुप्रिया में, जैसा कि कहा गया, कवि का अपना पक्ष लीलाभूमि अर्थात प्रेम की तरफ है। अतः उसी के अनुरूप इसमें प्रेम की गहनता को पूरी तन्मयता से चित्रित किया गया है—इन सबके बीच से युद्धभूमि की निस्सारता को पूरी सघनता से उभरने देने के लिए। कनुप्रिया में भावों और संवेदनाओं की सघनता है, गहराई है और उनका बिछलन भी; और इन सबके आपसी संबंधों के बीच से इसमें एक दार्शनिक विचारधारा भी प्रवाहित होती गयी है। भावों और संवेदनाओं की सघनता पहले ही गीत से शुरू हो जाती है, जिसमें कृष्ण के संसर्ग के कारण अशोक-वृक्ष के प्रति राधा ने अपनी कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति की है। प्रणय-भावना की सघनता का ही परिणाम होता है कि प्रणयी को हर वस्तु में अपने प्रिय की छवि दिखाई देती है, अन्य चीजों के समाने की गुंजाइश ही उस भावना में नहीं रह जाती, यही उसकी सघनता है, और यह भावना अन्य चीजों को भी प्रिय के रँग में रँगकर अपना बना लेती है यही उसकी गहराई है ! इस तरह के उदाहरण कनुप्रिया में भरे पड़े हैं। एक उदाहरण तो यमुना के जल का ही है, जिसे एकाधिक प्रसंगों में यहाँ उद्धृत किया जा चुका है। यमुना को राधा कृष्ण का प्रतिरूप समझती है —*"मानो यह यमुना की साँवली गहराई नहीं है/ यह तुम हो जो सारे आवरण दूर कर/ मुझे चारों ओर से कण-कण, रोम-रोम/ अपने श्यामल प्रगाढ़ अथाह आलिंगन में पोर-पोर/ कसे हुए हो !/ यह क्या तुम समझते हो/ घण्टों—जल में—मैं अपने को निहारती हूँ/ नहीं, मेरे सांवरे !"*[30] भावनाओं की यह सघनता और गहराई सूरदास की गोपियों की याद दिला सकती है—'लोचन जल कागद मसि मिलिकै, होइ गई स्याम स्याम की पाती'! भावाधिक्य के कारण प्रकृति की सभी वस्तुओं में प्रिय-दर्शन तो है ही, आत्मविस्मृति भी है। आत्मविस्मृति में मात्र प्रिय याद रहता है, अपनी सुध भूल जाती है—*"यह सारे संसार से पृथक पद्धति का/ जो तुम्हारा प्यार है न/ इसकी भाषा समझ पाना क्या इतना सरल है/ तिस पर मैं बावरी/ जो तुम्हारे पीछे साधारण भाषा भी इस हद तक भूल गयी हूँ/ कि श्याम ले लो ! श्याम ले लो !/ पुकारती हुई हाट-बाट में/ नगर-डगर में/ अपनी हँसी कराती घूमती हूँ !"*[31] मैथिल-कोकिल कवि विद्यापति ने भी राधा द्वारा आत्मविस्मृति में स्वयं को कृष्ण समझ लिए जाने का वर्णन किया है—*"अनुखन माधब-माधब सुमरइते सुंदरि भेलि मधाई/ ओ निज भाव सुभाबहि बिसरल, अपनेहि गुण लुबुधाई।"*[32] इसी भाव का पद सूरदास ने भी लिखा है—*"जब राधे तब ही मुख 'माधौ माधौ' रटति रहै। जब माधव ह्वै जाति सकल तनु राधा विरह दहै।"*[33] मीरा बाई की पंक्तियाँ तो भारती जी की पंक्तियों की बिल्कुल पूर्व रूप ही हैं—*"कोई स्याम मनोहर ल्योरी सिर धरे मटकिया डोलै। दधि*

---

[30] कनुप्रिया : धर्मवीर भारती, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, उन्नीसवाँ संस्करण, 2013, पृष्ठ 16

[31] वही, पृष्ठ 31

[32] विद्यापति पदावली : श्री रामवृक्ष बेनीपुरी (संप.), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण, 2007, पृष्ठ 144

[33] संक्षिप्त सूरसागर : बेनीप्रसाद (संप.), इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, 1927, पृष्ठ 466

*को नाँव बिसरि गई ग्वालन 'हरिल्यो हरिल्यो' बोलै।"*[34] यह आत्मविस्मृति भावों की सघनता का चरम रूप है। भावों की सघनता में प्रिय से एकाकार होने की प्रक्रिया में एक रूप आत्ममुग्धता का भी उभर कर आता है, जो विद्यापति की उपर्युक्त पंक्तियों में आया है। इस आत्ममुग्धता का एक रूप आत्मविस्तार होता है। यह आत्मविस्तार भावनाओं की पूरी गहराई लिए होता है इसीलिए इसमें सारी प्रकृति को समा लेने की शक्ति होती है। आत्मविस्तार में प्रकृति को अपना ही स्वरूप समझने का सिलसिला शुरू होता है। प्रिय के स्वरूप का विस्तार भी प्रेमाधिक्य के कारण प्रणयी द्वारा किया जाता है, यह बात ऊपर कही जा चुकी है। दोनों ही रूपों का आधार भावनाओं की सघनता और गहराई ही होती है, यदि यह प्रक्रिया प्रणयी द्वारा खुद संपन्न की गयी हो तो। कनुप्रिया में ये दोनों स्वरूप विद्यमान हैं—आत्मविस्तार और प्रिय-विस्तार; और इन दोनों की प्रक्रिया में से ही एक दार्शनिक विचारधारा भी अपना स्वरूप ग्रहण कर पायी है—*"कौन है जिसकी आत्मा को तुम ने/ फूल की तरह खोल दिया है/ और कौन है जिसे/ नदियों जैसे तरल घुमाव दे-दे कर/ तुम ने तरंग-मालाओं की तरह/ अपने कण्ठ में, वक्ष पर, कलाइयों में/ लपेट लिया है/ वह मैं हूँ मेरे प्रियतम !/ वह मैं हूँ / वह मैं हूँ"*[35]।

प्रेमाधिक्य ही भावनाओं में बिछलन भी पैदा करता है। कनुप्रिया की राधा कृष्ण के प्रति ऐसे भी कथन करती है जिनके पूर्व सारे तर्क और नियम-कानून पीछे धकेल दिए जाते हैं। इनमें एक तरह की हठवादिता होती है कि 'ऐसा है, तो है; मैं कुछ नहीं जानता या कुछ नहीं जानती !' ऐसा कथन किसी के प्रति तब किया जाता है जब कोई उस पर अपना पूरा अधिकार समझता है, प्रेम का अधिकार हो तो बात पूरी तरह हठवादी हो जाती है। राधा ने कई जगह भाव-बिछलन के कथन किए हैं, जैसे—*"मेरे हर बावलेपन पर/ कभी खिन्न होकर, कभी अनबोला ठानकर, कभी हँस कर/ तुम जो प्यार से अपनी बाहों में कसकर/ बेसुध कर देते हो/ उस सुख को मैं छोड़ूँ क्यों/ करूँगी !/ बार-बार नादानी करूँगी/ तुम्हारी मुँहलगी, जिद्दी, नादान मित्र भी तो हूँ न !"*[36] भावों की यह सारी सघनता और गहराई, जैसा कि कहा गया, युद्ध की विकटता के परिप्रेक्ष्य में रखे जाने के लिए हैं। कहाँ ऐसा सघन प्रेम और कहाँ युद्ध की मनः-स्थिति ! राधा को युद्ध अत्यंत अप्रिय है। वह इस मनः-स्थिति से इतना आक्रांत है कि स्वप्न में भी उसे युद्ध की विकटता के चित्र ही दिखायी देते हैं। युद्धभूमि की विकटता का यह आभास या युद्ध के स्वप्न-चित्रों के ये विकट रूप भी काव्य में लीलाभूमि को सार्थकता ही प्रदान करने के लिए आए हैं—युद्धभूमि के परिप्रेक्ष्य में—*"मैंने देखा कि अगणित विक्षुब्ध विक्रांत लहरें/ फेन का शिरस्त्राण पहने/ सिवार का कवच धारण किये/ निर्जीव मछलियों के धनुष लिये/ युद्धमुद्रा में आतुर हैं / —और तुम कभी*

---

[34] मीराँबाई की पदावली : आचार्य परशुराम चतुर्वेदी (संप.), हिंदी साहित्य सम्मलेन, प्रयाग, बाईसवाँ संस्करण, 2008, पृष्ठ 148

[35] कनुप्रिया : धर्मवीर भारती, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, उन्नीसवाँ संस्करण, 2013, पृष्ठ 42

[36] वही, पृष्ठ 29

*मध्यस्थ हो/ कभी तटस्थ/ कभी युद्धरत/ और मैंने देखा कि अंत में तुम/ थक कर/ इन सब से खिन्न,उदासीन, विस्मित और/ कुछ-कुछ आहत/ मेरे कंधों से टिककर बैठ गये हो"*[37]।

काव्य का अंत इस आशा के साथ किया गया है कि आगे का जीवन-इतिहास युद्धमय नहीं, प्रेममय होगा ! इसी आशा को संजोये राधा युद्धभूमि में गये हुए कृष्ण का इंतज़ार लीलाभूमि के उसी रास्ते पर कर रही है जिस रास्ते कृष्ण युद्ध के बाद थके-हारे और निराश वापस आने वाले हैं। युद्ध क्योंकि मनुष्य की समस्त कोमल भावनाओं का नाश कर देने वाला है, अतः राधा को विश्वास है कि युद्ध के बाद कृष्ण थके-हारे और निराश मन से ही वापस आयेंगे, और अपनी उस मनः-स्थिति से त्राण पाने के लिए वे राधा का आश्रय भी ज़रूर ढूँढेंगे। राधा को यह भी पूर्ण विश्वास है कि जीवन इतिहास के निर्माण के समय, यानी अपने महान बनने की प्रक्रिया में, अगर कृष्ण ने राधा को भी साथ लिया होता तो कृष्ण युद्ध की ओर झुकते ही नहीं। अतः युद्ध के बाद जीवन के नए प्रेममय इतिहास के निर्माण लिए वह कृष्ण का साथ देना चाहती है। इसीलिए इन्हीं आशाओं को सँजोए हुए वह लीलाभूमि में कृष्ण का इंतजार करती है कि जब युद्धभूमि से थके, निराश कृष्ण इस रास्ते से लौटेंगे और अपनी निराशा और उद्वेलन के शमन के लिए वे राधा का आश्रय पाना चाहेंगे तब वह उन्हें सहारा दे सकेगी। और कृष्ण जब दुबारा किसी इतिहास का निर्माण करना चाहेंगे तो राधा उनके साथ होगी—*"तुमने मुझे पुकारा था न/ मैं आ गयी हूँ कनु/ और जन्मांतरों की अनन्त पगडण्डी के/ कठिनतम मोड़ पर खड़ी हो कर/ तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हूँ।/ कि, इस बार इतिहास बनाते समय/ तुम अकेले न छूट जाओ !"*[38] कनुप्रिया में जो दार्शनिक उक्तियाँ आयी हैं, मुख्यत्तः 'सृष्टि-संकल्प' नामक सर्ग के अंतर्गत के 'सृजन-संगिनी' 'आदिम-भय' और 'केलिसखी' नामक शीर्षक गीतों में, वह सब राधा की इसी आशा की पृष्ठभूमि हैं। काव्य की दार्शनिक उक्तियों में विश्व के सृजन में राधा को कृष्ण की सहायिका माना गया है। कृष्ण की इच्छा से ही राधा ने अपने आपको सृष्टि के नाना रूपों में ढाल लिया है—*"ओ मेरे स्रष्टा/ तुम्हारे संपूर्ण अस्तित्व का अर्थ है/ मात्र तुम्हारी सृष्टि/ तुम्हारी संपूर्ण सृष्टि का अर्थ है/ मात्र तुम्हारी इच्छा/ और तुम्हारी संपूर्ण इच्छा का अर्थ हूँ/ केवल मैं !/ केवल मैं !!/ केवल मैं !!!"*[39] सृष्टि का निर्माण जब राधा के सहयोग के बिना नहीं होता, तो जो जीवन-इतिहास उसके सहयोग के बिना रचा जाएगा वह विकृत होगा ही ! अतः राधा नए जीवन-इतिहास की रचना प्रक्रिया में सहयोगी की भूमिका में रहने के लिए रास्ते में कृष्ण का इंतज़ार करती है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि युद्ध और प्रेम की प्रकृति को अनेक संदर्भों और परिस्थितियों में परखते हुए 'कनुप्रिया' में कवि जीवन में युद्ध को त्याज्य मानता है और प्रेम को वरणीय। युद्ध और युद्ध की मानसिकता बुद्धि के व्यापार हैं और प्रेम ह्रदय का। ह्रदय का व्यापार मन को किसी संकल्प की तरफ झुकाता है जबकि बुद्धि का विकल्प या दुविधा की ओर। काव्य क्योंकि ह्रदय का व्यापार है

---

[37] कनुप्रिया : धर्मवीर भारती, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, उन्नीसवाँ संस्करण, 2013, पृष्ठ 73

[38] वही, पृष्ठ 81

[39] वही, पृष्ठ 44

इसीलिए जयशंकर प्रसाद ने इसे आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति कहा है—*"काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका संबंध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है।"*[40] स्पष्ट है कि विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान का संबंध बुद्धि से है। 'कनुप्रिया' की राधा का मन प्रेम और युद्ध के बीच प्रेम को तरजीह देने में तनिक भी दुविधा या संशय में नहीं पड़ता, भले ही उसका प्रिय और आराध्य युद्ध की ओर मुड़ गया हो ! जीवन में प्रेम का पक्ष उसके मन का संकल्प है, जिसका कोई विकल्प नहीं।

### 7.3 संशय की एक रात

**'संशय की एक रात'** नरेश मेहता का खंडकाव्य है। यह रामकथा पर आधारित है। इसमें राम का एक नया रूप पाठकों के सामने प्रस्तुत किया गया है। 'निराला' ने अपनी 'राम की शक्तिपूजा' में कभी राम के लिए लिखा था—'स्थिर राघवेंद्र को हिला रहा फिर-फिर संशय।' संशय की प्रकृति भिन्न प्रकार की होते हुए भी राम के संशय का चरम परिपाक फिर नरेश मेहता की कृति 'संशय की एक रात' में घटित होता है। यहाँ राम के मन में युद्ध को लेकर संशय की स्थिति है। वे अपने व्यक्तिगत कारणों से एक व्यापक समाज को युद्ध में नहीं झोंकना चाहते हैं। लक्ष्मण, हनुमान, सुग्रीव आदि राम के उन व्यक्तिगत कारणों को सामाजिक कारण सिद्ध कर देते हैं। और इस तरह काव्य के अंत में सामजिक कारणों से राम-रावण के बीच युद्ध की घोषणा कर दी जाती है। यों, काव्य में व्यष्टि और समष्टि के द्वंद्व के सहारे कथा को आगे बढ़ाया गया है। इसका कथानक घटना-विहीन है। इसमें विचारों की प्रधानता है।

व्यष्टि और समष्टि का द्वंद्व पहले राम के मन में चलता है। राम सामाजिक हित के लिए अपने व्यक्तिगत हितों को तुच्छ मानने की जद्दोजहद करते हैं—*"मुझे ऐसी जय नहीं चाहिए,/ बाणबिद्ध पाखी सा विवश/ साम्राज्य नहीं चाहिए,/ मानव के रक्त पर पग धरती आती/ सीता भी नहीं चाहिए।/ सीता भी नहीं।/ हाय/ आज तक मैं निमित्त ही रहा/ कुल के विनाश का/ लेकिन/ अब नहीं बनूँगा कारण/ जन के विनाश का।"*[41] यों, राम इस जद्दोजहद में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वे सामाजिक भलाई के लिए युद्ध का परित्याग कर देंगे। युद्ध पर यह राम का व्यक्तिगत निर्णय होता है। राम के इस व्यक्तिगत निर्णय से फिर मुख्यतः लक्ष्मण, हनुमान और विभीषण जूझते हैं। अतः काव्य में दूसरे स्तर पर व्यष्टि और समष्टि का द्वंद्व राम और अन्य पात्रों के बीच चलता है। एक तीसरे स्तर पर भी यह द्वंद्व सामने आता है, जब राम के व्यक्तिगत कारणों को हनुमान सामाजिक कारण प्रमाणित कर देते हैं। यों, इस काव्य में व्यक्ति और समाज की चेतना के बीच के द्वंद्व का प्रदर्शन है।

---

[40] काव्य और कला तथा अन्य निबंध : जयशंकर प्रसाद, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, 2007, पृष्ठ 25

[41] संशय की एक रात : नरेश मेहता, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2012, पृष्ठ 26

काव्य के आरंभ में राम को उद्विग्न और द्वंद्व-ग्रस्त दिखाया गया है। शांति के तमाम उपाय व्यर्थ होने के बाद राम आसन्न-युद्ध की समस्या से उद्विग्न हैं। राम की इसी उद्विग्नता से काव्य की शुरुआत होती है—*"कितनी बार/ कितनी साँझ/ इस सिंधुबेला तट/ बितायीं,/ काट दीं—पर व्यर्थ !!/ कितनी बार कुचला/ बालुओं को/ स्वयं के पदचिह्न व्यूहों से/ घिरे बैठे रहे/ दुर्ग निर्माते रहे,/ सीतामुख बनाते/ सदा काँपी अँगुलियाँ/ पर हाय—/ यह बालुवाली जानकी/ प्रतिसाँझ/ ज्वारजल में समर्पित होती रह ।"*[42] राम की इस उद्विग्नता का आधार सीता का रावण के यहाँ बंदी होना है, जिन्हें छुड़ाने के लिए शांति के सभी मार्ग अवरुद्ध हो गये हैं; क्योंकि—*"प्रतिबार/ रावण के द्वार से/ शांति के सब दूत/ लौटे हार/ सौ बार ।"*[43] राम की यह उद्विग्नता व्यष्टि से समष्टि की टकराहट का ही परिणाम है। राम अपनी व्यक्तिगत समस्याओं के चलते एक सामूहिक युद्ध नहीं चाहते थे। अतः वे दुविधाग्रस्त थे।

राम की इस उद्विग्नता से पहली बार लक्ष्मण का सामना होता है। किंकर्तव्यविमूढ़ राम को लक्ष्मण कर्म का मार्ग दिखाते हैं—*"हम केवल चलते हैं/ अपने में/ अपने से बाहर/ धूप और अंधकार चीरे/ हम चलते हैं*[44]*"*। लक्ष्मण के अनुसार व्यक्ति का कार्य केवल कर्म के क्षेत्र में आगे बढ़ते जाना है, परिणाम चाहे अच्छा मिले या बुरा। आगे चलकर राम की इस उद्विग्नता से दशरथ और जटायु की आत्माएँ टकराती हैं। युद्ध-पथ पर बढ़ने के लिए राम को कर्म का ही उपदेश दशरथ और जटायु की आत्माएँ भी देती हैं। इस तरह से यहाँ गीता के उपदेश की एक प्रकार से पुनरावृत्ति होती हुई प्रतीत होती है। दशरथ की आत्मा राम को कर्म की तरफ प्रेरित करती हुई कहती है—*"राम !/ तुम चाहते हो सत्य/ और अधिकार/ युद्ध साधन के बिना ।/ प्रतिबार/ रावण-द्वार से/ तुम्हारे दूत लौटे हार/ फिर भी युद्ध/ अस्वीकार तुमको/ क्यों ?/ किसलिए यह अनासक्ती ?/ कर्म के प्रति कापुरुषता नहीं है यह ?"*[45] दशरथ और जटायु के उपदेश गीता की तरह ही दार्शनिक शैली के होते गये हैं। जटायु राम के उस परिताप को जो अपने आपको परिवार की दुर्गति का कारण मानने से उपजा है, और जिसके कारण ही राम युद्ध से विमुख होना चाहते हैं, मिटाने के लिए कहते हैं—*"राघव !/ अपने पिता और परिजनों के लिए/ परितापित हो/ उन्हें छोटा न करो ।/ यहाँ प्रत्येक कर्म/ क्षण या व्यक्ति/ घटित होकर कालातीत हो जाता है ।/ यह संबंधहीन घटना ही/ अग्नि है/ नियम है/ दिशाकाशी पुरुष है ।"*[46]

इसके बाद राम की इस इस उद्विग्नता और परिताप से युद्ध-पूर्व की सभा में लक्ष्मण, हनुमान, सुग्रीव और विभीषण सभी टकराते हैं। हनुमान का पक्ष यहाँ महत्वपूर्ण है। वे सीता हरण को राम की व्यक्तिगत समस्या मानने से इनकार करते हुए उसे एक सामाजिक-समस्या का रूप देते हैं—*"मित्रो !/*

---

[42] संशय की एक रात : नरेश मेहता, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2012, पृष्ठ 11

[43] वही, पृष्ठ 14

[44] वही, पृष्ठ 23

[45] वही, पृष्ठ 47

[46] वही, पृष्ठ 54

*सीता माता/ भले ही राम की पत्नी हों/ किसी की वधू/ किसी की दुहिता हों/ पर हम कोटि-कोटि जनों की तो केवल/ प्रतीक हैं—/ रावण अशोकवन की सीता/ हम साधारण जन की अपहृत स्वतंत्रता।"*[47] इस तरह हनुमान ने रावण को सामाजिक आक्रांता के रूप में चित्रित करते हुए उसके खिलाफ युद्ध की अनिवार्यता को रेखांकित किया। इसी तरह सुग्रीव ने न्याय के लिए इस युद्ध की उपयुक्तता बतायी। न्याय के लिए युद्ध करने में कोई हर्ज नहीं—*"महाराज !/ निश्चिंत रहें/ यह युद्ध न्याय का है/ क्योंकि/ रावण ने/ दक्षिण प्रदेश/ उसके सामंतों को अधिकृत कर/ बो दिए युद्ध के बीज।/ हमारी जीत प्रथम होगी/ जब किसी चक्रवर्ती को हरा सकेंगे।/ सीता/ जोकि हमारी माता हैं/ उन्हें आपको सौंप/ उऋण होंगे दक्षिण के नर-नारी।"*[48] विभीषण अपने तमाम द्वंद्वों के कारण राम से सहानुभूति रखते हैं। भविष्य में लोगों द्वारा लंका का विश्वासघाती समझे जाने की आशंका से घिरे हुए विभीषण खुद को राम की स्थिति में पाते हैं—*"राम ! मेरी आत्मा में भी यही है द्वंद्व/ क्या युद्ध नियति है/ हमारे सारे शुभाशुभ कर्म की ?"*[49] इन सबके बावजूद वे भी युद्ध की उस स्थिति को स्वीकार कर लेते हैं जब यह तमाम प्रयासों के बावजूद टल न सका हो—*"युद्ध/ मंत्रणा नहीं/ एक दर्शन है राम !/ अंतिम मार्ग है स्वत्व और अधिकार अर्जन का।"*[50]

इस तरह से राम के संशयों, उद्विग्नताओं, द्वंद्वों और परितापों से इस कृति के अन्य पात्र जूझते हुए उसे शमित करने का प्रयास करते हैं। यों, विचारों की यह टकराहट कई स्तरों पर व्यष्टि और समष्टि की टकराहट को रेखांकित करती है। राम अपने पक्ष में अकेले होते हैं, उनके विपक्ष में ही सब अपना-अपना मत रखते हैं। अतः यहाँ व्यक्ति और समूह की वैचारिक टकराहट है। खुद राम के अंदर चलने वाले द्वंद्व में यह टकराहट व्यक्तिगत-हित और सामजिक-हित की है। एक तीसरे स्तर पर, जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, राम और हनुमान के विचारों में व्यष्टि और समष्टि की टकराहट है। इसमें राम के पक्ष में जो व्यष्टि है, वही हनुमान के पक्ष में समष्टि हो जाता है। राम ने सीता-हरण को व्यक्तिगत कारण बताया है, और हनुमान ने सामाजिक। अपने मन की टकराहट में राम युद्ध न करने का निर्णय लेते हैं। उनके इस निर्णय से ही इस कृति के अन्य पात्र टकराते हैं। अंततः युद्ध किया जाए या नहीं, इस पर विचार करने के लिए एक परिषद् का गठन किया जाता है। इस प्रक्रिया में राम ने अपने तर्क में सभी जगह युद्ध की सार्थकता पर प्रश्न-चिह्न लगाये। पर अंततः उन्हें परिषद् की इच्छा का सम्मान करना पड़ता है, जो युद्ध के समर्थन में अपना मत रखती हैं। इस तरह से राम के अंदर के व्यक्तिवाद को नाटकीय ढंग से समूहवाद के द्वारा दबा दिया गया है। अन्य पात्र अपने-अपने तर्कों के सहारे यद्यपि राम को युद्ध

---

[47] संशय की एक रात : नरेश मेहता, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2012, पृष्ठ 62-63

[48] वही, पृष्ठ 67

[49] वही, पृष्ठ 71

[50] वही, पृष्ठ 68

के लिए राजी कर लेते हैं, पर उनके मन में युद्ध की सार्थकता को लेकर द्वंद्व बना ही रहता है। ऐसा कृति को लेकर लेखक के अपने उद्देश्य के कारण हुआ है।

युद्ध की समस्या पर विचार-विमर्श करते हुए युद्ध को देश व समाज के लिए हानिकारक सिद्ध करना इस काव्य का उद्देश्य है। राम इस समस्या से व्यक्तिगत स्तर पर जूझते हैं। अतः युद्ध के संबंध में उनके मन में उठने वाले द्वंद्वों के चित्रण के सहारे युद्ध को व्यापक समाज के लिए निरर्थक घोषित करने का प्रयास किया गया है। यह प्रयास प्रयास के स्तर पर ही सफल हुआ है, परिणाम के स्तर पर यह बहुत हद तक असफल ही हुआ है क्योंकि कथ्य के लिए जिस कथानक का चुनाव किया गया है, वह उसके लिए बहुत उपयुक्त नहीं है। इसीलिए युद्ध के प्रति तमाम विरोधी बातों को रेखांकित करने के बाद भी अंततः राम को युद्ध के लिए तैयार दिखाना ही पड़ता है। इन सबके बावजूद यह कृति अपने उद्देश्यों में अंशतः सफल हुई है तो इसमें कि यह युद्ध से पहले युद्ध की सार्थकता और निरर्थकता पर बहस करने के लिए सभा का आयोजन करती है। यह सभा यह ध्वनित करती है कि युद्ध के कारणों और परिणामों पर गंभीर विचार-विमर्श करते हुए इसे यथासंभव टालने का प्रयास किया जाना चाहिए। विचार-विमर्श के बाद सभा द्वारा युद्ध का निर्णय लिये जाने के बावजूद युद्ध की सार्थकता के प्रति राम अंत तक आश्वस्त नहीं होते। वे बेमन से ही युद्ध की घोषणा को स्वीकार कर पाते हैं। अतः यह कृति अंततः युद्ध की सार्थकता के प्रति संदेह बरकरार रखती है। यही इस कृति का उद्देश्य है, जिसमें वह अंशतः सफल हुई है।

कृति की अंशतः सफलता की बात इसलिए यहाँ की जा रही है कि इसके कथ्य के लिए जिस कथानक का चुनाव किया गया है वह इसके उपयुक्त नहीं है। यह रचना मिथकीय खंडकाव्य है। ऐसे खंडकाव्य अपने उपजीव्य ग्रंथों की कथाओं की पृष्ठभूमि पर रचित होते हैं। इस काव्य में भी रामकथा अपनी पृष्ठभूमि में उपस्थित है। रामकथा में रावण को जिस तरह सामाजिक आक्रांता के रूप में दिखाया गया है, उस आधार पर राम से उसकी शत्रुता को निपट व्यक्तिगत नहीं माना जा सकता। यही बात हनुमान के माध्यम से इस काव्य में व्यक्त की गयी है। रावण अत्याचारी राजा है, राम की पत्नी का हरण उसके तमाम अत्यचारों का एक अंग मात्र है। इसे उन्हीं अत्याचारों की शृंखला में देखना चाहिए, उनसे काटकर नहीं। इन सबके बावजूद अगर यह मान लिया जाय कि राम की रावण से व्यक्तिगत शत्रुता है, तब भी एक अत्याचारी के अत्याचारों का अंत करने के लिए युद्ध के रास्ते को अपनाना बुरा नहीं है, अगर युद्ध को टालने के तमाम प्रयास व्यर्थ साबित हो जाते हैं तो। इस संदर्भ में राम जिस सीता हरण को अपनी वैयक्तिक समस्या मानते हुए युद्ध न करने का निर्णय लेकर सीता से विमुख होने की कोशिश कर रहे थे वह निहायत ही अस्वाभाविक लगती है। राम व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकार का उपयोग करते हुए युद्ध की समस्या को व्यक्तिगत बताकर उसे टालने की बात कर रहे थे। इसी व्यक्तिगत स्वतंत्रता के मूल्य के परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखा जाय तो सीता की भी एक व्यक्तिगत स्वतंत्रता बनती है। उनकी

इस स्वतंत्रता का हनन रावण कर रहा था। अतः सीता को रावण से मुक्त कराना राम की जिम्मेदारी और कर्तव्य बन जाते हैं। पर राम का व्यक्तिवाद सीता की वैयक्तिक स्वतंत्रता में आड़े आ जाता है। अतः कथानक में अस्वाभाविकता आ जाती है। दूसरे स्तर पर, राम व्यापक मानवीय-हितों का ध्यान रखते हुए युद्ध से बचना चाह रहे थे। इस संदर्भ में यह ध्यान रखना चाहिए कि सीता भी मनुष्य ही हैं। वे कोई वस्तु या राज्य नहीं, जिसकी उपेक्षा मानव-मूल्यों के संदर्भ में करना उचित हो। और क्योंकि सीता भी मनुष्य ही हैं, अतः उनका जीवन, उनका स्वत्व और निजत्व बचाना मानव-मूल्यों को ही संरक्षण देना है। और इसके लिए युद्ध करना ज़रूरी हो जाता है यदि इसको टालने के यथाशक्य सारे उपाय व्यर्थ साबित हो जाएँ। हाँ, सवाल यह ज़रूर उठता है कि क्या एक मनुष्य के लिए सहस्त्रों मनुष्य का जीवन कुर्बान किया जा सकता है ? कवि ने शायद इसी को ध्यान में रखकर राम से यह कहलवाया है कि 'मानव के रक्त पर पैर रखकर आती हुई सीता उन्हें नहीं चाहिए'। विचारणीय बात है कि प्रतिद्वंदी अपराधी-सेना के लोग, जिसे राम मानव समझ कर उनके नाश से कतरा रहे हैं, क्यों एक अपराधी का साथ देकर उसका मनोबल बढ़ा रहे हैं ? दूसरे, इस बात का क्या भरोसा कि जिस व्यक्ति को एक अमानवीय कृत्य करने पर छोड़ा जा रहा है वह इससे सह पाकर अनेक अमानवीय कृत्य न करेगा ? बल्कि रावण को उसके अमानवीय कृत्यों के लिए कभी उचित दंड नहीं मिला है, इसीलिए वह अत्यंत अत्याचारी हो गया है। क्या उसके मन में संशय नहीं उठना चाहिए, राम के जैसा ! एक दूसरे कोण से यह कहा जा सकता है कि अपने-अपने निजत्व में जितना महत्वपूर्ण उनका जीवन है, जिन्हें बचाने के लिए एक मनुष्य का जीवन कुर्बान किया जा रहा है, क्या अपने निजत्व में उस मनुष्य का जीवन उनसे कम महत्वपूर्ण है जिसे कुर्बान किया जा रहा है, सीता का जीवन क्या कम महत्वपूर्ण है ? अतः ऐसी समस्या को इस प्रकार के कथ्य के लिए चुनना बहुत उपयुक्त नहीं था। यह कथानक तब उपयुक्त होता जब अपराधी की ओर से अपने अपराध-बोध के कारण युद्ध से विमुखता की प्रवृत्ति दिखाई जाती। अपराधी यदि अपने अपराधों पर अडिग है, तब समाज के लिए उसके अपराधों के अंत का रास्ता ही उचित है, भले ही वह अंतिम रास्ता युद्ध का हो। इन सबके बावजूद, युद्ध टालने के लिए अपराधी के सम्मुख राज्य या किसी वस्तु का परित्याग तो किया सकता है, पर स्वयं मनुष्य का जीवन दाँव पर नहीं लगाया जा सकता। कवि ने उस कथानक का चुनाव किया है जहाँ एक व्यक्ति का जीवन दाँव पर लगा है। इस तरह के उद्देश्य के लिए ऐसा कथानक उपयुक्त नहीं था। इसीलिए तमाम जद्दोजहद के बाद राम को युद्ध के लिए उतारा ही जाता है, भले ही बेमन से। राम के बेमन से युद्ध के लिए तैयार होने में ही कथा में अस्वाभाविकता आ जाती है।

### 7.4 आत्मजयी

**'आत्मजयी'** कुँवर नारायण का खंडकाव्य है। इसका प्रकाशन 1965 ई० में हुआ था। यह वैदिक काल के महत्वपूर्ण दार्शनिक ग्रंथ 'कठोपनिषद' के आधार पर लिखा गया है। अपने उपजीव्य-

ग्रंथ के अनुसार इसमें भी भौतिकतावादी दृष्टिकोण के स्थान पर आध्यामिकतावादी दृष्टिकोण का महत्व रेखांकित है। उल्लेखनीय है कि भौतिकतावाद इसी दृश्यमान जगत को महत्व देता है और आध्यात्मिकतावाद इस जगत से परे उस जगत को, जिसे परलोक कहा जाता है। यह भी उल्लेखनीय ही है कि भौतिकतावाद आधुनिक युग की प्रवृत्ति है, और आध्यात्मिकतावाद मध्यकाल की। इस संदर्भ में, इस कृति के कथ्य के बारे में यह जिज्ञासा सहज ही उठ सकती है कि क्या इसका संबंध आधुनिक-काल से है ? स्वयं कवि ने इसमें उठायी गयी समस्या को शाश्वत बताया है—*"आत्मजयी में ली गयी समस्या नयी नहीं—उतनी ही पुरानी है (या फिर उतनी ही नयी) जितना जीवन और मृत्यु संबंधी मनुष्य का अनुभव।"*[51] यानी यह समस्या मनुष्य के जीवन की शुरुआत से उत्पन्न हुई है और जब तक रहेगी जब तक मनुष्य का जीवन रहेगा।

इस प्रबंध के 'आधुनिकता' संबंधी सैद्धांतिक अध्याय में यह रेखांकित किया गया है कि आधुनिकता के 'मूर्त' और 'अमूर्त' दो रूप होते हैं। इसे चाहें तो क्रमशः आधुनिकता का वस्तु-रूप और आधुनिकता का विचार-रूप भी कह सकते हैं। आधुनिकता का वस्तु-रूप अपने अति-भौतिकतावाद में मनुष्य के लिए ऐसी परिस्थितयों का निर्माण करता है जिससे उसके अंदर कुंठा, घुटन, संत्रास, अनास्था, तनाव आदि स्थितियों का जन्म हो जाता है। इसके अलावा भी अति-भौतिकता के चक्कर में उसमें स्वार्थपरता, छल-प्रपंच, भ्रष्टाचार और अपराध की प्रवृत्तियाँ भी पनपती हैं। वस्तुतः जिसे आधुनिकता का अंधानुकरण कहा जाता है, वह आधुनिकता का ही एक प्रकार है। वह आधुनिकता का वस्तु-रूप है। जब आधुनिकता, जो कि समय के विकास की अगली कड़ी है, अपने तमाम दावों के बावजूद ऐसा शाश्वत मूल्य न दे पाये जिससे मनुष्य जाति का कल्याण हो, तब मनुष्य को अपनी प्राचीन उपलब्धियों पर बिहंगम दृष्टि डालते हुए उनसे उन मूल्यों को अर्जित करना होता है जो आज की बदली हुई परिस्थितियों से अनुकूलन स्थापित करते हुए उन्हें बदल दें। 'आत्मजयी' मूलतः यही करती है। यों, प्राचीन के नवीनीकरण की प्रक्रिया से जुड़कर वह आधुनिक बनती है। कवि के इस कथन में इस प्रक्रिया का संकेत है—*"आत्मजयी मूलतः जीवन की सृजनात्मक संभावनाओं में आस्था के पुनर्लाभ की कहानी है।"*[52] यों यह कथन मृत्यु के कोण से जीवन को देखने पर जीवन के प्रति उत्पन्न हुई आस्था से है, पर उस कोण से देखने पर भी आस्था उत्पन्न होती है अध्यात्म का ही सहारा लेकर, खासकर तब, जब वह आस्था जीवन के प्रति सृजनात्मक संभावनाओं से जुड़ी हो।

जीवन की सृजनात्मक संभावनाओं से आशय उन जीवन-मूल्यों की खोज के प्रति आश्वस्ति है जिनके सहारे मनुष्य मृत्यु के बाद भी जीवित रह सके, अपनी कीर्ति और यश के सहारे। यों दुनिया में कीर्ति और यश उसको मिलते हैं, जो दूसरों के काम आता है। दूसरों के काम आने वाला व्यक्ति

---

[51] आत्मजयी : कुँवर नारायण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, नौवाँ संस्करण, 2012, पृष्ठ 10 (भूमिका से)

[52] वही, पृष्ठ 8 (भूमिका से)

भौतिकतावादी नहीं हो पाता, क्योंकि वह संचय कर ही नहीं पाता। भौतिकतावादी व्यक्ति स्वार्थी होता है। स्वार्थ के आगे वह सोच ही नहीं सकता। स्वार्थ के आगे सोचने वाला व्यक्ति क्योंकि दूसरों के बारे में सोचता है, अपने अलावा संपूर्ण सृष्टि के बारे में; अतः सृष्टि से संबंधित होने के कारण उसकी दृष्टि आध्यात्मिक हो उठती है, कम से कम भौतिकता-विरोधी तो हो ही उठती है। यों, आध्यात्मिकता का यहाँ मतलब सृष्टि के शाश्वत नियमों-परिनियमों को जानने की प्रक्रिया या जिज्ञासा है, भक्ति-भावना नहीं। इस तरह अति-भौतिकता से उत्पन्न खतरों के परिहार के लिए आध्यात्मिकता का सहारा लिया जा सकता है। अति-भौतिकता आधुनिक युग की समस्या है, तो इसके उपाय के उपकरण भी आधुनिक ही होंगे। इस संदर्भ में आध्यात्मिकता का यहाँ नवीनीकरण हो जाता है। विज्ञान ने चाहे जितनी प्रगति कर ली हो, पर मृत्यु पर विजय वह नहीं हासिल कर पाया है। मृत्यु-बोध ही वह स्थिति है जो आधुनिक युग में भी मनुष्य को आध्यात्मिक बनाये रखती है। नचिकेता में भी पहली बार मृत्यु-बोध उसके पिता ने जगाया था, यह कहकर कि 'जा मैंने तुझे मृत्यु को दिया'। यों, मृत्यु की अवधारणा के साक्षात्कार से ही इस काव्य की शुरुआत होती है, जो आगे चलकर मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की प्रक्रिया में पर्यवसित होती जाती है।

इस खंडकाव्य में छोटे-छोटे अट्ठाइस अध्याय हैं। इनमें नचिकेता के इतिवृत्त को सूक्ष्म ढंग से प्रस्तुत किया गया है। आधुनिकता के आग्रह और अपने उद्देश्य के अनुसार कवि ने मूल कथा में थोड़ा-सा बदलाव भी किया है। इस कृति में नचिकेता यम के द्वार पर नहीं जाता, बल्कि यम से उसका साक्षात्कार उसकी अचेतावस्था में हुआ था। दूसरे, इसमें नचिकेता ने यम से तीन नहीं, दो ही वरदान माँगे हैं। इस परिवर्तन के बावजूद इसकी कथा और उद्देश्य मूल कथा से मिलते-जुलते हैं। इसकी इसी प्रवृत्ति को लक्षित करते हुए रामस्वरूप चतुर्वेदी ने इसकी आधुनिकता पर संदेह व्यक्त करते हुए लिखा है—*"आत्मजयी में नचिकेता की पुराण-कथा के एकदम समानांतर रचना का इतिवृत्त चलता है। जो समस्या कवि की है ठीक वही नचिकेता की थी—मरणोत्तर जीवन-सत्य की तलाश। इसीलिए वह कलात्मक तनाव 'आत्मजयी' में कम है जो व्यापक जीवन दृष्टि को व्यंजित करता है।"*[53] यह संकेत किया जा चुका है कि आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि मूलतः मध्यकालीन जीवन-दृष्टि है। भौतिक उन्नति को सीधे अस्वीकार करके आध्यात्मिक उन्नति के महत्व को रेखांकित करने वाली दृष्टि भक्तिकाल या मध्यकाल की दृष्टि रही है जो आज के वैज्ञानिक युग में किसी कदर स्वीकार्य नहीं हो सकती। पर जीवन के प्रति उस मध्यकालीन दृष्टि और कवि की दृष्टि में एक महत्वपूर्ण अंतर है जो कवि की दृष्टि को उसकी तुलना में आधुनिक बनाती है। दोनों दृष्टियों में यह भेद युगीन परिवेश के कारण आता है। मध्यकाल में व्यक्ति अपने परिवेशगत मूल्यों से त्रस्त होकर आध्यात्मिकता की तरफ नहीं मुड़ता था, स्वाभाविक रूप से मुड़ता था। और उसकी यह आध्यात्मिकता निजी कल्याण की भावना से प्रेरित होती थी, संपूर्ण

[53] नयी कविताएँ : एक साक्ष्य, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण, 2015, पृष्ठ 107

मनुष्य जाति या प्राणियों के कल्याण-भाव से नहीं। कवि ने नचिकेता में उस आधुनिक चेतना-संपन्न व्यक्ति को उभारा है जो आधुनिक युग में अपने परिवेशगत मूल्यों से त्रस्त होकर आध्यात्मिकता की तरफ मुड़ता है। आध्यात्मिकता की तरफ मुड़ने की उसकी प्रेरणा भी मानव-कल्याण की भावना से जुड़ी हुई है। एक ऐसे युग में जहाँ अति-भौतिकतावादी स्थितियों के कारण मनुष्य मनुष्य में दूरियाँ बढ़ती जा रही हैं, प्रेम और संवेदना जैसे मूल्य नष्ट होते जा रहे हैं, मनुष्य अकेलेपन, कुंठा, घुटन, संत्रास जैसी स्थितियों में पिस रहा है; भौतिकतावादी मूल्यों के बरअक्स आध्यात्मिकतावादी मूल्यों के विकास की बात की जा सकती है। आधुनिक युग में, जैसा कि कहा गया, आध्यात्मिकता का भी नवीनीकरण हुआ है। जहाँ पहले यह व्यक्तिगत भक्ति-भावना से संबंधित थी, वहीं अब वह सार्वजनिक जीवन-मूल्यों के विकास से जुड़ गयी है। विज्ञान का दबाव उसे अब भक्ति-भावना की तरफ मुड़ने भी नहीं देगा, पर है उस पर भी परमसत्ता का ही दबाव। समय के साथ विज्ञान ने विकसित होकर परमसत्ता के स्वरूप को परिवर्तित ज़रूर किया है, पर वह उसे नष्ट नहीं कर पाया है। आधुनिक आध्यात्मिकता इस इतिहास-बोध से संपन्न है।

'आत्मजयी' का मूल कथ्य भौतिक उन्नति के स्थान पर मानसिक उन्नति के महत्व को रेखांकित करना है, यों इस प्रक्रिया में इस काव्य में नयी और पुरानी पीढ़ी, वस्तु-जगत और आंतरिक-जगत तथा अतीत और भविष्य की टकराहट को भी स्वर दिया गया है। नचिकेता, जैसा कि कहा गया, अपनी आध्यात्मिक प्रवृत्ति के बावजूद आधुनिक चेतना से संपन्न व्यक्ति है। नचिकेता के पिता पुरानी परंपराओं और रूढ़ियों के पोषक हैं। ऐसा व्यक्ति अपने लिए एक अच्छे भविष्य का निर्माण नहीं कर सकता क्योंकि उसकी दृष्टि अतीत पर टिकी होती है, वर्तमान पर नहीं; जबकि नचिकेता की मूल चिंता ही भविष्य में बने रहने की है। काव्य की कथा की शुरुआत 'पूर्वाभास' नामक पहले अध्याय के सांकेतिक मंगलाचरण के बाद दूसरे अध्याय 'वाजश्रवा' में से होती है। इसकी शुरुआती पंक्तियाँ भविष्य की चिंता से संबद्ध हैं—*"पिता, तुम भविष्य के अधिकारी नहीं,/ क्योंकि तुम अपने 'हित' के आगे नहीं सोच पा रहे,/ न अपने 'हित' को ही अपने सुख के आगे।/ तुम वर्तमान को संज्ञा तो देते हो, पर महत्व नहीं।"*[54]

भौतिकतावादी स्वार्थी होता है, यह बात ऊपर रेखांकित की जा चुकी है। अपने स्वार्थ के आगे वह किसी की नहीं सुनता, अतः वह रूढ़िवादी भी होता है। रूढ़िवाद सामूहिकता के आधार पर टिका होता है, अतः वैयक्तिकता को वह कोई महत्व नहीं प्रदान करता। इसीलिए अपने पिता की अति-भौतिकता का विरोध करते-करते नचिकेता वैयक्तिकता के महत्व को रेखांकित करता जाता है— *"बहुमत यही है—ऐसा ही सब करते—/ (कितनी शक्ति है इस स्थिति में !)/ जिससे भिन्न सोचते ही/ मैं विधर्मी हो जाता हूँ—/ किसी बहुत बड़ी संख्या से घटा दिया जाता हूँ/ इस तरह/ कि शेष समर्थ बना*

---

[54] आत्मजयी : कुँवर नारायण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, नौवाँ संस्करण, 2012, पृष्ठ 20

*रहता गलत भी,/ एक—सही भी, अनर्थ हो जाता है !"*[55] नचिकेता की यह वैयक्तिक-चेतना धीरे-धीरे अस्तित्ववाद में पर्यवसित हो जाती है, जिसकी चरम अभिव्यक्ति 'मैं क्या हूँ' नामक अध्याय में देखने को मिलती है जहाँ कविता के विभिन्न बंधों में 'मैं क्या हूँ, मैं क्या हूँ' की टेक कई बार दोहराई गयी है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—*"चारों ओर लौह-मौन गुंबद-सा अंधकार/ जिसकी दीवारों से टकराती आवाजें ये/ केवल सन्नाटे को और झनझनाती हैं/ लौट-लौट आती हैं मुझ तक ही/ ये सबकी प्रतिध्वनियाँ—/ मैं क्या हूँ ?/ मैं क्या हूँ ?/ मैं क्या हूँ ?"*[56] मृत्यु का साक्षात्कार वह चरम क्षण है, जहाँ से नचिकेता की व्यक्तिवादी या अस्तित्ववादी चेतना जीवन के प्रति एक नये दृष्टिकोण में पर्वसित हो जाती है । यह दृष्टिकोण अति-भौतिकतावाद का विरोधी है—*"मुझको इस छीनाझपटी में विश्वास नहीं ।/ मुझको इस दुनियादारी में विश्वास नहीं ।/ हर प्रगति-चरण मानव का घातक पड़ता है ।/ हम जीते आपा-धापी और दबावों में ।/ हम चाहे जितना पायें कम ही लगता है/ कुछ ऐसी रखी है तरकीब स्वभावों में ।"*[57] भौतिक-विकास पर ही ध्यान केंद्रित होने के कारण मनुष्य का मानसिक-विकास बाधित हो रहा है । बिना मानसिक-विकास के मनुष्य संसार को कल्याणकारी मूल्य नहीं दे सकता—*"जो केवल तन से जिया/ मूर्ख वह/ तन के मरते मरता है ।/ हम वस्तु नहीं हैं—वस्तु स्थित ।/ सुख का पीछा/ जैसे अपनी दुम का पीछा करता कुत्ता—/ वह स्वयं स्वयं में अनुपस्थित !"*[58] स्पष्ट है कि यह नया दृष्टिकोण ऐसे मूल्यों के साथ जीवन में उतरने का है, जो व्यक्ति को मृत्यु के बाद भी जीवित रखें। जाहिर है कि ऐसे मूल्य सद्कर्मों पर आधारित होंगे। आधुनिक काल में इन मूल्यों को खोजने की ज़रूरत ही इसलिए पड़ती है कि इस युग में पुराने मूल्य टूट रहे हैं, नये मूल्यों का सृजन नहीं हो पा रहा है, परिणामतः नयी पीढ़ी दिग्भ्रमित होकर अपना ही विनाश कर रही है। नचिकेता की दृष्टि इसलिए भी आधुनिक कही जा सकती है कि वह इस सांसारिक विसंगति और विखंडन से घबराकर किसी पर्वत या जंगल में तप करने का पलायनवादी विचार नहीं रखती बल्कि वह नयी ऊर्जा के साथ पुनः इसी संसार में वापस आकर यहाँ कुछ सार्वजनिक और सार्वकालिक मूल्यों की स्थापना करना चाहती है । यह एक तथ्य है कि आधुनिकता की अति-भौतिकतावादी प्रवृत्ति ने आपसी प्रतिस्पर्धा और आगे बढ़ने की होड़ के चलते न सिर्फ मनुष्य मनुष्य के बीच की दूरियाँ ही बढ़ायी हैं, बल्कि पर्यावरण और प्रकृति को भी काफी नुकसान पहुँचाया है। इसने अतिशय महत्वाकांक्षाओं के चलते विभिन्न देशों के मध्य शत्रुता और युद्ध की संभावनाओं को भी बढ़ाया है। एक ओर जहाँ मनुष्य के अंदर स्वार्थ, छल, भ्रष्टाचार, अनैतिकता, अपराध आदि कुप्रवृत्तियाँ विकसित हुई हैं तो दूसरी ओर कुंठा, घुटन, संत्रास, निराशा, अनास्था, अकेलापन, विसंगति-बोध आदि की स्थितियाँ भी पनपी हैं। मनुष्य को मशीन में परिवर्तित करने वाले आधुनिक युग की इन प्रवृत्तियों का परिहार उसकी अति-भौतिकता को नियंत्रित करके ही किया जा

---

[55] आत्मजयी : कुँवर नारायण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, नौवाँ संस्करण, 2012, पृष्ठ 26

[56] वही, पृष्ठ 57

[57] वही, पृष्ठ 90

[58] वही, पृष्ठ 92

सकता है। अति-भौतिकता पर नियंत्रण के साथ-साथ व्यक्ति में नैतिकता के विकास का वातावरण भी निर्मित किया जाना चाहिए। मनुष्य ने बाहरी दुनिया का विकास तो बहुत कर लिया, पर अपनी आतंरिक दुनिया में वह शून्य होता गया। 'आत्मजयी' इसी आंतरिक शून्यता को भरने का एक प्रयास है। बाहरी दुनिया के विकास के साथ-साथ मनुष्य की आंतरिक दुनिया, यानी मन का विकास भी बहुत ज़रूरी है। इसीलिए इस कृति में भौतिकता से इतर दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है। यों, यह आधुनिकता के अति-मानवीय तत्वों का विरोध करने वाली आधुनिक कृति है।

आत्मजयी घटनापरक नहीं, विचारपरक काव्य है। यों, यह खंडकाव्य है, पर इसमें के प्रत्येक अध्याय की कविता अपनी स्वतंत्र सत्ता भी रखती है। यहाँ तक कि कुछ कविताओं के अलग-अलग 'बंद' भी कहीं-कहीं काव्य-प्रवाह से स्वतंत्र अपना अस्तित्व रखते हैं। दार्शनिकता और कवि की अपनी भाषायी सर्जनात्मक-चेतना के कारणों के अलावा ऐसा इसलिए भी हुआ है कि यह कृति प्रायः नचिकेता के 'एकालाप' पर आधारित है। काव्य के इस संपूर्ण रचना-विधान में जो चीज सबसे ज्यादा ध्यान आकर्षित करती है वह है इस कृति की भाषा। नयी कविता में प्रायः जिस 'जटिल अनुभूति' की बात की जाती है, उसे सबके अनुभव की सामग्री बनाकर प्रस्तुत करने की कोशिश में कवि की भाषा अपने आप में स्वयं इतनी जटिल हो गयी है कि कहीं-कहीं वह सामान्य पाठक की समझ से बाहर की वस्तु बन गयी है। इस सर्जना से बाहर काव्य अपने इतिवृत्त रूप में चलता है, सामान्य भाषा में। यों, एक ओर भाषा का निपट साधारण इतिवृत्त-प्रधान वाला रूप है और दूसरी ओर निपट सर्जनात्मक बिंब और प्रतीक विधान वाला।

### 7.5 एक कंठ विषपायी

**'एक कंठ विषपायी'** दुष्यंत कुमार का काव्य-नाटक है। यह शिव और सती के पौराणिक-प्रसंगों पर आधारित है। इसकी कथावस्तु का मूल स्रोत 'शिव पुराण' है। यों तो इस रचना की व्याख्या के सूत्र स्वयं कवि ने अपनी भूमिका में यह कहते हुए पकड़ा दिये हैं कि *''जर्जर रूढ़ियों और परंपरा के शव से चिपटे हुए लोगों के संदर्भ में प्रतीकात्मक रूप से आधुनिक पृष्ठभूमि और नये मूल्यों को संकेतित करने के लिए इस कथा में पर्याप्त सामर्थ्य है''*, पर इस सूत्र से इस रचना की कथावस्तु की संगति पूरी तरह बैठ नहीं पाती। वह इस कारण से कि एक तरफ दक्ष की पुत्री सती से प्रेम-विवाह और दक्ष-यज्ञ के विध्वंस के प्रसंग में शिव को परंपरा-भंजक दिखाते हुए उन्हें नये मूल्यों का प्रवर्तक सिद्ध करने का प्रयास किया गया है और दूसरी तरफ सती के शव को कंधे पर ढोते हुए उन्हें परंपरा के शव से चिपटा हुआ भी दिखाने का प्रयास किया गया है। या तो शिव परंपरा-भंजक हैं या परंपरा-पोषक। वास्तव में यह कथानक अपनी प्रकृति में ऐसा है कि लेखक के मंतव्यों को पूरी तरह वहन नहीं कर सकता। दक्ष अपनी रूढ़िवादी और हठवादी प्रवृत्ति के चलते जर्जर परंपरा के पोषक तो कहे जा सकते हैं, पर शिव का रूप पौराणिक संदर्भों में भी परंपरा-भंजक का ही रहा है, उन्हें जर्जर परंपरा का वाहक सिद्ध करने से इस काव्य का

सौंदर्य तो नष्ट होगा ही, पाठकों की मिथकीय चेतना भी प्रभावित होगी। इस कृति में भी शिव का ऐसा रूप प्रस्तुत हुआ है कि पाठक की सारी सहानुभूति उन्हीं के पक्ष में जाती है, अतः उन्हें खलनायक की भूमिका में कल्पित करने के सभी प्रयास असफल ही होंगे। अतः अपने रूप में कृति पाठकों के सम्मुख जिस रूप में है, उसकी व्याख्या उसी अनुरूप की जानी चाहिए।

वास्तव में शिव वह जनवादी नायक हैं जो एक साथ ही दक्ष की सामंतवादी और देवताओं की पूँजीवादी संस्कृति से जूझते हैं। शिव का पौराणिक रूप भी एक जनवादी क्रांतिकारी से मेल खाता है। शिव अपने शाश्वत रूप में जर्जर परंपराओं और मूल्यों के भंजक रहे हैं। अतः उन्हें आद्यंत इसी रूप में देखने पर इस कृति की एक प्रीतिकर और समुचित व्याख्या हाथ लगती है। शिव जन साधारण का प्रतिनिधित्व करते हैं। जन-साधारण प्रकृति और जमीन से जुड़ा हुआ होता है। यह अपनी ज़रूरत की चीजें सीधे वहीं से प्राप्त करता है, किसी व्यक्ति या समूह द्वारा अर्जित की गई चीज़ों पर जबरदस्ती अधिकार नहीं करता। यों, वह किसी को गुलाम नहीं बनाता। अपनी तरह हर व्यक्ति को स्वतंत्र समझता है। अतः उनका आपसी रिश्ता प्रेम और सहयोग का होता है, मालिक और गुलाम का नहीं। इस संदर्भ में सामंत परजीवी होता है। जन-साधारण के अधिकारों का हनन करके वह साम्राज्य विकसित करता है और उस साम्राज्य के संचालन के लिए वह मालिक और नौकर की परंपरा विकसित करता है। वह प्रजाओं को स्वतंत्र नहीं, अपने अधीन मानता है। इसीलिए उनके साथ उसका रिश्ता प्रेम और सहयोग का नहीं, मालिक और गुलाम का होता है। सामंत खुद प्रेम नहीं कर सकता क्योंकि वह किसी की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार ही नहीं कर पाता। इसी कारण अपने अधीन रहने वाले दूसरों के प्रेम को भी वह प्रायः स्वीकार नहीं कर पाता क्योंकि प्रेम करके लोग उसे उसकी सत्ता को चुनौती देते हुए प्रतीत होते हैं, उससे स्वतंत्र होते हुए प्रतीत होते हैं। प्रेम का आधार ही होता है—वैयक्तिक या मानसिक स्वतंत्रता। यह स्वतंत्रता सामंत देना नहीं चाहता। अतः वह प्रेम भी नहीं करने देना चाहता। इस तरह स्पष्ट है कि जन-साधारण के जीवन में 'प्रेम और संवेदना' को बड़ा महत्व दिया जाता है और सामंती जीवन में इन्हें तुच्छ समझा जाता है। शिव जी ने प्रेम और संवेदना के खिलाफ जाने वाली दक्ष की इसी सामंती वर्चस्व की परंपरा को भंग किया था।

शिव अपने जनवादी स्वभावों के कारण प्रेम और संवेदना को महत्व प्रदान करते थे जबकि दक्ष अपने सामंवादी स्वभावों के कारण इनका विरोध करते थे। शिव ने दक्ष की बेटी सती से प्रेम-विवाह करके दक्ष के सामंती वर्चस्व को चुनौती दी। शिव की इस चुनौती से दक्ष की सामंती परंपरा को ठेस लगती है—*"शंकर !/ शंकर !!/ वह, जिसने घर की परंपरा तोड़ी है,/ वह, जिसने मेरे यश पर कालिख पोती है,/ जिसके कारण/ मेरा माथा नीचा है सारे समाज में,/ मेरे ही घर अतिथि रूप में आये ? यह तुम क्या कहती हो ?"*[59] सामंतवादी संस्कृति में स्त्रियों की स्वतंत्र सत्ता को सदैव नकारा गया है। इस संदर्भ

[59] एक कंठ विषपायी : दुष्यंत कुमार, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 2013, पृष्ठ 11

में उनकी स्थिति सोने के पिजरे में बंद उस सुंदर पक्षी की तरह होती है जिसके पास खाने को सारी चीजें सुलभ हैं पर उड़ने के लिए उसके पास खुला आकाश नहीं है। सती के प्रेम विवाह के संदर्भ में दक्ष से बात करते समय वीरिणी ने स्त्रियों की इसी स्थिति का चित्रण किया है— *"जैसे हर मनुष्य/ अपनी सामर्थ्य और सीमा के भीतर/ जीवित/ किसी सत्य के सहसा कट जाने पर/ व्याकुल हो उठता है/ या क्रोधित हो उठता है/ वैसे ही आप भी दुखी हैं/ अपने घर की/ सोनचिरैया उड़ जाने पर !"*[60] यह काव्यांश कवि के अनुसार पहले दृश्य का सबसे महत्वपूर्ण अंश है, अतः इसे दृश्य के मुखपृष्ठ पर भी लगा दिया गया है। यों, सामंत का राजमहल सोने का वह पिंजरा है, जिसमें स्त्रियाँ चिड़ियों की तरह कैद रहती हैं। दक्ष का सत्य यही है कि उनकी बेटी बिना उनकी आज्ञा के घर के बाहर कदम भी न रखे। इस सत्य के कट जाने पर उन्हें ठेस लगती है। इसी ठेस से उपजे क्रोध के कारण वे शिव से बैर ठान लेते हैं। शिव को नीचा दिखाने के लिए वे एक बड़े यज्ञ का आयोजन करते हैं। उस यज्ञ में समस्त देवताओं को आमंत्रित किया जाता है, पर शिव को छोड़ दिया जाता है, उन्हें अपमानित करने के लिए। अपने सामंती वर्चस्व को कायम रखने और अहम् को संतुष्ट करने के लिए ही दक्ष यज्ञ का आयोजन करते हैं। यज्ञ-ध्वंस में क्षत-विक्षत सर्वहत को देखकर विष्णु दक्ष के यज्ञ आयोजन को जर्जर परंपरा से ही जोड़ते हैं— *"कृति यह नहीं है/ एक विकृति का फल है।/ एक ऐसी मरणासन्न लौकिक परंपरा का,/ जिसे/ जीवित रखने के लिए/ प्रजापति या दक्ष ने/ यज्ञ नहीं/ युद्ध का आयोजन किया था..."*[61]। ध्यान देने वाली बात यहाँ यह है कि दक्ष किस जर्जर परंपरा को जीवित रखना चाहते थे ? सती के प्रेम-विवाह से दक्ष के सामंती-वर्चस्व को ठेस लगी थी, यह बात ऊपर कही जा चुकी है। शिव को नीचा दिखाकर दक्ष उसी वर्चस्व को कायम रखना चाहते थे। दूसरों को नीचा दिखाकर अपने अहम् की तुष्टि लौकिक प्रवृत्ति है। सामंतों में यह खूब होती है। यही सामंती-वर्चस्व वह जर्जर परंपरा है जिसे बनाये रखने के लिए दक्ष ने यज्ञ के रूप में युद्ध का आयोजन किया था। युद्ध में शिव ने दक्ष के यज्ञ का ध्वंस करके उस सामंती वर्चस्व को ध्वस्त कर दिया। स्पष्ट है कि शिव अपने प्रेम के लिए दक्ष के सामंती-वर्चस्व के खिलाफ जंग छेड़ते हैं। अतः शिव का जनवादी रूप यहाँ स्पष्टतः उभर कर आता है।

दक्ष जिस तरह सामंतवादी परंपरा के पोषक हैं, उसी तरह देवता पूँजीवादी परंपरा के। एक पूँजीवादी शासक में जो छल-प्रपंच, धूर्तता और चालाकी पायी जाती है, वह सब देवताओं में है। वे शिव का महिमामंडन करते हुए बड़ी चालाकी से अपने ऊपर आने वाली विपत्तियों को शिव पर धकेलते रहते हैं। शिव में जब क्रांतिकारी चेतना का विकास होता है तब उन्हें देवताओं की इन चालाकियों का बोध होता है— *"देवत्व और आदर्शों का परिधान ओढ़/ मैंने क्या पाया... ?/ निर्वासिन !/ प्रेयसि-वियोग !!/ हर परंपरा के मरने का विष/ मुझे मिला,/ हर सूत्रपात का श्रेय/ ले गये और लोग।/ ...*

[60] वही, पृष्ठ 9
[61] वही, पृष्ठ 53

*मैं ऊब चुका हूँ/ इस महिमा-मंडित छल से... ।"*[62] शिव जी में इस आत्म-चेतना का विकास काव्य का वैसा ही महत्वपूर्ण अंश है, जैसा कि पहले दृश्य में वीरिणी में स्त्री-चेतना का विकास था। इस हिसाब से जिस तरह पहले दृश्य का नामकरण 'वीरिणी' करते हुए उसके मुखपृष्ठ पर वीरिणी के कथन वाले उस काव्यांश को जगह दी गयी है उसी तरह तीसरे दृश्य का नामकरण 'शंकर' करते हुए इसके मुखपृष्ठ पर शिव के कथन वाले इस काव्यांश को। शिव जी ने देवताओं की उस पूँजीवादी परंपरा को रेखांकित भी किया है, जो प्रेम और संवेदना के विरोध में खड़ी होती है। कुबेर, जो पूँजीवादी सभ्यता के प्रतिनिधि हैं, शिव से संवेदना जताने आये हुए थे। एक पूँजीवादी व्यक्ति या शासक के लिए प्रेम और संवेदना का कोई मतलब नहीं है। वह किसी और ही कारण से संवेदना जताने का नाटक कर सकता है। यह बात शिव जी को अब समझ आ गयी थी—*"कर्त्तव्य तुम्हारा/ धन-संचय से इतर/ और भी है कोई ?/ यदि है तो, हे धनपति कुबेर !/ यह है कुयोग;/ मैं तो समझा था/ धन के दृष्टि नहीं होती/ भावनाशून्य हो जाते हैं/ धनवान लोग।/ आत्मस्थ बना देती है सत्ता मित्रों को/ आचरण बदल जाते हैं उनके क्षण-क्षण/ अपनत्व ख़त्म हो जाता है,/ बच रहता है थोड़ा-सा शिष्टाचार/ और औपचारिकता,/ प्रभुता का ऐसा ही होता आकर्षण।"*[63] शिव जी अपने व्यक्तित्व में जनवादी थे, अतः उनके खिलाफ पूँजीवादी देवताओं ने कुचक्र रचकर उन्हें दक्ष के हाथों अपमानित कराना चाहा था—*"आह !/ देवों ने रची यह/ दुरभिसंधि विरुद्ध,/ और इसका अर्थ.../ केवल युद्ध.../ केवल युद्ध... !!"*[64] अतः देखा जा सकता है कि इस काव्य में शिव जी उस जननायक की भूमिका के रूप में दिखते हैं जो एक साथ ही सामंवाद और पूँजीवाद के खिलाफ क्रांति का स्वर उठाता है। आधुनिक युग के हिसाब से पौराणिक शिव के व्यक्तित्व में जनवादी प्रवृत्तियाँ प्रक्षेपित भी की जा सकती हैं। शिव परंपरा के विरोधी रहे हैं। उनका रहन-सहन सामान्य मनुष्य का है। वे धन-संग्रह के विरोध में दिखाई देते हैं। अतः एक जननायक के गुण शिव जी में सहज ही मिल जायेंगे। शिव जी ने जनवादी प्रवृत्तियों, विशेषतः 'प्रेम' की रक्षा के लिए सामंतवादी और पूँजीवादी ताकतों के खिलाफ क्रांति का कदम उठाया था। यह इस काव्य का प्रमुख स्वर है।

इस काव्य का एक स्वर युद्ध-विरोधी भी है। कवि के अनुसार वही इस काव्य का केंद्रीय स्वर है, क्योंकि इस अनुसार काव्य को देखने से कवि की भूमिका वाली वह बात इस पर घटित की जा सकती है जिसकी चर्चा इस प्रकरण के प्रारंभ में की गयी है। उस हिसाब से शिव इस काव्य के नायक नहीं, खलनायक की भूमिका में अवतरित हो जाते हैं। जर्जर परंपराओं के पोषण में लगे हुए व्यक्ति या समूह नयी परंपराओं के विकास में बाधक बनकर युद्ध की स्थितियाँ उत्पन्न करते हैं। अतः वे प्रगतिशीलता के मार्ग में बाधा बनकर उपस्थित होते हैं। इस काव्य में स्वयं कवि ने एक बार प्रजापति दक्ष को जर्जर परंपराओं का पोषक सिद्ध किया है और दूसरी बार शिव को। दक्ष ने पुराने मूल्यों के

---

[62] एक कंठ विषपायी : दुष्यंत कुमार, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 2013, पृष्ठ 71

[63] वही, पृष्ठ 81

[64] वही, पृष्ठ 83

पोषण के प्रयास में युद्ध की स्थितियों को जन्म दिया जिसमें अपार जन-धन की हानि हुई। इस युद्ध से उत्पन्न विभीषिका को चित्रित करने के लिए न सिर्फ 'सर्वहत' नामक एक पात्र की कल्पना ही की गयी है बल्कि उसके नाम से दूसरे दृश्य का नामकरण भी हुआ है। सर्वहत 'अंधा युग ' के प्रहरियों की तरह यह दिखाता है कि युद्ध के बाद कैसे मूल्यों और संस्कृतियों का क्षरण होता है। सत्ताधारियों के युद्ध का परिणाम प्रजा भोगती है—*''क्योंकि यह/ विधाता के नियमों की विडंबना है।/ चाहे न चाहे/ किंतु शासक की भूलों का उत्तरदायित्व/ प्रजा को वहन करना पड़ता है।/ उसे गलित मूल्यों का दंड भरना पड़ता है/ और मैं मनुष्य ही नहीं हूँ।/ मैं प्रजा भी हूँ।''*[65] उल्लेखनीय है कि 'सर्वहत' दक्ष की तरफ का पात्र है, जो शिव जी के गणों की तरफ से हताहत दिखाया जाता है। इस युद्ध में शिव जी का कोई क्रांतिकारी रूप नहीं उभर पाता, क्योंकि युद्ध के बाद की विभीषिका के चित्रण से उस युद्ध की निरर्थकता का ही बोध होता है, जबकि क्रांतिकारी युद्ध सार्थकता के बिंदु पर लड़ा जाता है। जाहिर है कि इस संदर्भ में यदि दक्ष ने जर्जर परंपराओं का पोषण किया था, तो शिव जी ने किसी क्रांतिकारी परंपरा का नहीं।

सती-दाह के बाद शिव जी का जो रूप कवि ने उभारने का प्रयास किया है, वह बिलकुल नकारत्मक है। सती के शव को जर्जर परंपरा का प्रतीक मानते हुए शिव जी को उससे चिपटे हुए दिखाया गया है। दक्ष की तरह ही शिव भी यहाँ एक जर्जर परंपरा के पोषण के प्रयास में युद्ध की स्थिति उत्पन्न कर रहे थे। इंद्र का शिव की इस स्थिति पर कथन महत्वपूर्ण है—*''माना प्रभु/ दक्ष का विवेक और ज्ञान/ इस परिस्थिति में छूट गया,/ उसका अस्तित्व/ एक जर्जर परंपरा के/ पोषण के यत्नों में लगा हुआ/ टूट गया।/ पर क्या अब शंकर ने/ जो परंपराओं के भंजक रहे हैं/ दक्ष को बनाकर माध्यम/ हम सबको अपमानित नहीं किया ?/ युद्ध का निमंत्रण/ हमको नहीं दिया ?/ कंधों पर शव लादे/ दक्ष की तरह ही/ क्या महादेव शिव भी अब/ वैसा ही आचरण नहीं करते !''*[66] इंद्र का यह कथन इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि यह कवि की भूमिका के उस कथन से मिलता-जुलता है जिसमें उन्होंने पुरातनपंथियों को जर्जर परंपराओं के शव से चिपटा हुआ बताया है। शिव जी देवताओं से सती के शव में प्राण-प्रतिष्ठा करने की माँग कर रहे थे, अन्यथा की स्थिति में वे उनके खिलाफ युद्ध की घोषणा करते हैं। ऐसे में कवि को इस काव्य के उद्देश्यानुसार युद्ध की सार्थकता और निरर्थकता पर बहस करने का एक व्यापक अवकाश तो मिल जाता है, पर सती का शव जर्जर परंपरा का प्रतीक कैसे है, और उसको छोड़ने से कौन सी नयी परंपरा जन्म लेगी; इसका कोई सम्यक उत्तर कवि के पास नहीं होता। सती का शव जर्जर परंपरा है तो है, और इसे छोड़ देना ही नए मूल्यों के उपजने के लिए अवकाश देना है, इस जैसी निराधार कल्पना के भरोसे यदि इस रूप में काव्य की व्याख्या की जानी है तो और बात है, पर इस कल्पना के आधार की कोई संगति कथावस्तु से नहीं बैठती। हाँ, एक आधार पर दक्ष और शिव दोनों को जर्जर परंपराओं का

---

[65] एक कंठ विषपायी : दुष्यंत कुमार, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 2013, पृष्ठ 49

[66] वही, पृष्ठ 54

वाहक सिद्ध किया जा सकता है। वह आधार है मनोविज्ञान का। जिस तरह दक्ष में अहम् अपने चरम पर था, उसी तरह शिव में क्रोध। दक्ष ने अपने अहम् की तुष्टि के लिए युद्ध की स्थिति उत्पन्न की तो शिव ने अपने क्रोध की तुष्टि के लिए। यों, अहम् और क्रोध दोनों लौकिक मनोभाव हैं, और मनुष्य के लिए दोनों घातक ही हैं। पर इन सबके बावजूद सती के शव को जर्जर परंपरा का प्रतीक सिद्ध करने की बात फिर भी रह जाती है। उसके लिए कोई दृष्टिकोण न तो पुराण में है, और न ही इस काव्य में। शिव जी को खलनायक की भूमिका में उतारने से मिथक और आधुनिकता का सामंजस्य इस काव्य में घटित नहीं होने पाता, यह बात स्पष्ट है।

### 7.6 शंबूक

**'शंबूक'** नयी कविता के महत्वपूर्ण कवि और आलोचक 'जगदीश गुप्त' की रचना है, जिसे कवि खंड-काव्य की जगह 'लघुकाव्य' कहना पसंद करता है। जैसा कि इस काव्य के शीर्षक से ही ध्वनित है, यह रामकथा के एक उपेक्षित और शोषित, पर आधुनिक दृष्टिकोण से विशिष्ट और महत्वपूर्ण, पात्र 'शंबूक' को केंद्र में रखकर लिखा गया है। शंबूक के माध्यम से कवि ने उन सामंतवादी और वर्णवादी मूल्यों के खिलाफ आवाज उठायी है जो मनुष्य मनुष्य में भेद स्थापित करते हुए एक बड़ी आबादी के शोषण का आधार बनते हैं। यह काव्य छोटे-छोटे आठ अध्यायों में विभक्त है जिनके नाम क्रमशः राजद्वार, पुष्पक-यान, वन देवता, दंडकारण्य, प्रतिपक्ष, छिन्नशीश, आत्मकथ्य और रक्त-तिलक हैं। यह सांयोगिक हो या सप्रयास, इस काव्य के प्रथम चार अध्याय इसका पूर्वार्द्ध और अंतिम चार उत्तरार्द्ध निर्धारित करते हैं। यह विभाजन एकदम साफ़ है, कवि की आंगिक अन्विति के प्रति आत्मसजगता के बावजूद, जिसके लिए उन्होंने इसे खंडकाव्य कहा जाना पसंद नहीं किया था। प्रथम चार अध्याय राम के राज्य-वैभव और प्रकृति की सुंदरता का वर्णन करते हैं, और अंतिम चार में शंबूक और राम के संवाद एवं शंबूक के आत्मकथ्य हैं। यों, इस काव्य का पूर्वार्द्ध राम को और उत्तरार्द्ध शंबूक को समर्पित हो जाता है।

यह काव्य विचार-प्रधान है। विचार किसी न किसी घटना या दृश्य के आधार पर ही निर्मित होते हैं। अतः काव्य के पूर्वार्द्ध में घटनाओं और दृश्यों का चित्रण किया गया है और उत्तरार्द्ध में उन पर आधारित विचारों का। पूर्वार्द्ध में रामराज्य के वैभव और राम की प्रभुता का आदर्श उपस्थित किया गया है और उत्तरार्द्ध में राम के द्वारा निर्मित यथार्थ की कटुता है। यों, आदर्श की भव्यता और यथार्थ की कटुता की टकराहट में एक नयी जीवन ऊर्जा का विकास होता है, जो एक साथ ही कवि, पाठक और सामाज को काम्य होती है। पूर्वार्द्ध के वैभव और सौंदर्य का वर्णन उत्तरार्द्ध के यथार्थ वर्णन की कटुता से टकराकर छिन्न-भिन्न हो जाता जाता है। इस तरह पूर्वार्द्ध के लंबे-चौड़े वैभवशाली वर्णन को उत्तरार्द्ध के कटु यथार्थ के वर्णन में सार्थकता प्राप्त होती है। आदर्श जितना वैभवशाली और सौंदर्यमयी होगा, उतनी ही शक्तिशाली के साथ यथार्थ से टकरायेगा, इसलिए कवि ने पूर्वार्द्ध में रामराज्य के वैभव और सौंदर्य का व्यापक वर्णन किया है। उल्लेखनीय है कि यहाँ यथार्थ आदर्श से ज्यादा शक्तिशाली

है, आदर्श अपनी भव्यता में जितना शक्तिशाली है, उससे कहीं अधिक शक्तिशाली यथार्थ अपनी कटुता में है। अतः दोनों की टकराहट में जीत यथार्थ की ही होती है। यहाँ कवि का उद्देश्य सामंती साम्राज्य या समाज के वैभव और सौंदर्य के पीछे उसकी बड़ी-बड़ी कमियों को छिपाये जाने की प्रवृत्ति को बेनकाब करना है। उन कमियों को उजागर कर देने से सामंती समाज के वैभव और सौंदर्य खोखले प्रमाणित हो जाते हैं।

काव्य का आरंभ रामराज्य के वैभव और सौंदर्य के वर्णन के साथ होता है। प्रथम अध्याय 'राजद्वार' की शुरुआती पंक्तियाँ हैं— *"आगे ज्योति मंडित/ दीर्घ उन्नत/ दिव्य राजद्वार/ पीछे शक्तिशाली/ लोक-रक्षक/ राम का दरबार/ ऊपर तोरणों/ आच्छादनों/ कलशों/ ध्वजों की पाँति/ जितने रूप/ उतने रंग,/ जितने रंग/ उतनी भाँति"*[67]। यहाँ वर्णन है स्थापत्य कला की पच्चीकरी का, अतः उसी अनुरूप भाषा में शब्दों की पच्चीकारी की गयी है। ध्यान देने पर यह बात सामने आती है कि कवि ने रामराज्य के चहुँमुखी वैभव और सौंदर्य के वर्णन के लिए उन्हें आगे, पीछे और ऊपर सभी जगह व्याप्त दिखाया है। यों, 'आगे' के साथ 'पीछे' जिस तरह शब्द-युग्म का काम करता है उसी तरह 'ऊपर' के साथ 'नीचे'। पर यहाँ पर ऊपर के साथ नीचे की स्थिति के वर्णन को सायास बचाया गया है। यह बात काव्य के आगे के भागों से समझ में आती है, जहाँ राम को अपनी ऊर्ध्वमुखता में आकाशवृत्ति वाला और शंबूक को पृथ्वी-पुत्र कहा गया है। यों, राम पर ऊपर उठने की आकांक्षा सदैव हावी रहती थी। और वह इस कदर हावी रहती थी कि उन्हें नीचे देखने का अवसर ही नहीं मिलता था। इसलिए नीचे क्या है, इसे कवि ने वैभव और सौंदर्य के वर्णन के समय सायास बचा लिया है। वर्णन आगे चलता है— *"सजग प्रहरी/ दंडधारी हर प्रहर/ हर दिशा/ उल्लास की उठती लहर/ यह अयोध्या का हृदय/ प्रत्यक्ष है/ कौन इससे अधिक है/ समकक्ष है"*[68]। पूर्वार्द्ध के शुरुआती अंश के इस वैभव और सौंदर्य वर्णन के सामने उत्तरार्द्ध का शुरुआती अंश यों खुलता है— *"जो व्यवस्था/ व्यक्ति के सत्कर्म को भी/ मान ले अपराध/ जो व्यवस्था/ फूल को खिलने न दे निर्बाध/ जो व्यवस्था/ वर्ग- सीमित स्वार्थ से/ हो ग्रस्त/ वह विषम/ घातक व्यवस्था/ शीघ्र ही हो/ अस्त"*[69]। यों, पूर्वार्द्ध में जिस व्यवस्था के वैभव और सौंदर्य का वर्णन है, उत्तरार्द्ध में उसी पर सीधे चोट की गयी है। यह चोट इसलिए की गयी है क्योंकि पूर्वार्द्ध में सामंती वैभव और सौंदर्य का वर्णन है। सामंती वैभव श्रमिक वर्ग के श्रम को निचोड़कर खड़ा होता है और बदले में श्रमिक वर्ग को दमित और शोषित छोड़ देता है। अतः उस वैभव और सौंदर्य के पीछे छिपे हुए यथार्थ को दिखाने के लिए ही कवि ने यहाँ पहले सामंती वैभव और सौंदर्य का वर्णन किया है। इसी तरह पूर्वार्द्ध में राम की प्रभुता का वर्णन अत्यंत आस्था के साथ भक्त और भगवान् की शैली में किया गया है और उत्तरार्द्ध में उनके भगवान् होने में सीधा संदेह व्यक्त करते हुए उनके कर्मों की तीखी

[67] शंबूक : जगदीश गुप्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2015, पृष्ठ 19
[68] वही, पृष्ठ 19-20
[69] वही, पृष्ठ 55

आलोचना की गयी है। पूर्वार्द्ध के अंश में, मुख्यतः 'वनदेवता' नामक अध्याय में, राम जब अपने पुष्पक यान से वन की भूमि पर उतरते हैं, तो वनदेवता सहित वन के पशु-पक्षी भी राम को अपने सामने पाने पर हर्षित और उल्लसित होते हुए पुष्पवर्षा और मंत्रोच्चार से उनका स्वागत करते दिखायी देते हैं। राम के वन की धरती पर कदम रखने पर स्वयं कवि की टिप्पणी है कि राम के चरणों के स्पर्श से धरती के हृदय का संताप दूर हो गया—*"उभर आयी राम की पद-चाप/ वेद मुखरित मौन अपने आप/ हृदय पर अंकित चरण की छाप/ संतप्त धरती का मिटा संताप"*[70]। इन वर्णनों को देखकर कहीं यह नहीं लगता कि आगे राम की कटु आलोचना होने वाली है क्योंकि, जैसा कि संकेत किया गया, राम की प्रभुता पर स्वयं कवि की आस्था दृष्टिगोचर होती है। पर यह बात पहले ही की जा चुकी है कि प्रभुता जितनी उच्च होगी, उतनी ही शक्तिशाली उनके हीन कर्मों की आलोचना भी होगी। पूर्वार्द्ध के प्रभुता के इन वर्णनों के सम्मुख उत्तरार्द्ध का राम की प्रभुता पर संदेह करता हुआ शंबूक का यह कथन द्रष्टव्य है—*"इस कृपा के लिए बन अज्ञान/ राम क्या तुमको कहूँ भगवान् ?"*[71] यह शंबूक का संशय नहीं, बल्कि आत्मविश्वास बोल रहा था, राम की इस उक्ति पर कि वे शंबूक का वध कर उसका उद्धार करेंगे—*"काटकर धड़ से तुम्हारा शीश/ आज दूँगा मैं तुम्हें आशीष/ यदि तुम्हें स्वीकार हो तो/ लो अतुल वैराज नामक लोक/ मोदमय आनंदमय गतशोक/ वासनाएँ हों तुम्हारी पूर्ण/ करूँगा अभिमान केवल चूर्ण"*[72]। इस पर शंबूक की टिप्पणी है कि वह इतना अज्ञानी नहीं है कि राम के इस कर्म को कृपा समझकर उन्हें भगवान मान लेगा, जैसा कि परंपरा से होता आया है। यहाँ राम द्वारा निर्मित उस परंपरा के खिलाफ विरोध का स्वर मुखरित किया गया है जिसमें वे अपने प्रतिद्वंदियों को मारकर उसे 'उद्धार' की संज्ञा देते हैं, ताकि उसके खिलाफ विरोध का स्वर न उठे। शंबूक इसी परंपरा से अनजान न बनने का हवाला दे रहा है। राम की इस परंपरा पर शंबूक ने अन्यत्र बहुत तीखा प्रहार किया है—*"मारते हो और कहते हो इसे उद्धार/ चलेगा कब तक तुम्हारा यह घृणित व्यापार ?"*[73] इस तरह देखा जा सकता है कि काव्य में पूर्वार्द्ध के आदर्श की भव्यता के सम्मुख उत्तरार्द्ध के यथार्थ की कटुता को रखकर कवि ने एक नयी जीवन-ऊर्जा का संचार करना चाहा है।

नयी जीवन-ऊर्जा का विकास यहाँ 'विमर्श' के सहारे हुआ है। 'विमर्श' का केंद्र ही परंपरा बनाम आधुनिकता है। पारंपरिक जीवन-मूल्य जब आधुनिक जीवन के विकास में आड़े आने लगते हैं तब उसके खिलाफ विमर्श के ज़रिये आवाज उठायी जाती है। वर्ण-व्यवस्था प्राचीन और मध्यकालीन जीवन का मूल्य रही है, आधुनिक जीवन में ऐसे मूल्यों को लागू करना मानवता के विकास में बाधक है, क्योंकि आधुनिक परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं। ऐसे में जब कुछ तथाकथित उच्च वर्ण और जाति

---

[70] शंबूक : जगदीश गुप्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2015, पृष्ठ 39

[71] वही, पृष्ठ 72

[72] वही, पृष्ठ 72

[73] वही, पृष्ठ 62

के लोग वर्णवाद और जातिवाद की यथास्थिति को बनाये रखना चाहते हैं, तब इसके खिलाफ विरोध का स्वर मुखरित होता है। परंपरा का यहाँ विरोध इसलिए किया जाता है क्योंकि पुरातन-पंथी यथास्थिति के समर्थन में परंपरा का ही हवाला दिया करते हैं, खासकर परंपरा से जुड़े उन व्यक्तियों या घटनाओं का जो एक बड़ी आबादी की आस्था के केंद्र होते हैं। मिथकीय पात्र और घटनाएँ क्योंकि धर्म से जुड़कर लोगों की आस्था का केंद्र बन जाते हैं, इसीलिए लोग उन पर आस्था रखने लगते हैं। लोगों की इन्हीं आस्थाओं के सहारे वह पुरातन-पंथी जिसको पुरानी मान्यताएँ लाभदायक प्रतीत होती हैं, उन परंपराओं को जीवित रखना चाहता है। ऐसे में विमर्श के सहारे आस्था के उन्हीं केंद्र-बिंदुओं को आधुनिक तर्क और वैज्ञानिक सोच की कसौटी पर परखते हुए उनका विरोध किया जाता है। आधुनिक काल में मिथकीय पात्रों और घटनाओं को इसलिए भी उठाया जाता है कि इनमें अंकित ऐसे विचार या घटनाएँ जो मानवता के विरोध में जाते हैं फिर भी एक व्यापक आबादी की आस्था का केंद्र बने हुए हैं, उनको तर्क की कसौटी पर कसकर आधुनिक जीवन-दृष्टि का विकास किया जाए। 'शंबूक' काव्य में यही किया गया है।

रामराज्य में विप्र-बालक की असमय मौत के कारण रूप में शूद्र-मुनि शंबूक की तपस्या को रेखांकित किया जाता है। वेद और शास्त्रों में शूद्र का जप-तप करना निषेध बताया गया है और इसे एक अपराध माना गया है। इसी मान्यता के अनुरूप मिथकों में यह वर्णित है कि राम के पवित्र राज्य में एक शूद्र ने तपस्या करने का घोर अपराध किया, जिसके कारण विप्र-बालक की मौत हो गयी। इस पाप के निवारण का उपाय देवताओं और ऋषियों ने तप कर रहे शूद्र मुनि शंबूक का वध बताया। अतः राम ने एक शूद्र की तपस्या के अपराध में उसका वध कर दिया। इस वध से विप्र-बालक पुनः जी उठा। ये सारी मान्यताएँ आधुनिक तर्क की कसौटी पर खरी नहीं उतरती हैं। अतः इन सबको इस काव्य में तर्क की कसौटी पर परखते हुए उनकी मानववादी व्याख्या की गयी है। एक शूद्र की तपस्या के प्रभाव से विप्र-बालक की मृत्यु तथा उसके वध से बालक के पुनः जी उठने की घटना आधुनिकता के किसी भी तर्क से सही नहीं ठहरायी जा सकती। अतः कवि ने बालक को साँप द्वारा डसा हुआ दिखाकर आधुनिक दृष्टि से उस कहानी को विश्वसनीयता प्रदान की। 'छिन्नशीश' नामक अध्याय में शंबूक का कटा हुआ सिर राम के सामने उक्त मिथकीय घटना पर अविश्वास प्रकट करते हुए कहता है—*"शूद्र-तप से/ विप्र-बालक मर गया/ यह कल्पना की बात/ शूद्र-वध से/ विप्र-बालक जी उठा/ यह कल्पना की बात"*[74]। अपने वध के बाद शंबूक पुनः राम के सम्मुख इस कल्पना के रहस्य को खोलता है—*"हो चुका है देह से अब/ मुक्त मेरा प्रेत/ कर रहा मुझको/ अयोध्या से वही संकेत/ विप्र-बालक तरु चढ़ा/ सबको दिखाकर दर्प/ डाल में यम-पाश-सा/ लिपटा हुआ था सर्प"*[75]। फिर शंबूक ने राम के सम्मुख इस सारे प्रकरण को

[74] शंबूक : जगदीश गुप्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2015, पृष्ठ 77
[75] वही, पृष्ठ 97

रखा कि कैसे साँप के विष से बालक को मरा हुआ समझ लिया गया और शंबूक वध के समय ही जड़ी-बूटी के उपचार के बाद चेतनावस्था में आये हुए बालक को शंबूक-वध के प्रभाव से पुनः जीवित मान लिया गया। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि कवि ने एक मिथकीय घटना की अविश्वसनीयता को आधुनिक विश्वसनीयता प्रदान करने के लिए जिन घटनाओं का सहारा लिया है वे स्वयं आधुनिक विश्वसनीयता से बहुत दूर हैं। शंबूक के कटे हुए सिर का बोलना या शंबूक के प्रेत का अयोध्या जाकर बालक की मृत्यु के सारे रहस्यों का पता लगाना, आधुनिकता के किसी भी तर्क से सही नहीं कहे जा सकते। हाँ, प्रतीकात्मकता के सहारे उसके कटे हुए शीश का बोलना तो फिर भी चल सकता है, पर घटना की सही जानकारी के लिए शंबूक के प्रेत का आधार कल्पित करना आधुनिकता से मुँह मोड़ना है। खैर !

काव्य के उत्तरार्द्ध में, जैसा कि संकेत किया गया, पारंपरिक वर्णवादी और जातिवादी मान्यताओं का आधुनिक दृष्टिकोण के सहारे तीखा विरोध किया गया है। काव्य का उद्देश्य ही उन मान्यताओं का विरोध करते हुए शंबूक और उसकी पीढ़ी को न्याय दिलाना है। शंबूक ने राम की वर्णवादी मानसिकता के अलावा भी उनकी तमाम ऐसी नीतियों का विरोध किया है, जो मानवता के खिलाफ जाती हैं— यद्यपि उसके विरोध के केंद्र में राम की वर्णवादी मानसिकता ही है। शंबूक ने रामराज्य की उस वर्णवादी व्यवस्था के खिलाफ स्वर उठाया है, जो मनुष्य मनुष्य में भेद करती है—"सभी पृथ्वी-पुत्र हैं तब जन्म से/ क्यों भेद माना जाय/ जन्मजात समानता के तथ्य पर/ क्यों खेद माना जाय"[76]। 'प्रतिपक्ष' नामक अध्याय में राम और शंबूक का संवाद नाटकीय शैली में चलता है। यों, राम ने भी अपने सामंतवादी मूल्यों के पक्ष में प्रबल तर्क दिये, पर क्योंकि उनके तर्क अंततः सामंतवादी मूल्यों के पक्ष में ही थे, अतः शंबूक के जनवादी आधुनिक तर्कों के सम्मुख वे कमज़ोर पड़ गये। राम ने तर्क दिया कि शास्त्रों के अनुसार शूद्र का कर्तव्य सेवा है, तपस्या नहीं; अतः शंबूक अपराधी है—*"विधि-विहित/ निज कर्म-पथ का त्याग/ क्या जड़ता नहीं है ?/ कर्म-सीमा-भंग/ क्या नृप-दृष्टि में गड़ता नहीं है ?"*[77] शंबूक ने इस पर राम से पूछा कि जो तपस्या मानव-कल्याण का मार्ग प्रशस्त करती है, वह गलत कैसे है ! राम ने जो सर्वकल्याण का व्रत लिया हुआ है, उसके अनुसार वे शूद्र का किस तरह कल्याण करते हैं— *"सर्वभूतहिते रतः' व्रत क्या हुआ ?/ क्या न फिर उसने तुम्हारा मन छुआ ?/ राम तुम क्षत्रिय, कहते ब्रह्म हो/ कह सको तो विश्व-व्यापी सच कहो/ वर्ग-हित या वर्ण-हित के ध्यान से,/ जब तुम्हारा चित्त परिचालित न हो"*[78]। इस तरह शंबूक ने राम को वर्णवादी साबित करते हुए उनके व्यवहार को शूद्रों के लिए हानिकारक बताया। राम ने तर्क दिया कि वे शूद्र और ब्राह्मण को समान नज़रों से देखते हैं, इसीलिए तो उन्होंने गलत होने पर ब्राह्मण रावण का भी वध किया—*"क्या नहीं मैंने किया वध भ्रष्ट ब्राह्मण का/*

---

[76] शंबूक : जगदीश गुप्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2015, वही, पृष्ठ 58

[77] वही, पृष्ठ 59

[78] वही, पृष्ठ 60

*क्या नहीं मैंने मिटाया वंश रावण का/ शूद्र-ब्राह्मण नहीं कोई न्याय से ऊपर/ नियम समता का यही चलता रहा भू पर ।"*[79] इस पर शंबूक ने उत्तर दिया कि रावण से युद्ध के समय राम राजा नहीं थे, अतः रावण से उनका युद्ध व्यवस्था के लिए नहीं, व्यक्तिगत कारणों की वजह से हुआ था— *"उस समय तुम अवध के राजा नहीं थे राम !/ फिर किसी परदेश में राजत्व का क्या काम ?/ व्यवस्था का तब तुम्हारा कुछ न था अधिकार/ मात्र तुम थे एक निर्वासित महीप कुमार/ ... हरण सीता का तुम्हारा व्यक्तिगत कारण/ मरण रावण का उसी अपकर्म का वारण"*[80] । इस तरह शंबूक ने तमाम तर्क-वितर्कों के माध्यम से राम को वर्णवादी व्यवस्था का पोषक सिद्ध करते हुए उनके और उस व्यवस्था के खिलाफ विरोध का स्वर उठाया है ।

'रक्त-तिलक' नामक अंतिम अध्याय में शंबूक ने अपने आपको एकलव्य से जोड़ते हुए शूद्रों के ऊपर सदियों से हो रहे अत्याचार की परंपरा को रेखांकित किया है । यों, अत्याचार का विरोध करने के लिए अत्याचार के इतिहास का बोध भी ज़रूरी होता है । इस इतिहास-बोध से विरोध की प्रेरणा और आत्मबल मिलता है । शंबूक ने अपने आपको एकलव्य से जोड़कर न सिर्फ अपने इतिहास-बोध का परिचय दिया है, बल्कि अपनी और एकलव्य की विद्रोही चेतना को आने वाली दलित पीढ़ियों में पर्वसित कर दिया है, जिससे वे पीढ़ियाँ जब तक दमन का अंत न हो जाए, विद्रोह की आग को प्राप्त करती रहेंगी— *"तुम्हारी संतप्त आत्मा में/—आग है/ प्रतिक्षण धधकते अपमान की,/ इसीलिए चाहता हूँ/ ज्वाला में जलते हुए/ हाथ का तुम्हारे ही/ वाहक संस्पर्श एक/ मैं अपने/ सदियों से ठंडे पड़े/ माथे पर/ शिव के तीसरे नेत्र की तरह/ वह रक्त-तिलक/ प्रज्वलित होते ही/ कर देगा भस्मसात/ झूठे अहंकार की/ पूरी वासना-देह/ निस्संदेह ।"*[81] स्पष्ट है कि इस काव्य के माध्यम से कवि ने वर्तमान समय में भी मौजूद वर्णवादी और जातिवादी प्रवृत्तियों के खिलाफ विरोध का स्वर मुखर किया है । काव्य की पृष्ठभूमि मिथकीय है, पर उसमें व्यक्त चेतना आधुनिक है ।

## 7.7 एक पुरुष और

'एक पुरुष और' डॉ. विनय का खंडकाव्य है । इसका प्रकाशन 1974 में हुआ था । इसकी कथावस्तु विश्वामित्र और मेनका के पौराणिक प्रसंगों पर आधारित है जिसके आदिस्रोत मुख्यतः 'रामायण' और 'महाभारत' रहे हैं । तमाम नए कवियों की तरह डॉ. विनय ने अपने इस काव्य की भूमिका में इसकी व्याख्या के सूत्र देने के प्रयास किये हैं । उनके अनुसार— *"एक पुरुष और का वैचारिक धरातल आधुनिकता की चेतना में आज के मनुष्य की उस द्विधा का चित्रण करता है, जिसमें वह अप्राप्तियों की वेदना झेलते हुए, अंदर-बाहर के संघर्षों से जूझते हुए, आत्मबोध से जन्मे आचरण के*

---

[79] शंबूक : जगदीश गुप्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2015, पृष्ठ 61

[80] वही, पृष्ठ 61

[81] वही, पृष्ठ 104

*प्रति प्रश्नाकुल होता है । लेकिन अंततः जब वह बाहर से अंदर की यात्रा करता है, तभी उसकी प्रश्नाकुलता कुछ काल के लिए सहज होती है ।"*[82] इस तरह की भूमिकाएँ जाहिर है कि काव्य की सर्जनात्मकता को कम करती हैं। कृति के पाठ के समय पाठक और आलोचक के आस्वादन या मूल्यांकन में कवि का दृष्टिकोण हावी या सहायक बना रहता है। यों, पौराणिक कथाओं का पुनः-सर्जन ही युगीन समस्याओं और परिस्थितियों की आवश्यकता के अनुसार होता है, इसका संकेत करने की बहुत आवश्यकता नहीं है।

यह खंडकाव्य 17 छोटे-छोटे अध्यायों में विभक्त है। प्रथम चार अध्याओं—एक नया अनुभव, गवाक्षों से हटी दृष्टियाँ, एक भटकता नक्षत्र और अंतर्प्रभाओं के गहरे में—में युद्ध और राज्य से प्राप्त बल-वैभव की निस्सारता और उससे निकल कर मानसिक उन्नति के क्षेत्र में जाने के लिए विश्वामित्र के मानसिक द्वंद्वों और संघर्षों का चित्रण किया गया है। यों, ये चारों अध्याय चिंतनपरक हैं। इसके बाद पाँचवें अध्याय 'डोलता कल्पवृक्ष' से कथावस्तु इतिवृत्तात्मक होती है, यद्यपि अपने इतिवृत्त में भाषा के सर्जनात्मक स्वरूप के कारण इसकी कथा में सांकेतिकता बनी हुई है। विश्वामित्र अपनी आत्मा के उन्नयन के लिए तपस्यारत हैं। उनकी तपस्या से देवराज इंद्र का आसन डोल जाता है। वे विश्वामित्र की तपस्या को भंग करने के लिए देवताओं की एक सभा का आयोजन करते हैं। 'कल्पवृक्ष' यहाँ स्वर्ग का प्रतीक है जो विश्वामित्र की तपस्या से डोलने लगता है। छठे अध्याय 'षड्यंत्र की छाया में' में देवताओं, विशेषतः इंद्र, का विश्वामित्र की तपस्या को भंग करने का षड्यंत्र चित्रित है। इस षड्यंत्र में इंद्र को पता चलता है कि विश्वामित्र पर शस्त्रों का कोई असर नहीं होगा और न ही उन्हें बात-चीत से समझाया जा सकता है। अतः विश्वामित्र की तपस्या को भंग करने के लिए उसने किसी अप्सरा को भेजने का निर्णय लिया। सातवें और आठवें अध्याओं—'अनबुझी तृषा' तथा 'अपनी दृष्टि में'—में मेनका के द्वंद्व और चिंतन का चित्रण किया गया है। मेनका का द्वंद्व यह है कि उसे कब तक बिना उसकी इच्छा के पर-पुरुषों के पास भेजा जाता रहेगा ! उसका यह चिंतन पुरुषवादी समाज के विरुद्ध नारीवादी चेतना लिए हुए है। अपने द्वंद्व और चिंतन में मेनका अपने लिए एक सार्थक जीवन की तलाश करती हुई देखी जाती है। वह एक पूर्ण स्त्री का जीवन जीना चाहती है, जबकि इंद्र के द्वारा उसे खंडित-स्त्री का जीवन जीने के लिए मजबूर किया जाता है। नवें, दसवें, ग्यारहवें तथा बारहवें अध्यायों—ज्वालाओं के साथ, परिचय, द्वंद्व उन्मेष तथा समर्पित आकाश—में मेनका के दुर्निवार्य आकर्षण से बचने की जद्दोजहद करते विश्वामित्र मेनका का परिचय पूछते हैं। मेनका अपना परिचय बताते हुए विश्वामित्र की उपलब्धियों के परिप्रेक्ष्य में उन्हें काम से विरत रहने का उपदेश देती हुई खुद उनकी तरफ खिंचती जाती है। अंततः विश्वामित्र मेनका के सौंदर्य की राशि के सामने एक नये जीवन का रास्ता पाकर आत्म-समर्पण कर देते हैं। तेरहवें अध्याय 'सहज स्वीकार' में गर्भवती मेनका और विश्वामित्र अपने संबंधों की वैधता-अवैधता

[82] एक पुरुष और : विनय, भारती भाषा प्रकाशन, दिल्ली, 1976, पृष्ठ 8

पर बहस करते हैं। इस बहस में विश्वामित्र ने जो प्रश्न खड़े किये हैं उनके उत्तर देने के क्रम में मेनका का क्रांतिकारी रूप से स्पष्ट होता है, यद्यपि मेनका के प्रतिउत्तर में वे भी अपने संबंधों की वैधता ही रेखांकित करते हैं। मेनका लोक और शास्त्रों द्वारा बनाये गये सभी सामाजिक नियमों को चुनौती देती हुई अपने संबंधों को वैध ठहराती है। चौदहवें अध्याय 'परिज्ञान' में विश्वामित्र मेनका की जिज्ञासा के उत्तर में उसे अपनी तपस्या, अपने और मेनका के मिलन के औचित्य के बारे में बताते हैं। पंद्रहवें अध्याय 'संज्ञाओं से मुक्ति' में विश्वामित्र और मेनका अपनी पुत्री को भविष्य के हाथों सौंपते हैं। सोलहवें अध्याय 'वापिस आती हथेलियाँ' में मेनका एक बार फिर से अपने जीवन को निरर्थक मानती हुई अपने को खाली-सा महसूस करती है, क्योंकि अब उसे विश्वामित्र के पास से वापस जाना है। वह आत्महत्या करने का प्रयास करती है, पर दूसरे ही क्षण अपनी पुत्री के माध्यम से अपने जीवन को सार्थक मानती हुई संभल जाती है। अंतिम अध्याय 'पूर्ण-बोध' में विश्वामित्र पुत्री के परिप्रेक्ष्य में अपने और मेनका के संबंधों के सहारे दोनों की पूर्णता को रेखांकित करते हैं।

इस काव्य में विश्वामित्र और मेनका सार्थक जीवन जीने का मार्ग खोजते हैं। यही समस्या 'आत्मजयी' के नचिकेता की भी है। विश्वामित्र भी नचिकेता की तरह सार्थक-जीवन के माध्यम से भविष्य में बने रहने की चिंता को लेकर चलते हैं। विश्वामित्र पहले राजा थे। यों, राजा का जीवन भोग-विलास से भरा हुआ बड़ा सुखमय होता है, पर राजकीय भोग-विलास और सुख जनसाधारण के जीवन के अधिकारों को छीनकर अर्जित किये जाते हैं। यह बात हर संवेदनशील व्यक्ति समझता है। विश्वामित्र संवेदनशील व्यक्ति थे, अतः उन्हें अपने राजकीय जीवन में ही यह बात समझ में आ गयी—*"मुझे याद है कि मैंने/ कितनी आज्ञाओं को/ फैलने दिया था सड़कों पर अविराम/ छोटी हो गई थी दृष्टि/ अनेक संकेतों में बंधी/ उसने हर समर्थ आवाज को/ कुचलना चाहा/ हर उठते हुए आदमी पर/ रख दिया गया बोझ/ इससे पहले कि कोई ललकारे/ काट दी जाती हैं जिह्वाएँ/ बंद कर दी जाती हैं आँखें/ बाहर होता है नृत्य/ अंदर बजते हैं मृदंग/ नदियों के रास्ता बदलने पर/ सैकड़ों मंत्रणाएँ जन्म लेती हैं/ अलग-अलग वर्गों में"*[83]। इस तरह युद्ध और बल-प्रदर्शन से प्राप्त राजकीय सुख उन्हें थोथे लगने लगते हैं, और एक दिन वे राज्य त्यागकर अपने उस अस्तित्व की तलाश में निकल पड़ते हैं जो उनके भीतर कहीं न कहीं आकार ग्रहण करना चाहता है और अपना स्थान न पाकर वह उन्हें बेचैन करता है। राज्य त्याग के द्वारा—*"उसने बता दिया कि/ इस नदी के पार/ वह अपना एक नया व्यक्तित्व बनायेगा/ जिसके निर्माण में—/ न होगा राज्य/ न होगा वैभव/ और न होगा रक्तपात"*[84]। यहाँ यह ध्वनित हुए बिना नहीं रहता कि विश्वामित्र के रूप में जैसे यह निर्णय नचिकेता की सीख के बाद वाजश्रवा लेते हैं, क्योंकि वाजश्रवा के राजकीय व्यक्तित्व में इन तीनों तत्वों का योग स्वीकार करते हुए नचिकेता ने उन्हें व्यक्तित्वशून्य घोषित

[83] एक पुरुष और : विनय, भारती भाषा प्रकाशन, दिल्ली, 1976, पृष्ठ 21

[84] वही, पृष्ठ 16

कर दिया था। अपने शुरूआती प्रसंगों में यह कृति भी 'आत्मजयी' की तरह ही राज्य, युद्ध और रक्तपात की समस्या से जूझती है। इस समस्या से निजात पाने के लिए विश्वामित्र अपने राज्य का त्याग कर देते हैं। यों, यह काव्य युद्ध और रक्तपात की समस्या का समाधान प्रेम और संवेदना के मार्ग में खोजता है।

युद्ध और रक्तपात का कारण बनने वाले राज्य का परित्याग कर विश्वामित्र तपस्या का मार्ग चुनते हैं। उनकी तपस्या से देवराज इंद्र विचलित हो जाते हैं। देवराज इंद्र का यह विचलन आगे चलकर मेनका की यंत्रणाओं को सघन करने की भूमिका निभाता है, क्योंकि उसके इस विचलन में उसके व्यक्तित्व के लोक-विरोधी पहलू सामने आते जाते हैं—*"उसे नारियाँ अच्छी लगती हैं/ और पुरुष भयानक....../ वह उन तमाम पुरुषों को वज्र से/ ध्वस्त कर देगा—जो—/ उसके शासन को बर्दाश्त नहीं करेंगे/ वह उन तमाम कीलों को उखाड़ फेंकेगा/ जो उसके सिंहासन के इर्द-गिर्द/ गाड़ दी गयी हैं......"*[85]। ऐसे इंद्र की इच्छा के अधीन मेनका है, जिसे बिना उसकी इच्छा के विभिन्न पुरुषों के पास वह भेजता रहता है। खैर ! देवराज ने विश्वामित्र के पास भी मेनका को उनकी तपस्या भंग करने के लिए भेजा। मेनका विश्वामित्र के पास आयी थी उनकी तपस्या भंग करने, पर उसका साथ पाकर विश्वामित्र को वह जीवन-दृष्टि प्राप्त होती है जो उनके जीवन को सार्थक बना सकती है। विश्वामित्र ने तपस्या का मार्ग अपने पूर्ण-व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा के लिए चुना था। पर वह सहज जीवन का मार्ग नहीं था। उससे महज व्यक्तिगत उपलब्धियाँ ही हासिल की जा सकती हैं, सामाजिक नहीं; जबकि बिना सामाजिक उपलब्धि के व्यक्ति का जीवन सफल नहीं माना जा सकता। उन्होंने मेनका से प्रेम किया। प्रेम महज व्यक्तिगत नहीं, बल्कि एक सामाजिक उपलब्धि भी है। इस तरह विश्वामित्र ने युद्ध और रक्तपात का मार्ग छोड़कर प्रेम और संवेदना का मार्ग ग्रहण किया। दूसरी तरफ मेनका को भी विश्वामित्र के माध्यम से एक सार्थक जीवन का मार्ग मिल जाता है। अपने व्यक्तित्व में दोनों अधूरे होते हैं, एक दूसरे का खालीपन भरकर वे पूर्ण होते हैं। यह पूर्णता दोनों को प्रेम और संवेदना की प्राप्ति में ही होती है। आधुनिक युग की भागादौड़ी और मशीनीकरण से भरे जीवन में भावना का स्थान नगण्य होता जा रहा है। लोगों के आपसी रिश्तों में दूरियाँ बढ़ती जा रही हैं, ऐसे में प्रेम और भावना ही वे मूल्य हैं जो लोगों के जीवन को साथक और संतुष्ट बना सकते हैं।

विश्वामित्र और मेनका के संघर्ष में आधुनिक-युग के मनुष्य का संघर्ष देखा जा सकता है। उनका संघर्ष सार्थक जीवन के माध्यम से आत्मा की संतुष्टि के लिए है। इस तरह से यह संघर्ष बाहरी उपलब्धि का नहीं, बल्कि आंतरिक उपलब्धि का है। पर यह आंतरिक उपलब्धि बाहरी उपलब्धि को छोड़ कर नहीं, बल्कि उसी के माध्यम से आयेगी—यह बात उल्लेखनीय है। इस संदर्भ में महत्वपूर्ण बात है बाहरी उपलब्धियों का प्रकार। वे कौन-सी उपलब्धियाँ हैं जिन्हें जीवन में प्राप्त करने पर मन को संतुष्टि मिल सकती है। विश्वामित्र एक बार बाहरी उपलब्धियों को नगण्य मान तपस्या में रत होते हैं, पर जल्द

[85] एक पुरुष और : विनय, भारती भाषा प्रकाशन, दिल्ली, 1976, पृष्ठ 56

ही उन्हें तपस्या का यह मार्ग असहज लगने लगता है। व्यक्ति महज आंतरिक उपलब्धियों से अपना भला कर सकता है, समाज का नहीं। अतः एक बार फिर वे जीवन के सहज मार्ग पर बढ़ते हैं। बाहरी उपलब्धियाँ ऐसी होनी चाहिए जिनसे नये मूल्य विकसित हों। अर्थात वे उपलब्धियाँ मात्र वैयक्तिक न होकर सामाजिक हो जाएँ, जिनके सहारे मनुष्य भविष्य में भी बना रह सके। राजा होकर विश्वामित्र ने वैयक्तिक उपलब्धियाँ अर्जित कीं। एक राजा के लिए इनका अर्जन मामूली बात है। योग भी वैयक्तिक उपलब्धियों के ही अर्जन का मार्ग है। एक गलत रास्ता छोड़कर विश्वामित्र दूसरे गलत रास्ते का उपयोग कर रहे थे। अतः राज्य के बाद उन्होंने योग का मार्ग भी छोड़ दिया। आजकल का मनुष्य सिर्फ वैयक्तिक उपलब्धियों को ही महत्व देता है, इसीलिए वह प्रायः अपने जीवन से असंतुष्ट रहता है। संतुष्टि के लिए वह एक को छोड़कर दूसरा मार्ग विश्वामित्र की तरह ही ग्रहण करता रहता है।

मेनका आज के यंत्रीकृत-युग में मशीन बनते जा रहे मनुष्य की समस्या के साथ अवतरित होती है। मेनका का व्यक्तित्व स्वतंत्र नहीं है। उसे इंद्र की इच्छा के अधीन काम करना पड़ता है। जो जीवन वह इंद्र की इच्छा से जी रही है, उससे संतुष्ट नहीं है। अतः उसकी खोज भी एक सार्थक-जीवन की ओर है। स्वयं कवि ने इस काव्य में लिखी अपनी भूमिका में मेनका की समस्या का संकेत करते हुए लिखा है—*''मेनका का संकट केवल अस्तित्व का संकट नहीं, एक सार्थक और सही जीवन जीने का संकट भी है। वह अपनी विवशता भरी जिंदगी से उबरकर वहाँ आना चाहती है, जहाँ उसका जीवन सार्थक हो। वह किसी की आज्ञा को ढोने वाली निर्जीव चेतना न होकर, जीवन के विकास में योग देने वाली नारी हो, एक पूर्ण स्त्री।''*[86] मेनका को यह सार्थकता इंद्र की कैद से मुक्त होकर ही मिलती है। आज मशीनीकरण का इतना विकास हो चुका है कि इसके साथ काम करते-करते मनुष्य खुद एक मशीन की तरह होता जा रहा है। उसे अपने मन की बात सुनने का समय ही नहीं मिलता। यद्यपि वह इन यंत्रणाओं से निकलना चाहता है, पर वे उसके चारों ओर ऐसी फैली हैं कि वह उन घेरों से निकल ही नहीं पाता। यों, किसी न किसी रूप में विश्वामित्र और मेनका आधुनिक मनुष्य की समस्याओं से जुड़ जाते हैं।

### 7.8 महाप्रस्थान

'महाप्रस्थान' नरेश मेहता का महाभारत की कथा पर आधारित खंडकाव्य है। महाभारत की स्वर्गारोहण की कथा के बहाने कवि ने मानवता और मनीषा के विकास में युद्ध और राज्य की विरोधी भूमिका को स्पष्ट किया है। राज्य ऐसी संस्था है, जिसकी प्राप्ति के लिए, और प्राप्ति के बाद बनाये रखने के लिए भी, युद्ध अनिवार्य होता है। युद्ध वह स्थिति होती है जो मनुष्य और मानवता की उपलब्धियों को नगण्य बनाती है। यही कारण है कि युद्ध जीतने के बाद भी पांडवों की उपलब्धियाँ शून्य होती हैं। अतः वे स्वर्ग की इस यात्रा में अपने आपको असमर्थ पाते हैं। स्वर्ग की यात्रा प्रतीकात्मक है। जिसने

[86] एक पुरुष और : विनय, भारती भाषा प्रकाशन, दिल्ली, 1976, पृष्ठ 9

अपने सद्कर्मों द्वारा मानवता और मनुष्यता को कुछ उपलब्धियाँ प्रदान की होंगी, वही स्वर्ग का अधिकारी होगा। युधिष्ठिर के अलावा सभी पांडव इसे प्राप्त करने में असमर्थ हो जाते हैं। युधिष्ठिर की प्रज्ञा जाग्रत थी, वे मनुष्यता की प्रतिष्ठा में संलग्न थे। राजा बनने के बाद राज्य की मूल्य-विरोधी स्थिति को देखकर मानवता के लिए उन्होंने उसका त्याग कर दिया था—*"युद्ध प्रताड़ित/ अंतर का वह सत्य—/ अश्वमेध औ राजसूय यज्ञों से भी/ जब शोध न पाये/ तब पुनः दाँव पर लगा/ स्वत्व—/ वल्कल पहने निकल पड़े/ वैश्वानर पथ पर।"*[87] बाकी के पांडवों ने मानवता के लिए कुछ अर्जन नहीं किया था, अतः एक-एक कर हिमालय की बर्फ में वे सब विलीन होते गये। उनके बारी-बारी से विलीन होने के क्रम में उनके कर्मों और प्रकृति का लेखा-जोखा महाभारत युद्ध के संदर्भ में प्रस्तुत किया गया है—कभी उनके स्वयं के आत्मचिंतन और अतीत के स्मरण द्वारा, और कभी आपसी संवादों के माध्यम से। इन स्मरणों और संवादों, खासकर युधिष्ठिर के संवादों, के द्वारा युद्ध और राज्य की मानवता विरोधी स्थितियों को भी उजागर किया है। यही इस काव्य का मुख्य उद्देश्य है।

इस काव्य में तीन अध्याय हैं—यात्रा-पर्व, स्वाहा पर्व और स्वर्ग पर्व। पहले अध्याय की शुरुआत में मुख्यतः हिमालय की विराटता और सौंदर्य का अंकन हुआ है, यद्यपि इसमें सूक्ष्म रूप से यह संकेत है कि पांडव की हिमालय यात्रा जारी है। इसके बाद कथावस्तु क्रमशः प्रत्येक यात्रियों के परिचय में इतिवृत्तात्मक हो जाती है। यात्रियों की प्रकृति के परिचय और उनके द्वारा स्वयं अपने अतीत के स्मरण के माध्यम से इस अध्याय में मुख्यतः युद्ध की विभीषिका को उभारने का प्रयास हुआ है। दूसरे अध्याय 'स्वाहा पर्व' में पांडवों के एक-एक कर बर्फ में विलीन होने से पहले उनका युधिष्ठिर के साथ संवाद होता है। यों इन संवादों में मुख्यतः मनुष्यता और मनीषा के अर्जन का महत्व तथा युद्ध और राज्य द्वारा इनके हनन की समस्या उभर कर आयी है। पहले ही यह संकेत किया गया कि युधिष्ठिर के अलावा अन्य पांडव स्वर्ग नहीं पहुँच पाये क्योंकि स्वर्ग तक पहुँचने के लिए जिस मनुष्यता और मनीषा की ज़रूरत होती है, वह उनमें नहीं थी। युद्ध में भाग लेकर उन्होंने इसे नष्ट कर दिया था। तीसरे अध्याय 'स्वर्ग पर्व' में कथावस्तु को फिर से सूक्ष्म कर दिया गया है। एक बार फिर से हिमालय की विराटता तथा महानता का वर्णन करते हुए युधिष्ठिर को अपने स्वान के साथ स्वर्ग लोक में पहुँचा हुआ दिखाया गया है।

इस काव्य का मुख्य उद्देश्य जैसा कि कहा गया, युद्ध और राज्य को मानवता और मनीषा के विकास के लिए घातक सिद्ध करना है। युद्ध सिर्फ त्रासदी उत्पन्न कर सकता है, उससे किसी का भला नहीं होता है। इससे जुड़े हुए व्यक्तियों को आजीवन युद्ध की यातना से गुजरना पड़ता है, क्योंकि युद्ध बाहरी स्तर पर समाप्त हो जाते हैं, पर मानसिक स्तर पर कभी न समाप्त होने वाली त्रासदी में बदल जाते हैं—*"युद्ध क्या ऐसे ही होते समाप्त ??/ जब शस्त्रों से ये/ शेष कर दिये जाते हैं/ युद्धस्थल में—/ तब*

---

[87] महाप्रस्थान : नरेश मेहता, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2012, पृष्ठ 32

*अंतस्तल में युद्ध/ अशेष हो/ जीवन भर चलते रहते हैं।"*[88] इन त्रासदियों से घिरा हुआ व्यक्ति किन मानवीय मूल्यों और मनीषा के विकास में योग देगा ? पांडवों ने यद्यपि युद्ध में विजय प्राप्त की थी, पर उनकी इस विजय से किन्हीं मानवीय मूल्यों की सृष्टि नहीं होती। युद्ध में भाग लेने वालों के लिए सबसे बड़ा मूल्य विजय ही होती है, फिर वह चाहे जितने मूल्यों को दाँव पर लगाकर मिले—*"युधिष्ठिर हों/ या हों कृष्ण/ विजय के सम्मुख मूल्यवानता का क्या है अर्थ ??"*[89] युद्ध में मूल्यों का सृजन नहीं, विघटन होता है। युद्ध में संलग्न होकर कैसे कौरव और पांडवों ने मूल्यों के विघटन में अपनी भूमिका निभायी थी, इसका विवेचन इस काव्य में दोनों ओर के योद्धाओं, विशेषतः पांडवों, की मानवता-विरोधी नीतियों को उजागर करते हुए किया गया है। ऐसा नहीं है कि पांडव कौरवों से ज्यादा मानवता-विरोधी थे, पर इस काव्य का केंद्रबिंदु पांडव हैं; अतः उनकी नियति की विवेचना यहाँ ज्यादा प्रस्तुत हुई है। कौरवों की तरफ के योद्धाओं को मात्र कुटिल या विवश दिखाया गया है। दुर्योधन की हठवादिता से युद्ध हुआ, पर उसे मात्र 'कुटिल' लिखकर आगे कर्ण की विवशता पर आ जाया गया है—*"दुर्योधन था कुटिल—किन्तु वह कर्ण?"*[90] इसके आगे कर्ण की विवशता बताते हुए लिखा गया है—*"सूतपुत्र था।/ कुंती से परित्यक्त/ द्रौपदी से अपमानित/ और सभी के द्वारा पंक्ति बहिष्कृत।/ कर्ण न करता बैर/ धनंजय ! तब क्या करता ?"*[91] इसी तरह कौरव की तरफ के भीष्म, द्रोणाचार्य और कृपाचार्य जैसे बड़े योद्धाओं और मनीषी व्यक्तियों के द्वारा युद्ध में भाग लेने को उनकी विवशता ही बतायी गयी है। इस क्रम में धृतराष्ट्र के अंधेपन की प्रतीकात्मकता को 'अंधा युग ' की तरह ज़रूर यहाँ उभारा गया है—*"गाथा सुनते रहे नाश की/ पर न प्राप्त हो सकी दृष्टि/ साधारण सी भी।/ अंधापन वह/ आत्मा का था,/ सामूहिक अंधेपन के थे/ वे प्रतीक/ तभी तो राज्यलक्ष्मी गांधारी ने/ स्वीकारा कृत्रिम/ अंधापन।"*[92] युद्ध के लिए कौरवों की विवशता या कुटिलता को जिम्मेदार यहाँ इसीलिए भी माना गया है कि वे सत्ताधारी पक्ष के थे और सत्ता की मूल्य और मनीषा विरोधी प्रकृति का उद्घाटन कवि का उद्देश्य है। सत्ताधारी व्यक्ति कुटिल होता है, और उसके अधीन रहने वाले व्यक्ति विवश। न तो कुटिल व्यक्ति ही मूल्यों के विकास में योग दे सकता है और न विवश व्यक्ति ही। व्यक्ति कितना ही प्रज्ञावान हो, राज्य उसकी मनीषा को कुचल ही देता है। विदुर, भीष्म, द्रोणाचार्य और कृपाचार्य की विवशता के संदर्भ में यही बात रेखांकित की गयी है। विदुर अत्यंत मनीषी व्यक्ति थे, पर युद्ध को घटित होने से रोक नहीं पाये। भीष्म, द्रोणाचार्य और कृपाचार्य जैसे महापुरुषों को असत्य का साथ देना पड़ा—*"पर विदुर !!/ सत्य की मूर्ति/ निस्पृह तटस्थ—/ क्यों मूक रहे/ अन्याय-ज्वार/ प्रतिबार/ पांडवों-द्वार/ जब टकराता था दुर्निवार,/ क्यों नहीं किया प्रतिकार विदुर ने ?/ कौन राज्य समझा करता है/ शीलवान की सज्जन भाषा ?/ पितामह भीष्म/*

[88] महाप्रस्थान : नरेश मेहता, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2012, पृष्ठ 34

[89] वही, पृष्ठ 32

[90] वही, पृष्ठ 38

[91] वही, पृष्ठ 38

[92] वही, पृष्ठ 36

*द्रोण-कृप जैसे वे आचार्य—/ असत्य का पक्ष लिया !''*[93]

राज्य की प्रज्ञा और मूल्य विरोधी प्रकृति के उद्घाटन के लिए काव्य में बहुत दूर तक युधिष्ठिर और अर्जुन के संवादों के माध्यम से अराजकतावादी दर्शन का प्रतिपादन चलता है। युधिष्ठिर ने राज्य को मूल्यों और मनीषा के विकास में बाधक माना है। राज्य व्यक्ति की स्वतंत्रता और वैयक्तिकता का हरण कर लेता है, जबकि मूल्य और मनीषा के विकास के लिए व्यक्ति की स्वतंत्रता आवश्यक होती है। युधिष्ठिर ने द्रोणाचार्य और विदुर का उदाहरण देते हुए यह स्पष्ट किया कि कैसे राज्य व्यक्ति की चेतना का हरण कर लेता है। अत्यंत प्रतिभाशाली आचार्य द्रोण अपने बेटे के पालन-पोषण के लिए दूध का प्रबंध नहीं कर पाते थे। राज्य ने उन्हें इतना पंगु बना दिया था कि वे अपनी ज़रूरतों के लिए राज्य पर ही निर्भर रहें, ताकि वे अपनी प्रज्ञा-बल से उसकी गलत नीतियों का विरोध न करें—*''क्या द्रोणाचार्य की इस विवशता के लिए/ राज्य दोषी नहीं ?/ क्या इस व्यवस्था ने ही/ उस सात्विक, परम मेधावी को/ इस स्थिति तक नहीं पहुँचाया कि/ मात्र जीवन-निर्वाह के लिए/ अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व/ ज्ञान और विवेक तक/ राज्य को सौंप देना पड़ा।''*[94] इसी तरह परम ज्ञानी विदुर के लिए कौरवों के मन में कोई सम्मान का भाव नहीं था। वे उनकी उपेक्षा के पात्र इसीलिए बने रहे कि उनके विचार राज्य की मानवतावादी नीतियों को परिभाषित करते थे—*''विदुर की ज्ञान-संपन्नता के लिए/ किस कौरव के मन में आदर था अर्जुन ?/ राजवंशी होने पर भी/ राज्यकृपा के पात्र न होने के कारण/ परम भागवत विदुर/ एक अर्थहीन चरित्र बनकर रह गये।''*[95] द्रोण और विदुर के माध्यम से युधिष्ठिर ने यह संकेत किया है कि जब समाज में सम्मानित या राजवंश से जुड़े हुए लोगों की प्रतिभा को कुचलने का कार्य राज्य कर सकता है तो साधारण लोगों में वह प्रतिभाएँ कैसे पनपने दे सकता है ! महाभारत काल में, जबकि राज्य अपना अस्तित्व ग्रहण कर रहे थे, अपने शुरुआती दौर में ही राज्यों के इस प्रतिभा-विरोधी प्रकृति को रेखांकित करते हुए युधिष्ठिर ने भविष्य में इसकी इस प्रवृत्ति के और ज्यादा प्रबल हो जाने की संभावना की ओर संकेत किया है—*''प्रत्येक व्यवस्था के पास/ अपने बघनख होते हैं अर्जुन !/ सुदूर भविष्य में/ क्या यह संभव नहीं है कि/ राज-व्यवस्था/ समाज से स्वतंत्रचेता व्यक्तियों को ही/ या तो समाप्त कर दे/ या उन्हें इतना विवश, पंगु बना दे कि/ उनका अग्नि-व्यक्तित्व/ राज्य-व्यवस्था की निरंकुशता को/ कभी चुनौती ही न दे पाये।''*[96]

युधिष्ठिर ने सिर्फ राज्य के नियंत्रण में व्यक्ति की चेतना के कुंद होने की ही बात नहीं की है, बल्कि इसकी साम्राज्यवादी नीतियों द्वारा जनसाधारण के मूल अधिकारों के हनन की बात भी रेखांकित की है। सत्ता के साम्राज्य आम आदमी के अधिकारों का हनन करके खड़े होते हैं—*''तुम्हें बारंबार*

[93] महाप्रस्थान : नरेश मेहता, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2012, पृष्ठ 37

[94] वही, पृष्ठ 91-92

[95] वही, पृष्ठ 93

[96] वही, पृष्ठ 93

*कचोटती है/ अपनी विवशता कि—/ तुम अपमानित किये गये/ तुम्हारे स्वत्व का हनन किया गया/ न्याय प्राप्ति के लिए/ तुम्हें संघर्ष करना पड़ा/ पर पार्थ!/ कभी उन/ विचारहारा साधारण जनों के बारे में सोचो—/ जो सदा अपमानित होते रहे हैं ।/ जिनके स्वत्व का अपहरण ही/ हमारे ये दीपित साम्राज्य हैं ।/ अन्याय के अभ्यस्त वे/ नहीं जानते कि/ न्याय भी कुछ होता है ।"*[97] राज्य की सबसे नकारात्मक प्रकृति यह है कि इसे प्राप्त करने, और प्राप्ति के बाद बनाए रखने के लिए, युद्ध का सहारा लिया जाता है । अतः राज्य अशांति के जनक होते हैं—*"सोचो सव्यसाची !/ समाज की अनुकंपा या कृपा से/ राज्याकांक्षी/ राज्य या सत्ता नहीं अर्जित किया करता/ बल्कि संघर्ष, षड्यंत्र और कुचक्रों से ही/ वह सिंहासन पर आरूढ़ होता है ।/ ऐसी सत्ता पर/ आधिपत्य बनाये रखने के लिए/ फिर संघर्ष, षड्यंत्र और कुचक्र/ अनिवार्य हो जाते हैं ।"*[98] इस तरह इस काव्य में युधिष्ठिर के माध्यम से राज्य के बारे में अराजकतावादी दर्शन का प्रतिपादन किया गया है । इस दर्शन के अनुसार राज्य व्यक्तित्व के स्वतंत्र विकास में बाधक होते हैं, संघर्ष और युद्ध के कारणरूप होने की वजह से वे अशांति के वाहक होते हैं, अतः उनकी आवश्यकता नहीं है । राज्य की अनावश्यकता को और दृढ़ आधार प्रदान करते हुए इसमें युधिष्ठिर के राज्य त्याग को राज्य की इन्हीं सब मानव-विरोधी प्रवृत्तियों से जोड़ा गया है—*"वर्षों के वैचारिक मंथन के बाद ही/ मैंने यह निर्णय लिया था बंधु ! कि/ सारे मानवीय दुःखों का आधार—/ यह राज्य है/ राज्य-व्यवस्था है/ और राज्य-व्यवस्था का दर्शन है ।"*[99]

उल्लेखनीय है कि नयी कविता के अधिकांश प्रबंध-काव्य युद्ध पर आधारित हैं । युद्ध की अमानवीयता को दिखाना उनका उद्देश्य होता है, अतः वे राज्य की गलत नीतियों का भी विरोध करते हैं क्योंकि युद्ध प्रायः राज्य के कारण ही हुआ करते हैं । राज्य को युद्ध का जिम्मेदार मानते हुए भी काव्य प्रायः इस प्रश्न से नहीं टकराते कि राज्य का अस्तित्व होना चाहिए कि नहीं? पर यह काव्य इन प्रश्नों से टकराता है, और मानवता के विकास के लिए राज्य को अनावश्यक बताता है । फिर भी, राज्य के विकल्प रूप में वह कौन-सी व्यवस्था होगी जो मनुष्य की अराजक-स्थिति को नियंत्रण करने का काम करेगी, इसका कोई ठोस उत्तर यह काव्य नहीं प्रदान करता । राज्य व्यवस्था के विकल्प के बारे में पूछने पर युधिष्ठिर अर्जुन से कहते हैं—*"ऐसा न हो/ इसकी हम कामना तो कर सकते हैं/ परंतु/ प्रतिव्यवस्था का कोई आश्वासन/ कैसे दिया जा सकता है अर्जुन ?"*[100] अराजकतावादी दर्शन अपने सैद्धांतिक रूप में मानवीयता के उच्च आदर्शों से भरा हुआ लगता तो है, पर इसकी परिणति व्यावहारिक रूप में संभव नहीं होती । दुनिया के सभी मनुष्य सच्चाई के मार्ग पर चलने लगें, यह लगभग असंभव बात है । जब तक मनुष्यों में कुप्रवृत्तियाँ रहेंगी, उन पर अंकुश लगाने के लिए किसी-न-किसी व्यवस्था की स्थापना करनी ही होगी । उस व्यवस्था का स्वरूप कैसा हो, इस पर बहस तो हो सकती है, पर वह व्यवस्था होनी

---

[97] महाप्रस्थान : नरेश मेहता, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2012, पृष्ठ 80

[98] वही, पृष्ठ 86

[99] वही, पृष्ठ 82

[100] वही, पृष्ठ 89

चाहिए या नहीं, इस पर कोई बहस नहीं हो सकती। व्यवस्था का कोई विकल्प नहीं है। जो प्रतिव्यवस्था होगी, वह भी अंततः एक व्यवस्था ही होगी। इसीलिए युधिष्ठिर के सामने अर्जुन के प्रश्न का कोई ठोस जवाब नहीं है। वस्तुतः युधिष्ठिर व्यक्ति की प्रज्ञा और विचारों पर किसी भी व्यवस्था का नियंत्रण मानने को तैयार नहीं हैं। उनके अनुसार उनका विकास स्वतंत्र रूप में होना चाहिए।

उल्लेखनीय है कि राज्य के संबंध में युधिष्ठिर द्वारा अराजकतावादी के साथ-साथ प्रज्ञावादी विचार भी व्यक्त किये गये हैं। राज्य को एक अनावश्यक चीज़ मानते हुए उस पर प्रश्न-चिह्न खड़ा करना एक विचार है और व्यक्ति की प्रज्ञा और विचारों के नियंत्रण में राज्य के अस्तित्व को स्वीकार करना दूसरा विचार है। ये दोनों विचार आपस में अंतर्विरोधी हैं। इस काव्य में युधिष्ठिर के द्वारा कभी पहले, तो कभी दूसरे विचार के समर्थन का संकेत पाया जाता है। वस्तुतः यह युधिष्ठिर की नहीं, कवि की अपनी वैचारिक शिथिलता का द्योतक है। राज्य का प्रज्ञा और विचारों पर नहीं, बल्कि प्रज्ञा और विचारों का राज्य पर नियंत्रण होना चाहिए; अन्यथा राज्य निरंकुश हो जाएँगे। ऐसा भी विचार युधिष्ठिर के द्वारा व्यक्त हुआ है—*''राज्य के नहीं/ धर्म के नियमों पर समाज आधारित है।/ राज्य पर अंकुश बने रहने के लिए/ धर्म और विचार को स्वतंत्र रहने दो पार्थ !''*[101] इसके संदर्भ में यह ध्यान रखना है कि इसके पहले युधिष्ठिर अपना अराजकतावादी विचार व्यक्त कर चुके थे। अर्जुन के जिस प्रश्न का उत्तर उन्होंने उपर्युक्त उद्धरण में दिया है वह युधिष्ठिर के अराजकतावाद पर ही था—*''यदि राज्य न होगा/ तो समाज का क्या होगा ?''*[102] यानी पहले युधिष्ठिर राज्य को अनावश्यक मान चुके थे। इसके अलावा राज्य पर धर्म और प्रज्ञा का नियंत्रण होना चाहिए, यह मत व्यक्त करने के बाद भी युधिष्ठिर 'राजा' की स्थिति स्वीकार नहीं करना चाहते थे। धर्म को राज्य में लागू करने के लिए राजा की आवश्यकता तो होगी ही, अर्जुन के इस प्रकार का मत व्यक्त करने पर युधिष्ठिर कहते हैं—*''यह सबसे खतरनाक दर्शन है पार्थ !/ क्रूरताओं और षड्यंत्रों का प्रतीक/ राजा और राज्य—/ मानवीय उदात्तताओं और करुणा के प्रतीक/ धर्म के प्रतिपालक नहीं हो सकते।''*[103] यद्यपि यहाँ यह माना जा सकता था कि युधिष्ठिर 'राजा' की स्थिति तो स्वीकार करते हैं, पर वे उसे 'धर्म' के अधीन रखना चाहते हैं; पर युधिष्ठिर राजा की स्थिति ही नहीं स्वीकारना चाहते थे, यह बात आगे अर्जुन के प्रश्न से स्पष्ट हो जाती है—*''जब राजा न होगा/ तो और क्या होगा ?''*[104] यानी युधिष्ठिर के अनुसार 'राजा' नहीं होना चाहिए। इस प्रकार स्पष्ट है कि कवि युथिष्ठिर के विचारों में एकरूपता नहीं रखने पाया है। राज्य और राजा के अस्तित्व के संदर्भ में युधिष्ठिर में दो तरह के विचार पाये जाते हैं। और क्योंकि, जैसा कि पहले कहा गया, ये दोनों विचार आपस में अंतर्विरोधी हैं, अतः वे शिल्प के अंग नहीं, उसकी शिथिलता के द्योतक हैं। फिर भी युधिष्ठिर के दोनों विचारों का एक में समाहार करते हुए यह कहा जा सकता है कि राज्य को निरंकुशता से बचाने के लिए उन पर व्यक्ति की प्रज्ञा और विचारों का नियंत्रण होना चाहिए।

---

[101] महाप्रस्थान : नरेश मेहता, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2012, पृष्ठ 82

[102] वही, पृष्ठ 82

[103] वही, पृष्ठ 83

[104] वही, पृष्ठ 83

## 7.9 सूर्यपुत्र

'सूर्यपुत्र' जगदीश चुतुर्वेदी का 'खंड-काव्य' है। इसका प्रकाशन 1975 ई० में हुआ था। यह काव्य महाभारत के सामाजिक रूप से उपेक्षित पात्र 'कर्ण' के जीवन पर आधारित है। अपनी प्रकृति में यह काव्य मूल कथा की घटनाओं का सिलसिलेवार वर्णन करता है, अतः आधुनिकता के तत्वों को यह लगभग उसी रूप में व्यंजित करने की क्षमता रखता है जिस रूप में स्वयं इसका मूल कथानक। महाभारत में कर्ण का चरित्र क्योंकि आधुनिकता के तत्वों का समावेश करने की क्षमता रखता है, अतः उसकी पुनर्प्रस्तुति भी कहीं-न-कहीं आधुनिकता के तत्वों को समाहित करने की क्षमता से भरी हुई होगी। कवि ने स्वीकार किया है कि मूल कथा के कुछ अंश जो आधुनिकता के तत्वों की विरोधी प्रकृति रखते थे, उनमें उसने परिवर्तन कर दिया है। पर यह ध्यान देने की बात है कि कवि द्वारा मूल कथा में किये गये परिवर्तन नगण्य हैं। उदाहरणस्वरूप मूलकथा में कुंती ने सूर्य का जो आह्वान बाल-सुलभ जिज्ञासावश किया था, उसे कवि ने सचेष्ट आह्वान में परिवर्तित कर दिया है। मूल कथा में कर्ण कवच और कुंडल के साथ पैदा हुआ है, कवि ने यह उसे बाद में धारण करवाया है। इसी प्रकार मूल कथा में अर्जुन से युद्ध करते समय कर्ण के रथ का पहिया एक शाप की वजह से जमीन में धँस जाता है। उसे कवि ने अर्जुन के बाणों से कटी हुई मिट्टी के कारण धँसा हुआ दिखाया है। इस प्रकार के परिवर्तन आधुनिकता के पक्ष के हिसाब से थोड़े-बहुत ही उल्लेखनीय हैं, पर्याप्त नहीं। फिर भी, जैसा कि कहा गया, कर्ण का चरित्र ही आधुनिकता के तत्वों को सामाहित करने की योग्यता रखता है, अतः इस काव्य में भी आधुनिकता के कुछ-एक पक्ष मौजूद हैं।

आधुनिकता के दृष्टिकोण से इस काव्य में जातिगत-असमानता का विरोध मुख्य रूप से उभर कर आया है। इसके अलावा राजा की प्रजावत्सलता और युद्ध की विभीषिका का रेखांकन भी आधुनिकता के पक्षों के रूप में इस काव्य में मौजूद हैं। कर्ण का पालन-पोषण एक शूद्र के घर में हुआ था, अतः समाज में वह शूद्र के रूप में ही देखा जाता था। अपनी इस स्थिति के कारण वह पांडवों, द्रौपदी, कृपाचार्य, भीष्म पितामह और शल्य से अपमानित होता है। इस काव्य के शिल्प का आधार कर्ण का यह अपमानबोध ही है। कर्ण का पहला अपमान द्रोणाचार्य द्वारा आयोजित शिष्यों की शस्त्र-संचालन की परीक्षा के अवसर पर पांडवों और कृपाचार्य के द्वारा हुआ। काव्य के 'प्रवंचना' नामक अध्याय में इसका वर्णन है। अर्जुन द्वारा कर्ण का अपमान जातिसूचक शब्दों से किया जाता है—*"भाग जा सूतपुत्र !/ घोड़ों को जाकर हाँक/ रथ को कर साफ, देखभाल करे घोड़ों की/ आया था करने मुकाबला मेरा तू/ छोटा-सा आदमी है/ कितना बड़बोला है/ बिन पहचाने ही बात करता है/ हो जाते कलुषित हाथ मेरे ही व्यर्थ आज/ एक शूद्र की हत्या से !"*[105] इसी प्रकार कर्ण का अपमान द्रौपदी ने अपने स्वयंवर में एक सूत्र-पुत्र से विवाह न करने को कहकर किया था। द्रौपदी स्वयंवर की कथा इस काव्य में नहीं है, पर इस अपमान का संकेत स्वयं कर्ण द्वारा कर दिया गया है। काव्य के 'निष्क्रमण' नामक अध्याय में भीष्म पितामह द्वारा कर्ण का इसी प्रकार से जातिगत अपमान किया जाता है। कर्ण ने जब दुर्योधन से

[105] सूर्यपुत्र : जगदीश चतुर्वेदी, दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, 1975, पृष्ठ 51

यह कहा कि तीन दिन में वह पांडवों को क्या, संपूर्ण पृथ्वी और स्वर्ग को भी जीत सकता है, तब भीष्म पितामह ने कर्ण का जातिगत अपमान करते हुए कहा— *"सूतपुत्र ! तुमको है शौर्य का झूठा गुमान/ भूल गये शायद तुम अर्जुन का गांडीव/ शिव द्वारा प्रदत्त अजेय पशुपति अस्त्र/ स्वयं पवनसुत की रक्षा में विचरता/ अर्जुन का/ श्वेत अश्वों वाला/ अजेय रथ !/ तुम तो हो अर्द्धरथी/ तुम्हें धारण करने होंगे सहस्त्र जन्म/ विजित करने अजेय वीर, पांडुपुत्र अर्जुन को/ तीन दिन तो क्या तीन युग भी लड़ो/ नहीं हरा पाओगे/ समरजयी पांडु-पुत्र/ पाँच महारथियों को !"*[106] इसी प्रकार काव्य के 'निर्वहण' नामक अध्याय में शल्य द्वारा कर्ण को लगातार जाति के आधार पर अपमानित किया जाता है। सेनापति बनाये जाने के बाद कर्ण ने दुर्योधन से शल्य को अपना सारथी बनाने के लिए कहा। दुर्योधन द्वारा शल्य के सम्मुख यह प्रस्ताव रखने पर शल्य बहुत कुपित हुआ। एक सूतपुत्र का सारथी बनने को वह बहुत बड़ा अपमान समझता था— *"मैं नहीं बनूँगा सारथी सूतपुत्र कर्ण का/ वो तो है शूद्र और मैं श्रेष्ठ क्षत्रिय नृप/ दासों के रथ को हाँकना है अधर्म/ यह तो प्रवंचना है, मृत्यु से भी बदतर।"*[107] दुर्योधन ने किसी तरह उसके अश्व-संचालन की प्रशंसा करके, कृष्ण से उसकी तुलना करके उसे कर्ण का सारथी बनने के लिए मना तो लिया, पर शल्य के मन से यह अपमानबोध मिटा नहीं था। अतः युद्ध के मैदान में भी वह लगातार कर्ण की प्रताड़ना और अपमान करता रहा।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि शूद्र होने के कारण कर्ण का तथाकथित उच्च जाति के व्यक्तियों द्वारा लगातार जातिगत अपमान होता रहा। इस जातिगत अपमान के अत्यंत तीखे होने के पीछे कर्ण की वीरता, पराक्रम, शक्ति और वे तमाम योग्यताएँ थीं जो उन तथाकथित उच्च जाति के लोगों के पास नहीं थीं। एक तो जाति से शूद्र और उस पर तमाम योग्यताएँ ! इन बातों को तथाकथित उच्च कुल के लोग बर्दाश्त नहीं कर पाते थे, अतः अपनी कुंठा को वे कर्ण के अपमान के माध्यम से शांत करना चाहते थे। इन तीखे अपमानों की प्रतिक्रिया के रूप में इस काव्य में सामाजिक असमानता और जातिगत प्रताड़ना के विरोध में पर्याप्त विमर्श खड़ा किया जा सकता था, पर इसमें ऐसा नहीं किया जा सका है। इन अपमानों की प्रतिक्रियाओं में भी कर्ण में जातिगत अस्मिता या असमानता के प्रति सामाजिक चेतना के बजाय उसे अपनी स्थिति के प्रति हीनताबोध से ग्रस्त दिखाया गया है। अतः आधुनिक युग के अस्मितापरक विमर्शों को इसमें सीधे वाणी नहीं दी जा सकी है; हाँ, उसके लिए सामग्री ज़रूर इस काव्य में मौजूद है। वास्तव में कर्ण में हीनताबोध उत्पन्न होने के जितने प्रबल समाजशास्त्रीय कारण हैं, उतने ही मनोवैज्ञानिक भी। समाज में जाति-व्यवस्था के अनुसार ऊँच और नीच का बँटवारा करते हुए उसी अनुसार उनकी प्रतिष्ठा और सम्मान निर्धारित किया गया है। तथाकथित निम्न जाति के व्यक्तियों को तथाकथित उच्च जाति के व्यक्तियों का सम्मान करना ही है, चाहे वो उस लायक रहें या न रहें। इसके विपरीत तथाकथित निम्न जाति का व्यक्ति चाहे जितनी योग्यताओं और गुणों को धारण करने वाला हो, उसे तथाकथित उच्च जाति के व्यक्तियों द्वारा हेय दृष्टि से ही देखा जाता है। तथाकथित निम्न जाति में उत्पन्न प्रतिभाशाली व्यक्तियों का तो तथाकथित उच्च जाति के व्यक्तियों द्वारा और ज्यादा अपमान

[106] सूर्यपुत्र : जगदीश चतुर्वेदी, दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, 1975, पृष्ठ 81-82
[107] वही, पृष्ठ 136

किया जाता है। उन्हें लगातार प्रताड़ित किया जाता है। अतः तथाकथित निम्न जाति में पैदा हुए प्रतिभाशाली व्यक्तियों में हीनताबोध उत्पन्न हो जाता है। वे अपमानबोध से ग्रसित हो जाते हैं। कर्ण के साथ ऐसा ही होता है।

कर्ण में अपनी जातिगत स्थिति के प्रति उत्पन्न हुए हीनताबोध और अपमानबोध तथा पांडवों आदि में कर्ण की योग्यताओं के कारण उत्पन्न हुई कुंठा को मनोवैज्ञानिक आधार पर विश्लेषित किया जा सकता है। जातिगत व्यवस्था के कारण व्यक्तियों में उत्पन्न हुई मानसिक कुंठाओं के आधार पर इस काव्य का ताना-बाना बुना गया है। कर्ण में उसकी जाति के कारण उत्पन्न हुए हीनताबोध और अपमानबोध की मनोवैज्ञानिक विवेचना करने पर यह तथ्य हाथ आयेगा कि समाज में शूद्र व्यक्तियों को जाति के आधार पर लगातार प्रताड़ित किया जाता था। समाज में अपनी प्रतिभा और योग्यता के अनुरूप सम्मान न पाने के कारण उनके मन में हीनताबोध और लगातार जातिगत अपमान झेलते रहने के कारण अपमानबोध उत्पन्न हो जाता है। कर्ण के मन में ये दोनों मनोग्रंथियाँ उत्पन्न होकर पांडवों के प्रति उसके व्यवहार को संचालित करती हैं। जहाँ एक ओर तथाकथित निम्न जाति के प्रतिभाशाली व्यक्तियों में हीनताबोध उत्पन्न होता है, वहीं तथाकथित उच्च जाति के व्यक्तियों के मन में उच्चताबोध की ग्रंथि उत्पन्न हो जाती है। वे अपने से नीची कही जाने वाली जाति के व्यक्ति में उच्च श्रेणी की प्रतिभा स्वीकार ही नहीं पाते, और इसे लेकर वे एक कुंठा का शिकार हो जाते हैं। उनकी इसी कुंठा को उच्चताबोध की ग्रंथि कहा जा सकता है। मनोवैज्ञानिक शब्दावली में कहें तो कह सकते हैं कि कर्ण में अपनी जातिगत स्थिति को लेकर जहाँ 'इन्फेरियरिटी कॉम्प्लेक्स' उत्पन्न हो जाता है, वहीं अर्जुन आदि पांडवों में 'सुपीरियरिटी कॉम्प्लेक्स'। कर्ण के प्रति अर्जुन, द्रौपदी, भीष्म तथा शल्य का व्यवहार उनकी जातीय अहमन्यता का सूचक है। अपने जातिगत अपमान के कारण कर्ण में पांडवों के प्रति जिस प्रतिहिंसा के भाव का जन्म हुआ वह भी महाभारत के युद्ध का एक महत्वपूर्ण कारण बना। काव्य के 'प्रतिहिंसा' नामक अध्याय में कवि ने स्पष्ट किया है कि कर्ण जैसे वीर और पराक्रमी योद्धा को पाकर दुर्योधन का साहस बहुत बढ़ गया था, अतः वह पांडवों से युद्ध के लिए उतावला रहता था— *''यह सत्य था/ कि कर्ण की शह और बाजुओं की अजेय शक्ति/ कर्ण का पौरुष और मित्रता का अटूट बंधन/ दानवीर व्यक्तित्व/ परशु का शिष्यत्व/ सूर्य प्रदत्त कवच और कुंडल का स्वामित्व/ यही कारण थे कि दुर्योधन न सुनता था किसी की/ न भीष्म की, न द्रोण की, न विदुर की,/ न विचलित हो रहे धृतराष्ट्र की।''*[108] स्पष्ट है कि इस काव्य में जातिगत असमानता की समस्या को केंद्र में रखा गया है। इस असमानता के कारण समाज में असंतुलन की स्थिति बनती है, योग्यताओं और प्रतिभाओं को उचित अवसर और सम्मान नहीं मिल पाता। अकारण ही समाज के एक बड़े तबके को प्रताड़ना और अपमान झेलना पड़ता है। कवि ने इसी जातिगत असमानता को केंद्र में रखकर कर्ण के माध्यम से उसे अप्रत्यक्ष चुनौती दी है। अप्रत्यक्ष इसलिए कि न तो इसमें कर्ण जाति-व्यवस्था का विरोध करता है और न ही कवि। कर्ण के साथ हुए अपमानजनक व्यवहारों से यह व्यंजना उभर कर आती है, कि जाति-व्यवस्था

---

[108] सूर्यपुत्र : जगदीश चतुर्वेदी, दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, 1975, पृष्ठ 67

समाज के लिए हानिकारक है। वह व्यक्ति की प्रतिभा और योग्यताओं का हनन करने वाली है।

यद्यपि जातिगत असमानता की सामाजिक विडंबना इस काव्य के केंद्र में है फिर भी इसकी परिधि में कुछ और आधुनिक समस्याओं को समेटने का प्रयास हुआ है। राजनीति में राजा जनता की भलाई का कार्य करे, इसके लिए तमाम देशों में लोकतंत्र की स्थापना की गयी है। कर्ण क्योंकि महाभारत युगीन पात्र है, इसलिए वह लोकतंत्र की स्थापना तो नहीं कर सकता, पर एक न्यायप्रिय और प्रजावत्सल राजा के रूप में वह अपने आपको स्थापित करता है। काव्य के 'विरति' नामक अध्याय में यह दिखाया गया है कि कर्ण को भौतिक उपलब्धियाँ सारहीन नज़र आने लगती हैं, वह जी-जान से अपने अंगदेश की प्रजा का पालन करने लगता है। उनके लिए वह कुछ भी त्याग करने के लिए तैयार रहता है। यह प्रजावत्सलता राजतंत्र में आधुनिक राजाओं और लोकतंत्र में आधुनिक नेताओं के लिए प्रेरणास्पद है। एक मनुष्य के रूप में कर्ण में मानवता के प्रति जो प्रेम और करुणा है, वैभव और ऐश्वर्य की प्राप्ति के बावजूद उसमें जो सहजता और सरलता है, वह आधुनिक युग की यांत्रिक और दिखावे से भरी दुनिया के सामने एक उदाहरण है। युद्ध की समस्या आधुनिक युग की एक व्यापक समस्या है। काव्य के अंत में युद्ध के प्रति नकारात्मक रवैया अपनाते हुए कवि ने उसकी विभीषिका को भी रेखांकित किया है।

जैसा कि शुरू में ही रेखांकित किया गया, यह काव्य घटना-प्रधान है। इसके केंद्र में कर्ण का चरित्र है। कर्ण से जुड़ी हुई घटनाओं के आधार पर उसका चरित्र प्रस्तुत करना कवि का उद्देश्य रहा है। यदि कवि का उद्देश्य इससे इतर और बढ़कर भी रहा हो, जैसा कि उसके द्वारा लिखी हुई काव्य की भूमिका से स्पष्ट है, तब भी काव्य में यही उभर कर आया है। और अंतिम सत्य कवि की रचना ही होती है, यह बात उल्लेखनीय है। अपनी भूमिका में कवि ने कर्ण के माध्यम से जो आधुनिक मनुष्य के मानसिक द्वंद्वों और विसंगतियों के चित्रण की बात की है, वह काव्य में बहुत कम उभर पाता है। घटनाओं के सिलसिलेवार वर्णन के क्रम में कर्ण का व्यक्तित्व भी उतना नहीं उभरता, जितना उभरना चाहिए था। अलग-अलग व्यक्तियों के द्वारा भिन्न-भिन्न अवसरों पर कर्ण का जातिगत अपमान करने और उन अपमानों के कारण कर्ण के अंदर उत्पन्न हुए अपमानबोध के आधार पर ही इस कृति की आधुनिक व्याख्या की जा सकती है, अन्यथा यह कृति मूलकथा की लगभग पुनर्प्रस्तुति बनकर रह गयी है।

### 7.10 अग्निलीक

**'अग्निलीक'** भारतभूषण अग्रवाल का काव्य-नाटक है। इसका प्रकाशन 1976 ई० में हुआ था। इसकी कथावस्तु तीन दृश्यों में विभाजित है। दृश्यों का कोई नामकरण नहीं किया गया है। यह काव्य रामकथा के उत्तर-भाग सीता-परित्याग की घटना पर आधारित है। यह घटना निश्चय ही राम के चरित्र के एक कमजोर पक्ष की ओर संकेत करती है। राम की यह कमजोरी अंततः स्त्रियों के प्रति सामंती और पुरुषवादी दृष्टिकोण की परंपरा से जुड़ जाती है। अतः आधुनिक काल में आकर यह स्त्रीवादी दृष्टिकोण की आलोचना के घेरे में आ जाती है। इस काव्य में उक्त घटना पर स्त्रीवादी-दृष्टिकोण से

विचार किया गया है। इसके लिए राम द्वारा उपेक्षित और शोषित सीता को इसमें नायिका की भूमिका में उतारा गया है। अपनी इस भूमिका में सीता अपने निर्वासन की घटना को स्त्रीवादी दृष्टिकोण से देखते हुए राम की सामंती और पुरुषवादी मानसिकता को उजागर करती हैं। इस प्रक्रिया में यह रचना आधुनिक काल के महत्वपूर्ण विमर्श 'स्त्री-विमर्श' से जुड़ जाती है।

आधुनिक काल अस्मिताओं का काल है। इस काल के वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने सदियों से शोषित और उपेक्षित व्यक्ति या वर्ग को वह दृष्टि प्रदान की जिसके माध्यम से वे परंपराओं का मूल्यांकन करते हुए वर्तमान समाज में अपनी अस्मिता की प्रतिष्ठा कर सकें। स्त्री सदियों से पुरुष-समाज द्वारा शोषित और उपेक्षित होती आयी है। अतः आधुनिक काल में आकर स्त्रियों ने भी अपनी अस्मिता की आवाज उठायी। स्त्रियों की इन आवाजों को उठाने में साहित्य ने भी सहयोग किया। साहित्य में मिथकों की पुनर्व्याख्या इस प्रक्रिया का भी एक अंग है। आधुनिक काल में मिथकीय काव्यों से ऐसे चरित्रों और प्रसंगों को उठाकर उनकी आधुनिक व्याख्या या आलोचना की गयी, जिनकी प्रकृति आधुनिक मूल्यों के विपरीत थी। रामकथा में सीता-निर्वासन की घटना भी ऐसी ही घटना है, जो आधुनिक मूल्य 'समानता' के विपरीत है। अतः आधुनिक काल में आकर यह घटना स्त्री-अस्मिता के प्रश्न से जुड़े, स्वाभाविक है।

सामंती-जीवन और जन-जीवन से उपजे हुए मूल्यों की आपसी टकराहट में इस काव्य के शिल्प का विकास होता है। पहले ही दृश्य में 'राजपुरुष' और 'रथवान' की वैचारिक टकराहट में इसका संकेत मिल जाता है। 'राजपुरुष' राजपरिवार का अंग होने के नाते सामंती जीवन मूल्यों का प्रतिनिधि है, और 'रथवान' राजा के यहाँ नौकर होने के कारण जन-प्रतिनिधि। 'रथवान' सीता के निर्वासन से दुखी है, क्योंकि उसे एक स्त्री की वेदना का एहसास है। सामंत स्त्रियों की वेदना को नहीं समझते। जब राजपुरुष रथवान से उसकी वेदना का कारण पूछता है, तब वह कहता है—*"आप नहीं समझेंगे—/ आप ठहरे नये रामराज्य के नये राजपुरुष/ मान और भोग से घिरे हुए/ आपकी आँखों के सामने तो सपने हैं;/ पर मैं पुराना हो चुका।"*[109] जाहिर है, जो भोग-विलास की सामग्रियों से घिरा रहता हो, जिसने जीवन में कभी दुख या अभाव न देखा हो, वह किसी के दुख को क्या समझेगा ! इसीलिए रथवान राजपुरुष को अपना दुख, जो मूलतः सीता के दुख से जुड़ा हुआ है, नहीं बताना चाहता। राजपुरुष जब रथवान को रामराज्य का हवाला देते हुए उसे अपना दुख बताने के लिए प्रेरित करता है, तब वह कहता है—*"तो सुनिए/ मेरा दुख यही है/ कि मैं राम की प्रजा हूँ।"*[110] यों, राजा की प्रजा होना अपने आप में दुख का कारण नहीं होता। दुख का कारण होता है सामंतवादी राजा की प्रजा होना। इस तरह सामंतवादी मूल्यों से जनवादी

---

[109] अग्निलीक : भारतभूषण अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पाँचवाँ संस्करण, 1986, पृष्ठ 11

[110] वही, पृष्ठ 12

मूल्यों की टकराहट में इस काव्य की शुरुआत ही होती है, जो फिर काव्य के अंत तक चलती है— जनवादी मूल्यों की जीत तक, जिसके प्रति कवि की आस्था सहज ही देखी जा सकती है।

पहले दृश्य के बाद दूसरे दृश्य में सीता को निर्वासन के बाद आदिवासियों के बीच जीवन-यापन करते हुए दिखाया गया है। आदिवासी अपने जीवन-यापन के लिए प्रकृति से जुड़े होते हैं, अतः उनके आपसी संबंध श्रम और सहयोग की भावना से जुड़ जाते हैं। प्रकृति के बीच रहने के कारण उनका पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों तक से लगाव हो जाता है, मनुष्य मनुष्य के बीच प्रेम तो वहाँ स्वाभाविक ही है। प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण में जीवन के लिए जद्दोजहद करने वाले आदिवासियों के जीवन-मूल्य उनकी जीवन-शैली से उत्पन्न होते हैं। यो, आदिवासियों के आपसी सहयोग और प्रेम की भावनाओं का चित्रण इस दृश्य में है जो अपने सिंहावलोकन में पहले अंक के राजपुरुषों की जीवन शैली से टकराकर तीसरे अंक में जाकर उन्हें नीचा दिखाने की ताकत अर्जित करता है। सीता, जिनका इस दृश्य में 'देवी' नाम चित्रित है, इस दृश्य में बीमारी की अवस्था में दिखायी गयी हैं। 'कौशिकी' नाम की महिला उनकी सेवा-शुश्रूषा करती नज़र आती है। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि कौशिकी सीता से परिचित नहीं है, पर उनकी सेवा वह बड़े ही मनोयोग से करती है—*"कभी-कभी मेरे मन में ढेरों प्रश्न उठते हैं:/ तुम कौन हो, कहाँ की हो,/ क्या तुम्हारा कहीं भी कोई नहीं/ कोई सगा-संबंधी, कोई परिवार, कोई मित्र-बंधु/ पर तुम कुछ बोलती ही नहीं/ और तुम्हारे मन के भाव/ बाहर कोई पथ न पाकर/ तुम्हारी चेतना में खलबली मचाये रहते हैं"।*[111] अपरिचय के बावजूद आत्मीयता भरा यह सेवा-भाव निश्चय ही जन-जीवन से उपजा हुआ मूल्य है। सामंती परिवेश में परिचय के बावजूद दुख में कोई किसी को नहीं पूछता। दोनों जीवन शैलियों के इन विरोधी स्वभावों के आमने-सामने होने से मूल्यों के संदर्भ में अर्थ की अनेक परतें खुलती चली जाती हैं। कौशिकी के मन में परिचय की जिज्ञासा भी दुखी व्यक्ति से सहानुभूति के कारण है, यह उसकी की आगे की बातों से स्पष्ट है। यों, सहानुभूति अपने आपमें खुद एक मूल्य है। इस दृश्य में कौशिकी का सीता के प्रति जहाँ यह आत्मीयता और प्रेम प्रकट हुआ है, वहीं दूसरी ओर एक आदिवासी बालक 'चरण' के प्रति सीता का भी सहज स्नेह दिखाया गया है। यों, नारियों में ममता सहज ही होती है, फिर भी सीता के इस स्नेह में उनके साधारण जीवन से उपजे हुए मूल्य का भो योगदान है। चरण राम के अश्वमेध के लिए निकली सेना का हुजूम देखकर विक्षिप्त-सा हो जाता है। इधर-उधर की बातें करते हुए वह रोने लगता है। उसकी इस स्थिति के प्रति सीता की चिंता द्रष्टव्य है—*"तुम फिर रोने लगे !/ हे भगवान, यह क्या रहस्य है।/ चरण, भैया चरण,/ मुझे बताओ, बात क्या है ?/ मेरी समझ में कुछ नहीं आता।/ तुम्हारी बातों से मेरा जी धक-धक करता है/ यह क्या हो गया है तुम्हें ?"*[112] इस प्रकार सीता आदिवासियों के साथ जीवन-यापन करते हुए प्रकृति और जमीन से

---

[111] अग्निलीक : भारतभूषण अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पाँचवाँ संस्करण, 1986, वही, पृष्ठ 22

[112] वही, पृष्ठ 36-37

जुड़कर जनवादी मूल्यों को विकसित करती हैं, यों जमीन से उनका रिश्ता शाश्वत था। सीता की यह जनवादी चेतना विकसित होकर राम की सामंतवादी चेतना से टकराती है, जिसका वर्णन काव्य के तीसरे दृश्य में है।

तीसरे दृश्य में, जैसा कि संकेत किया गया, सीता अपने जन-जीवन से प्राप्त सामंत-विरोधी मूल्यों के साथ उपस्थित हैं। क्योंकि सीता एक स्त्री भी हैं, अतः जन-जीवन ने उनकी स्त्री-चेतना को भी तीव्र बनाया है। इस अंक में सर्वत्र उनकी स्त्री-चेतना उपस्थित है। उन्होंने स्त्रियों के प्रति प्रचलित सामंती-मूल्यों का तीव्र विरोध किया है। यों, इस विरोध के केंद्र में सीता-निर्वासन ही, जो काव्य का मूल विषय है, आधार रूप में उपस्थित है। प्रेम और संवेदना वे जन-मूल्य हैं जो सामंतों को सहज प्राप्त नहीं होते। इस संदर्भ में महत्वपूर्ण बात यह है कि स्त्रियों को सामंतों की कोटि में नहीं रखा जा सकता, भले ही वे राज-रानियों के पद पर आसीन हों। राज-रानियों से आशय यहाँ राजा की पत्नियों से है। संपत्ति पर राजाओं का अधिकार होता है, राज-रानियों का नहीं। इस स्तर पर स्त्रियों की गणना भी, मूल्यों के संदर्भ में, जन-साधारण को कोटि में होनी चाहिए। सीता एक तो वैसे भी राज-रानी के पद पर आसीन होते-होते रह गयीं थीं, दूसरे उनका जमीन से जन्म का रिश्ता था, अतः उन्हें मूल्यों के संदर्भ में जन-साधारण की कोटि में रखा जाएगा। प्रेम एक जन-मूल्य है। राजा, सामंत होने के कारण भले ही प्रेम की उपलब्धि को हासिल न कर पाये, एकाधिक विवाह करे, पर स्त्रियाँ साधारण-जन होने के कारण इसे प्राप्त कर लेती हैं। अतः 'प्रेम' नामक मूल्य सीता में सहज रूप में मौजूद था। संवेदना भी स्त्रियों में सहज ही पायी जाती है, अपवादों को यदि छोड़ दिया जाय तो। अतः सीता में प्रेम और संवेदना पहले से ही थे, आदिवासियों के साथ रहने के कारण आपसी सहयोग की भावना के विकास की प्रक्रिया में वे और भी परिपक्व हुए और उनका महत्व भी खुलकर सामने आया। संघर्ष में चेतना तेज हो जाती है। आदिवासियों के बीच अपने जीवन के लिए संघर्ष करती हुई सीता में अपने अस्तित्व के प्रति चेतना का विकास हुआ। प्रेम, संवेदना, सहयोगी भावना आदि के साथ-साथ स्त्रियों की स्वतंत्रता और समानता संबंधी अधिकारों के प्रति भी उनमें चेतना का संचार हुआ। आदिवासी समाज में स्त्रियों को स्वतंत्रता और समानता सहज ही मिली होती है। अतः सीता ने अपने प्रति राम द्वारा किये गये व्यवहारों की आलोचना इस विकसित चेतना के माध्यम से की है।

सामंती समाज में स्त्रियों के ऊपर नैतिकता के नाम पर तरह-तरह के प्रतिबंध लगाये जाते रहे हैं। इस संदर्भ में यह बात सहज ही सामने आ जाती है कि उन्हें पुरुषों के मुकाबले बंधन में रखा जाता है। सीता ने इस स्थिति के प्रति विद्रोह की आवाज उठायी है। राम के प्रति सीता का क्रोध देखकर जब बाल्मीकि उन्हें समझाते हुए कहते हैं कि 'धीरज रखो, यह विकलता तुम्हें शोभा नहीं देती', तब सीता झुँझलाकर कहती हैं—*''शोभा, शोभा ?/ हाँ, नारी तो शोभा ही है/ उससे तो शोभा ही माँगी जाती*

है*”*[113] । यहाँ यह देखा जा सकता है कि तात्कालिक स्थिति के इस विरोध में सीता का इतिहास-बोध भी जुड़ा हुआ है, जो उनकी विकसित चेतना का परिचायक है । सीता सिर्फ अपनी बात नहीं कर रही हैं, सामंतवादी बंधन में पड़कर सदियों से शोषित हो रहे स्त्री-समाज की बात कर रही हैं । यह भी उल्लेखनीय है कि यहाँ सामंती समाज के बंधनों से स्त्रियों की स्वतंत्रता के उद्घोष का भी संकेत है, जो आगे चलकर सीता की इन पंक्तियों में और ज्यादा स्पष्ट रूप में सामने आता है—*“राम ने तो मुझे बहुत पहले ही छोड़ दिया था/ आज मैं भी राम को छोड़ती हूँ।/ अब मैं स्वतंत्र हूँ, मुक्त हूँ,/ अपने आपमें पूर्ण हूँ, ”*[114] । इस तरह देखा जा सकता है कि सीता जन-जीवन के परिवेश में रहते हुए स्त्री-स्वतंत्रता और समानता के अधिकारों के प्रति काफी सचेत हो जाती हैं ।

सीता ने अपने संदर्भ में राम के सामंती मूल्यों का विरोध करते हुए ‘प्रेम’ नामक मूल्य पर ज्यादा जोर दिया है । उनके अनुसार राम ने उनको इसलिए निर्वासित किया क्योंकि वे उनसे प्रेम नहीं करते थे । ऊपर यह बात कही गयी है कि सामंतगण प्रेम को सहज प्राप्त नहीं कर पाते । इसका कारण यह है कि वे भोग और विलास की सामग्रियों से घिरे रहते हैं । इस माहौल में वे स्त्रियों को भी उन्हीं सामग्रियों में देखने के आदी हो जाते हैं । इसीलिए राजागण प्रायः एकाधिक विवाह किया करते हैं । राम में यद्यपि यह प्रवृत्ति नहीं देखी जाती, पर सीता ने राज्य-वैभव के प्रति उनकी महत्वाकांक्षाओं को रेखांकित करते हुए उनकी पत्नी-विमुखता का संकेत किया है—*“इन्होंने पत्नी को अपनाया ही कब था ?/ ये तो राज्य के मतवाले थे,/ विजय-श्री के भूखे थे,/ प्यार से इन्हें लगाव ही कब था ?”*[115] इन सबके अलावा भी, राम यद्यपि एकपत्नी-व्रत थे, सीता ने राम के पिता के माध्यम से सामंती-समाज में प्रचलित बहु-विवाह पद्धति का विरोध किया ही है—*“हाय, वह पुरुष नारी के प्यार को क्या समझेगा/ जिसके पिता ने तीन-तीन ब्याह रचाए हों/ और जिसने अपनी आँखों के आगे/ प्यार का सौदा होते देखा हो !”*[116] यों, राम में स्त्री-भावनाओं की उपेक्षा के इस उत्तराधिकार को रेखांकित करते हुए उन्हें राज्य-वैभव का ही आकांक्षी घोषित किया गया है, प्रेम का नहीं । राम की इसी प्रवृत्ति को काव्य की शुरुआत में ‘रथवान’ भी रेखांकित करता है ।

काव्य में ‘संवेदना’ नामक मूल्य को मूलतः एक राजा के परिप्रेक्ष्य में देखा-परखा गया है । यों, परंपरा में रामराज्य को एक आदर्श राज्य घोषित करते हुए दुनिया के सामने एक प्रतिमान की तरह उपस्थित किया गया है । पर इस कृति में राम के अंदर उस संवेदना का अभाव रेखांकित किया गया है जिसके माध्यम से वे अपनी प्रजा का दुख-दर्द समझ सकें, एवं उसके निराकरण का उपाय कर सकें । काव्य की शुरुआत में यह रेखांकन ‘रथवान’ नामक पात्र के माध्यम से भी हुआ है, जिसे इस प्रकरण

---

[113] अग्निलीक : भारतभूषण अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पाँचवाँ संस्करण, 1986, पृष्ठ 39
[114] वही, पृष्ठ 52
[115] वही, पृष्ठ 50
[116] वही, पृष्ठ 46-47

की शुरुआत में दिखाया जा चुका है, और काव्य के अंतिम दृश्य में यह रेखांकन स्वयं सीता जी के माध्यम से हुआ है। यह रेखांकित किया जा चुका है कि संवेदना एक जन-मूल्य है, जो सामंत-वर्ग में प्रायः अनुपस्थित रहती है। सीता से जब बाल्मीकि कहते हैं कि 'तुम्हारी बात को छोड़ दें, तो प्रजा को राम ने कभी नहीं भुलाया है', तब सीता ने राम में उस संवेदना की अनुपस्थिति की ओर संकेत किया है—*"यह झूठ है गुरुदेव,/ यह कोरा प्रचार है।/ ... प्रजा का इन्होंने कितना हित किया है ? क्या इनके गद्दी पर बैठने से पहले/ कभी ऐसे अकाल पड़े थे ? ऐसी महामारी आयी थी ?/ ऐसी त्राहि-त्राहि मची थी ?"*[117] यह उल्लेखनीय है कि सीता में प्रजाजनों के लिए यह संवेदना है, तभी उसकी तरफ उनका ध्यान जा रहा है। यों, राम में प्रेम और संवेदना की अनुपस्थिति और सीता में उनकी उपस्थिति दिखाकर सामंती और जन-मूल्यों को आमने-सामने किया गया है, जिसे शुरू में इस काव्य के शिल्प के अंग के रूप में रेखांकित किया गया है।

इस काव्य में सामंती और जन-मूल्यों की आपसी टकराहट में जन-मूल्यों की विजय होती है। सामंती मूल्य राम में अपना विकास पाते हैं और जन मूल्य सीता में। सामंती मूल्य राम को उत्तराधिकार में मिलते हैं, जिन्हें उन्होंने अपने सामंती परिवेश में और ज्यादा पुष्ट किया। जन-मूल्य भी सीता को उत्तराधिकार में मिलते हैं, सीता धरती-पुत्री हैं, और सीता ने उन मूल्यों को जन (आदिवासियों) के बीच रहते हुए और ज्यादा शक्तिशाली बनाया। जनसाधारण, प्रकृति और जमीन से जुड़कर सीता ने अपने जिन जन-मूल्यों का विकास किया, प्रेम और संवेदना पर आधारित उन्हीं मूल्यों में अंततः राम को अपने कर्तव्य का मार्ग दिखा। इसी मार्ग को काव्य में 'अग्निलीक' कहा गया है—*"मैंने सिद्ध कर दिया कि ग्रंथों की नींव पर/ अंधकार के ही परकोटे खड़े होते हैं/ और तुमने अपनी उदग्र जीवन-चर्या से/ प्रमाणित कर दिया कि जीवन की सच्ची अनुभूति ही/ इस अंधे युग की अकेली अग्नि-लीक है—/ प्यार, सत्य, मुक्ति उसी लीक पर मिलते हैं।"*[118] राम ने अपना राज्य धर्म-शास्त्रों के माध्यम से संचालित किया था, अतः वे ग्रंथों का उल्लेख करते हैं। राम ने जीवन को ग्रंथों के माध्यम से जानना चाहा, जिसमें वे स्वाभाविक रूप से असफल रहे। सीता ने जीवन को अपने अनुभव से जाना था। अंततः सीता के अनुभव ने राम के अँधेरे मार्ग को प्रशस्त किया। अँधेरे से उजाले की ओर यात्रा करने के अपने उत्कट प्रयास में यह काव्य-नाटक अपनी इसी विधा की पूर्ववर्ती कृति अंधा युग से जुड़ जाता है। यों, दोनों के शीर्षक में विरोधाभास है, पर दोनों के उद्देश्य एक ही हैं।

[117]अग्निलीक : भारतभूषण अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पाँचवाँ संस्करण, 1986, पृष्ठ 51
[118] वही, पृष्ठ 63

# उपसंहार

नयी कविता आंदोलन की शुरुआत कहीं 'दूसरा सप्तक' 1951 ई० के प्रकाशन काल से तो कहीं 'नयी कविता' 1954 ई० के प्रकाशन काल से मानी जाती है। इन दोनों ही मान्यताओं से अलग दो और प्रकार की मान्यताएँ भी प्रचलित रही हैं। ऐसी मान्यताओं में एक यह है कि नयी कविता आंदोलन की शुरुआत प्रगतिवाद से हुई, और दूसरी यह कि इसकी शुरुआत प्रयोगवाद से हुई। यों, प्रगतिवाद से नयी कविता को जोड़ने की प्रवृत्ति अब नहीं रह गयी है, पर प्रयोगवाद से इसे अब भी जोड़ा जाता है। प्रयोगवाद और नयी कविता की प्रवृत्तियों और शिल्प में अंतर बहुत स्पष्ट नहीं होने के कारण प्रयोगवाद और नयी कविता को एक ही काव्यांदोलन मान लिया जाता है। पर ऐसा मानने के बावजूद हिंदी साहित्य के इतिहास-ग्रंथों और आलोचना-ग्रंथों में प्रयोगवाद और नयी कविता आंदोलनों की चर्चा इनके अपने-अपने नामों से ही होती रही है। अतः प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता को तीन अलग-अलग काव्य-आंदोलन या काव्य-युग मानना चाहिए। प्रगतिवादी काव्य-प्रवृत्तियों और शिल्प-विधान के विरोध में प्रयोगवादी काव्य-आंदोलन की नींव रखी गयी। पर यह उल्लेखनीय है कि प्रयोगवादी काव्य-आंदोलन के पहले सामूहिक काव्य-संकलन 'तार सप्तक' के अधिकांश कवि प्रगतिवादी थे। यह भी उल्लेखनीय ही है कि अपनी परवर्ती काव्य-रचनाओं में वे क्रमशः मार्क्सवाद से दूरी बनाते गये थे। 'तार सप्तक' में भी उनका काव्य-शिल्प प्रगतिवादियों की तरह सीधा-सादा न होकर जटिल हो गया था।

प्रगतिवाद और प्रयोगवाद की कविताओं में प्रवृत्तिगत और शिल्पगत अंतर बहुत स्पष्ट थे और इनके कवि भी प्रायः अलग-अलग थे, अतः इनके आपसी स्वरूप को लेकर बहुत विवाद की स्थिति नहीं बनी; पर प्रयोगवाद और नयी कविता की स्थिति इससे भिन्न थी। प्रयोगवाद और नयी कविता के कवि प्रायः समान थे और इसीलिए दोनों काव्य-आंदोलनों में लिखी गयी उनकी कविताओं में प्रवृत्तिगत और शिल्पगत समानताएँ भी पायी जाती हैं। इन सबके अलावा भी, जिन अज्ञेय के विरोध में नये कवियों ने प्रयोगवाद से अलग नयी कविता आंदोलन चलाया उन्हीं के द्वारा प्रयोगवाद की प्रवर्तक 'सप्तक-श्रृंखला' 'नयी कविता' पत्रिका के समानांतर लगातार प्रकाशित होती रही, और नयी कविता के कवि बराबर उनमें छपते भी रहे। 'तार सप्तक' के बाद के सप्तकों में प्रकाशित नये कवियों की रचनाएँ नयी कविता के अंतर्गत ही परिगणित होती हैं, प्रयोगवाद के अंतर्गत नहीं। इन समस्याओं का परिहार यह कहकर किया जाता है कि प्रयोगवाद ही अपने 'दूसरे सप्तक' के प्रकाशन-काल, यानी कि 1951 ई० से नयी कविता में रूपांतरित हो गया। यों 'नयी कविता' पत्रिका का प्रकाशन 1954 ई० से होता है, और इस पत्रिका के माध्यम से ही अज्ञेय के विरोधी कवियों ने प्रयोगवाद से अलग एक नये काव्यांदोलन 'नयी कविता' की शुरुआत की थी। पर क्योंकि नयी कविता आंदोलन के प्रवर्तकों के द्वारा अज्ञेय का विरोध होने के बावजूद काव्य-क्षेत्र और आलोचना-क्षेत्र से उनके प्रभाव को कम नहीं किया जा सका, और क्योंकि उनके द्वारा संपादित 'सप्तक' और 'प्रतीक' श्रृंखला नयी कविता के

समानांतर प्रकाशित होती रही, अतः नयी कविता की कल्पना अज्ञेय को छोड़कर नहीं की जा सकती। इस हिसाब से यही मानना अधिक समीचीन है कि प्रयोगवाद ही अपने दूसरे-सप्तक के प्रकाशन से नयी कविता में रूपांतरित हो गया। इसके पक्ष में यह तर्क दिया जा सकता है कि 'तारसप्तक' में संकलित कवियों में अधिकांश प्रगतिवादी मिजाज के थे, और नयी-कविता की दशा और दिशा के बारे में वे तब तक कोई निश्चित प्रतिरूप नहीं निर्धारित कर पाये थे। दूसरे सप्तक के प्रकाशन से यह संकलन प्रगतिवाद से पूरी तरह अलग हो गया, तथा तब तक एक नये प्रकार के काव्य-रूप का प्रतिरूप भी उसके सामने स्पष्ट हो गया था। इस संदर्भ में 'तार सप्तक' और 'दूसरा सप्तक' की भूमिकाओं के संदर्भ उल्लेखनीय हैं। यों, अब प्रयोगवाद और नयी कविता आंदोलन पृथक-पृथक माने जाते हैं।

अलग-अलग काव्यांदोलन के बावजूद प्रयोगवाद का नयी कविता आंदोलन की पृष्ठभूमि में काफी योगदान है। प्रयोगवाद से हिंदी कविता में आधुनिकता या आधुनिक भाव-बोध की शुरुआत होती है, इसे कई बड़े आलोचकों ने स्वीकार किया है। नयी कविता आंदोलन के सूत्रधार-आलोचक रामस्वरूप चतुर्वेदी इस संदर्भ में लिखते हैं—*"तारसप्तक के प्रकाशन से हिंदी साहित्य में आधुनिक संवेदना का सूत्रपात माना जाता है।"*[1] बच्चन सिंह ने भी इसी तरह की बात कही है—*"प्रयोगवाद से आधुनिकतावाद का आरंभ होता है।"*[2] प्रयोगवाद के शुरुआती संकलन 'तार सप्तक' के अधिकांश कवि यद्यपि कि घोषित रूप से प्रगतिवादी थे, पर प्रयोगवाद का जन्म प्रगतिवाद की सामूहिकता और सामाजिकता की प्रतिक्रिया में ही हुआ था। और इस युग के घोषित रूप से प्रगतिवादी कवियों में अधिकांश का रचना-विधान प्रगतिवाद के प्रतिकूल ही था। अपनी आगे की काव्य-रचनाओं में ऐसे कवियों ने प्रगतिवाद का मार्ग पूरी तरह छोड़ भी दिया। प्रयोगवाद जिस प्रगतिवाद के विरोध में उपजा था, उसके आगे के काव्य-आंदोलन 'नयी कविता' में भी उसका विरोध लगातार बरकरार रहा। यों, आधुनिकतावाद, व्यक्तिवाद तथा नये शिल्प और कथ्य की खोज की ललक के साथ प्रयोगवाद नयी कविता में रूपांतरित हो गया। इस तरह 'दूसरा-सप्तक' से नयी कविता आंदोलन की शुरुआत मानी जा सकती है। इसके विषय में ऊपर कुछ तर्क भी प्रस्तुत किये गये हैं। उन सबके अलावा यह भी उल्लेखनीय है कि 'नयी कविता' नामक छमाही पत्रिका का प्रकाशन भले ही 1954 ई० से शुरू हुआ, पर 'नयी कविता' आंदोलन पर चर्चा-परिचर्चा इससे पहले से ही शुरू हो चुकी थी—*"सारी योजना व्यवस्था के स्तर पर आकस्मिक थी, पर रचनात्मक स्तर पर उतनी आकस्मिक नहीं। पिछले कुछ समय से नयी कविता की चर्चा-परिचर्चा एक काव्य आंदोलन के रूप में इलाहाबाद में, और बाहर भी, चल रही थी। यह प्रकाशन-योजना उसकी स्वाभाविक परिणति थी।"*[3] यह उल्लेखनीय है कि 'नयी कविता' आंदोलन की इस चर्चा-परिचर्चा की शुरुआत अज्ञेय से ही होती है। रामस्वरूप चतुर्वेदी और बच्चन

[1] हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास : रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, इक्कीसवाँ संस्करण, 2008

[2] हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास : बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 2006

[3] हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास : रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, इक्कीसवाँ संस्करण, 2008, पृष्ठ 233

सिंह ने अपने-अपने साहित्येतिहास संबंधी ग्रंथों में इस तथ्य का उल्लेख किया है कि 'नयी कविता' नाम अज्ञेय का ही दिया हुआ है। अज्ञेय ने 1952 ई० में पटना रेडियो से इसकी घोषणा की थी। अतः यह स्पष्ट है कि अज्ञेय और सप्तक-श्रृंखला को छोड़कर 'नयी-कविता' की कल्पना संभव नहीं है। बच्चन सिंह का भी मत है कि— *"दूसरा सप्तक (1951) के प्रकाशन के साथ प्रयोगवाद नयी कविता में रूपांतरित हो जाता है।"*[4]

'नयी कविता' आंदोलन को लेकर हिंदी आलोचना-जगत में शुरू-शुरू में काफी हलचल मची थी। इसका कारण नयी कविताओं की बिलकुल नयी-नयी सी लगती प्रकृति थी। अपनी नयी प्रकृति में ये कविताएँ हिंदी-काव्य परंपरा में बिलकुल निराली और अजनबी मालूम पड़तीं थीं। इसीलिए आलोचकों ने इन पर दुरूहता और पाश्चात्य-प्रभाव का आरोप लगाया। इन कविताओं की प्रकृति को देखते हुए यह आरोप पूर्णतः निराधार भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इनकी व्याख्या में हिंदी के कई प्रसिद्ध आलोचक भी लगभग अशक्त साबित हुए, या उन्हें अशक्त साबित किया गया; और इन कविताओं के मर्म का उद्घाटन करने के लिए इनके रचयिताओं को स्वयं आलोचना जगत में उतरना पड़ा। अपनी पुस्तक 'कविता के नए प्रतिमान' में नामवर सिंह ने डॉ. नगेंद्र द्वारा अज्ञेय की कविता 'सोनमछरी' की व्याख्या को गलत साबित करते हुए इसकी व्याख्या के सूत्र के रूप में इस कविता पर स्वयं अज्ञेय के दिये हुए वक्तव्य का हवाला दिया है। यों, आलोचना-जगत में आलोचनाओं की प्रति-आलोचनाएँ होती रही हैं, पर एक बड़े आलोचक द्वारा दूसरे बड़े आलोचक की व्याख्या को गलत साबित करना, यह सिद्ध करता है कि नयी कविता में बहुत कुछ ऐसा था, और अभी भी है, जो बड़े आलोचकों की भी पकड़ में नहीं आता; सामान्य पाठक या आलोचक की तो बात ही क्या !

जिज्ञासा का विषय हो सकता है कि नयी कविताओं में ऐसा क्या अभिव्यक्त हुआ है, जो कभी-कभी पकड़ से बाहर हो जाता है, या जिसका अर्थ निकालने के लिए बहुत मशक्कत करनी पड़ती है ? दरअसल नयी कविताओं में अभिव्यक्ति के स्तर पर जटिलता लाने वाले तत्वों में बदले हुए समय और परिवेश की जटिल और संश्लिष्ट अनुभूति, बौद्धिक अनुभूति, अमूर्तन की प्रवृत्ति, पाश्चात्य साहित्य और दर्शन का प्रभाव तथा कुछ नया एवं निराला रचने का अति-उत्साह प्रमुख हैं। यह सही है कि जटिल और संश्लिष्ट अनुभूतियों का चित्रण ज़रूरी नहीं कि जटिल और दुरूह हो जाए, पर इसकी संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता। यदि उस जटिल और संश्लिष्ट अनुभूति के अनुकूल कवि के पास भाषा या अभिव्यक्ति-क्षमता नहीं है, तो उसकी अभिव्यक्ति के जटिल और दुरूह बन जाने की प्रबल संभावना होती है। नयी कविता के कवियों के साथ प्रायः ऐसा ही हुआ है। इसके बाद इन जटिल और दुरूह अभिव्यक्तियों को नयी कविता के आलोचक जटिल और संश्लिष्ट अनुभूतियों, सामाजिक विसंगतियों और विडंबनाओं की अभिव्यक्तियों का नाम देकर इन्हें एक नये शिल्प के रूप में प्रतिष्ठित

---

[4] हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास : बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 2006, पृष्ठ 423

करने में कामयाब हो जाते थे। यह नयी कविता के हिमायती आलोचकों का एक तरह का बौद्धिक आतंक था, जिसकी वजह से वे नयी कविता की कमियों को भी उसके गुण में बदल देते थे। दरअसल जटिल और संश्लिष्ट अनुभूति की कुशल अभिव्यक्ति जटिल और संश्लिष्ट ही होगी, दुरूह नहीं; पर इसकी अकुशल अभिव्यक्ति के दुरूह हो जाने की संभावना से इनकार भी नहीं किया जा सकता। इसी तरह 'नयी कविता' में जिस 'बौद्धिक-अनुभूति' की बात की जाती है, वह दरअसल एक प्रकार की निपट वैयक्तिक-अनुभूति है। निपट वैयक्तिक-अनुभूतियों का प्रेषण सहज नहीं है, क्योंकि वे पाठक की अनुभूतियों से मेल नहीं खातीं। इस तरह बौद्धिक-अनुभूति की अभिव्यक्ति भी प्रायः जटिल और दुरूह बन जाती है।

नयी कविता पर पाश्चात्य दर्शन और साहित्य का पर्याप्त प्रभाव है। इस प्रभाव के कारण कहीं-कहीं कवियों ने पाश्चात्य दार्शनिक शब्दावलियों को सीधे-सीधे कविताओं में उतारने की कोशिश की है। इस कोशिश में कविता बनी नहीं है, बिगड़ गयी है। भारतीय काव्यशास्त्र में रस के संदर्भ में 'स्व-शब्द वाच्य दोष' की बात की गयी है। यह दोष वहाँ होता है जहाँ रस को भाव-विभाव आदि के सहयोग से विकसित न कर सीधे 'श्रृंगार' या 'करुण' आदि शब्दों द्वारा इसकी प्रतीति कराने की कोशिश की जाती है। ऐसी अवस्था में रस की प्रतीति नहीं होती। 'रसाभास' ही होता है। दर्शन भी कविता में व्यंजित होना चाहिए, दार्शनिक शब्दावलियों द्वारा उसका आभास कराने की कोशिश दोषपूर्ण होगी। इससे कविताओं में जटिलता और दुरूहता आने के साथ-साथ नीरसता भी आती है। इस तरह की कविताओं की आलोचना की जानी चाहिए, इसमें कोई संशय नहीं है। विदेशी दर्शन और साहित्य के प्रभाव के अलावा भी नयी कविताओं में जटिलता और दुरूहता लाने वाले तत्व मौजूद हैं। अतः कहा जा सकता है कि पुराने और प्रतिष्ठित आलोचकों ने यदि अपनी पारंपरिक रुचियों के मोह में पड़कर संपूर्ण नये लेखन को अनर्गल कह कर नये कवियों के प्रति अन्याय किया है, तो नये कवियों ने भी तमाम दुरूह और जटिल कविताओं के लेखन से हिंदी पाठकों के प्रति भी अन्याय ही किया है। दुरूहता और जटिलता भी नयी कविताओं में है, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता। दरअसल कुछ नया और अलग रचने के अति-उत्साह में पड़कर नये कवियों ने कुछ दुरूह और जटिल रच डाला है, जो निश्चय ही नयी कविता की एक कमजोरी है। यों, आधुनिक काल में आकर मनुष्य की अनुभूतियाँ जटिल और संश्लिष्ट हुई हैं, पर इतनी भी नहीं कि उनका अंकन दुरूह हो जाए। नयी कविता के दौर में कविताओं में इतना बड़ा बदलाव कैसे आया, इसमें समय और परिवेश के प्रभाव के अलावा कवियों का कुछ निराला रचने का आग्रह भी था।

'नयी कविता' में छोटी कविताएँ लिखने की ओर कवियों का ज्यादा रुझान रहा है, और उन्हीं कविताओं के आधार पर 'नयी कविता' की सामान्य प्रवृत्तियाँ भी निर्धारित की जाती हैं; पर 'नयी कविता' के प्रबंध-काव्यों में भी उन्हीं सारी प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं जो इसकी छोटी कविताओं में

पायी जाती हैं। छोटी कविताओं की अपेक्षा प्रबंध-काव्यों में 'दुरूहता' और 'जटिलता' अवश्य कम मिलती है, क्योंकि वहाँ पर काव्य-पंक्तियाँ या उक्तियाँ कथा और पात्रों से संदर्भित होती हैं। आधुनिक युग की परिस्थितियों के अनुकूल जटिल एवं संश्लिष्ट अनुभूतियों का चित्रण, बौद्धिक अनुभूतियों का चित्रण, वैयक्तिकता और व्यक्तिवाद की अभिव्यक्ति, अमूर्तन की प्रवृत्ति, पाश्चात्य साहित्य और दर्शन के प्रभाव आदि की प्रवृत्तियाँ छोटी कविताओं के साथ लंबी कविताओं या प्रबंध-काव्यों में भी मौजूद हैं। यों प्रवृत्तियाँ काव्य-शिल्प के निर्माण में विशेष सहयोग प्रदान करती हैं, इसीलिए इन प्रवृत्तियों की प्रकृति और इनके विकास के कारणों को जानना-समझना कविताओं को जानने-समझने का आधार है। रचनाओं में किसी भी नयी प्रवृत्ति का विकास उसके समय और परिवेश पर निर्भर करता है। नयी कविताओं में भी विकसित नवीन प्रवृत्तियाँ समय और परिवेश के प्रभाव से ही विकसित हुई थीं। अतः समय और परिवेश किसी भी काल की कविता को समझने का एक उपयुक्त और आवश्यक अंग है। यह अकारण नहीं है कि नयी कविता के आलोचकों ने अपनी कविताओं के समर्थन या उनकी प्रतिरक्षा में सबसे ज्यादा बदले हुए समय और परिवेश को रेखांकित किया है। बदले हुए समय और परिवेश में ही वे प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं, जिन्होंने नयी कविता को पुरानी कविताओं से अलग किया। अतः उस समय और परिवेश की पृष्ठभूमि में ही नयी कविताओं की प्रवृत्तियों के स्वरूप का विश्लेषण किया जाना चाहिए।

काल और परिवेश का प्रभाव प्रत्येक युग के साहित्य पर अवश्य पड़ता है। नयी कविता तक आते-आते भारतीय परिवेश में बहुत बड़ा बदलाव आ गया था। यह बड़ा बदलाव आधुनिकता के युग में हुए औद्योगीकरण और मशीनीकरण के कारण घटित हुआ था। इसके कारण ग्रामीण जनता शहरों की ओर पलायन करने लगी। यों, शहरीकरण, या गाँव की अपेक्षा शहरों का महत्वीकरण, नयी कविता में विकसित होने वाली अनेक प्रवृत्तियों या विशेषताओं का मुख्य आधार है। शहर में बसे हुए व्यक्ति और गाँव में रह रहे व्यक्ति की संवेदना तथा उसके अनुभव और ज्ञान में काफी अंतर आ जाता है। संवेदना, अनुभव और ज्ञान के लिए ग्रामीण व्यक्ति के पास प्रकृति का विस्तृत प्रांगण है, जबकि शहरी व्यक्तियों का सामना अपनी संकुचित सीमा और पूरे विस्तार में मात्र कृत्रिम परिवेश से ही हुआ करता है। ग्रामीण परिवेश में पले-बढ़े कवि के पास उन चीजों का, जो संवेदनाओं और अनुभूतियों के संग्रहण की स्रोत होती हैं, विस्तृत ज्ञान और अनुभव होता है, जबकि शहरी परिवेश में पले-बढ़े कवि के पास प्राकृतिक नहीं, यांत्रिक अनुभव और ज्ञान होते हैं। ग्रामीण समाज के व्यक्ति का अपने आस-पास के बाहरी व्यक्तियों से एक संवेदनात्मक जुड़ाव होता है, जबकि शहरी व्यक्ति का अपने आस-पास के व्यक्तियों से प्रायः कोई लेना-देना नहीं होता। अपने विस्तृत बाहरी अनुभवों और ज्ञान के साथ इसीलिए ग्रामीण कवि प्रायः बाह्य समाज का चित्रण करता है और अपने सीमित या विस्तृत आंतरिक अनुभवों और ज्ञान के साथ शहरी कवि अपनी कविताओं में प्रायः अंतर्मुखी हो जाते हैं। अपनी इसी अंतर्मुखी

प्रवृत्ति के कारण उनकी कविताएँ प्रायः जटिल और दुरूह हो जाती हैं। इसके अलावा शहरी कवि अपनी कविताओं में जिस परिवेश से उपजी हुई संवेदना का चित्रण करता है, ग्रामीण पाठक प्रायः उस परिवेश और उससे उपजी हुई संवेदना से प्रायः अपरिचित होते हैं। अतः उनके लिए वह कविता दुरूह बन जाती है। अतः नयी कविता में जटिलता और दुरूहता शहरीकरण, औद्योगीकरण और मशीनीकरण के कारण भी विकसित हुई है।

ऊपर ग्रामीण और शहरी परिवेश के कवियों के संदर्भ में बाहरी अनुभवों और ज्ञान के साथ-साथ आंतरिक अनुभवों और ज्ञान की भी बात की गयी है। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि अनुभवों और ज्ञान को प्रदान करने वाली अनुभूतियाँ जिन संवेदनों पर आधारित होती हैं वे दो प्रकार के होते हैं—बाहरी और आतंरिक। बाहरी संवेदन बाहरी-जगत से, प्रायः शरीर या ज्ञानेंद्रियों के माध्यम से प्राप्त होते हैं; और आंतरिक संवेदन आंतरिक-जगत से, प्रायः बुद्धि और मन के माध्यम से प्राप्त होते हैं। संवेदन के बाद अनुभूति और अनुभूति के बाद ज्ञान का क्रम आता है। यों, अनुभूति प्रायः मानसिक ही होती है, पर संवेदनों और अनुभूतियों को एक मान लेने के कारण ही नयी कविता में 'बौद्धिक अनुभूति' की बात की गयी है। दोनों को पर्याय मानने की प्रवृत्ति के अनुसार अनुभूति को शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक अनुभूति में बाँटा जा सकता है। नयी कविता में 'बौद्धिक अनुभूति' की बात खूब की गयी है। इस बौद्धिक अनुभूति को प्राप्त करने का स्रोत क्योंकि आंतरिक या अमूर्त-जगत है, अतः एक ही विषय या वस्तु से प्राप्त अनुभूतियाँ हर व्यक्ति में अलग-अलग प्रकट हो सकती हैं। ठोकर लगने पर सबको शारीरिक पीड़ा की अनुभूति होती है, गुलाब सबको आनंद की अनुभूति प्रदान करता है। ये सब बाह्य-जगत पर आधारित अनुभूतियाँ हैं, अतः ये प्रायः सब में सामान्य रूप से प्रकट होती हैं। पर आंतरिक या अमूर्त-जगत से प्राप्त अनुभूतियाँ सबमें अलग-अलग प्रकार से प्रकट हो सकती हैं, होती हैं। नया कवि क्योंकि आंतरिक-जगत या अमूर्त-जगत अथवा इनसे प्राप्त अनुभूतियों का चित्रण करता है, इसीलिए उसकी कविता कभी-कभी जटिल हो जाती है। यों, नया कवि शहरी मिजाज़ का कवि है।

आतंरिक-जगत और अमूर्त-जगत की अभिव्यक्ति का आग्रह यों नयी कविताओं में कवियों की शहरी मानसिकताओं से जुड़ जाता है। आंतरिक-जगत की अभिव्यक्ति का ही एक स्वरूप वैयक्तिकता का है, जिसका चरम व्यक्तिवाद में दिखायी देता है। वैयक्तिकता का आग्रह हिंदी साहित्य में पहली बार रीतिमुक्त कवियों के यहाँ दिखायी देता है। रीतिमुक्त कवि भी अन्य रीतिकवियों की तरह ही प्रायः दरबार, यानी नगर से जुड़े हुए थे। आम जनता या बाहरी समाज पर कलम चलाने की बजाय उन्होंने अपने 'प्रेम की पीर' की अभिव्यक्ति की। इसके बाद आत्माभिव्यक्ति का रूप छायावादी कविताओं में देखने को मिला। देखा जाए तो छायावादी कवि प्रायः गाँवों से आकर शहरों में बसे थे। अतः आत्माभिव्यक्ति के अलावा भी उनमें बाह्य संसार की अभिव्यक्ति थी। पर उन्होंने प्रायः बाह्य संसार को

भी अपनी भावनाओं के रंग में रंगकर चित्रित किया। वैयक्तिकता की यह प्रक्रिया, जैसा कि कहा गया, काव्य में से आश्रय को हटाकर उसकी जगह कवि की आत्माभिव्यंजना से शुरू होती है। रीतिकाल के रीतिमुक्त कवियों ने कविताओं में वैयक्तिकता लाने के लिए अपने ही प्रेम की अभिव्यक्ति की, आश्रय को वहाँ से हटा दिया। रीतिकाल के बाद छायावादी कवियों ने भी अपनी कविताओं में आत्मानुभूति को चित्रित करने के लिए छोटी कविताओं से आश्रयों को हटा दिया। यह उल्लेखनीय है कि छोटी कविताओं के अलावा प्रबंध-काव्यों में भी वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति की जा सकती है। इसके लिए वहाँ आश्रय को नहीं हटाया जाता, क्योंकि वह प्रबंध-काव्य की कथावस्तु का एक अंग होता है; पर इनमें आश्रय पर कवि अपनी भावनाओं को आरोपित कर सकता है। यों छायावादी प्रबंध-काव्यों या लंबी-कविताओं में आश्रयों पर कवि-व्यक्तित्व का आरोप करते हुए आत्माभिव्यक्ति का प्रयास किया गया। छायावाद के बाद यह वैयक्तिकता नयी कविताओं में संक्रमित हो गयी। वैयक्तिकता के अलावा वहाँ इसका एक चरम रूप 'व्यक्तिवाद' भी दिखा। वैयक्तिकता जहाँ पर अपनी भावनाओं और अपने विचारों की अभिव्यक्ति से जुड़ी हुई है, वहीं व्यक्तिवाद व्यक्ति की भावनाओं और उनके विचारों की महत्ता से। यों, दोनों में महत्व भावनाओं और विचारों का ही है।

वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति का मामला आधुनिक-युग में भावनाओं और अनुभूतियों के सघन होते जाने से जुड़ा है। आधुनिक युग में वैज्ञानिक आविष्कारों और प्राविधिक विकास के साथ-साथ लोगों की ज्ञान की सीमा में अभूतपूर्व विस्तार हुआ है। ज्ञान की सीमा में विस्तार अनुभव और अनुभूतियों के माध्यम से ही हुआ करता है। मनुष्य अब ज्यादा लोगों, घटनाओं और दृश्यों के संपर्क में आने लगा है। अतः उसके संवेदन और अनुभूति का क्षेत्र बढ़ गया है। कम समयावधि में उसे ज्यादा अनुभूतियों और अनुभवों से गुजरना पड़ता है। इस कारण उसके मन और मस्तिष्क पर अनुभूतियों और अनुभवों और उनसे  विकसित भावनाओं और विचारों का दबाव बढ़ गया है। मनुष्य के मन और मस्तिष्क पर भावनाओं और अनुभूतियों के सघन-दबाव के कारण ही मनुष्य के जीवन में अनुभूतियों और भावनाओं का महत्व भी बढ़ गया है। और उनके बढ़े हुए महत्व के कारण ही वह उनकी अभिव्यक्ति के लिए उतावला हुआ है। यों, घटनाओं और दृश्यों की जगह उन पर आधारित अनुभूतियों और भावनाओं की महत्ता और उनकी अभिव्यक्ति अमूर्तीकरण की प्रक्रिया से जुड़ जाती है। इस तरह से वैयक्तिकता का संबंध कलाओं के क्षेत्र में आधुनिक युग की एक महत्वपूर्ण और विशेष प्रवृत्ति 'अमूर्तन की प्रक्रिया' से जुड़ जाता है। छायावाद से क्योंकि इन दोनों प्रवृत्तियों की बाकायदा शुरुआत होती है, और नयी कविता में ये प्रवृत्तियाँ अपने चरम रूप में उपस्थित हैं, इसीलिए छायावाद और नयी कविताओं की प्रवृत्तियों और इनके कवियों की अक्सर तुलना की जाती है। कभी-कभी नयी कविता को छायावाद का पुनरुत्थान कह दिया जाता है। नामवर सिंह ने अपनी पुस्तक 'कविता के नए प्रतिमान' में अज्ञेय के हवाले से रेखांकित किया है कि छायावादी काव्य की यात्रा जहाँ अंदर से बाहर की ओर है वहीं नयी

कविताओं की यात्रा बाहर से अंदर की ओर। यों, दोनों में अंदर की ही प्रधानता है। और यह बात ऊपर रेखांकित की जा चुकी है कि व्यक्ति अपने नगरीय-जीवन बोध के कारण ही अंतर्मुखी हुआ है। नयी कविता के पहले प्रगतिवादी काव्य का दौर चल रहा था। प्रगतिवादी काव्य क्योंकि ग्रामीण परिवेश और बाहरी यथार्थ से जुड़ा हुआ था, उसके अधिकांश कवि ग्रामीण थे, अतः वहाँ वैयक्तिकता और व्यक्तिवाद के प्रति कोई आग्रह नहीं देखा जाता है। उसकी अभिव्यक्ति भी सीधी और सरल है। यों, वैयक्तिकता और व्यक्तिवाद का आग्रह कवियों के शहरी और यांत्रिक जीवन की उपज है, जो आगे चलकर अमूर्तन की प्रक्रिया से जुड़ जाता है।

किसी भी रचना का स्वरूप 'वस्तु' और 'रूप' दो तत्वों से बना होता है। समय और परिवेश में बदलाव के साथ-साथ साहित्य में भी इन्हीं दोनों तत्वों के स्तरों पर बदलाव घटित होते हैं। यह उल्लेखनीय है कि रूप की प्रकृति वस्तु की अपेक्षा अधिक मूर्त है। अतः काव्यशास्त्रीय नियमों और परिनियमों के घेरे में यह वस्तु की अपेक्षा अधिक बंधा हुआ होता है। यों, वस्तु में यदि बहुत बदलाव नहीं किया जाता तो उसकी प्रकृति पर बहुत फर्क नहीं पड़ता, पर रूप में थोड़ा-सा बदलाव भी स्पष्ट हो उठता है। इसीलिए रूप में बदलाव के समय वस्तु में बदलाव के समय की अपेक्षा साहित्य-जगत में ज्यादा हलचल दिखायी देती है। और जब वस्तु और रूप दोनों स्तरों पर आमूल परिवर्तन की कोशिशें होती हैं तो यह हलचल बहुत ज्यादा बढ़ जाती है। नयी कविता के कवियों ने वस्तु और रूप दोनों स्तरों पर बड़े बदलाव की कोशिश की, अतः साहित्य-जगत में बड़ी हलचल हुई। यों इसके पहले भी साहित्यिक रूप में बदलाव की कोशिशें हो चुकी थीं। नयी कविता के पहले छायावाद में भी वस्तु और रूप दोनों स्तरों पर कम बड़े बदलाव नहीं हुए थे। इसीलिए नयी कविता के पहले छायावाद के काल में भी छायावादी कविताओं की प्रकृति को लेकर काफी हलचल हुई थी। भारतेंदु युग से शुरू होकर छायावाद के पहले तक ब्रज-भाषा बनाम खड़ी-बोली का झगड़ा चला ही आता था। गरज यह कि जब-जब पारंपरिक साहित्य-रूपों में परिवर्तन करने की कोशिशें की गयीं, तब-तब हिंदी आलोचना के जगत में इसे लेकर हलचल उत्पन्न हुई है।

नयी कविताओं में वस्तु और रूप दोनों स्तरों पर बड़े बदलाव हुए हैं। इन बदलावों में जहाँ देश की बदलती हुई परिस्थितियों ने भूमिका निभायी वहीं विदेश की बड़ी घटनाओं और वहाँ के साहित्य और दर्शन ने भी। नयी कविता के युग तक आधुनिकता की प्रक्रिया के फलस्वरूप देश में बड़े पैमाने पर हो चुके मशीनीकरण और तकनीकीकरण ने लोगों के जीवन को गतिमान बना दिया था। स्थिरता की जगह अस्थिरता और गति ने ले ली थी। संचार और आवागमन के साधनों ने न सिर्फ लोगों को भौतिक रूप से बल्कि मानसिक रूप से भी गतिमान बनाया। अपनी तेज गति के कारण व्यक्ति अपने दैनिक जीवन में अधिक लोगों से मिलने-जुलने या टकराने लगा। यों, यह मिलना-जुलना भावना के स्तर का नहीं, मतलब के स्तर का ही था; और टकराना यों ही अपने मतलब से आते-जाते लोगों का

एक-दूसरे को दिखायी दे जाना था। और यह देखना भी अनायास ही होता था। किसी का किसी से कोई मतलब नहीं होता था। इस तरह लोग भीड़ में तो परिवर्तित हुए, पर समाज से कट गये। सीमित समयांतराल में अधिक व्यक्तियों से मिलने के कारण उनकी अनुभूतियों और संवेदनाओं का क्षरण और अस्थिरीकरण होने लगा—*"प्रविधि के विकास का एक सीधा परिणाम यह हुआ कि गति बढ़ी है और संसार की सीमाएँ संकुचित हुई हैं। इससे मनुष्य एक दूसरे के अधिकाधिक संपर्क में आया है। और यह मनुष्य का तेजी से बढ़ता हुआ संपर्क मूल्यहीनता की स्थिति का एक प्रधान कारण है। एक सीमा के बाद मनुष्य ही मनुष्य के लिए सबसे बड़ा खतरा हो जाता है। अधिकाधिक बार संपर्क होते रहने से मनुष्य की अनुभूति शक्ति का क्षरण होता है।"*[5] दरअसल आधुनिक-युग में हुए औद्योगीकरण और मशीनीकरण ने लोगों को एक यंत्र में परिवर्तित कर दिया। इस आधुनिकता में महत्व व्यक्ति का नहीं, यंत्र और तकनीक का हो गया। यंत्र और तकनीक के सहारे पूँजीवाद का विकास हुआ। पूँजीवाद ने लोगों को पैसा कमाने का अवसर उपलब्ध कराया। अतः व्यक्ति की गति और तेज हुई। वह पैसों के पीछे मशीन की तरह भागने लगा। यों, पैसा कमाना शहरी व्यक्तियों की मजबूरी भी है। कुल मिलाकर शहरी व्यक्ति सामाजिक जीवन न जीकर एक यांत्रिक जीवन जीता है। और इस यांत्रिक जीवन से ही संवेदनहीनता, मूल्यहीनता का विकास होता है। इस यांत्रिक जीवन ने ही व्यक्ति के अंदर ऊब, घुटन, निराशा और कुंठा को जन्म दिया। अस्तित्ववाद के माध्यम से नयी कविता में जिस कुंठा, निराशा, घुटन और मूल्यहीनता की अभिव्यक्ति हुई है, वे प्रायः यांत्रिक जीवन से ही उत्पन्न हुई हैं।

वैज्ञानिक और तकनीकी विकास के कारण कम समय में अधिकाधिक लोगों से मिलने-जुलने के कारण व्यक्ति की अनुभूतियों और संवेदनाओं का एक ओर जहाँ क्षरण हुआ, वहीं दूसरी ओर ये एक-दूसरे में संचरित और संक्रमित भी हुईं। इससे मनुष्य की अनुभूतियाँ और संवेदनाएँ आपस में जटिल और संश्लिष्ट हो गयीं। विज्ञान और तकनीक ने लोगों के अनुभव और ज्ञान की सीमा में विस्तार करके भी उनकी अनुभूतियों को जटिल और संश्लिष्ट बनाया है। तेज गति के साथ व्यक्ति न सिर्फ अनेक व्यक्तियों के संपर्क में आता है बल्कि अनेक दृश्यों, वस्तुओं और घटनाओं के संपर्क में भी आता है। अतः उन सबसे प्राप्त अनुभूतियों में समयांतराल का अभाव होने के कारण ये आपस में संश्लिष्ट होकर जटिल रूप धारण कर लेती हैं। वैज्ञानिक और तकनीकी विकास शहरों में ही अधिक हुए, शहर के व्यक्ति ही इनके प्रभाव में ज्यादा आये। अतः नयी कविता में जिस संश्लिष्ट और जटिल अनुभूति की बात की गयी है, वह भी प्रायः नगरीय जीवन-बोध से ही उत्पन्न हुई है।

आधुनिक कविताओं की प्रवृत्ति अमूर्तन की ओर है। नयी कविता में भी यह प्रवृत्ति महत्वपूर्ण रूप में उपस्थित है। यह अमूर्तन की प्रक्रिया भी वस्तु और रूप दोनों स्तरों पर घटित होती है। ऊपर वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति को अमूर्तन की प्रक्रिया का अंग बताया गया है, जिसकी शुरुआत

---

[5] हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास : रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, इक्कीसवाँ संस्करण, 2008, पृष्ठ 193

रीतिकालीन कविताओं से होती है। वैयक्तिकता के अलावा जटिल और संश्लिष्ट अनुभूतियों की अभिव्यक्ति भी इस अमूर्तन की प्रक्रिया का अंग हैं। दरअसल वैयक्तिकता एवं जटिल और संश्लिष्ट अनुभूति भी आपस में जुड़ी हुई हैं। ये दोनों प्रवृत्तियाँ, जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया, नगरीय जीवनबोध का अंग हैं। वैज्ञानिक और तकनीकी विकास के फलस्वरूप कम समयांतराल में मनुष्य जब अनेक मनुष्यों, दृश्यों और घटनाओं के संपर्क में आता है, तब समयांतराल के अभाव में विभिन्न स्थानों से प्राप्त अनुभूतियाँ आपस में गड्डमड्ड हो जाती हैं। प्रायः नयी-नयी अनुभूतियों को प्राप्त करते जाने की प्रक्रिया में मनुष्य का मन अनुभूतियों का दबाव महसूस करने लगता है, अतः वह वैयक्तिकता के माध्यम से अपनी उन्हीं अनुभूतियों को अभिव्यक्त करना चाहता है। एक ओर जहाँ वैज्ञानिक और तकनीकी विकास के कारण मनुष्य की अनुभूतियाँ आपस में जटिल और संश्लिष्ट हुई हैं, वहीं दूसरी ओर इसके कारण उसकी भावनाओं और अनुभूतियों का महत्व घटा भी है। भावनाओं और अनुभूतियों का महत्व घटने के साथ-साथ इनके स्रोत 'मनुष्य' का महत्व भी घटा। मशीनीकरण की दुनिया में जब सारे कार्य मशीनों पर आधारित हों, तो मनुष्य के महत्व की जगह मशीनें ले लेती हैं। इस मशीनी युग में जब मनुष्य की भावनाओं और उसके विचारों का महत्व लगभग शून्य समझा जाने लगा, तब मनुष्य ने व्यक्तिवाद के माध्यम से फिर से मनुष्य और उसकी भावनाओं और विचारों का महत्व समझाने का प्रयास किया। इस तरह वैयक्तिकता और व्यक्तिवाद, दोनों प्रक्रियाओं में मनुष्य के विचार और भावनाओं का महत्व होने के कारण ये प्रवृत्तियाँ अमूर्तन की प्रक्रिया से जुड़ जाती हैं। यह जरूर है कि व्यक्तिवाद में महत्व व्यक्ति का ही होता है, पर अनुभूतियाँ और भावनाएँ उस महत्व का मुख्य अंग होती हैं, अतः यह भी एक स्तर पर जाकर अमूर्तीकरण की प्रक्रिया से जुड़ जाता है।

वैयक्तिकता और व्यक्तिवाद व्यक्ति की भावनाओं और विचारों को ही महत्व देने के कारण अमूर्तन की प्रक्रिया के अंग बनते हैं। वैयक्तिकता से आगे व्यक्तिवाद और व्यक्तिवाद से आगे बढ़कर फिर क्रमशः सामान्य भावनाओं, विचार-धाराओं, दर्शनों, विमर्शों आदि की अभिव्यक्ति भी काव्यों में होने लगी। यह उल्लेखनीय है कि वैयक्तिकता कवि या किसी मनुष्य की निजी अनुभूतियों, भावनाओं और विचारों से जुड़ी होती है, जबकि व्यक्तिवाद एक विचारधारा है। यों, निजी भावनाओं और विचारों से आगे बढ़कर सामान्य भावनाओं और विचारधाराओं की ओर जाना अमूर्तीकरण की प्रक्रिया का अंग है। स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ना जहाँ अमूर्तीकरण की प्रक्रिया का एक पहलू है, वहीं विशिष्ट से सामान्य की ओर बढ़ना इसका दूसरा पहलू है। वैयक्तिकता से व्यक्तिवाद की ओर जाना, विशिष्ट से सामान्य की ओर जाने की प्रक्रिया है। सामान्य भावनाओं और विचार-धाराओं का महत्व बढ़ जाने के कारण काव्यों में स्थूल घटनाओं की जगह भावनाओं और विचारों को महत्व मिलने लगा। अमूर्तन की प्रक्रिया के अंतर्गत एक ओर जहाँ स्थूल घटनाओं की जगह सूक्ष्म भावनाओं और विचारों को महत्व प्रदान किया गया, वहीं दूसरी ओर इन घटनाओं और पात्रों का प्रतीकीकरण कर दिया गया। घटनाओं

और पात्रों का प्रतीकीकरण जटिल और संश्लिष्ट अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए भी हुआ। जटिल और संश्लिष्ट अनुभूतियों को अनुभूति के स्तर पर चित्रित करने के लिए प्रबंध-काव्यों में घटनाओं और पात्रों का प्रतीकीकरण किया गया। ऐसा करने से घटनाएँ और पात्र मात्र मिथकीय देश-काल और वातारण के न रहकर आधुनिक काल और वातावरण में भी संचरित हो गये। इस तरह उनके मिथकीय और आधुनिक रूप एक दूसरे में संश्लिष्ट हो गये। इस प्रकार एक ओर जहाँ वैयक्तिकता के आग्रह के कारण अमूर्तन की प्रक्रिया घटित हुई तो दूसरी ओर जटिल और संश्लिष्ट अनुभूति की अभिव्यक्ति के कारण। यों, दोनों के आग्रह के केंद्र में भावनाओं और अनुभूतियों का सघन दबाव ही था। प्रबंध-काव्य के धरातल पर ये दोनों प्रक्रियाएँ छायावादी काव्य में ही दिखाई देने लगीं थीं।

छायावादी प्रबंध-काव्यों में वैयक्तिकता के आग्रह के कारण घटनाओं की जगह भावनाओं और विचारों को महत्व दिया गया और पात्रों में कवि-व्यक्तित्व का आरोप किया गया। अमूर्तन की इस प्रवृत्ति के कारण ही छायावाद को स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह कहा गया। यों, बाहरी-जगत मूर्त होता है, और आंतरिक-जगत अमूर्त। घटनाएँ, दृश्य आदि मूर्त होते हैं और भाव, विचार, भावनाएँ आदि अमूर्त। काव्य में अमूर्तता लाने की शुरुआत आश्रय को कविताओं से हटाकर आलंबन के प्रति आत्माभिव्यंजन की प्रक्रिया से शुरू होती है। इस प्रक्रिया में आलंबन का भी अमूर्तन होना चाहिए। अमूर्तन की इस प्रक्रिया की शुरुआत रीतिकाल में रीतिमुक्त कवियों के द्वारा माननी चाहिए। आश्रय को कविताओं से हटाकर ईश्वर के प्रति प्रेम-निवेदन भक्तिकाल के कवियों ने भी किया, पर उनका यह सीधा प्रेम-निवेदन या विनती आत्माभिव्यंजन की बहुत ही सीमित-श्रेणी में आयेगी। यों, उनका आलंबन भी निर्दिष्ट था। अतः काव्य में अमूर्तन की प्रक्रिया की शुरुआत वहाँ से नहीं मानी जा सकती। रीतिमुक्त कवियों की आत्मभिव्यंजना भी यद्यपि सीमित-प्रणाली पर चली, पर भक्त-कवियों की अपेक्षा यह थोड़ी विस्तृत थी। उन्होंने अपनी भावनाओं और आलंबन को थोड़ा-सा संश्लिष्ट बनाया। जहाँ एक ओर उनकी भावनाओं में भक्ति और प्रेम का रूप संश्लिष्ट था, वहीं दूसरी ओर उनके आलंबन में ईश्वर और प्रेमास्पद, दोनों का रूप भी संश्लिष्ट ही था। यों, अर्थ के विस्तार का थोड़ा-सा अवकाश अवश्य उन कविताओं को उपलब्ध हुआ। छायावादी कवियों की भावनाएँ, या जिन्हें उस युग में अनुभूतियाँ कहा गया, रीतिमुक्त कवियों की भावनाओं से अधिक संश्लिष्ट थीं। आलंबन का संश्लिष्ट रूप भी वहाँ अधिक स्पष्ट था। छायावाद में आत्माभिव्यंजन के लिए छोटी कविताओं में से आश्रय को हटा लिया गया है। पर लंबी-कविताओं या प्रबंध-काव्यों में जहाँ यह संभव नहीं है, आश्रय में अपनी भावनाओं का आरोप कर दिया गया है। प्रबंध-काव्यों में घटनाओं को नहीं, बल्कि भावनाओं को प्रधान मानते हुए उनकी अभिव्यक्ति के अनुकूल कथावस्तु का निर्माण किया गया। भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए अवसर होने पर ही आश्रय के माध्यम से कवि अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति कर सकता है। घटनाओं से भावनाओं की ओर का यह संक्रमण भी स्थूल से सूक्ष्म की ओर का ही संक्रमण है। महाकाव्यों में यह

संक्रमण ही इसलिए किया गया कि कवियों को आश्रय के माध्यम से अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति का अवसर मिले। यों, किसी को लक्ष्य करके कुछ कहने वाला व्यक्ति आश्रय होता है, और जिसके प्रति कथन किया जाता है वह आलंबन होता है। काव्य में कहने वाला सदैव आश्रय ही होता है। इस हिसाब से प्रबंध-काव्यों में एक समय पर आश्रय की भूमिका में रहने वाला पात्र दूसरे ही क्षण आलंबन की भूमिका में भी आ सकता है। इस तरह कवि एकाधिक पात्रों में अपने को निक्षेप कर सकता है। यों कवि प्रायः काव्य के नायक-नायिकाओं पर ही अपने व्यक्तिव का निक्षेप करते हैं। ‘कामायनी’ में ‘मनु’ पर जयशंकर प्रसाद ने अपने व्यक्तित्व का निक्षेप किया है, यह तथ्य गजानन माधव ‘मुक्तिबोध’ ने अपनी कृति ‘कामायनी : एक पुनर्विचार’ में प्रस्तुत किया है।

नयी कविता के प्रबंध-काव्यों में कवियों ने प्रायः घटनाओं की जगह भावनाओं या विचारों को महत्व दिया है। छायावादी काव्यों से आगे नयी कविताओं में भावनाओं की अपेक्षा वैचारिकता को ज्यादा महत्व दिया गया है। आधुनिकता के बढ़ते हुए क्रम में भावना का स्थान विचार ने ले लिया। छोटी कविताओं में आश्रय का और ज्यादा अमूर्तीकरण कर दिया गया। इसके पहले तक आश्रय के स्थान पर कवियों की भावनाएँ व्यक्त होती थीं, पर नयी कविता में भावनाओं की अपेक्षा विचारों की अभिव्यक्ति के कारण आश्रय का अमूर्तीकरण हो गया। भावनाओं की अपेक्षा विचार कुछ ज्यादा अमूर्त होते हैं। समान आलंबन या वस्तु के प्रति अलग-अलग आश्रयों की भावनाएँ प्रायः समान होती हैं, पर उनके संबंध में सभी आश्रयों के विचार प्रायः अलग-अलग होते हैं। अतः विचारों को भावनाओं की अपेक्षा ज्यादा अमूर्त माना जा सकता है। इसीलिए कुछ वैचारिक कविताओं में यह पता ही नहीं चलता कि आश्रय कौन है ? इसमें कवि और पाठकों के अलावा कोई तीसरा व्यक्ति भी आश्रय हो सकता है। अतः नयी कविताओं में वस्तु का अमूर्तन आश्रय और आलंबन के संश्लिष्ट और अनिश्चित स्वरूप की प्रतिष्ठा के सहारे अधिकाधिक रूप में किया गया। इस प्रक्रिया में भाव के आगे भावनाओं को, और भावनाओं के आगे विचारों को तरजीह दी गयी।

प्रबंध-काव्यों में आधुनिकता के अनुरूप अमूर्तन लाने के लिए एक ओर जहाँ वस्तु के स्तर पर घटनाओं और पात्रों की जगह भावनाओं और विचारों को महत्व दिया गया, वहीं दूसरी ओर रूप के स्तर पर इनके आकर में महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिया गया। परंपरागत प्रबंध-काव्यों की अपेक्षा आधुनिक काल के प्रबंध-काव्यों का आकार बहुत छोटा कर दिया गया। यों, वस्तु और रूप दोनों स्तरों पर यह बदलाव छायावाद से ही शुरू होता है। ‘कामायनी’ इस दिशा का एक आदर्श और प्रतिमानीय प्रबंध-काव्य है। इसके छोटे आकार को लेकर आलोचना-जगत में इसके महाकाव्यत्व के संबंध में बड़ी ऊहापोह की स्थिति रही। हिंदी परीक्षाओं में कामायनी के महाकाव्यत्व को सिद्ध करने के प्रश्न आज तक पूछे ही जाते हैं। यों अब इसे हिंदी आलोचना-जगत में आधुनिक युग के एक श्रेष्ठ महाकाव्य के रूप में प्रतिष्ठित किया जा चुका है। जयशंकर प्रसाद की रचना ‘आँसू’ का प्रबंध-विधान भी आधुनिक

युग के प्रबंध-काव्यों के सूक्ष्म होते हुए रूप का ही परिचायक है। जिस तरह 'कामायनी' के महाकाव्यत्व को लेकर ऊहापोह की स्थिति रही, उसी तरह 'आँसू' के रूप-भेद को लेकर। खंड-काव्य और लंबी कविता के बीच आँसू का प्रबंध-विधान खुद दोनों के रूप का अतिक्रमण करने वाला है। यों, 'कामायनी' की अपेक्षा 'आँसू' और ज्यादा अमूर्ततापरक काव्य है। इसमें घटनाओं को पृष्ठभूमि में रख दिया गया है, और उन पर आधारित भाव और भावनाओं के चित्रण से भावनापरक प्रबंध-काव्य की सृष्टि की गयी है। छायावाद में ही प्रबंध और मुक्तक काव्य की रूपगत सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए 'लंबी कविता' जैसे प्रबंध-रूप का जन्म हुआ। नयी कविताओं तक आते-आते महाकाव्य लिखने की प्रवृत्ति बहुत कम रह गयी थी। इस समय तक प्रबंध-काव्य के क्षेत्र में खंड-काव्य की तरह के काव्य लिखे जाने लगे, जिनके रूप को लेकर आलोचना-जगत में सहमति-असहमति का माहौल भी रहा। इसमें से अधिकांश 'काव्य-नाटक' के रूप में लिखे गये हैं, पर वे सब काव्य-नाटकों के प्रतिमानों पर बहुत खरे नहीं उतरते। कुछ को इनके रचयिताओं ने ही 'काव्य' और 'लघुकाव्य' जैसे नामों से अभिहित किया है। इनके रूप के संदर्भ में भी ऊहापोह की स्थिति बनी रहने के कारण ही इन्हें सीधे 'प्रबंध-काव्य' कहने की प्रवृत्ति विकसित हुई है। यों, प्रबंध-काव्यों के परंपरागत-भेदों में इन्हें रखने का बहुत आग्रह हो, तो ये सब 'खंड-काव्य' के अंतर्गत ही आयेंगे।

ऊपर हुए नयी कविताओं में वस्तु और रूप के स्तरों में आए बड़े बदलावों के विवेचन के क्रम में यह बात स्पष्ट है कि इनमें से अधिकांश बदलाव हिंदी काव्य-परंपरा के ही विकसित रूप हैं। हिंदी के पास अपनी विस्तृत और लंबी काव्य-परंपरा रही है। हिंदी प्रबंध-काव्यों की कथावस्तुओं पर यदि नजर दौड़ायी जाए तो यह बात सामने आती है कि अधिकांश प्रबंध-काव्यों की कथावस्तु 'मिथकीय' है। ऐतिहासिक कथानकों को भी जहाँ रचनाओं का आधार बनाया गया है, उनमें भी कल्पनाओं, किंवदंतियों, लोककथाओं आदि का मिश्रण करते हुए उन्हें मिथकीय बनाकर ही प्रस्तुत किया गया है। इस तथ्य के आलोक में यह बात कही जा सकती है कि हिंदी की प्रबंध-परंपरा में पाठकों या श्रोताओं के रूप में 'लोक' को लक्ष्य बनाकर कथानकों को प्रस्तुत किया गया है। यों, प्रबंध-काव्यों के सबसे महत्वपूर्ण तत्व 'कथा' में लोक को जोड़े रखने की प्रवृत्ति को परिलक्षित किया जा सकता है। मिथक एक प्रकार की कथा ही हुआ करता है, अतः इसमें लोक को अपने में, और लोगों को आपस में भी, जोड़े रखने की प्रवृत्ति पायी जाती है। कथा मात्र में लोगों को अपने से जोड़े रखने की शक्ति होती है। मिथकीय कथाओं में 'कथा' के अलावा 'आस्था' भी होती है। आस्था में लोगों को जोड़े रहने की दुहरी शक्ति होती है। आस्था जहाँ एक स्तर पर लोगों को अपने से जोड़े रखती है, वहीं दूसरे स्तर पर लोगों को आपस में। अतः मिथकीय कथाओं में लोगों को जोड़े रहने की शक्ति कई गुना बढ़ जाती है।

नयी कविता के प्रबंध-काव्यों में भी हिंदी की प्रबंध-परंपरा के अनुरूप मिथकीय कथानकों का प्रयोग किया गया है, पर यहाँ उन्हें आधुनिकता के साँचे में ढालकर ही प्रस्तुत किया गया है। आधुनिक

युग क्योंकि तार्किकता और वैज्ञानिकता का युग है, इसीलिए मिथकीय कथानकों में 'कथा' और 'आस्था' की जगह तार्किकता और वैज्ञानिकता को प्रश्रय प्रदान किया गया है। नयी कविता में जिस पाठक-वर्ग को लक्ष्य बनाया गया है वह लोक की जगह प्रबुद्ध-वर्ग का पाठक है। अतः यह परिवर्तन उसी के अनुरूप किया गया है। आस्था-केंद्रित कथाओं को तर्क और विवेक की कसौटी पर कसने की प्रक्रिया में स्थूल और घटनापरक कथानक सूक्ष्म तार्किक और वैचारिक कथानकों में परिवर्तित हो गये हैं। यों, पाठक-वर्ग में बदलाव के साथ-साथ अमूर्तन की प्रवृत्ति के कारण भी प्रबंध-काव्यों में तार्किकता और वैचारिकता को स्थान मिला। यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि आधुनिक-युग में कलाओं के प्रति बढ़ रही अमूर्तन की प्रवृत्ति के कारण प्रबंध-काव्यों में घटनापरक कथानकों का स्थान भावनापरक और विचारपरक कथानकों ने ले लिया। यों, आस्था एक भावना है। भावनाओं से आगे इन काव्यों में विचार को महत्व दिया गया। भावनाओं के आगे विचारों के महत्व की बात भी ऊपर कही जा चुकी है। ईश्वरीय आस्था आधुनिकता की प्रवृत्ति से मेल नहीं खाती, अतः इसकी जगह तर्क और विवेक को महत्व मिला। तर्क और विवेक विचार के तत्व हैं। अतः आधुनिक मिथकीय कथानकों में सूक्ष्मता एक ओर जहाँ घटनाओं की जगह भावनाओं और विचारों को प्रश्रय देने के कारण आयी, वहीं दूसरी ओर आस्था और अंधविश्वास जैसी भावनाओं की जगह तर्क और विवेक जैसे वैचारिक तत्वों को प्रश्रय देने के कारण।

'कथानक' प्रबंध-काव्यों का अनिवार्य और महत्वपूर्ण तत्व है। परंपरागत प्रबंध-काव्यों में यह 'कथा' के माध्यम से प्रस्तुत होता रहा है। इसीलिए इसका नाम भी 'कथा' के सहारे रखा गया है। कथानक का दूसरा नाम 'कथावस्तु' भी 'कथा' के सहारे रखा गया है। आधुनिक प्रबंध-काव्यों में जब कथा का महत्व कम हुआ, तब कथानक या कथावस्तु की जगह 'विषयवस्तु' या मात्र 'वस्तु' शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। यों विषयवस्तु और 'वस्तु' जैसे शब्द मुक्तक-काव्यों के लिए प्रस्तुत किये जाते हैं, क्योंकि उनमें कथा नहीं होती है। 'कामायनी : एक पुनर्विचार' नामक अपनी कृति में मुक्तिबोध ने 'कामायनी' के लिए लिखा है कि इसमें कवि का उद्देश्य कथा कहना नहीं है। अतः छायावाद से ही कथा को गौण मानने की परंपरा शुरू होती है। कथा को गौण मानने का परिणाम यह हुआ कि इसकी स्थूलता क्रमशः सूक्ष्मता में परिवर्तित होती गयी। कथा की स्थूलता घटनाओं और चरित्रों के ऊपर टिकी हुई होती थी। नये प्रबंध-काव्यों में एक ओर जहाँ घटनाओं के स्थान पर भावनाओं और विचारों को स्थान देकर कथा को सूक्ष्म बनाया गया, वहीं दूसरी ओर इन घटनाओं को प्रतीकात्मक रूप देकर इनका अमूर्तीकरण कर दिया गया। यह उल्लेखनीय है कि घटनाओं की जगह भावनाओं और विचारों को महत्व देना एक अलग प्रक्रिया है और प्रतीकात्मकता के आधार पर घटनाओं का अमूर्तीकरण अलग प्रक्रिया। इसी तरह 'पात्र' भी परंपरागत प्रबंध-काव्यों में अपने निजी व्यक्तित्व के कारण जहाँ कथा की स्थूलता के विकास में सहयोग करते थे, वहीं नयी कविता के प्रबंध-काव्यों में एक ओर इन पर

कवि-व्यक्तित्व का आरोप करके तथा दूसरी ओर इनका प्रतीकीकरण करके कथा में सूक्ष्मता विकसित की गयी। यह भी उल्लेखनीय ही है कि पात्रों में कवि-व्यक्तित्व का आरोप करके आत्माभिव्यंजन के माध्यम से कथानक को सूक्ष्म बनाना अलग प्रक्रिया है और पात्रों का प्रतीकीकरण करके उनका अमूर्तीकरण एक अलग प्रक्रिया। पात्रों या घटनाओं का प्रतीकीकरण कर देने से वे अपने देश-काल और वातावरण से नये देश-काल और वातावरण में संक्रमित हो जाती हैं, यों वे अपने देश-काल और वातावरण में भी बनी रहती हैं। इस तरह आत्माभिव्यंजन, भावनाओं और विचारों का प्रयोग तथा प्रतीकीकरण तीनों अलग-अलग प्रक्रियाएँ हैं। यों, तीनों प्रक्रियाएँ आपस में सहयोगी प्रकृति की हो सकती हैं। इनमें अंतर्विरोध नहीं होता।

कथाओं, पात्रों और घटनाओं का महत्व कम हो जाने के कारण नये प्रबंध-काव्यों में भावनाओं, विचारों और परिस्थितियों का महत्व बढ़ गया। यह आधुनिक युग की चेतना के अनुरूप ही हुआ। आधुनिक युग में वैज्ञानिक सोच के विकसित होने के कारण उन मिथकीय घटनाओं को पृष्ठभूमि में रखकर उन पर विचार-विमर्श हुआ जो आधुनिक-चेतना से मेल नहीं खातीं थीं। 'शंबूक' में राम द्वारा शंबूक-वध की घटना को तथा 'अग्निलीक' काव्य में राम द्वारा सीता परित्याग की घटना को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखते हुए उन पर विचार-विमर्श हुआ है। ये घटनाओं के स्थान पर भावनाओं और विचारों को महत्व प्रदान करने वाले काव्य हैं। यों, घटनाएँ इनकी पृष्ठभूमि में रहती हैं, और विचार-विमर्श की दृष्टि से ये अत्यंत महत्वपूर्ण भी होती हैं; पर काव्य में इन्हें पृष्ठभूमि में रखकर ही इन पर विचार-विमर्श किया जाता है। एक ओर जहाँ उन घटनाओं को पृष्ठभूमि में रखकर उन पर विचार-विमर्श हुआ जो आधुनिक-चेतना के अनुरूप नहीं थीं, वहीं दूसरी ओर उन घटनाओं का प्रतीकीकरण करते हुए उन्हें आधुनिक युग की परिस्थितियों और चेतना के प्रतिबिंबन का आधार बनाया गया जिनमें अपनी समावेशी प्रकृति के कारण यह क्षमता मौजूद थी। 'अंधायुग' में इस दृष्टि से घटनाओं और पात्रों, दोनों का प्रतीकीकरण कर दिया गया है। यों, दोनों तरह के प्रबंध-काव्यों में घटनाओं की अपेक्षा भावनाएँ और विचार ही प्रधान होते थे। 'संशय की एक रात' में घटनाओं को पृष्ठभूमि में रखते हुए युद्ध पर विचार-विमर्श को महत्व प्रदान किया गया है। 'राम' का प्रतीकीकरण भी इसमें हुआ है। यों, पात्रों का प्रतीकीकरण लगभग हर नये प्रबंध-काव्य में हुआ है। घटनाओं को ज़रूर कहीं प्रतीक रूप में तो कहीं मूल रूप में रखते हुए उन पर आधारित भावनाओं और विचारों का चित्रण किया गया है।

आधुनिक युग में एक ओर जहाँ वैज्ञानिक-चेतना, तार्किकता और विवेक के विकास से मानवीय मूल्यों और विचारों का विकास हुआ, वहीं दूसरी ओर औद्योगीकरण और मशीनीकरण की प्रक्रिया ने लोगों के जीवन को अधिकाधिक यांत्रिक और भावनाशून्य बनाया। यांत्रिकता और भौतिकता के विकास के साथ-साथ मनुष्य में भावनाओं का क्षरण होता गया। प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध की घटनाओं ने पारंपरिक मूल्यों और मान्यताओं को ध्वस्त कर दिया। इस तरह मनुष्य हताश, निराश और

संत्रस्त भी हुआ। इन सभी आधुनिक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति नयी कविता के प्रबंध-काव्यों में हुई है। यह उल्लेखनीय है कि काव्यों में इन आधुनिक प्रवृत्तियों को मिथकीय आवरण में प्रस्तुत किया गया है, अतः इनके शिल्प में आधुनिकता के तत्वों के साथ-साथ मिथकीय तत्वों का भी समावेश हुआ है। यों, मिथकीय कथाओं और तत्वों को इनमें आधार रूप में ही ग्रहण किया गया है, और इनके सहारे आधुनिक प्रवृत्तियों, परिस्थितियों और समस्याओं को ही चित्रित करने का प्रयास हुआ है; पर मात्र इतने से ही इनमें प्रस्तुत मिथकीय कथाओं का स्थान गौण नहीं हो जाता। ऐसी रचनाओं में मिथकीय तत्वों और आधुनिक तत्वों में सामंजस्य बैठाना अत्यंत प्रतिभा का कार्य है।

नयी कविता के प्रबंध-काव्यों में क्योंकि मिथकीय कथाओं में आधुनिक तत्वों का समावेश हुआ है, अतः मिथकीय तथा आधुनिक तत्व इसके शिल्प के उपादान के रूप में आयेंगे। उपादान के रूप में इसलिए की इन्हीं तत्वों का उपयोग करते हुए इन काव्यों को रूपाकार दिया गया है। अपने मूर्त रूप में इन काव्यों के तत्व शिल्प के रूप-विधान के अंतर्गत आयेंगे। इन्हीं दृष्टियों से इस शोध-प्रबंध में इन प्रबंध-काव्यों के शिल्प का विवेचन विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। यों, यह शोध-ग्रंथ व्याख्यापरक और आलोचनापरक ही है। इन प्रबंध-काव्यों में मिथकीय तत्वों और आधुनिक तत्वों का सामंजस्य बैठाया जा सका है कि नहीं, इसका मूल्यांकन इसमें बहुत गहराई से नहीं किया जा सका है। यह विषय इतना विस्तृत और श्रमसाध्य है कि इस पर एक अलग शोध किया जा सकता है। नयी कविताओं पर पड़े विदेशी प्रभावों में प्रथम विश्व-युद्ध के बाद द्वितीय विश्व-युद्ध की घटना बहुत महत्वपूर्ण है। 'नयी कविता' में तमाम कविताएँ युद्ध की विभीषिका को चित्रित करते हुए युद्ध की निरर्थकता को व्यंजित करती हैं। विदेशी साहित्य और दर्शन का बहुत बड़ा प्रभाव नयी कविताओं में देखा जा सकता है। यह प्रभाव इतना बड़ा है कि इसे लेकर कुछ विद्वानों ने पुस्तकें भी लिखी हैं। इस तरह की एक महत्वपूर्ण किताब के रूप में रामविलास शर्मा की पुस्तक 'नयी कविता और अस्तित्ववाद' का नाम लिया जा सकता है। नयी कविताओं पर इस तरह के विदेशी प्रभावों को देखकर कुछ आलोचकों ने पूरी नयी काव्य-धारा को ही अपनी काव्य-परंपरा से कटा हुआ घोषित किया है। यह प्रवृत्ति ठीक नहीं है। नयी कविताओं में जो बड़े बदलाव लक्षित किये जाते हैं उनकी प्रक्रिया पहले से ही हिंदी काव्य-परंपरा में शुरू हो गयी थी। पहले यह दिखाया जा चुका है कि नयी कविता में बड़े पैमाने पर अभिव्यक्त व्यक्तिवाद रीतिकाल की रीतिमुक्त काव्य-धारा से ही वैयक्तिकता के रूप में चला आ रहा है। छायावाद में इसका स्वरूप रीतिकाल से कुछ भिन्न प्रकार का हुआ, और नयी कविता में आकर यह व्यक्तिवाद में रूपांतरित हो गया। इस प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि नयी कविताओं में लक्षित बदलावों का संपूर्ण स्रोत विदेशी ही है।

नयी कविताओं में लक्षित बड़े बदलाव वस्तुतः हिंदी काव्य-परंपराओं का ही या तो विकसित रूप हैं या उनकी प्रतिक्रियाओं से उपजे हुए नये रूप। व्यक्तिवाद का चरम रूप अस्तित्ववाद है, जिसकी

अभिव्यक्ति नये कवियों ने खूब की है। यह वस्तुतः प्रगतिवादी सामूहिकता और मार्क्सवादी सिद्धांतों की प्रतिक्रिया के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। इसी तरह नयी कविता की छोटी कविताओं में उच्च-कुल के नायक-नायिकाओं की जगह जिस लघु-मानव की प्रतिष्ठा की गयी, और इसके प्रबंध-काव्यों में जिस तरह से उच्च-कुल के नायकों का प्रतीकीकरण करते हुए उन्हें सामान्य मानव की भूमि पर उतारने का यत्न हुआ, उसकी प्रक्रिया द्विवेदी-युग में ही ईश्वर को मानव के रूप में चित्रित करते हुए, प्रतिनायकों या प्रतिनायिकाओं के प्रति सहानुभूति रखकर उन्हें नायक-नायिकाओं के रूप में अवतरित करते हुए तथा उपेक्षित चरित्रों को केंद्र में लाते हुए शुरू हो चुकी थी। व्यक्तिवाद, अस्तित्ववाद और लघुमानववाद नयी कविताओं में वस्तु के स्तर पर प्रस्तुत हुए हैं। इसी तरह रूप के स्तर पर जिन गद्य-कविताओं को नयी-कविता की एक उपलब्धि की तरह पेश किया जाता है, इसकी शुरुआत छायावाद में ही सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' ने मुक्त-छंद का प्रवर्तन करके की थी। छायावाद में ही 'प्रबंध' और 'मुक्तक' की सीमाओं को तोड़ते हुए 'लंबी कविताओं' का सृजन हुआ, जो आगे चलकर नयी कविताओं की एक पहचान बनीं। इन्हीं लंबी कविताओं के शिल्प से मिलता-जुलता रूप नयी कविताओं के खंड-काव्यों का भी है। काव्य-नाटकों के लेखन की शुरुआत भी छायावादी काल से ही शुरू हो चुकी थी। इस तरह देखा जा सकता है कि नयी कविता अपनी परंपरा से पूर्णतः कटी हुई या मुक्त नहीं, बल्कि उसी का विकसित रूप थी। हाँ, बौद्धिक अनुभूति और वैचारिकता की अभिव्यक्ति तथा कुछ पाश्चात्य साहित्य और दर्शनों के प्रभाव के परिणामस्वरूप उसमें जटिलता या दुरूहता है, जिसकी व्याख्या मुश्किल होती है। ऐसी कविताएँ आधुनिक आलोचकों के सामने एक चुनौती बनकर खड़ी होती हैं। आधुनिक काल में टीकाओं की परंपरा प्रायः समाप्त होने के पीछे आधुनिक कविताओं की दुरूहता और जटिलता भी है। नयी कविताओं की अगर सबसे ज्यादा कटु आलोचनाएँ हुई हैं तो इसी दुरूहता और जटिलता के कारण। यद्यपि आधुनिक कविताएँ अर्थ की अमूर्तता की प्रवृत्ति को लेकर चलती हैं, पर अर्थ की अमूर्तता और अर्थ की दुरूहता और जटिलता में अंतर होता है। अतः आधुनिक कविताओं की टीकाएँ या व्याख्याएँ संभव हैं, और इनका लिखा जाना एक महत्वपूर्ण कार्य होगा।

# संदर्भ ग्रंथ सूची

**आधार ग्रंथ**

1. अग्निलीक : भारतभूषण अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पाँचवाँ संस्करण, 1986
2. आत्मजयी : कुँवर नारायण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, नौवाँ संस्करण, 2012
3. अंधा युग : धर्मवीर भारती, किताब महल प्रकाशन, इलाहाबाद, बयालीसवाँ संस्करण, 2010
4. एक कंठ विषपायी : दुष्यंत कुमार, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 2013
5. एक पुरुष और : डॉ. विनय, भारती भाषा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1974
6. कनुप्रिया : धर्मवीर भारती, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, उन्नीसवाँ संस्करण, 2013
7. महाप्रस्थान : नरेश मेहता, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2012
8. शंबूक : जगदीश गुप्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, संस्करण 2015
9. सूर्यपुत्र : जगदीश चतुर्वेदी, दि मैकमिलन कंपनी ऑफ़ इंडिया लिमिटेड, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1975
10. संशय की एक रात : नरेश मेहता, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2012

**सहायक ग्रंथ**

1. अनामिका : सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, भारती भंडार, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, 1948
2. आधुनिक बोध : रामधारी सिंह दिनकर, पंजाबी पुस्तक भंडार, दिल्ली, 1973
3. आधुनिकता : एक पहचान, डॉ. चंद्रभान रावत और डॉ. रामकुमार खंडेलवाल, देवनगर प्रकाशन, जयपुर, 1985
4. आचार्य भामह विरचित काव्यालंकार : (भाष्यकार) देवेंद्र नाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, द्वितीय संस्करण, 1985,
5. आधुनिक कविता और युग दृष्टि : शिवकुमार मिश्र, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2012
6. आधुनिक प्रबंध काव्य : संवेदना के धरातल : विनोद गोदरे (सं.), वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2007
7. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ : नामवर सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2011
8. आधुनिक हिंदी आलोचना के बीज शब्द : बच्चन सिंह, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, चौथा संस्करण, 2021
9. आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास : बच्चन सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2006
10. कविता का पक्ष : रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 1994

11. कविता की जमीन और जमीन की कविता : नामवर सिंह (सं. आशीष त्रिपाठी), राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 2016
12. कविता के नए प्रतिमान : नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, चौथा संस्करण, 1990
13. कठोपनिषद : डॉ. रामरंग शर्मा और मालती शर्मा (सं), भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1979
14. कामायनी : एक पुनर्विचार : गजानन माधव मुक्तिबोध, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पाँचवाँ संस्करण, 1991
15. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति : आचार्य वामन, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर सिद्धांत शिरोमणि, संपादक डॉ. नगेंद्र, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, 1954,
16. काव्य के रूप : गुलाबराय, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, चतुर्थ संस्करण, 1958
17. काव्य और कला तथा अन्य निबंध : जयशंकर प्रसाद, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, 2007
18. काव्यनाटकों का अभिव्यंजना शिल्प : डॉ. राजेश्वरी देवलिया, साहित्य संगम प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1997
19. काव्य भाषा और नाट्य भाषा का तुलनात्मक अध्ययन : डॉ. एस. एन. अय्यर, नमन प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1998
20. काव्यशास्त्र : भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, पाँचवाँ संस्करण, 1972
21. नई कविता : आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, संस्करण 1997
22. नई कविता, आलोचना और प्रतिक्रया : डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय, राजपाल एंड सन्ज़, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1982
23. नई कविता आंदोलन और परिमल : हरेकृष्ण तिवारी, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, संस्करण 2011
24. नयी कविता (तीन खंड) : जगदीश गुप्त, रामस्वरूप चतुर्वेदी, विजयदेव नारायण साही (सं), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण, 2016,
25. नयी कविताएँ : एक साक्ष्य : रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण, 2015
26. नयी कविता का आत्मसंघर्ष : गजानन माधव मुक्तिबोध, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, छठा संस्करण, 2018
27. नयी कविता के प्रतिमान : लक्ष्मीकांत वर्मा, भारती प्रेस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1957
28. नयी कविता और अस्तित्ववाद : रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला पेपरबैक संस्करण, 1993

29. नयी कविता की मानक कृतियाँ : जीवनप्रकाश जोशी, सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, 1981
30. नयी कविता : सीमाएँ और संभावनाएँ : गिरिजाकुमार माथुर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, संस्करण 1973
31. नये प्रतिमान : पुराने निकष : लक्ष्मीकांत वर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1996
32. नाट्य समीक्षा : डॉ. दशरथ ओझा, नेशनल पब्लिशिंग हॉउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1959
33. पल्लव : सुमित्रानंदन पंत, राजकमल प्रकाशक, नयी दिल्ली, नौवाँ संस्करण, 1993
34. पाश्चात्य साहित्य चिंतन : निर्मला जैन, कुसुम बांठिया, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1990
35. प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य : रेखा अवस्थी, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला संस्करण, 2012
36. बिहारी-रत्नाकर : (सं.) जगन्नाथदास 'रत्नाकर', गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, अमीनाबाद, लखनऊ, 1926
37. भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा : डॉ. नगेंद्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1956
38. भारतीय मिथक कोश : उषा पुरी विद्यावाचस्पति, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1986
39. महाभारत : पंडित रामनारायण शास्त्री पांडेय 'राम' (सं.), गीताप्रेस गोरखपुर, सातवाँ संस्करण, संवत 2053, (6 भाग)
40. मिथक और भाषा : डॉ. शंभुनाथ सिंह (सं.), कलकत्ता विश्वविद्यालय प्रकाशन, कलकत्ता, 1981
41. मिथक दर्शन का विकास : डॉ. वीरेंद्र सिंह, स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद, 1984
42. मीराँबाई की पदावली : आचार्य परशुराम चतुर्वेदी (सं.), हिंदी साहित्य सम्मलेन, प्रयाग, बाईसवाँ संस्करण, 2008
43. रसमीमांसा : आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पुस्तक प्रतिष्ठान, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2015
44. रामायण : महर्षि बाल्मीकि, गीताप्रेस गोरखपुर, संवत 2076, (दो भाग)
45. शिव पुराण : पंडित श्री राम शर्मा आचार्य (सं.), संस्कृति संस्थान प्रकाशन, बरेली, द्वितीय संस्करण 1976 (दो भाग)
46. समकालीन हिंदी कविता : विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2018
47. संस्कृत वाङ्मय में शिल्पकलाएँ : डॉ. (श्रीमती) इला घोष, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2004
48. संक्षिप्त सूरसागर : बेनीप्रसाद (सं.), इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, 1927

49. स्वातंत्र्योत्तर काव्य नाटक : अशोक कुमार, संजय प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2009
50. स्वातंत्र्योत्तर गीति नाट्य-काव्य : डॉ. प्रमिला सिंह, अनंग प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2001
51. हिंदी की लंबी कविताओं का आलोचनात्मक-पक्ष : राजेंद्रप्रसाद सिंह, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला संस्करण, 2011
52. हिंदी काव्य का इतिहास : रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2007
53. हिंदी काव्यालंकार सूत्रवृत्ति : डॉ. नगेंद्र (सं.), आत्माराम एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट दिल्ली, 1954,
54. हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास : हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, छठा संस्करण, 1990
55. हिंदी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचंद्र शुक्ल, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2018
56. हिंदी साहित्य का इतिहास : डॉ. नगेंद्र (सं.), मयूर पेपरबैक्स, नोएडा, तैंतीसवाँ संस्करण, 2007
57. हिंदी साहित्य का इतिहास : लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2019
58. हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास : रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, इक्कीसवाँ संस्करण, 2008
59. हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास : गणपतिचंद्र गुप्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तेरहवाँ संस्करण, 2013
60. वाङ्ग्मय विमर्श : आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिंदी साहित्य कुटीर, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 2005
61. विद्यापति पदावली : श्री रामवृक्ष बेनीपुरी (सं.), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण, 2007

# परिशिष्ट

## (प्रकाशित शोध-पत्रों एवं संगोष्ठी प्रमाण-पत्रों की प्रतियाँ)

### शोध-पत्र

1. कनुप्रिया में युद्ध की निरर्थकता के परिप्रेक्ष्य में प्रेम की सार्थकता का प्रतिपादन

   https://www.setumag.com/2021/02/Kanupriya-RKYadav.html

2. छायावादी कविताओं के बहाने 'लंबी कविताओं' के शिल्प पर बहस

   https://www.apnimaati.com/2021/07/blog-post_54.html

### संगोष्ठी-पत्र

3. अवधी प्रबंध काव्यों का शिल्प विधान
4. नयी कविता में पर्यावरणीय चेतना

# 'कनुप्रिया' में युद्ध की निरर्थकता के परिप्रेक्ष्य में प्रेम की सार्थकता का प्रतिपादन

**राजेश कुमार यादव**
असिस्टेंट प्रोफ़ेसर, महात्मा गाँधी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, फतेहपुर, उत्तर प्रदेश
संपर्क : +91 638 698 3995; ईमेल: rajesh31790@gmail.com

नयी-कविता के युग में जो प्रबंध काव्य या काव्य-नाटक लिखे गए उनमें से अधिकांश में युद्ध से बचने की संभावनाओं की तलाश की गयी है। यह सचेत प्रयास कवियों द्वारा इसलिए हुआ क्योंकि संसार ने दो विश्व-युद्धों के दौरान अपना बहुत कुछ खो दिया था। युद्ध के परिणाम के रूप में सिर्फ तबाही और विनाश के सिवा कुछ हाथ नहीं आता। युद्ध की मनः-स्थिति को अपने अंदर की संवेदना को दबाकर पहुँचा जाता है। बाक़ी की बची-खुची कोमल वृत्तियाँ और संवेदनाएँ युद्ध की प्रक्रिया से गुज़रकर नष्ट हो जाती हैं। युद्ध मनुष्य की बर्बरता की निशानी है। युद्ध यह संकेत करता है कि मनुष्य अभी पूरी तरह सभ्य नहीं हुआ है। अतः मनुष्य को बार-बार इस तथ्य पर विचार करना चाहिए कि युद्ध के द्वारा वह कौन-सी मानवीय या प्राकृतिक उपलब्धि हासिल कर ले रहा है? युद्ध-दर्शन से बार-बार गुज़र कर और इसकी हानिकारक एवं ध्वंसात्मक प्रकृति को समझकर मनुष्य को अपनी सभ्यता के विकास में एक और महत्वपूर्ण कदम जोड़ते हुए युद्ध से किनारा कर लेना चाहिए। इसी उद्देश्य को केंद्र में रखकर नयी कविता के कवियों ने कविता में प्रबंधात्मक ढाँचा खड़ा किया है—चाहे वह 'अंधा-युग' या 'संशय की एक रात' के रूप में हो, चाहे 'एक कंठ विषपायी' या 'महाप्रस्थान' के रूप में। धर्मवीर भारती की कृति 'कनुप्रिया' में भी युद्ध की समस्या को सूक्ष्म-स्तर पर उठाया गया है। इसमें इसे प्रेम के परिप्रेक्ष्य में रखकर इसकी निरर्थकता सिद्ध करने की कोशिश की गयी है।

कनुप्रिया में युद्धभूमि के ऊपर लीलाभूमि (प्रेमजगत) को तरजीह दी गयी है। प्रेम हृदय का रागात्मक व्यापार है और युद्ध बुद्धि का ध्वंसात्मक व्यापार। अतः प्रेम ही वरणीय है, युद्ध नहीं—"कृष्ण का युद्ध सत्य है या राधा के साथ उनके तन्मयता में बीते प्रेम-क्षण? शायद प्रेम के क्षण ही सत्य हैं, क्योंकि वे दुविधाहीन मन की संकल्पनात्मक अनुभूति हैं और युद्ध दुविधा की उपज, अनजिये सत्य का आभास।"[i] लीलाभूमि से युद्धभूमि तक जाने की प्रक्रिया में मनुष्य क्रमशः रागात्मकता से दूरी बनाता चला जाता है, उसका संपर्क क्रमशः हृदय से टूटता जाता है और वह हृदयहीन और स्वार्थी होता जाता है। यद्यपि वह अपने भौतिक विकास के लिए ही बुद्धि का सहारा लेता है पर बुद्धि के साथ हृदय को भी न रखने के कारण वह हृदयहीन हो जाता है। अतः वह चाहे जितनी बड़ी भौतिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर ले, महान नहीं हो सकता। ऊपर यह कहा जा चुका है कि युद्ध की स्थिति तक व्यक्ति अपनी कोमल भावनाओं को दबाकर ही पहुँचता है और रही-सही कसर युद्ध की घटनाएँ पूरी कर देती हैं। इसके विपरीत लीलाभूमि में मनुष्य की कोमल वृत्तियाँ विस्तार पाती हैं, वे अपने संपर्क में आने वाली प्रत्येक सहचरी वस्तुओं से रागात्मक संबंध स्थापित कर लेती हैं। लीला के साधन में तन्मयता है, युद्ध के साधन में गतिशीलता। लीला जीवन और जीवन-क्षेत्र में स्थिरता की विशेषता लिए हुए होती है और युद्ध अस्थिरता की। अतः लीलाभूमि के निरंतर संपर्क में रहने के कारण उसकी प्रत्येक वस्तु से मनुष्य का रागात्मक संबंध स्थापित हो, यह स्वाभाविक बात है; जबकि युद्ध के क्षेत्र और रास्ते सदैव अलग-अलग हुआ करते हैं, उनसे योद्धा और सैनिक कभी-कभी गुज़रते हैं, और वह भी गतिशील होकर; अतः उन रास्तों या क्षेत्रों में पड़ने वाली वस्तुओं से उनका कोई रागात्मक संबंध स्थापित नहीं हो सकता। इसके अलावा युद्ध और लीला क्षेत्र से संबंधित मनःस्थितियाँ अलग-अलग हुआ करती हैं—युद्ध की ध्वंसात्मक और लीला की रागात्मक। रागात्मक प्रवृत्ति संबंध-विस्तार करती है और ध्वंसात्मक प्रवृत्ति संबंध-संकोच। कनुप्रिया में इन सभी स्थितियों की विमर्श-सामग्री अनुस्यूत है। यहाँ उदाहरण उस प्रसंग का प्रासंगिक है जब कृष्ण की नागर सेनाएँ ग्रामीण क्षेत्र के उन रास्तों और स्थानों से होकर गुज़रने वाली हैं जिन रास्तों और स्थानों पर कभी कृष्ण और राधा का प्रेम पलता था और इसी कारण राधा को उन रास्तों एवं स्थानों की प्रत्येक वस्तुओं से बेहद लगाव हो गया था। राधा जिन वस्तुओं के संसर्ग में प्रेम-सुख की अनुभूति करती है, आज उन्हीं वस्तुओं को कृष्ण के सिपाहियों द्वारा निर्ममता से उजाड़ दिया जाएगा!—"यह आम्रवृक्ष की डाल/ उन की विशेष प्रिय थी/ तेरे न आने पर/ सारी शाम इस पर टिक/ उन्होंने वंशी में बार-बार/ तेरा नाम भर कर तुझे टेरा था—/ आज यह आम की डाल/ सदा-सदा के लिए काट दी जायेगी/ क्योंकि कृष्ण के सेनापतियों के/ वायुवेगगामी रथों की/ गगनचुंबी ध्वजाओं में/ यह नीची डाल अटकती है/ और यह पथ के किनारे खड़ा/ छायादार पावन अशोक वृक्ष/ आज खंड-खंड हो जाएगा तो क्या—/ यदि ग्रामवासी, सेनाओं के स्वागत में/ तोरण नहीं सजाते/ तो क्या सारा ग्राम नहीं उजाड़ दिया जाएगा?"[ii] यह है युद्ध के मार्ग और प्रेम के स्थान पर पड़ने वाली वस्तुओं और प्रकृति से योद्धा और प्रेमी के संबंधों की प्रकृति का उदाहरण; प्रेमी उनसे रागात्मक प्रवृत्ति से जुड़ता है और योद्धा ध्वंसात्मक प्रवृत्तिसे।

मनुष्य अपने भौतिक विकास के लिए तकनीकी और विज्ञान का सहारा लेता है। नगर-निर्माण इस विकास-प्रक्रिया का पहला महत्वपूर्ण अंग है। नगर में कोई महत्वपूर्ण पद प्राप्त कर लेना इसका दूसरा और नगर का ही स्वामी या अधिपति बन जाना इस प्रक्रिया का तीसरा और सबसे महत्वपूर्ण अंग है। इन तीनों प्रक्रियाओं में मनुष्य क्रमशः अपने रागात्मक-संबंधों वाली वस्तुओं या कहें कि प्रकृति से दूर हटता जाता है। प्रकृति के पेड़-पौधों, पहाड़-पर्वतों आदि को नष्ट कर नगर-निर्माण की प्रक्रिया चलती है, जबकि ग्रामीण सभ्यता प्रकृति के साहचर्य में विकसित होती है। नगर के नियमन और विकसन की प्रक्रिया प्रतिद्वंद्विता के सिद्धांत पर आधारित होती है और उसी का चरम-परिणाम युद्ध या आपसी टकराहट होती है, जो नगर-विस्तार या पद-विस्तार की आकांक्षा लिए हुए होती है; जबकि ग्रामीण सभ्यता का नियमन और विकसन साहचर्यता के सिद्धांत पर चलता है जिसका चरम बिंदु प्रेम या आपसी रागात्मकता होती है। कनुप्रिया में नगरीय जीवन की जटिलता और कठोरता के ऊपर लोकजीवन की सरलता और रागात्मकता को तरजीह दी गयी है। उदाहरण के लिए, जहाँ एक ओर

English हिन्दी Poetry काव्य Author आलेख लेखक Fiction कहानी Editorial समीक्षा पुस्तक Book Review स्तम्भ Article शोधपत्र कवि लघुकथा अनुराग शर्मा Sunil Sharma Anurag Sharma Translation अनुवाद सम्पादकीय Interview Art Excerpt व्यंग्य Photo Feature Ghazal दीपक शर्मा निबंध समाचार कन्हैया त्रिपाठी धरोहर बिंदास साक्षात्कार गीत मेहेर वान Memoir Author of the Month पत्र भाषा चित्र जीवनी संस्मरण Novel अरुण कुमार निषाद प्रवासी संस्कृत आत्मकथा करोना पोषण प्रकाश मनु शशि पाधा Autobiography बाल साहित्य बिस्मिल Audio-Visual उर्दू सम्मान India@70 यात्रा My world and words सत्यवीर सिंह कला प्रियंकी मिश्रा प्रेमचंद Travelogue क्यों और कैसे प्रतियोगिता अनूप शुक्ल मॉरिशस Mauritius Report सेतु सम्मान दृश्य-श्रव्य अभिमन्यु अनत गिरिजेश राव धर्म व्याकरण Heritage LitFest लिपि Ranking Quotes Recital feedback

Search खोज
ENHANCED BY Goog

Pageviews पठन
3,431,848

Like Share 2.1K people like this. Sign Up to see what you

Highlight विशेष
**बदलते जीवन मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में गिलिगडु**
वृद्धावस्था के विशेष सन्दर्भ में निक्की कुमारी स्नातकोत्तर- हिन्दी, नेट जेराफ एमफिल; 'छिन्नमता' और 'नर नारी' में स्...

नगर-विस्तार या नगर-अधिकार के लिए महाभारत के युद्ध में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का जानी-दुश्मन बना हुआ है, प्रकृति को नष्ट-भ्रष्ट करने की बात तो आम है; वहीं दूसरी ओर ग्रामीण जन-जीवन में अपने साहचर्य में रहने वाली प्रकृति की वस्तुओं के प्रति भी राधा का प्रेम अपूर्व कोटि का है, व्यक्ति से व्यक्ति के प्रेम संबंध की बात तो बहुत आम है! एक ओर युद्धभूमि की कठोरता का दृश्य—“हारी हुई सेनाएँ, जीती हुई सेनाएँ/ नभ को कंपाते हुए, युद्ध घोष, क्रंदन स्वर।/ भागे हुए सैनिकों से सुनी हुई/ अकल्पनीय अमानुषिक घटनाएँ युद्ध की/ क्या ये सब सार्थक हैं?”[iii] और दूसरी ओर लीलाभूमि में अपने और प्रिय के साहचर्य में आम के बौर में भी अपनी छाया का भान—“तो क्या तुम्हारे पास की डार पर खिली/ तुम्हारे कंधों पर झुकी/ वह आम की ताजी, क्वाँरी, तुर्श मंजरी मैं ही थी/ और तुमने मुझसे ही मेरी माँग भरी थी!”[iv]

कनुप्रिया में कवि का अपना पक्ष युद्ध की तरफ नहीं, प्रेम की तरफ है; इसीलिए कनुप्रिया में प्रेम-भावना का बड़ी सघनता से चित्रण किया गया है। प्रणय प्रसंग है राधा (कनुप्रिया) और कृष्ण (कनु) का, जो अपने माधुर्य और सौकुमार्य के कारण बहुत से, विशेषतः मध्यकालीन, कवियों का प्रिय विषय रहता आया है और अपने संसर्ग से उन्हें उत्कृष्ट भी बनाता आया है। धर्मवीर भारती ने इस प्रणय के माधुर्य और उसकी सघनता को बिना नष्ट होने दिए अपने युग की समस्याओं से संदर्भित किया है, यह उनकी अद्भुत कवित्व-शक्ति का प्रमाण है।

कनुप्रिया का पूरा प्रबंध-विधान चक्रीय-पद्धति पर आधारित है, और यह चक्रीय-पद्धति की शैली स्थिति-विपर्यय पर। इसमें जीवन का एक चक्र पूरा का पूरा घूम गया है—जिसके एक सिरे पर प्रेम है, और दूसरे पर युद्ध; एक सिरे पर संयोग की तन्मयता है, तो दूसरे पर वियोग की व्याकुलता। स्थितियों के बदल जाने पर चीजों के मायने बदल जाते हैं, रिश्तों की प्रकृति बदल जाती है। यों, इसे उलट कर भी कहा जा सकता है। लीलाभूमि से कृष्ण के चले जाने के बाद स्थितियाँ बदल जाती हैं। और कनुप्रिया में बदली हुई स्थितियों को प्रतिबिंबित किया गया है उन्हीं उपादानों के सहारे, जो शुरू में इसके विपरीत की स्थिति के निर्माण के लिए प्रयोग में लाए गए थे।

कृष्ण और राधा के प्रेम-संबंधों में सहयोगी की भूमिका निभाने वाली और इसीलिए दोनों की प्रिय सहचरी बन चुकी प्रकृति, कृष्ण के राजा बन जाने पर उनके द्वारा उपेक्षा की शिकार होती है। यहाँ तक कि उनके सैनिकों द्वारा ही युद्ध के समय इसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया जाता है। जिस कदंब के नीचे कृष्ण को वंशी बजाते राधा रोज देखती थी; जिस अशोक वृक्ष को कृष्ण के संसर्ग के कारण राधा पावन समझती थी; जिस आम की डाल के सहारे खड़े होकर कृष्ण वंशी बजाकर राधा को बुलाते थे; और जो इसी कारण उन्हें विशेष प्रिय थी, वे सब के सब युद्ध के लिए रास्ता बनाने की कवायद की भेंट चढ़ जाते हैं। इस दृष्टि से इस प्रबंध के एक सर्ग का नाम ही 'उसी आम के नीचे' रख दिया गया है। यहाँ कुछ उदाहरणों के माध्यम से बात को स्पष्ट करने का प्रयास किया जाएगा।

काव्य का पहला सर्ग है 'पूर्वराग'; और पहले सर्ग का 'पहला गीत' पूरा का पूरा अशोक वृक्ष को समर्पित है जिसे कृष्ण के संसर्ग के कारण या प्रेम का प्रतीक होने के कारण पावन मान लिया गया है। अशोक वृक्ष क्योंकि कृष्ण का बराबर संसर्ग पाता आया है, अतः उसके प्रति राधा का स्नेह बहुत प्रगाढ़ है। इसी अशोक वृक्ष को बदली परिस्थिति में फिर उपस्थित किया जाता है 'इतिहास' नामक सर्ग के 'अमंगल छाया' नामक शीर्षक के अंतर्गत। अब अशोक वृक्ष पर अमंगल की छाया पड़ चुकी है और यह युद्ध के परिणाम की भेंट चढ़ने वाला है—“और यह पथ के किनारे खड़ा/ छायादार पावन अशोक वृक्ष/ आज खंड-खंड हो जाएगा तो क्या—/ यदि ग्रामवासी, सेनाओं के स्वागत में/ तोरण नहीं सजाते/ तो क्या सारा ग्राम नहीं उजाड़ दिया जाएगा?”[v] इसी तरह पहले सर्ग के 'तीसरे गीत' में कदंब वृक्ष का जिक्र है, जिसके नीचे कृष्ण चुपचाप ध्यानमग्न खड़े रहते थे और राधा उन्हें कोई देवता समझकर प्रणाम करती थी—“घाट से लौटते हुए/ तीसरे पहर की अलसायी वेला में/ मैं ने अक्सर तुम्हें कदंब के नीचे/ चुपचाप ध्यानमग्न खड़े पाया/ मैं ने कोई अज्ञात वनदेवता समझ/ कितनी बार तुम्हें प्रणाम कर सिर झुकाया/ पर तुम खड़े रहे अडिग, निर्लिप्त, वीतराग, निश्छल!/ तुमने कभी उसे स्वीकारा ही नहीं!”[vi] यहाँ पर कदंब का इतना ही जिक्र है। इसके बाद स्थितियों के बदलने पर इसका जिक्र फिर आता है। परिस्थितियों के बदल जाने पर 'अमंगल छाया' नामक शीर्षक के अंतर्गत कविता की शुरुआत इसी के जिक्र से होती है—“घाट से आते हुए/ कदंब के नीचे खड़े कनु को/ ध्यानमग्न देवता समझ, प्रणाम करने/ जिस राह से तू लौटती थी बावरी/ आज उस राह से न लौट”[vii] क्योंकि आज उस रास्ते युद्ध के लिए कृष्ण की अठारह अक्षौहिणी सेनाएँ जाने वाली हैं। इसी प्रकार पहले सर्ग का 'चौथा गीत' यमुना के वर्णन से शुरू होता है जिसमें राधा का यमुना के जल के प्रति भी असीम स्नेह दिखाया गया है, क्योंकि राधा यमुना के श्याम रंग के जल को कृष्ण का प्रतिरूप समझती थी और इसीलिए वह यमुना के जल में अपलक अपनी परछाई निहारा करती थी। फिर यमुना का वर्णन बदली हुई परिस्थिति में इसी प्रसंग में काव्य के लगभग अंतिम खण्ड 'इतिहास' नामक सर्ग के 'एक प्रश्न' नामक शीर्षक के अंतर्गत होता है। अब यमुना का रूप खंडित हो चुका है—“अपनी जमुना में/ जहाँ घंटों अपने को निहारा करती थी मैं/ वहाँ अब शस्त्रों से लदी हुई/अगणित नौकाओं की पंक्ति रोज-रोज कहाँ जाती है? धारा में बह-बह कर आते हुए, टूटे हुए रथ/ जर्जर पताकाएँ किसकी हैं? [viii] काव्य का दूसरा सर्ग है 'मंजरी परिणय'। इसके पहले और दूसरे गीतों का शीर्षक क्रमशः'आम्र-बौर का गीत' और 'आम्र-बौर का अर्थ' है। इन सबमें एक आम वृक्ष के संसर्ग में राधा-कृष्ण का प्रेम-विकास दिखाया गया है। और स्थिति बदल जाने पर 'इतिहास' नामक सर्ग के 'अमंगल छाया' नामक गीत के अंतर्गत सैनिकों द्वारा आम की उसी डाल के काटे जाने की संभावना व्यक्त की गयी है, जिस पर टेक लगाकर कृष्ण वंशी बजाते थे—राधा को बुलाने के लिए; और जो इसी कारण कृष्ण को विशेष प्रिय थी। यह सब उद्धरण द्वारा ऊपर दिखाया जा चुका है।

इस तरह देखा जा सकता है कि जीवन की दो विपरीत स्थितियों को बिंब-प्रतिबिंब भाव से आमने-सामने रखकर प्रबंध का विधान खड़ा किया गया है तथा इस बिंब और प्रतिबिंब के बीच से जीवन का दर्शन विकसित करने की कोशिश की गयी है। स्पष्ट है कि इस काव्य-संसार में जीवन-रथ का पहिया एक बार पूरा घूम जाता है और पहिये की दो सीधी और एक-दूसरे की विपरीत तीलियाँ आपस में स्थान परिवर्तन कर लेती हैं। और यही स्थिति-विपर्यय और उससे उपजी हुई विडंबना काव्य का उपजीव्य बनती है।

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया कि इसकाव्य में जीवन की दो अंतर्विरोधी परिस्थितियों को बिंब-प्रतिबिंब भाव से आमने-सामने रखकर जीवन का एक दर्शन निर्मित करने का प्रयास किया गया है। प्रेम और युद्ध दोनों अपने में अंतर्विरोधी हैं। दोनों परिस्थितियों को एक साथ रखकर उनकी प्रक्रिया और परिणाम के द्वारा यह दर्शन विकसित किया गया है कि जीवन में प्रेम तथा प्रेम की भावना ही वरणीय है और युद्ध तथा युद्ध की भावना त्याज्य है, क्योंकि युद्ध मनुष्य की कोमल भावनाओं और संवेदनाओं को नष्ट कर देता है। प्रेम की गहन सुखद अनुभूतियों से गुजरने के बाद राधा को युद्ध की दुखद अनुभूतियों का भी सामना करना पड़ता है। और तब राधा के मन में दोनों स्थितयाँ क्रमशः बिंब-प्रतिबिंब की तरह घूमने लगती हैं। इस दृष्टि से कनुप्रिया वर्तमान के संदर्भ से अतीत के विश्लेषण का प्रयास है। यह प्रयास प्रेम-संबंध को केंद्र में रख कर किया गया है जो बेहद मनोवैज्ञानिक और लाजिमी घटना है। समय की गति में जब कभी प्रेम-संबंधों में असहज बदलाव आने लगते हैं, जो किसी एक पक्ष (प्रेमी या पेमास्पद) के लिए अवांछनीय होते हैं तो वह अपने प्रेम के उन दिनों की याद करता है जब उनके बीच बहुत घना प्रेम रहा होता है। यह बात महज़ प्रेम-संबंधों पर ही नहीं लागू होती, प्रत्येक बिगड़ी स्थिति में मनुष्य अपने अतीत के उस पक्ष को याद करता है जब वह सुखी और संपन्न रहा होता है। दुख में सुख के दिनों को याद करना मनोवैज्ञानिक सच है, और प्रेम के मामले में तो यह बेहद संवेदनशील बात हो जाती है। राधा कृष्ण के व्यवहार और स्थिति से दुखी है, अतः वह अपने अतीत के उन दिनों की याद करती है जब कृष्ण का व्यवहार और उनकी स्थिति उसे असीम सुख से भर देते थे।

कृष्ण के अतीत सुखद व्यवहार और स्थिति के परिप्रेक्ष्य में उनकी वर्तमान स्थिति और व्यवहार से राधा के दुखी होने की प्रक्रिया में ही काव्य में युद्ध जैसे अमानवीय कृत्य की सार्थकता की संभावना के विषय में संशयात्मक प्रश्न उठाए गए हैं। प्रेम के संदर्भ में यमुना का जल राधा को आकर्षित करता था, क्योंकि वह अपने रंग में श्यामता लिए हुए था। कृष्ण के रंग का होने के कारण यमुना के जल को राधा कृष्ण का ही प्रतिरूप समझती थी, पर युद्ध का संदर्भ पाकर राधा को यही श्याम-रूप यमुना-जल विकृत दिखायी देने लगता है—“अपनी जमुना में/ जहाँ घण्टों अपने को निहारा करती थी मैं/ वहाँ अब शस्त्रों से लदी हुई/ अगणित नौकाओं की पंक्ति रोज-रोज कहाँ जाती है?/ धारा में बह-बह कर आते हुए, टूटे रथ/ जर्जर पताकाएँ किसकी हैं?/ ...चारों दिशाओं से/ उत्तर को उड़-उड़ कर जाते हुए/ गृद्धों को क्या तुम बुलाते हो/ (जैसे बुलाते थे भटकी हुई गायों को)”[ix] जिस जल को राधा कृष्ण का प्रतिरूप मानकर उससे स्नेह करती थी अब उसी जल में शस्त्रों से लदी हुई नौकाएँ जाती हैं, और उसी जल की धारा में युद्ध की विभीषिका के कारण बह–बह कर टूटे हुए रथ, जर्जर पताकाएँ आती हैं। इन चीजों के आने और जाने की प्रक्रिया में कृष्ण का स्वरूप (जमुना का जल) इतना विखंडित हो चुका है कि युद्ध-क्षेत्र में पड़े हुए सैनिकों के शवों को खाने के लिए उसी ओर जा रहे गृद्ध कृष्ण के ही बुलाए हुए प्रतीत होते हैं!


**इन्हें भी देखिये Links**

Duotrope

Commonwealth Writers site

WorldCat

The Bombay Review

कविता कोश

MediOx

सेतु पीडीएफ़ डाउनलोड Setu PDF Download

लेखकों से निवेदन

Write for Setu

सेतु के लेखक

Editorial Board 🎁 सम्पादन मण्डल

हिंदी संस्थान व संसाधन

Contact Setu सम्पर्क करें

सेतु परिचय

YouTube 🎁 यूट्यूब

Twitter 🎁 ट्विटर

और फिर गृद्धों के बुलाने के परिप्रेक्ष्य में जब गायों को बुलाए जाने की घटना को रखा जाता है तो कृष्ण का यह विखंडित रूप और स्पष्ट हो जाता है। निश्चय ही राधा को कृष्ण को विखंडित कर देने वाला यह युद्ध निरर्थक प्रतीत होता है और अपने प्रेम की तन्मयता के क्षण ही सार्थक प्रतीत होते हैं, यह राधा द्वारा कृष्ण के प्रति किए गए इस प्रकार के वक्रोक्तिपरक सवाल से भी स्पष्ट है—"अच्छा मेरे महान कनु,/ मान लो कि क्षण भर को/ मैं यह स्वीकार कर लूँ/ कि मेरे ये सारे तन्मयता के गहरे क्षण/ सिर्फ भावावेश थे,/ सुकोमल कल्पनाएँ थीं/ रँगे हुए, अर्थहीन, आकर्षक शब्द थे—/ मान लो कि/ क्षण भर को/ मैं यह स्वीकार लूँ/ कि/ पाप-पुण्य, धर्माधर्म, न्याय-दण्ड/ क्षमा-शील वाला यह तुम्हारा युद्ध सत्य है—/... मान लो कि मेरी तन्मयता के गहरे क्षण/ रँगे हुए, अर्थहीन, आकर्षक शब्द थे—/तो सार्थकता फिर क्या है कनु?"[x]

राधा यह बिल्कुल नहीं मानना चाहती कि उसके प्रेम की तन्मयता निरर्थक थी, तो भी कृष्ण सार्थकता किसे बताते हैं, यह जानने के लिए ही उसने 'एक क्षण के लिए मान लेने' वाली बात कही है, क्योंकि उसे पता है कि 'युद्ध जीवन की सार्थकता है', इसे कृष्ण किसी भी तर्क से प्रमाणित नहीं कर सकते। यह बहुत सामान्य बात है कि जब लोगों को अपने द्वारा कही हुई बातों की सत्यता पर पूर्ण विश्वास रहता है और उनकी बातों को लोग यदि बार-बार कहने पर भी सत्य नहीं मानना चाहते तब वे इस तरह का कथन करते हैं कि 'चलो एक क्षण के लिए हमने मान लिया कि यह बात गलत है तो यह बताइए कि यह कैसे हुआ, वह कैसे हुआ, (इस 'यह' और 'वह' के उत्तर उसी बात को सत्य प्रमाणित करने से जुड़े रहते हैं, जिसे गलत माना जा रहा है) फिर सत्य क्या है' आदि। अतः राधा के इन कथनों अथवा प्रश्नों से यह सिद्ध नहीं होता कि राधा किसी द्वंद्व में है, बल्कि राधा इस बात पर दृढ़ है कि उसके प्रेम की तन्मयता के क्षण ही सार्थक हैं और कृष्ण द्वारा संचालित युद्ध निरर्थक है। स्पष्ट है कि कनुप्रिया में लीलाभूमि और युद्धभूमि को आमने-सामने रखकर जीवन के दो पक्षों की सार्थकता-निरर्थकता के मूल्यांकन का प्रयास किया गया है। कवि का अपना पक्ष क्योंकि लीलाभूमि की तरफ है, अतः काव्य-कलेवर में उसके विविध पक्षों पर ज्यादा हिस्सा खर्च किया गया है।

कनुप्रिया में, जैसा कि कहा गया, कवि का अपना पक्ष लीलाभूमि अर्थात प्रेम की तरफ है। अतः उसी के अनुरूप इसमें प्रेम की गहनता को पूरी तन्मयता से चित्रित किया गया है—इन सबके बीच से युद्धभूमि की निस्सारता को पूरी सघनता से उभरने देने के लिए। कनुप्रिया में भावों और संवेदनाओं की सघनता है, गहराई है और उनका बिछलन भी; और इन सबके आपसी संबंधों के बीच से इसमें एक दार्शनिक विचारधारा भी प्रवाहित होती गयी है। भावों और संवेदनाओं की सघनता पहले ही गीत से शुरू हो जाती है, जिसमें कृष्ण के संसर्ग के कारण अशोक-वृक्ष के प्रति राधा ने अपनी कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति की है। प्रणय-भावना की सघनता का ही परिणाम होता है कि प्रणयी को हर वस्तु में अपने प्रिय की छवि दिखाई देती है, अन्य चीजों के समाने की गुंजाइश ही उस भावना में नहीं रह जाती, यही उसकी सघनता है; और यह भावना अन्य चीजों को भी प्रिय के रँग में रँगकर अपना बना लेती है, यही उसकी गहराई है! इस तरह के उदाहरण कनुप्रिया में भरे पड़े हैं। एक उदाहरण तो यमुना के जल का ही है, जिसे एकाधिक प्रसंगों में यहाँ उद्धृत किया जा चुका है। यमुना को राधा कृष्ण का प्रतिरूप समझती है—"मानो यह यमुना की साँवली गहराई नहीं है/ यह तुम हो जो सारे आवरण दूर कर/ मुझे चारों ओर से कण-कण, रोम-रोम/ अपने श्यामल प्रगाढ़ अथाह आलिंगन में पोर-पोर/ कसे हुए हो!/ यह क्या तुम समझते हो/ घण्टों—जल में—मैं अपने को निहारती हूँ/ नहीं, मेरे साँवरे!"[xi] भावनाओं की यह सघनता और गहराई सूरदास की गोपियों की याद दिला सकती है—'लोचन जल कागद मसि मिलिकै, होइ गई स्याम स्याम की पाती'! भावाधिक्य के कारण यहाँ प्रकृति की सभी वस्तुओं में प्रिय-दर्शन तो है ही, आत्मविस्मृति भी है। आत्मविस्मृति में मात्र प्रिय याद रहता है, अपनी सुध भूल जाती है—"यह सारे संसार से पृथक पद्धति का/ जो तुम्हारा प्यार है न/ इसकी भाषा समझ पाना क्या इतना सरल है/ तिस पर मैं बावरी/ जो तुम्हारे पीछे साधारण भाषा भी इस हद तक भूल गयी हूँ/ कि श्याम ले लो! श्याम ले लो!/ पुकारती हुई हाट-बाट में/ नगर-डगर में/ अपनी हँसी कराती घूमती हूँ!"[xii] मैथिल-कोकिल कवि विद्यापति ने भी राधा द्वारा आत्मविस्मृति में स्वयं को कृष्ण समझ लिए जाने का वर्णन किया है—"अनुखन माधब-माधब सुमरइते सुंदरि भेलि मधाई/ ओ निज भाव सुभाबहि बिसरल, अपनेहि गुण लुबुधाई।"[xiii] इसी भाव का पद सूरदास ने भी लिखा है—"जब राधे तब ही मुख 'माधौ माधौ' रटति रहै। जब माधव ह्वै जाति सकल तनु राधा विरह दहै।"[xiv] मीरा बाई की पंक्तियाँ तो भारती जी की पंक्तियों की बिल्कुल पूर्व रूप ही हैं—"कोई स्याम मनोहर ल्योरी सिर धरे मटकिया डोलै। दधि को नाँव बिसरि गई ग्वालन 'हरिल्यो हरिल्यो' बोलै।"[xv] यह आत्मविस्मृति भावों की सघनता का चरम रूप है।

भावों की सघनता में प्रिय से एकाकार होने की प्रक्रिया में एक रूप आत्ममुग्धता का भी उभर कर आता है, जो विद्यापति की उपर्युक्त पंक्तियों में आया है। इस आत्ममुग्धता का एक रूप आत्मविस्तार होता है। यह आत्मविस्तार भावनाओं की पूरी गहराई लिए होता है इसीलिए इसमें सारी प्रकृति को समा लेने की शक्ति होती है। आत्मविस्तार में प्रकृति को अपना ही स्वरूप समझने का सिलसिला शुरू होता है। प्रिय के स्वरूप का विस्तार भी प्रेमाधिक्य के कारण प्रणयी द्वारा किया जाता है, यह बात ऊपर कही जा चुकी है। दोनों ही रूपों का आधार भावनाओं की सघनता और गहराई ही होती है, यदि यह प्रक्रिया प्रणयी द्वारा खुद संपन्न की गयी हो तो। कनुप्रिया में ये दोनों स्वरूप विद्यमान हैं—आत्मविस्तार और प्रिय-विस्तार; और इन दोनों की प्रक्रिया में से ही एक दार्शनिक विचारधारा भी अपना स्वरूप ग्रहण कर पायी है—"कौन है जिसकी आत्मा को तुम ने/ फूल की तरह खोल दिया है/ और कौन है जिसे/ नदियों जैसे तरल घुमाव दे-दे कर/ तुम ने तरंग-मालाओं की तरह/ अपने कण्ठ में, वक्ष पर, कलाइयों में/ लपेट लिया है/ वह मैं हूँ मेरे प्रियतम!/ वह मैं हूँ/ वह मैं हूँ"।[xvi]

प्रेमाधिक्य ही भावनाओं में बिछलन भी पैदा करता है। कनुप्रिया की राधा कृष्ण के प्रति ऐसे भी कथन करती है जिनके पूर्व सारे तर्क और नियम-कानून पीछे धकेल दिए जाते हैं। इनमें एक तरह की हठवादिता होती है कि 'ऐसा है, तो है; मैं कुछ नहीं जानता या कुछ नहीं जानती!' ऐसा कथन किसी के प्रति तब किया जाता है जब कोई उस पर अपना पूरा अधिकार समझता है, और यह अधिकार अगर प्रेम का हो तो बात पूरी तरह हठवादी हो जाती है। राधा ने कई जगह भाव-बिछलन के कथन किए हैं, जैसे—"मेरे हर बावलेपन पर/ कभी खिन्न होकर, कभी अनबोला ठानकर, कभी हँस कर/ तुम जो प्यार से अपनी बाहों में कसकर/ बेसुध कर देते हो/ उस सुख को मैं छोड़ूँ क्यों/ करूँगी!/ बार-बार नादानी करूँगी/ तुम्हारी मुँहलगी, जिद्दी, नादान मित्र भी तो हूँ न!"[xvii] भावों की यह सारी सघनता और गहराई, जैसा कि कहा गया, युद्ध की विकटता के परिप्रेक्ष्य में रखे जाने के लिए हैं। कहाँ ऐसा सघन प्रेम और कहाँ युद्ध की मनःस्थिति!

राधा को युद्ध अत्यंत अप्रिय है। वह इस मनः-स्थिति से इतना आक्रांत है कि स्वप्न में भी उसे युद्ध की विकटता के चित्र ही दिखायी देते हैं। युद्धभूमि की विकटता का यह आभास या युद्ध के स्वप्न-चित्रों के ये विकट रूप भी काव्य में लीलाभूमि को सार्थकता ही प्रदान करने के लिए आए हैं—युद्धभूमि के परिप्रेक्ष्य में—"मैंने देखा कि अगणित विक्षुब्ध विक्रांत लहरें/ फेन का शिरस्त्राण पहने/ सिवार का कवच धारण किये/ निर्जीव मछलियों के धनुष लिये/ युद्धमुद्रा में आतुर हैं/—और तुम कभी मध्यस्थ हो/ कभी तटस्थ/ कभी युद्धरत/ और मैंने देखा कि अंत में तुम/ थक कर/ इन सब से खिन्न, उदासीन, विस्मित और/ कुछ-कुछ आहत/ मेरे कंधों से टिककर बैठ गए हो"। [xviii]

काव्य का अंत इस आशा के साथ किया गया है कि आगे का जीवन-इतिहास युद्धमय नहीं, प्रेममय होगा! इसी आशा को संजोये राधा युद्धभूमि में गए हुए कृष्ण का इंतज़ार लीलाभूमि के उसी रास्ते पर कर रही है जिस रास्ते कृष्ण युद्ध के बाद थके-हारे और निराश वापस आने वाले हैं। युद्ध क्योंकि मनुष्य की समस्त कोमल भावनाओं का नाश कर देने वाला है, अतः राधा को विश्वास है कि युद्ध के बाद कृष्ण थके-हारे और निराश मन से ही वापस आएँगे, और अपनी उस मनःस्थिति से त्राण पाने के लिए वे राधा का आश्रय भी ज़रूर ढूँढेंगे। राधा को यह भी पूर्ण विश्वास है कि जीवन इतिहास के निर्माण के समय, यानी अपने महान बनने की प्रक्रिया में, अगर कृष्ण ने राधा को भी साथ लिया होता तो कृष्ण युद्ध की ओर झुकते ही नहीं। अतः युद्ध के बाद जीवन के नए प्रेममय इतिहास के निर्माण लिए वह कृष्ण का साथ देना चाहती है। इसीलिए इन्हीं आशाओं को सँजोए हुए वह लीलाभूमि में कृष्ण का इंतजार करती है कि जब युद्धभूमि से थके, निराश कृष्ण इस रास्ते से लौटेंगे और अपनी निराशा और उद्वेलन के शमन के लिए वे राधा का आश्रय पाना चाहेंगे तब वह उन्हें सहारा दे सकेगी। और कृष्ण जब दुबारा किसी इतिहास का निर्माण करना चाहेंगे तो राधा उनके साथ होगी—"तुमने मुझे पुकारा था न/ मैं आ गयी हूँ कनु/ और जन्मांतरों की अनन्त पगडण्डी के/ कठिनतम मोड़ पर खड़ी हो कर/ तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हूँ।/ कि, इस बार इतिहास बनाते समय/ तुम अकेले न छूट जाओ!"[xix] कनुप्रिया में जो दार्शनिक उक्तियाँ आयी हैं, मुख्यतः 'सृष्टि-संकल्प' नामक सर्ग के अंतर्गत के 'सृजन-संगिनी' 'आदिम-भय' और 'केलिसखी' नामक शीर्षक गीतों में, वह सब राधा की इसी आशा की पृष्ठभूमि हैं। काव्य की दार्शनिक उक्तियों में विश्व के सृजन में राधा को कृष्ण की सहायिका माना गया है। कृष्ण की इच्छा से ही राधा ने अपने आपको सृष्टि के नाना रूपों में ढाल लिया है—"ओ मेरे स्रष्टा/ तुम्हारे संपूर्ण अस्तित्व का अर्थ है/ मात्र तुम्हारी सृष्टि/ तुम्हारी संपूर्ण सृष्टि का अर्थ है/ मात्र तुम्हारी इच्छा/ और तुम्हारी संपूर्ण इच्छा का अर्थ हूँ/ केवल मैं!/ केवल मैं!!/ केवल मैं!!!"[xx] सृष्टि का निर्माण जब राधा के सहयोग के बिना नहीं होता, तो जो जीवन-इतिहास उसके

सहयोग के बिना रचा जाएगा वह विकृत होगा ही! अतः राधा नए जीवन-इतिहास की रचना प्रक्रिया में सहयोगी की भूमिका में रहने के लिए रास्ते में कृष्ण का इंतज़ार करती है।

स्पष्ट है कि युद्ध और प्रेम की प्रकृति को अनेक संदर्भों और परिस्थितियों में परखते हुए 'कनुप्रिया' में कवि जीवन में युद्ध को त्याज्य मानता है और प्रेम को वरणीय। युद्ध और युद्ध की मानसिकता बुद्धि के व्यापार हैं और प्रेम हृदय का। हृदय का व्यापार मन को किसी संकल्प की तरफ झुकाता है जबकि बुद्धि का विकल्प या दुविधा की ओर। काव्य क्योंकि हृदय का व्यापार है इसीलिए जयशंकर प्रसाद ने इसे आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति कहा है—"काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका संबंध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है।"[xxi] स्पष्ट है कि विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान का संबंध बुद्धि से है। 'कनुप्रिया' की राधा का मन प्रेम और युद्ध के बीच प्रेम को तरजीह देने में तनिक भी दुविधा या संशय में नहीं पड़ता, भले ही उसका प्रिय और आराध्य युद्ध की ओर मुड़ गया हो! जीवन में प्रेम का पक्ष उसके मन का संकल्प है, जिसका कोई विकल्प नहीं।

**संदर्भ ग्रंथ:**


[i] डॉ. नगेंद्र (संपादक), तैंतीसवाँ संस्करण, 2007, हिंदी साहित्य का इतिहास, मयूर पेपरबैक्स, नोएडा, पृष्ठ 642
[ii] धर्मवीर भारती, उन्नीसवाँ संस्करण, 2013, कनुप्रिया, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 65
[iii] वही, पृष्ठ 68
[iv] वही, पृष्ठ 30
[v] वही, पृष्ठ 65
[vi] वही, पृष्ठ 15
[vii] वही, पृष्ठ 64
[viii] वही, पृष्ठ 68
[ix] वही, पृष्ठ 68
[x] वही, पृष्ठ 67 और 69
[xi] वही, पृष्ठ 16
[xii] वही, पृष्ठ 31
[xiii] श्री रामवृक्ष बेनीपुरी (संपादक), तृतीय संस्करण, 2007, विद्यापति पदावली, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ 144
[xiv] बेनीप्रसाद (संपादक), द्वितीय संस्करण, 1927, संक्षिप्त सूरसागर, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, पृष्ठ 466
[xv] आचार्य परशुराम चतुर्वेदी (संपादक), बाईसवाँ संस्करण, 2008, मीराँबाई की पदावली, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पृष्ठ 148
[xvi] धर्मवीर भारती, उन्नीसवाँ संस्करण, 2013, कनुप्रिया, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 42
[xvii] वही, पृष्ठ 29
[xviii] वही, पृष्ठ 73
[xix] वही, पृष्ठ 81
[xx] वही, पृष्ठ 44
[xxi] जयशंकर प्रसाद, द्वितीय संस्करण, 2007, काव्य और कला तथा अन्य निबंध, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ 25



सेतु, फ़रवरी 2021


## No comments :

## Post a Comment


We welcome your comments related to the article and the topic being discussed. We expect the comments to be courteous, and respectful of the author and other commenters. Setu reserves the right to moderate, remove or reject comments that contain foul language, insult, hatred, personal information or indicate bad intention. The views expressed in comments reflect those of the commenter, not the official views of the Setu editorial board. प्रकाशित रचना से सम्बंधित शालीन सम्वाद का स्वागत है।

Enter Comment



Newer Post Home Older Post

Subscribe to: Post Comments ( Atom )

Popular पसंदीदा

सत्य और अहिंसा की अवधारणा में गांधी जी का वैचारिक अवदान
प्रो. अखिलेश्वर प्रसाद दुबे (शोध निर्देशक) एवं अभय कुमार (शोध छात्र) दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.) 47...

श और ष का अंतर - हिंदी दिवस विशेष
- अनुराग शर्मा भारतीय भाषाओं में कुछ ध्वनियाँ ऐसी हैं जिनके आंचलिक उच्चारण कालांतर में मूल से छिटक गए हैं। कुछ समय के साथ लुप्तप्राय हो...

काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था के आधार पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना दृष्टि
आस्था दीपाली तृतीय वर्ष बी.ए हिंदी (प्रतिष्ठा), लेडी श्री राम कॉलेज फ़ॉर विमन ईमेल-aasthadeepali909@gmail.com दूरभाष +91 805 161 4565 हिंदी ...

'अंधेरे में' की मूल संवेदना
मनीष कुमार शोधार्थी, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नयी दिल्ली; +91 956 088 3358 'अंधेरे में' की मूल संवेदना अंधेरे में तो नहीं मगर ...

निराला के छायावादी काव्य में समय से संघर्ष तथा स्वाधीनता की भावना

- इस्लाम बाबू शोधार्थी, हिंदी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ चलभाष: +91 892 309 1212 हिंदी साहित्य आदिकाल से ही किसी न...

जूठन: एक दलित की आत्मव्यथा (समीक्षा)

आनन्द दास - आनन्द दास हिं दी में दलित साहित्य के विकास में ओमप्रकाश वाल्मीकि की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। ओमप्रकाश वाल्मीकि उ...

रतन कुमार सांभरिया रचित नाटक 'वीमा' की कथावस्तु

- सुनील जाधव वीमा नाटक में एक नेत्रहीन पति की नेत्रहीन पत्नी का अपहरण होने के बाद पत्नी को पाने के लिए पति का दृढ़ सघर्ष हैं। इस अपहरण का...

हिंदी उपन्यास परंपरा में प्रेमचंद का स्थान

डॉ. योगेश राव डॉ. योगेश राव हिन्दी में उपन्यास साहित्य का विकास अंग्रेजी उपन्यासों के प्रभावस्वरुप हुआ। आधुनिक हिन्दी गद्य की अन...

तुलनात्मक शोध और उसकी विशेषता

बृजेश प्रसाद बृजेश प्रसाद (शोधार्थी) मास्टर्स – जवाहरलाल नेहरू यूनिवर्सिटी नई दिल्ली एम.फिल – गुजरात केन्द्रीय विश्वविद्यालय पीएचडी- ...

मेहा गोदारा की लोकतात्विक दृष्टि

डॉ रामस्वरूप हिंदी साहित्य का मध्यकालीन काव्य अपनी व्यापकता, मोहकता, गंभीरता और प्रभाव की दृष्टि से भारतीय काव्य मंजूषा का एक ...

Copyright Setu, Pittsburgh, PA, USA © सेतु सर्वाधिकार सुरक्षित. पिट्सबर्ग, पैंसिल्वेनिया (अमेरिका). Powered by Blogger.

# शोध : छायावादी कविताओं के बहाने 'लंबी कविताओं' के शिल्प पर बहस / राजेश कुमार यादव

Gunwant शनिवार, जुलाई 31, 2021

**छायावादी कविताओं के बहाने 'लंबी कविताओं' के शिल्प पर बहस / राजेश कुमार यादव**

**शोध-सार :**

लंबी कविताओं का उद्भव हिंदी-साहित्य के छायावादी काल में हुआ। ये कविताएँ हिंदी-साहित्य का अपना रूप-विधान हैं, संस्कृत काव्यश इन पर चर्चा नहीं की गई है और हिंदी-साहित्य का अपना कोई व्यवस्थित मौलिक काव्यशास्त्र नहीं है। ऐसे में विभिन्न प्रकृति और स्वरूप रख हिंदी की लंबी कविताओं को हिंदी आलोचना-जगत में कहीं खंड-काव्य कहा जाता रहा है, कहीं प्रबंध-काव्य और कहीं लंबी-कविता। लंबी कविताएं काव्य की श्रेणी में आती हैं या मुक्तक-काव्य की, इस पर भी कोई निर्णयात्मक एकता देखने को नहीं मिलती। लंबी कविताओं को पहचानने नियमित करने का उपक्रम आलोचना जगत में हुआ ज़रूर; पर उनमें परस्पर सामंजस्य का अभाव रहा। दरअसल, लंबी कविताएँ प्रबंध-काव्य व में ही आएँगी, मुक्तक में नहीं; पर इनकी रचना-प्रक्रिया में मुक्तक-काव्य का भी योगदान रहता है। लंबी कविताएँ प्रबंध-काव्य और मुक्तक-काव्य के ढाँचे को तोड़कर निर्मित होती हैं। इस तरह उनकी प्रकृति दो तरह की हो जाती है प्रबंधधर्मी लंबी कविताएँ और मुक्तकधर्मी लंबी क प्रबंधात्मकता दोनों तरह की लंबी कविताओं में होती है, यद्यपि कि मुक्तकधर्मी लंबी कविताओं में मुक्तक-काव्य के गुण भी विद्यमान रहते हैं

**बीज-शब्द :** लंबी-कविता, शिल्प-विधान, प्रबंध, मुक्तक।

**मूल आलेख**

यद्यपि कि कृतियाँ पहले लिखी जाती हैं और शास्त्रीय नियम उनको आधार में रखकर बाद में बनाए जाते हैं, पर मात्र इतने से ही विधानों की अपनी महत्ता गौण नहीं हो जाती। कालजयी कृतियों के आधार पर बनाए हुए शास्त्रीय नियम आने वाली कृतियों को लगातार करते हैं, यह बात किसी से छुपी हुई नहीं है। अतः नए शिल्प की रचनाओं को शास्त्र-संवलित करना आलोचकों का धर्म होना चाहिए। हिंदी आ जगत में लक्षित 'लंबी-कविता' पर यद्यपि काफ़ी चर्चा-परिचर्चा हो चुकी है परंतु आज भी किसी के लिए यह जिज्ञासा का विषय हो सकता है वि कविता' क्या कोई सैद्धांतिक नाम है? मतलब क्या 'लंबी-कविता' के मानक-लक्षण निर्धारित हैं? किन कविताओं को 'लंबी कविता' के नाम से अ किया जा सकता है? लंबी-कविता प्रबंध-काव्य की श्रेणी में आती है या मुक्तक? आदि-आदि। यह जिज्ञासा का विषय इसलिए हो सकता है जिन-जिन कविताओं को लंबी-कविता के दायरे में समेटने की कोशिश की गयी उनमें परस्पर अंतर-बाह्य स्तर पर बहुत कुछ विभेद परिलक्षि जाते हैं। इन्हीं कारणों से एक ही कविता को कहीं खंडकाव्य तो कहीं लंबी-कविता कहा जाता रहा है, प्रसाद की 'आँसू' इसी तरह का काव्य "निराला की कविता 'राम की शक्तिपूजा' के बारे में यह सवाल आलोचकों द्वारा उठाया जाता रहा है कि इस कविता का काव्यरूप क्या है? व यह कविता महाकाव्य या खंडकाव्य नहीं है बल्कि आधुनिक युग का एक नया काव्यरूप है।"[i]

दरअसल इन सब संशयों के मूल में प्रबंध और मुक्तक काव्य का निर्धारित ढाँचा है। 'लंबी-कविता' क्योंकि दोनों काव्य-रूपों को तोड़कर उ सामग्रियों से नया काव्य-रूप खड़ा करती है अतः इसके दो रूप परिलक्षित होते हैं। जब यह मुक्तक-काव्य के ढाँचे को तोड़ती है तब इसका मुक्तकधर्मी और जब प्रबंध के ढाँचे को तोड़कर निर्मित होती है तब प्रबंधधर्मी होता है। इन प्रबंधधर्मी लंबी कविताओं को कुछ आलोचक 'प्रबंध के भेद के अंतर्गत आने वाले 'खंड-काव्य' के रूप में देखते हैं, वे उसे 'लंबी-कविता' मानने के पक्ष में नहीं हैं। ऐसा दृष्टिकोण रखने वाले मुक्तकधर्मी लंबी कविताओं को ही 'लंबी-कविता' की श्रेणी में रखना पसंद करते हैं। इस तरह की मान्यता के पीछे भी कुछ तार्किक कारण मौ

दरअसल यह एक अघोषित प्रवृत्ति है कि 'कविता' शब्द का आशय छोटी कविता या मुक्तक-काव्य से लगाया जाता है, बड़ी कविताओं को 'काव्य की प्रवृत्ति रही है– महाकाव्य, खंड-काव्य या प्रबंध-काव्य। इस हिसाब से 'लंबी-कविता' का आशय मुक्तकधर्मी लंबी-कविता से जोड़ा जाता प्रबंधधर्मी लंबी कविताओं को 'खंड-काव्य' कह दिया जाता है।

यह पहले कहा जा चुका है कि मुक्तकधर्मी लंबी-कविता मुक्तक-विधान के ढाँचे को तोड़कर विकसित होती है। पहले कवि मुक्तकों में कोइ खंड' व्यक्त करते थे, अतः उनकी अभिव्यक्ति भावों के अनुकूल किसी एक छंद यानी 'छोटी-कविता' में हुआ करती थी; पर जब कविता में 'विच अभिव्यक्ति पाने लगे तब छंद का बंधन भी टूट गया और विचार-खंड की प्रकृति के अनुसार कविता का आकार छोटा-बड़ा होने लगा; त कविताओं के मुक़ाबले बड़ी कविताओं को अलगाने के लिए उन्हे 'लंबी-कविता' नाम दिया जाने लगा। मतलब 'लंबी कविता' को यह नाम 'छोटी के मुकाबले दिया गया, और छोटी कविताएँ प्रबंध-काव्य के मूल तत्त्व 'कथात्मकता' से अलग होती थीं। अतः शुरू में कथात्मक लंबी कविताओं क काव्य' की श्रेणी में रखने का उपक्रम हुआ।

कथात्मक लंबी कविताओं का विधान यद्यपि पुराने खंड-काव्यों से अलग है, पुराने खंड-काव्य सर्गबद्ध हैं और आकार में उनसे बड़े भी खंडकाव्य की परिभाषा और लक्षण में ही यह बात कह दी गयी है कि ये सर्गबद्ध भी हो सकते हैं और बिना सर्ग के भी। उनके स्थूल आकार में भी किसी बंधन की बात नहीं की गयी है। अतः इस नियम ने भी इस तरह की लंबी कविताओं को खंड-काव्य माने जाने का रास्ता दिखाय काव्य का पहली बार लक्षण आचार्य विश्वनाथ ने दिया था और उन्होंने उसे बहुत स्थूल माप-तौल के बंधन से मुक्त रखा था। काव्य के र विवेचन अपने ग्रंथ साहित्यदर्पण के छठवें अध्याय में करते हुए उन्होंने महाकाव्य के अलावा प्रबंध-काव्य के दो और भेद किए हैं– 'काव्य' औ काव्य'। खंड-काव्य के लक्षण उन्होंने महाकाव्य के नहीं, बल्कि 'काव्य' के लक्षणों के सापेक्ष दिया। 'काव्य' नामक भेद का लक्षण देते हुए उन्होंने

*भाषाविभाषानियमात्काव्यं सर्गसमुज्झितम्।*

*एकार्थ प्रवणै: पद्यै: संधिसामग्र्यवर्जितम्॥[iii]*

अर्थात 'काव्य' भाषा या विभाषा में लिखा जाने वाला वह पद्यमय काव्यरूप है जिसमें सर्गों का बंधन अनिवार्य नहीं है और न ही सभी का। वह एकार्थ (चार पुरुषार्थों में से एक) प्रवण होता है। इसके बाद इसी के सापेक्ष खंड-काव्य की परिभाषा आचार्य विश्वनाथ ने इस प्रकार *खंडकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च।[iii]* अर्थात खंड-काव्य 'काव्य' का एकदेशानुसारी होता है। ऐसे में प्रबंधात्मक लंबी कविताओं को खंड-क श्रेणी में लाने का उपक्रम हो, स्वाभाविक है। इन सबके अलावा भी आधुनिक काल में आकर जब कामायनी जैसे अपेक्षाकृत बहुत छोटे आकार क को उसके भव्य-विधान के कारण महाकाव्य की श्रेणी में रखा जाता है तो इन प्रबंधों को खंडकाव्य की श्रेणी में रखे जाने के पर्याप्त कारण हैं! कारणों का परिहार इस तर्क से किया जा सकता है कि हिंदी में प्रचलित खंडकाव्यों का रूप इन प्रबंधात्मक कविताओं से काफी अलग है, अ प्रकार के काव्य-रूप के लिए नया नाम ही उपयुक्त हो सकता है। नया-नाम 'लंबी-कविता' अब रूढ़ हो चुका है तो इसे ही स्वीकार किया जा सक

अब देखना यह है कि प्रबंधधर्मी और मुक्तकधर्मी लंबी कविताएँ जिन्हें अब संयुक्त रूप से 'लंबी-कविता' के नाम से अभिहित किया जाता क्या इतना अंतर्विरोध है कि उनके रूप को लेकर विवाद की स्थिति बने! दरअसल यहाँ जो विवाद का भासित तत्त्व है वह है प्रबंधात्मकत आभासित इसलिए होता है क्योंकि इसे कथात्मकता से जोड़कर देखा जाता है। प्रबंधात्मकता जब बड़े काव्य से इतर छोटे काव्य को अपनाए उसका स्वरूप अकथात्मक भी हो सकता है, यह इस संशय या विवाद का मुख्य समाधान है। अकथात्मक-प्रबंध मुक्तकधर्मी लंबी कविता का स है और कथात्मक-प्रबंध प्रबंधधर्मी लंबी-कविता का। यों 'प्रबंधात्मकता' लंबी कविता का अनिवार्य तत्व है। मुक्तकधर्मी लंबी-कविता भी प्रबंध-काव्य

लंबी कविताओं के जन्म का मामला छायावाद से जुड़ा हुआ है और पंत की 'परिवर्तन' नामक कविता से इसका आविर्भाव माना जाता है। छ में वैचारिक दबाव के कारण कवियों ने मुक्त-छंद का आविष्कार किया। लंबी कविताओं के जन्म का मामला मुख्य रूप से 'मुक्त छंद' और ' तनाव' के जन्म से ही जुड़ा हुआ है। छायावादी युग में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक आंदोलन की जिम्मेदारी के वैचारिक दबाव, समाज में व्याप्त अ रूढ़ियों से मुक्ति चाहने के वैचारिक दबाव और मानवता की स्थापना आदि के वैचारिक दबावों ने कवियों के दिलो-दिमाग को हिलाकर रख दिया अंदर तमाम विचार-खंड या विचार-श्रृंखलाएँ पनपने लगीं। इनकी अभिव्यक्ति किसी एक छंद या छोटी कविताओं में नहीं हो सकती थी, अतः मु का आविष्कार किया गया। और फिर मुक्त-छंद ने प्रायः मुक्तकधर्मी लंबी कविताओं के सृजन का रास्ता साफ़ किया। पहले कवि जब मुक रचना करते थे तो अपनी एक बात वे एक छंद में खत्म कर देते थे और कहते थे कि 'मैंने एक सवैया बनाया है, एक कवित्त बनाया है या एक छंद बनाया है।' मुक्त-छंद का प्रचार होने से कविता का आकार अनिश्चित होने लगा। आकार यहाँ छंदों पर निर्भर न रहकर पंक्तियों पर वि

गया। एक बात के लिए, बात की प्रकृति के अनुकूल, कविताएँ दो-तीन पंक्तियों में भी सिमटने लगीं और बहुत सारी पंक्तियों में बद्ध होकर व में भी विस्तृत होने लगीं। वैचारिक दबाव, आंतरिक तनाव आदि के चलते जब कविताएँ चार-पाँच या इससे अधिक पेजों में विस्तृत होने लगीं सामान्य कविताओं से अलगाने के लिए उनके आकार को ध्यान में रखकर उन्हें 'लंबी-कविताएँ' कहा जाने लगा। इस तरह की लंबी क मुक्तकधर्मी होती हैं। वैचारिक तनाव एक निश्चित आयाम चाहते हैं। ज्यादा छोटे आकार में वे अट नहीं पाएँगे और ज्यादा बड़े आकार में कसावट के ढीले होने का ख़तरा है। अतः वे मुक्तक के ढाँचे को तोड़कर जहाँ अपना आकर निर्मित करते हैं, वहीं प्रबंध के ढाँचे को सि प्रबंधात्मक ढाँचे से निर्मित प्रबंधात्मक कविताओं को भी इसीलिए 'लंबी कविताएँ' कहा जाने लगा।

जैसा कि ऊपर कहा गया, पंत की परिवर्तन नामक कविता से लंबी कविताओं की शुरुआत मानी जाती है। उल्लेखनीय है कि पंत की 'प मुक्तकधर्मी लंबी कविता है, इसी युग में बाद में आने वाली प्रबंधधर्मी लंबी कविताओं से अलग; यद्यपि कि, जैसा कहा गया, प्रबंधात्मक कविताओं का अनिवार्य लक्षण है। इन सारे संदर्भों में लंबी कविता का 'लंबी' शब्द एक तरह से 'प्रबंध' का ही पर्याय है। लंबी कविताओं के उ पहले तक मुक्तकों और प्रबंधों में अंतर स्थापित करने वाला मुख्य तत्त्व 'कथा' होती थी। लंबी कविताओं ने इस स्थिति में थोड़ा परिवर्तन उत्प दिया है। उसने दिखाया कि छोटे प्रबंध को गढ़ने के लिए कथा कोई ज़रूरी तत्व नहीं रह जाता। बावजूद इन सबके, कथा प्रबंध-काव्य से अनिव से जुड़ी है। मतलब जिस काव्य में सुसंबद्ध कथा होगी वह अनिवार्यतः प्रबंध-काव्य ही होगा, वह मुक्तक नहीं हो सकता; भले ही कुछ प्रबं कथाविहीन होते हों। कथा के साथ प्रबंध के इसी संबंध के कारण ही लंबी-कविता के यहाँ प्रबंधधर्मी और मुक्तकधर्मी दो भेद किए गए हैं। मुक लंबी-कविता यहाँ उन्हें कहा जा रहा है जो किसी 'कथा' के ढाँचे में बंधी हुई नहीं होतीं, यद्यपि कि वे किसी न किसी मन:-स्थिति, विचार, परि वातावरण आदि के वर्णन के ढाँचे में अवश्य बंधी हुई होती हैं। इसीलिए उन्हें मुक्तकधर्मी प्रबंध वाली लंबी कविता कहा जा रहा है। मुक इसलिए कि उनमें मुक्तकों के गुण भी विद्यमान रहते हैं। प्रबंधधर्मी लंबी कविताएँ किसी न किसी कथा के ढाँचे में बंधी हुई होती हैं। अ कविता के दो पक्ष हुए– प्रबंधधर्मी लंबी कविता और मुक्तकधर्मी लंबी कविता। इन्हें कथात्मक और अकथात्मक लंबी-कविता भी कहा जा स कहा जाता है।

यह बात भी विचारणीय है कि स्थूल स्तर पर मुक्तकधर्मी लंबी कविताएँ नए तरह की प्रबंधात्मक लंबी कविताओं के आकार-प्रकार की ह दोनों मुक्तक और प्रबंध के लिए निर्धारित या प्रचलित दायरों का अतिक्रमण करती थीं, अतः नामकरण के संदर्भ में दोनों को 'लंबी कविता' क में समेट लिया गया। यों, लंबी कविता के नामकरण में आकारगत तत्त्व की प्रमुखता को नकारा नहीं जा सकता। मुक्तकधर्मी या अकथात्म कविताओं के भी दो रूप परिलक्षित किए जा सकते हैं– प्रगीतात्मक लंबी-कविता और विचारात्मक लंबी-कविता। प्रगीतात्मक लंबी कवित मुक्तकधर्मिता कुछ ज्यादा मात्रा में होती है, शायद इसीलिए कई आलोचक प्रगीतात्मक लंबी कविताओं को लंबी कविता नहीं मानना चाहते– ' अधिकांश काव्य प्रगीतात्मक है। बावजूद इसके उनकी कविता 'परिवर्तन' को कई आलोचकों ने लंबी कविता कह डाला है। कारण कि लंबी क केंद्र में उसकी लंबाई मान ली गई है।"[iv] विचारात्मक लंबी कविताएँ अपनी प्रबंधात्मकता के मामले में प्रगीतात्मक लंबी कविताओं से ज्यादा व होती हैं। उनमें वैचारिक-तनाव के सहारे किसी भी स्थिति-परिस्थिति का मंथनपरक विश्लेषण रहता है। मुक्तिबोध की 'अँधेरे में' या धूमिल की ' आदि इसी तरह की लंबी कविताएँ हैं।

कथात्मक लंबी कविताओं में खंड-काव्यों या प्रबंधात्मक-कविताओं की तरह कोई कथा कही जाती है, उनमें पात्र होते हैं, स्थान होता है, सम है और वातावरण होता है। और उसकी कथा तारतमिक ढंग से कही जाती है। मतलब इसमें कथा-क्रम का निर्वाह किया जाता है। कथा व्य जीवन के किसी एक खंड से जुड़ी होती है, फिर वह जीवन-खंड चाहे जितना छोटा हो। जबकि मुक्तकधर्मी लंबी-कविताओं में किसी कथा व किसी स्थिति और परिस्थिति का चित्रण होता है। इसमें पात्र प्रायः नहीं रहते, रहते हैं तो भी प्रछन्न या संकेतित रूप में–स्थितियों या परिस्थि चित्रण की गहनता में ही सहायक होने के लिए। जिनमें 'कथा' नहीं, वो मुक्तकधर्मी लंबी-कविता हैं और जिनमें 'कथा' होती है, वो प्रबंधधम कविता। निराला की 'राम की शक्तिपूजा' या 'तुलसीदास' नामक कविताएँ कथात्मक लंबी-कविता की उदाहरण हैं।

ऊपर दी गई स्थापनाओं की पुष्टि के लिए हिंदी आलोचकों द्वारा 'लंबी कविता' में परिगणित प्रबंधात्मक लंबी कविताओं और मुक्तकध कविताओं के बीच के फ़र्क का विश्लेषण किया जा सकता है। क्योंकि लंबी कविताओं की शुरुआत छायावादी-युग में हुई अतः इस संदर्भ में छाय ही दो कवियों, पंत और निराला, की कृतियों को आधार बनाया जा सकता है। निराला की 'राम की शक्ति पूजा' और 'तुलसीदास' वैसे ही लंबी क नहीं हैं जैसे की पंत की 'परिवर्तन' है। निराला की ये कविताएँ 'कथात्मक लंबी-कविता' के अंतर्गत आएँगी और पंत की परिवर्तन अकथात्मक। 'परिवर्तन' से ही लंबी कविताओं की अवधारणा ने जन्म लिया, इस दृष्टि से इसके स्वरूप का विवेचन महत्वपूर्ण है।

'परिवर्तन' नामक कविता जीवन और जगत के दिन-प्रतिदिन बदलते जाने की प्रक्रिया को रेखांकित करने वाली कविता है। 'परिवर्तन प्र नियम है' इस तथ्य को लेकर इस कविता में पल-पल परिवर्तित या समय-समय पर परिवर्तित जीवनगत स्थितियों का चित्रण किया गया है कोई 'कथा' नहीं कही गयी है। कविता अतीत के सुख और वैभव की काल्पनिक दुनिया के परिप्रेक्ष्य में आधुनिक दुख-दैन्य को लेकर शुरू होती *आज वह पूर्ण पुरातन, वह सुवर्ण का काल/ भूतियों का दिगंत छवि जाल,/ ज्योति चुंबित जगती का भाल?/ राशि-राशि विकसित वसुधा का वह विस्तार?*[v] इसके बाद दो बंद और इस काल्पनिक दुनिया पर, और फिर सीधे इस पर अविश्वास की घोषणा- *हाय! सब मिथ्या बात! -/ सौरभ का मधुमास/ शिशिर में भरता सूनी साँस!/ वही मधुऋतु की गुंजित डाल/ झुकी थी जो यौवन के भार,/ अकिंचनता में निज तत्काल उठती, - जीवन है भार!*[vi] फिर पूरी कविता इसी अवधारणा को तरह-तरह के वर्णनों से चित्रित करती रहती है कि परिवर्तन के प्रहार से कोई नहीं है। वह अपने में सबको लपेट ही लेता है! परिवर्तन का प्रहार मतलब सुख के बाद दुख का आगमन! दुख से परे रहने की दिली चाहत कवि का मन जीवन और जगत में इसकी सत्ता के स्थायित्व को नकार पाने की होड़ में हार-सा जाता है। और फिर स्वीकारोक्ति की प्रक्रिया से है-*हाय री दुर्बल भ्रांति! -/ कहाँ नश्वर जगती में शांति?/ सृष्टि का ही तात्पर्य अशांति!*[vii] कहीं-कहीं सुख संचारी भाव की तरह कवि के मानसप आ जाता है और वह इसकी भी संचारी सत्ता को अभिव्यक्ति प्रदान कर देता है, पर उसका मूल ध्यान परिवर्तन में दुख की ही तरफ है। क मनःस्थितियों के अनुसार भावखंडों का चित्रण हुआ है। कहीं परिवर्तन का मानवीकरण कर उसे संबोधित करते हुए उसकी कार्यप्रणाली का वर्ण गया है तो कहीं उसे परिप्रेक्ष्य में रखकर उसकी विशेषताओं का। एक ही मन:स्थिति के चित्रण में भी कविता के हर बंद का चित्रण दूसरे बंद के पर निर्भर नहीं है। कविता को कहीं भी खत्म किया जा सकता था या उसका इसी क्षेत्र की तमाम भावनाओं या विचारों के आधार पर और भी किया जा सकता था, क्योंकि कविता में वैसा प्रबंधत्व नहीं है जैसा कथात्मक कविताओं में होता है। कुल मिलाकर यह प्रगीतात्मक लंबी-कविता इसमें प्रगीत के गुण विद्‌यमान हैं।

'परिवर्तन' नामक कविता में आंगिक प्रबंधत्व नहीं होने का एक आधार पहले ही बताया गया कि इसमें कोई कथा नहीं कही गयी है, परिव लेकर कवि ने अपनी मनःस्थितयों का चित्रण किया है। दूसरा यह है कि इसके सभी बंद आपस में इस तरह से बंधे हुए नहीं हैं कि एक के न दूसरे की संपूर्णता प्रभावित हो। अर्थात इसमें आंगिक अन्विति भी नहीं है। तीसरे, इसमें कोई पात्र नहीं है। चौथे, कोई समय और स्थान यद्‌यपि वातावरण मौजूद है। अतः यह कविता आंगिक प्रबंधत्व से रहित है; पर इसमें प्रबंधत्व है। इसमें भावों और विचारों का प्रबंधत्व है। स और विचार 'परिवर्तन' की प्रकृति को व्याख्यायित करने में आपस में जुड़े हुए हैं। प्रगीतात्मक 'लंबी-कविता' में प्रबंधत्व की प्रकृति ऐसी ही ह प्रगीत भी एक तरह की मनः-स्थिति को विभिन्न प्रकार से व्याख्यायित करने का उपक्रम हुआ करता है। जैसे महादेवी वर्मा का 'मैं नीर भरी द बदली' या निराला का 'स्नेह निर्झर बह गया है' नामक प्रगीत। अतः प्रगीतात्मक लंबी-कविता भी प्रगीत के गुणों से लैस होती है। इस त कविताओं को देखकर इस तथ्य की तरफ ध्यान जा सकता है कि पेज-विस्तार भी लंबी-कविता का मुख्य अंग है। लगभग सोलह पेज की यह है।

निराला की 'राम की शक्ति पूजा' रूप और वस्तु के स्तर पर पंत की परिवर्तन से भिन्न है, आलोचकों ने उसे भी लंबी-कविता का नाम दि राम की शक्तिपूजा में कथा है, पात्र हैं, आंगिक अन्विति है; और स्थान, समय, वातावरण सब हैं। वह कथा और इसके तत्वों से बंधी हुई र अतः 'राम की शक्तिपूजा' में आंगिक प्रबंधत्व है।

'राम की शक्तिपूजा' का विधान प्रबंधात्मक है। एक तो यह कथात्मक प्रवाह में लोकव्याप्त मिथकीय कथा से संबध्द है, दूसरे इसमें लोक-ि प्रकृति के अनुकूल ही कुछ और घटनाएँ जोड़कर कथा को प्रतीकात्मक विश्वसनीय संदर्भ देने की कोशिश की गई है। शुरू से लेकर अंत तक क एक प्रवाह है। यह प्रवाह कथात्मकता का ही है। मिथकीय कथा के पूर्वापर-संबंध के आधार पर कथा शुरू होती है राम-रावण के बीच हुए यु विभीषिका के वर्णन से *: रवि हुआ अस्त, ज्योति के पत्र पर लिखा अमर/ रह गया राम रावण का अपराजेय समर।*[viii] मिथकीय कथा के संबंध का आशय है कि रामायण या महाभारत आदि मिथकीय ग्रंथों की कथाएँ लोक में व्याप्त होती हैं। यह जितनी ग्रंथों की नहीं होतीं उतनी लोक की सामग्री होती हैं। उनके किसी भी प्रसंग को लेकर बिना किसी पूर्वापर भूमिका या परिचय के काव्य रचे जा सकते हैं। तमाम खंडकाव्य मिथकीय कथा के पूर्वापर संबंधों के आधार पर ही लिखे गए हैं। यहाँ पर राम और रावण तथा उनके आपसी संबंधों से सभी पाठक पूर्व परिचि हैं। कथा शुरू होते ही यह पूछने की ज़रूरत नहीं पड़ती कि राम कौन है, रावण कौन है, और इनके बीच में लड़ाई क्यों हो रही है; आदि। पूरी से सामान्यतः पाठक परिचित रहता है। इस पृष्ठभूमि का सहारा लेकर मिथक की प्रकृति के अनुसार रचनाकार उसमें संभाव्य नए-नए प्रस उद्‌भावना कर सकता है। तमाम रचनाकार सफलतापूर्वक करते भी आए हैं।निराला ने कृत्तिवास के 'बंगला रामायण' से शक्तिपूजा का प्रसंग लि उसे तत्कालीन राष्ट्रीय आंदोलन के अनुरूप बनाकर पेश किया। किसी भी संघर्ष में हताश हो रहे व्यक्ति, समाज और देश को अपने अंदर नए से आत्मबल विकसित करने की प्रेरणा देने वाली है यह कृति। खैर!

इसकी प्रबंधात्मकता, जैसा कि पहले कहा गया, इसमें है कि इस पूरी कृति में एक कथात्मक प्रवाह है। इसके किसी भी अंग को इसमें से नहीं जा सकता, सभी अंग ज़रूरी हैं उसके लिए। किसी भी अंग को निकालने से काव्य का प्रवाह प्रायः बाधित-सा हो जाएगा। और इस काव्य

की परिवर्तन कविता की तरह कहीं भी समाप्त नहीं किया जा सकता। इसमें पात्र हैं, स्थान है, वातावरण है, घटनाएँ हैं; जो कथा-काव्य के ः तत्त्व हैं। आधुनिक युग में प्रबंध के सूक्ष्म-विधान आने के पहले तक कथा-काव्य ही प्रबंध-काव्य हुआ करते थे। पात्र मुक्तक कविता में भी हो ः पर वहाँ उनकी स्थिति दूसरी होती है, यद्यपि प्रायः मुक्तक कविताओं में या तो पात्र रहते नहीं हैं या रहते भी हैं तो उनकी कोई विशेष 'आ नहीं होती है। मुक्तकों में जहाँ पात्र होते हैं प्रायः वहाँ पर कोई प्रसंगोद्भावना की गयी होती है और उसके अनुकूल उसमें या तो पात्रों के क्रिय का वर्णन कवि ने खुद किया होता है या किसी एक पात्र का ही किसी विशेष प्रसंग में कोई कथन होता है। और मुक्तकों में यह सब किसी संबंध की अपेक्षा नहीं रखता, अपने में पूर्ण होता है– जैसे बिहारी के इस दोहे में का क्रियाकलाप, जिसमें उसका वर्णन कवि खुद कर रहा है *नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।/ भरे भौन में करत हैं, नैनन ही सौं बात।।*[ix] यहाँ यह पूछने की कोई ज़रूरत नहीं पड़ती f बात कर रहा है, या क्या बात कर रहा है, किसलिए बात कर रहा है; आदि। सब कुछ पता चल जाता है। पात्रों की भी कोई ख़ास 'आइडेंटिटी' पात्र कौन हैं, यह भी जानने की विशेष ज़रुरत नहीं पड़ती। नायक-नायिका हैं, श्रृंगारिक क्रिया-कलाप कर रहे हैं। नायक-नायिका को लेकर ऐसे प्रसंगों की कल्पना की गयी है रीतिकाल के मुक्तकों में।

दूसरे उदाहरण के रूप में है कालिदास त्रिवेदी जी का यह कवित्त जिसमें एक पात्र 'नायिका' का कथन नायक 'कृष्ण' के प्रति है *: चूमौं मंजु अमल अनूप तेरो/ रूप को निधान कान्ह मो तन निहारि दै।/ कालिदास कहैं मेरो पास हरै हेरि-हेरि/ माथे धरि मुकुट लकुट कर डारि दै कन्हैया मुख-चन्द्र को जुन्हैया चारु/ लोचन चकोरन की प्यासन निवारि दै।/ मेरे कर मेंहदी लगी है नंदलाल प्यारे/ लट उरझी है नकबेसरि संभा* यहाँ भी किसी पूर्वापर संबंध की अपेक्षा नहीं है, पात्र की भी कोई ख़ास 'आइडेंटिटी' नहीं है। यह किसी नायिका का किसी भी नायक से चु आग्रह हो सकता है। प्रसंगोद्भावना है कि नायिका को कृष्ण दिख जाते हैं, अब वह उनका सुंदर मुख निकट से देखना चाहती है। अतः वह अप को नकबेसर में उलझाकर उनसे बहाना बनाती है कि उसके हाथों में मेहंदी लगी है इसलिए वह अपनी उलझी हुई लट को अपने हाथों से नहीं सकती, वे कृपा करके उसे सुलझा दें। यहाँ यह कवित्त अपने आपमें पूर्ण है। नायिका का कथन कहीं भी अधूरा-अधूरा सा नहीं लग रहा है वि आगे-पीछे कुछ न कुछ होना चाहिए था अन्यथा यह समझ में नहीं आएगा, इसका अर्थ नहीं खुलेगा, आदि। जबकि 'राम की शक्तिपूजा' जाम्बवान का यह कथन पूर्वापर संबंधों की पूरी अपेक्षा रखता है *: रघुवर,/ विचलित होने का नहीं देखता मैं कारण/ हे पुरुष सिंह, तुम भी यह करो धारण,*[xi] रघुवर क्यों विचलित हो रहे थे? स्थितियाँ क्या थीं? उन्हें कौन सी शक्ति धारण करने के लिए कहा जा रहा है? यह कहाँ की ः आदि की अपेक्षा तुरंत मन में जाग जाएगी। यद्यपि जाम्बवान का कथन और आगे तक चलता है पर उनके पूरे कथन को अलग से उद्धरित ः बाद भी उसकी अपनी स्वायत्तता नहीं बन पाएगी। उसे पूर्वापर संबंध चाहिए ही! और यद्यपि कभी-कभी प्रबंध काव्यों के कुछ छंदों या बंदों को की तरह स्वतंत्र रूप से पेश किया जा सकता है, पर प्रबंध में होते हैं वे उसी कथा-प्रवाह के अंग–प्रबंध में उनके न रहने से उसकी आंगिक ः प्रभावित होगी।

'राम की शक्तिपूजा' की कथा में शुरुआत है, मध्य है और अंत है। शुरुआत में राम और रावण का युद्ध चल रहा है, राम लाख प्रयत्न ः बावजूद रावण को हरा नहीं पाते हैं। मध्य में अपने पारिषदों के बीच वे इसके हल के लिए एक सभा आयोजित करते हैं, जिसमें तरह-तरह के विमर्श होते हैं– रावण को हराने के लिए। अंत में इसका हल यह निकाला जाता है कि राम भी उस शक्ति की आराधना करें जो रावण की ओ उन्हें मजबूत बना रही हैं। राम ने आराधना की, और शक्ति राम के वदन में समाहित हो गयी। इस कथात्मक बुनावट में वर्णनों के बीच-बीच म भावनाओं, वातावरण की सघनताओं को रचा गया है, बिंबों और प्रतीकों के सहारे या सीधे-सीधे! कठिन परिस्थितियों में लोगों को अपने जी कोमलतम क्षण याद याते हैं, यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। राम के सामने जब कठिन परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं तो उन्हें अपनी पत्नी सी माँ की याद आती है। जब राम को एहसास होने लगता है कि वे रावण को शायद नहीं हरा पाएँगे, रावण के पास ज्यादा शक्ति है; जब इस एह कारण वे सोच में पड़कर परेशान होते हैं तो उन्हें सीता की याद आती है *: ऐसे क्षण घन अंधकार में जैसे विद्युत/ जागी पृथ्वी-तनया-कुमारिव अच्युत/ देखते हुए निष्पलक, याद आया उपवन/ विदेह का,–प्रथम स्नेह का लतान्तराल मिलन।*[xii] फिर राम के मन में उस समय के स सजीव हो उठते हैं जब उन्होंने सीता को पहली बार जनक-वाटिका में देखा था, और दोनों की आँखें मिली थीं।

ऐसे ही जब पूजा पूरी होते-होते रह जाने के आसार दिखाई देने लगते हैं, पूजा का अंतिम पुष्प परिहास-वश देवी दुर्गा के उठा ले जाने के तब राम के मन में एक बार फिर निराशा का संचार होता है। बड़ी कठिन और महत्वपूर्ण तपस्या, जिसके पूरे हो जाने पर जीवन की पूरी आशा हुई हैं, एकदम अंतिम पड़ाव पर, पूरे होते-होते खंडित हो जाने के कगार पर आ जाए तो तपस्वी का विचलित हो जाना स्वाभाविक है। ऐसे अपने जीवन को धिक्कारना शुरू करते हैं *: धिक् जीवन को जो पाता ही आया विरोध/ धिक् साधन जिसके लिए सदा ही किया शोध/ जान उद्धार प्रिया का हो न सका।*[xiii] और फिर जीवन की इस कठिनतम बेला में उन्हें अपनी माँ की याद आती है। माँ की याद आते ही उन्हें सम समाधान का बिंदु भी मिल जाता है। माता जी उन्हें राजीव-नयन कहकर बुलाया करती थीं। अतः पूजा के लिए कम हुए एक नील-कमल की अपने एक नयन को अर्पित कर करेंगे : *"यह है उपाय कह उठे राम ज्यों मंद्रित घन/ कहती थीं माता मुझे सदा राजीव नयन!/ दो नील कमल अभी, यह पुरश्चरण/ पूरा करता हूँ देकर मात: एक नयन।"*[xiv] राजीव-नयन कहने से माँ का स्नेह अपने बेटे के प्रति झलक रहा है। और उ को निराला ने जीवन की उस कठिन परिस्थिति में लाकर वातावरण को संवेदनात्मक बनाने में पूरी सफलता प्राप्त की है। राम अपना नयन f के लिए बाण निकालते हैं। ज्यों ही उसे नयनों के पास ले जाते हैं, दुर्गा आकर उनका हाथ पकड़ लेती हैं, और उन्हें जीत का आशीर्वाद देक

वदन में लीन हो जाती हैं। इस तरह के कुतूहलपूर्ण घटनात्मक उतार-चढ़ाव के साथ शक्तिपूजा की कथा को ढाँचा प्रदान किया गया है। इससे ः कि यह कविता प्रबंधधर्मी है।

**निष्कर्ष :**

उपर्युक्त विवेचन और विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि लंबी कविता के मुख्यतः दो रूप हैं–कथात्मक और अकथात्मक। किसी मानसिक स्थि अन्य परिस्थिति आदि पर आधारित कथारहित लंबी-रचना मुक्तकधर्मी लंबी कविता है और कथासहित लंबी-रचना प्रबंधधर्मी लंबी-कवि मुक्तकधर्मी लंबी कविताएँ भी किसी विशेष मनः-स्थिति से बंधी हुई होती हैं पर उनमें मुक्तकीय विशेषता भी होती है, खासकर प्रगीतात्म कविताओं में। उनके बंदों को स्वतंत्र रूप में भी पेश किया जा सकता है, यद्यपि पूरी रचना में वे आवश्यक लगेंगे। इसीलिए इन्हें मुक्तक न मुक्तकधर्मी कहना अधिक समीचीन है। और क्योंकि प्रबंधात्मक कविताएँ कथा का बहुत ही छोटा सा अंश लेकर चलती हैं, अपनी प्रकृति मे काव्य से छोटी होती हैं, इसीलिए उन्हें प्रबंध न कहकर प्रबंधधर्मी कहना अधिक उचित है। प्रबंधात्मकता दोनों में रहती है– एक में सघन रूप एक में विस्तृत रूप में। यों, लंबाई किसी न किसी आधार पर ही टिक सकती है, अन्यथा वह निराधार होकर लुढ़क जाएगी! लंबी कविता की प्रबंधात्मकता के आधार पर ही खड़ी होती है।

---

[i] राजेंद्रप्रसाद सिंह : हिंदी की लंबी कविताओं का आलोचना पक्ष, राजकमल प्रकाशन, पटना, पेपरबैक संस्करण, 2011, पृष्ठ 5

[ii] विश्वनाथ : साहित्यदर्पण (सं. सत्यव्रत सिंह), चौखंभा विद्याभवन प्रकाशन, वाराणसी, पेपरबैक संस्करण 2021, पृष्ठ 554

[iii] वही, पृष्ठ 555

[iv] राजेंद्रप्रसाद सिंह : हिंदी की लंबी कविताओं का आलोचना पक्ष, राजकमल प्रकाशन, पटना, पेपरबैक संस्करण, 2011, पृष्ठ 6

[v] सुमित्रानंदन पंत : पल्लव, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, नौवाँ संस्करण, 1993, (आवृत्ति 2014) पृष्ठ 140

[vi] वही, पृष्ठ 140-141

[vii] वही, पृष्ठ 145

[viii] सूर्यकांत त्रिपाठी निराला : अनामिका, भारती भंडार, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, 1948, पृष्ठ 148

[ix] बिहारी-रत्नाकर (सं. जगन्नाथदास 'रत्नाकर'), गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, अमीनाबाद, लखनऊ, 1926, पृष्ठ 19

[x] रामचंद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास, प्रयाग पुस्तक सदन, इलाहाबाद, पेपर बैक संस्करण 2005, पृष्ठ 156

[xi] सूर्यकांत त्रिपाठी निराला : अनामिका, भारती भंडार, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, 1948, पृष्ठ 159

[xii] वही, पृष्ठ 151

[xiii] वही, पृष्ठ 163

[xiv] वही, पृष्ठ 164

**राजेश कुमा**

**सहायक प्राध्यापक, महात्मा गाँधी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, फतेहपुर, उत्त**

**99354**

चित्रांकन : सुरेन्द्र सि

UGC Care Li

'समकक्ष व्यक्ति समी

( PEER REVIEWED/REFEREED J

Tags 35-36 छायावादी कविता राजेश कुमार यादव शोध UGC Care Listed Issue

शेयर करें

**LINKS TO THIS POST**

**POST A COMMENT**

टिप्पणी डालें

‹ और नया

यह 'अपनी माटी संस्थान' चित्तौड़गढ़ ( पंजीयन संख्या 50 /चित्तौड़गढ़/2013 ) द्वारा संचालित और UGC Care List Approved त्रैमासिक ई-पत्रिका 'अपनी माटी' है जिसका ISSN नंब 2322-0724 Apni Maati है। कला, साहित्य, रंगकर्म, सिनेमा, समाज, संगीत, पर्यावरण से जुड़े शोध, निबंध, साक्षात्कार, आलेख सहित तमाम विधाओं में समाज-विज्ञान और साहित्य से सम्बद्ध रचनाएँ छपने और पढ़ने हेतु एक मंच है। कथेतर साहित्य छापने में हमारी रूचि है। यहाँ साल में चार सामान्य अंक प्रकाशित होते हैं। इसके अलावा कभी-कभी विशेषांक भी छप हैं। यह गैर-व्यावसायिक और साहित्यिक प्रकृति का सामूहिक प्रयासों से किया जाने वाला कार्य है। हमारा पता 'कंचन-मोहन हाऊस,1, उदय विहार, महेशपुरम रोड़, चित्तौड़गढ़-312001,राजस्थान' है। अन्य जरूरी प्रश्न हो तो 9460711896 (Manik) और 9001092806 (Jitendra) पर Only Watts App करके सम्पर्क कर सकते हैं, यहाँ कॉल पर बात नहीं होगी। हमारा ई-मेल पता apnimaati.com@gmail.com यह रहेगा। कुल जमा पत्रिका ठीकठाक है इसे बेहतर बनाने का जिम्मा लेखकों और पाठकों पर ही है।

**Design by - Shekhar** मुख्य पृष्ठ फॉण्ट कन्वर्टर रेणु विशेषांक मीडिया विशेषांक किसान विशेषांक तुलसीदास विशेषांक शिक्षा विशेषांक प्रतिबंधित साहित्

# मुनीश्वरदत्त स्नातकोत्तर महाविद्यालय, प्रतापगढ़

एवं

# हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयागराज

के संयुक्त तत्वावधान में

## "विषय-हिन्दी साहित्य में अवधी का योगदान"

मुनीश्वरदत्त स्नातकोत्तर महाविद्यालय, प्रतापगढ़ — श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्

## राष्ट्रीय संगोष्ठी

08 फरवरी, 2020

विन्देम देवतां वाचम्

## प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री/सुश्री/श्रीमती/डॉ0....राजेश....कुमार....यादव....

संस्थान का नाम. हैदराबाद विश्वविद्यालय ने 08 फरवरी, 2020 को आयोजित राष्ट्रीय

संगोष्ठी में सहभागिता की तथा....अवधी के प्रबंध काव्यों का........

शिल्प - विधान........ विषय पर शोध पत्र/वक्तव्य/अध्यक्षीय वक्तव्य प्रस्तुत किया।

| | | |
|---|---|---|
| प्रो. उदय प्रताप सिंह | डॉ. अरुण कुमार श्रीवास्तव | डॉ. अरुण कुमार मिश्र |
| अध्यक्ष | प्राचार्य | संयोजक |
| हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयागराज | एम.डी.पी.जी.कालेज, प्रतापगढ़ | राष्ट्रीय संगोष्ठी |



Scanned with CamScanner

# National Seminar

On

## Environmental Challenges and their Socio-economic Traditional and Cultural Solutions in India

*Sponsored by*

**Department of Higher Education, Govt. of U.P.**

**15th and 16th February, 2020**

*Jointly Organized By:*

**Department of Zoology & Department of Hindi**

*This is to certify that Prof./Dr./Mr./Mrs.* राजेश कुमार यादव महात्मा गांधी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, फतेहपुर, उ० प्र०

*has participated/presented a paper in the National Seminar.*

*The Topic of the paper was* नयी कविता में पर्यावरणीय चेतना

*He/She also acted as chair person/co-chair person/ Resource person in the seminar.*

| | | |
|---|---|---|
| Rekha | Ajay | Mishra |
| **Dr. Rekha Verma** | **Dr. Ajay Kumar** | **Dr. Aparna Mishra** |
| **Organizing Secretory** | **Convener** | **Patron/Principal** |



Scanned with CamScanner

AS PER THE UNIVERSITY POLICY, ANTI-PLAGIARISM SCREENING IS NOT REQUIRED FOR THE REGIONAL LANGUAGES

Librarian
Indira Gandhi Memorial Library
UNIVERSITY OF HYDERABAD
Central University P.O.
HYDERABAD-500 046.